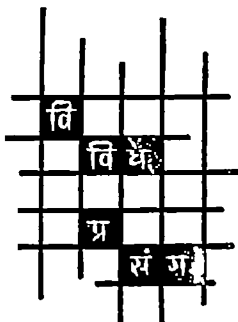
विविध प्रसग
३



३

हंस प्रकाशन
इलाहाबाद



प्रकाशक
हंस प्रकाशन इलाहाबाद

मुद्रक
पियरलेस प्रिंटर्स इलाहाबाद

आवरण-सज्जा
कृष्ण चंद्र श्रीवास्तव

प्रथम संस्करण
प्रेमचंद स्मृति दिवस १९६२

मूल्य—रु १२ ५०

भूमिका

सब जानते हैं, प्रेमचंद ने अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ उर्दू से किया था। बरसों केवल उर्दू में लिखते रहने के बाद वह हिन्दी की तरफ़ आये। उपन्यास और कहानियाँ तो लिखीं ही साहित्य, संस्कृति, समाज राजनीति से संबंध रखनेवाले विविध प्रसंगों पर ढेरों लेख भी लिखे। इस प्रकार के लेखन का उनका क्रम आजीवन चला और मुंशीजी के पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व और देन को समझने के लिए उसका महत्व मुंशीजी के कथा-साहित्य से अणुमात्र कम नहीं है।

इस ख़ज़ाने की तरफ़ अब तक किसी का ध्यान नहीं गया था, और शायद इन पंक्तियों के लेखक का भी न जाता अगर मुंशीजी की प्रामाणिक जीवनी लिखने के तक़ाज़े ने उसे मजबूर न किया होता कि वह उन सब चीज़ों की छान-बीन करे जो-जो मुंशीजी ने जब-जब और जहाँ-जहाँ लिखीं। पुरातत्व विभाग की इसी खुदाई में यह ख़ज़ीना हाथ लग गया!

यह लगभग सोलह सौ पृष्ठों की सामग्री है जो 'विविध प्रसंग' के तीन खण्डों में दी जा रही है।

पहले खण्ड में १९०३ से लेकर १९२० तक के लेख और समीक्षाएँ हैं, काल-अनुक्रम से। 'टर्की में वैधानिक राज्य' शीर्षक लेख भूल से ग़लत जगह पर छप गया है।

दूसरे और तीसरे खण्ड में १९२१ से लेकर १९३६ तक के लेख, टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ हैं जिनको 'राष्ट्रीय राजनीति' 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' 'हिन्दू मुसलमान' 'छूत-अछूत' 'किसान-मजूर' 'साहित्य-दर्शन' 'धर्म-समाज' 'महिला-जगत्' 'समीक्षाएँ' 'श्रद्धांजलियाँ' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत विषय-क्रम से प्रस्तुत करना अधिक सार्थक जान पड़ा।

छोटी टिप्पणियों को भी हमने वही स्थान दिया है जो बड़े लेखों को, सिर्फ़ इसलिए नहीं कि मुंशीजी ने उन्हें लिखा है बल्कि इसलिए कि वह देखने में चाहे कितनी छोटी हों पर चाव गहरा करती हैं। अपने उस छोटे-से कलेवर में भी उनका वक्तव्य स्पष्ट है, महत्वपूर्ण है और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

समीक्षाएँ कुछ छोड़ दी गयी हैं। जो दी जा रही हैं, उनमें दो प्रकार की समीक्षाएँ हैं। कुछ तो बहुत नामी-गरामी पुस्तकों की समीक्षाएँ हैं। उनके संबंध में कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। कुछ मामूली-सी पुस्तकों की समीक्षाएँ हैं। उनको देना इसलिए ज़रूरी समझा गया कि उन पुस्तकों को निमित्त बनाकर मुंशीजी ने अपनी कोई बात कहनी चाही है।

'विविध प्रसंग' के पहले खण्ड में अधिकांश लेख उर्दू के प्रसिद्ध पत्र 'ज़माना' से लिये गये हैं जिससे मुंशीजी का आजीवन बहुत आत्मीय संबंध रहा। 'ज़माना' की पूरी फ़ाइल किसी एक जगह नहीं मिल सकी—'ज़माना' के अपने घर में भी नहीं। इस कमी को लखनऊ विश्वविद्यालय और अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संग्रहों से काफ़ी हद तक पूरा कर लिया गया है, तो भी कुछ अंक छूट गये जो शायद आगे कभी मिलें। इस खोज में उर्दू के प्रसिद्ध आलोचक प्रोफ़ेसर एहतेशाम हुसेन, जो सम्प्रति प्रयाग विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के अध्यक्ष हैं और डाक्टर क़मर रईस से, जिन्होंने प्रेमचंद के उपन्यासों पर काम करके डाक्टरेट ली है और जो इन दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय में उर्दू के अध्यापक हैं, बहुत मदद मिली है और मैं हृदय से उनका आभारी हूँ।

इस अवधि में मुंशीजी ने 'ज़माना' के अलावा और भी अनेक उर्दू पत्रों में जैसे मौलाना मुहम्मद अली के 'हमदर्द' और 'इम्तियाज़ अली ताज' के 'कहकशाँ' 'ज़माना' आफ़िस से ही निकलनेवाले साप्ताहिक 'आज़ाद' और कलकत्ते के मासिक पत्र 'सुबहे उम्मीद' में काफ़ी नियमित रूप से लिखा। दुर्भाग्यवश अब तक उनकी और दूसरे अनेक उर्दू पत्रों की फ़ाइलें नहीं मिल सकी हैं जिनको देखना बिल्कुल ज़रूरी है क्योंकि उनमें कहानियों के साथ-साथ यदा-कदा कुछ लेख होने की भी पूरी सम्भावना है। बहरहाल उर्दू पत्रों की तलाश और छानबीन का यह काम लंबा है और काफ़ी दिनों तक चलते रहना होगा।

'रफ़्तारे ज़माना' के नाम से एक स्थायी स्तंभ मुंशीजी ने 'ज़माना' में बहुत बरसों तक लिखा लेकिन बदक़िस्मती से उस पर मुंशीजी का नाम नहीं जाता था और कब से कब तक यह स्तंभ उनके हाथ में रहा इसका भी कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। १९३८ में जब 'ज़माना' का प्रेमचंद-स्मृति अंक निकला था तभी ज़माना-संपादक मुंशी दयानारायन निगम के लिए यह बतलाना असंभव हो गया था कि प्रेमचंद के लिखे हुए 'रफ़्तारे ज़माना' के कालम कौन से हैं। अब तो इसकी पड़ताल का कोई सवाल ही नहीं उठता। असहयोग के दिनों में, नौकरी छोड़ने के ठीक पहले, मुंशीजी ने तालीमी नान-कोआपरेशन पर एक लेख लिखा था पर वह अब तक कहीं मिला नहीं।

उर्दू के इन सब लेखों को ज्यों का त्यों छाप देना हिन्दी पाठकों के लिए बहुत कठिनाई उपस्थित करता इसलिए उनका हिन्दी रूपान्तर जरूरी हो गया।

हाँ रूपान्तर करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि मुंशीजी की भाषा और शैली की पूरी तरह रक्षा हो और केवल ऐसे ही शब्द और वाक्यांश बदले जायें जिनको बदले बिना काम न चलता हो।

विविध प्रसंग के दूसरे और तीसरे खण्डों में मूल हिन्दी सामग्री है। कुछ फुटकर लेख और टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ माधुरी और मर्यादा, स्वदेश आदि पत्रों से ली गयी हैं (जिनका संकेत भी लेख के अंत में दे दिया गया है) लेकिन अधिकांश सामग्री 'हंस' और 'जागरण' से संकलित है। मासिक पत्र होने के नाते, 'हंस' से ली गयी सामग्री के अंत में केवल महीना और सन मिलेगा 'जागरण' साप्ताहिक था उसमें तारीख भी मौजूद है।

'हंस' और 'जागरण' की इस सामग्री के लिए मैं पंडित विनोद शंकर व्यास का अनन्य आभारी हूँ जिन्होंने अपनी जतन से रखी हुई फ़ाइलें मुझे सौंपकर इस कार्य को संभव बनाया। जहाँ तक मैं जानता हूँ 'हंस और जागरण की पूरी फ़ाइल, विशेषतः जागरण की और कहीं भी उपलब्ध नहीं है। उनके सौहार्द और सहयोग से ही प्रेमचंद का यह तेजस्वी पत्रकार का रूप हिन्दी संसार के सामने प्रस्तुत करना संभव हो रहा है।

इस लंबे शोध-कार्य में जिसका सूत्रपात जीवनी लेखन से हुआ भाई महादेव साहा की निरंतर प्रेरणा का मैं कितना ऋणी हूँ इसकी स्वीकृति शब्दों से नहीं मौन से ही की जा सकती है।

भाई श्रीनाथ पाण्डेय ने कुछ लेख कलकत्ते से ढूँढ़कर भेजे। मैं उनका आभारी हूँ।

दूसरे भी कई मित्रों का मुक्त सहयोग मुझे इस कार्य में मिला है। उन सबके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अमृत राय

साहित्य-दर्शन

१९ से १४२

उपन्यास-रचना १९ प्राचीन मिस्र जाति के धर्म-तत्व २१ उपन्यास ३३ गल्पोक का प्रस्ताव ३९ साहित्य की प्रगति ४८ जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान ५५, साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता ५७ रशिद-उल-खैरी की सामाजिक कहानियाँ ५९ हल्दी की गाँठवाला पंसारी ६६ प्रेमचंद की प्रेम-लीला का उत्तर ७० सम्पादकों के पुरस्कार ७२ शान्ति-निकेतन में ७३ मेरी पसंदीदा पुस्तकें ७५ सम्पादन-कला की शिक्षा ७८ साहित्य का उत्थान या पतन ७८ क्या यह लेखिकाओं के साथ पक्षपात है? ७९ पं० जवाहरलाल जी की निराशा ८० सोवियट रूस में प्रकाशन ८१ लेखकों को जनशिक्षा का उपदेश ८३ साहित्यिक सन्निपात ८३ दुःखी जीवन ८४ अभिनन्दन ग्रन्थ और साधारण जनता ९० सम्पादन कला-विद्यालय की आवश्यकता ९१ हिन्दी में पुस्तकों का प्रकाशन ९१ साहित्य सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव ९३ बिहार-प्रान्तीय-साहित्य-सम्मेलन पूर्णिया ९४ इन्दौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ९६ तुलसी जयन्ती या तुलसी पुण्यतिथि ९९, तुलसी-स्मृति-निधि कैसे जमा की जाय १०० साहित्यिक मुंडासन १०२ इंटरव्यू क्या है? १०३ मगर यहाँ क्या हुआ १०३ भारतीय साहित्य और पं० जवाहरलाल नेहरू १०५ राष्ट्रभाषा कैसे समृद्ध हो १०८ विदेशी से हमारा नम्र निवेदन ११० साहित्यिक संस्थाओं की आवश्यकता १११ पटना का हिन्दी साहित्य परिषद् ११४ हिन्दी-साहित्य के विद्यालय ११५ भारतीय साहित्य परिषद् ११७ प्रगतिशील लेखक-संघ ११८ हिन्दी लेखक संघ का एक रूप ११९ पुस्तकालय आन्दोलन १२० परिशिष्ट १२१ पत्रों के ग्राहकों का भावविज्ञानक व्यवहार १२८ जापान में पत्रों का प्रचार १२९, एक सार्वदेशिक साहित्य-संस्था की आवश्यकता १३१ हिन्दी लेखक संघ १३१ पटना का हिन्दी-साहित्य परिषद १३४ लंदन में भारतीय साहित्यकारों की एक नयी संस्था १३५ साहित्य सम्मेलन के विषय में १३८ अखिल भारतवर्षीय पुस्तकालय-संघ १३९, श्री कम्पू और भावी जगत् १४० ।

धर्म-समाज

१४५ से १६२

तसवीर के दो रुख १४७ अभिवादन १४८ राहु के शिकार १४९ अजमेर में आर्यसमाज-निर्वाण अर्धशताब्दी १५० महात्मा जी का बौद्ध मिशनरी को जवाब १५० स्वर्गीय रामकृष्ण सेवाश्रम १५१ विदेश यात्रा और प्रायश्चित्त १५२ अच्छी और बुरी साम्प्रदायिकता १५२ जाति भेद मिटाने की एक आयोजना १५३ रूस में धर्म विरोधी आन्दोलन १५४ हिन्दू समाज के बीभत्स दृश्य १ १५४ हिन्दू समाज के बीभत्स दृश्य-२ १५७ हिन्दू समाज के बीभत्स दृश्य ३ १६१ ।

स्वदेशी

१६१ से १७८

स्वदेशी की आड़ में लूट १६१ प्रयाग की स्वदेशी प्रदर्शिनी १६५ स्वदेशी पर मालवीय जी १६६ भारतीय चीनी के कारखानों का सम्पात १६७ असली और नकली स्वदेशी चीजें १६८ शक्कर मिलों की धूम १६८ स्वदेशी १६९ भारतीय कपड़ा और भारतीय रुई १७१ शक्कर पर एक्साइज ड्यूटी १७२ संरक्षण क्यों रखा जाय १७२ ग्राहकों का बलिदान मिल-मालिकों के लिए १७३ मि० मोदी की उदारता १७४ चर्खों की धूम १७४ आल इंडिया स्वदेशी सभा १७५ कोक पर लाग १७६।

शिक्षा-संस्कृति

१७९-२४५

गुरुकुल कांगड़ी में तीन दिन १८१ बच्चों को स्वाधीन बनाओ १८५ मानसिक पराधीनता १८८ राष्ट्रीय कार्यों में गुलामी १९४ अंग्रेजी भाषा का रोग १९४ फौजी कालेज की आयोजना १९५ नवीन और प्राचीन १९५ संयुक्त प्रान्त के दो कन्वोकेशन १९८ स्वामी श्रद्धानन्द और भारतीय शिक्षा प्रणाली २०१ सवाक फिल्मों के दिन गिने हुए हैं २०३ जागृति २०४ जागृति-२ २०५ देहली के जामिया मिल्लिया की रिपोर्ट २०६ सर पी० सी० राय का युवकों को आदेश २१० इलाहाबाद युनिवर्सिटी के नये वाइस चांसलर २११ स्कूलों में स्वास्थ्य-परीक्षा २११ गोरखपुर में शिक्षा सम्मेलन २१२ सम्पादक सम्मेलन २१३ संयुक्त प्रान्त में शिक्षा का प्रचार २१३ रवीन्द्र का शान्ति-निकेतन २१४ फेल होनेवाले लड़के २१५ काशी में शिक्षा मन्त्री का शुभागमन २१६ लखनऊ विश्वविद्यालय २१७ भारत में बाल साहित्य २१७ सिनेमा संसार में एक नयी योजना २१८ ब्राडकास्टिंग देहातों में २१९ प्रयाग में रामलीला २१९ एक उचित परामर्श २२० शिक्षा का नया आदर्श २२१ भारत में मद्य २२२ प्रयाग की रामलीला बंद २२३ जस्टिस जैन के दौरे २२४ हिन्दी साहित्य में ईश्वर की प्रोफेसरी २२४ कारमाइकेल साहब टी० की हीरक जयन्ती २२७ सिनेमा और युवक २२८ सर पी० सी० राय का दीक्षान्त भाषण २२९ सर तेज बहादुर सप्रू का भाषण २३१ डाक्टर टैगोर बम्बई में २३१ साम्प्रदायिकता और संस्कृति २३२ हवा का रुख २३५, जर्मनी में नाच पर बंदिश २३६ स्वामी-सत्यदेव पाठशाला २३६ भारतीय कला की आत्मा २३७ चमारों के लिए संतोष की बात २३८ त्योहारों में दंगे २३९ भारत में पुर प्रथा २३९ स्वास्थ्य और शिक्षा २४१ महात्मा जी की जयन्ती २४१ प्रयाग महिला-विद्यापीठ की साहित्यिक प्रगति २४४ प्रयाग महिला विद्यापीठ की नयी योजनाएँ २४५।

महिला-जगत्

२४७ — २७०

मिस्टर हरबिलास शारदा का नया कानून २४९ नारि-जाति के अधिकार २४९ तलाकों की संख्या क्यों बढ़ती जाती है ? २५ सिनेमा स्टारों के अर्धनग्न चित्र २५१ गाजीपुर के को-आपरेटिव सम्मेलन में संतान निग्रह २५१ महिला-सभाओं में संतान-निग्रह का प्रस्ताव २५२ मिस मेयो की आत्मा एक पारसी महिला के वेष में २५२ भारतीय महिलाओं में नवीन जागृति २५३ बालिकाओं का सुकार्य २५४ इंग्लैंड का नैतिक पतन २५४ कायस्थ कान्फ्रेंस २५५ एक उपयोगी प्रस्ताव २५६ सर हरिसिंह गौड़ का तलाक बिल २५७ लखनऊ की वेश्याओं में नयी जागृति २५६ एक दुःखी बाप २६ औरतों का क्रय-विक्रय २६१ वेश्यावृत्ति २६२ अनाथिनी विधवा २६२ महिला विद्यालयों मे बिहारी सतसई २६२ प्रयाग में महिला-व्यायाम मंदिर २६३ विधवाओं के गुजारे का बिल २६४ महिला सम्मेलन में सन्तान-निग्रह २६५ कुमारी शिक्षा का आदर्श २६६ महिलाओं की शिक्षा पर पं जवाहरलाल नेहरू २६६ रूस का नैतिक उत्थान २६७ वैवाहिक लेन-देन और कानून २६८ क्या स्त्रियों का पाजामा पहनना जुर्म है ? २६८ सन्तान निग्रह और प्राकृतिक नियम २६९ नारियों के साथ अन्याय क्यों २७ ।

राष्ट्रभाषा

२७१—३२०

भारत की राष्ट्रभाषा २७१ बड़ौदा राज्य में हिन्दी २७४ हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी वाद-विवाद २७४ हिन्दी द्वारा उच्च शिक्षा २७५ पुरानी उर्दू २७६ दक्षिण मे हिन्दी प्रचार २७७ तृतीय दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचारक सम्मेलन २७९ हिन्दी भाग मानी मलयम की हिन्दी भाषियों से अपील २८ हिन्दुस्तानी एकाडमी २८२ तिमाही या त्रैमासिक २८१ एक हिन्दी-साहित्य विद्यालय की जरूरत २८३ मौली अब्दुल कादिर का राष्ट्रभाषा प्रेम २८४ काश्मीर की एसेम्बली में उर्दू २८४ तेईसवें हिन्दी-साहित्य सम्मेलन पर एक दृष्टिपात २८५ प्रथम दिवस २८६ दूसरा दिन २८६ तीसरा दिन २८७ चौथा दिन २८७ मैं राष्ट्रभाषा का राष्ट्र २८८ हिन्दी का जामा २९१ उपभाषाओं का उद्धार २९१ हिन्दी उर्दू और हिन्दोस्तानी २९२ दक्षिण भारत मे हमारी हिन्दी प्रचार यात्रा २९१ संयुक्त सूबे में हिन्दी और गुरुमुखी का बहिष्कार ३१ हिन्दुस्तान की कौमी जबान ३१४ हिन्दुस्तानी एकाडमी का सालाना जलसा ३१४ राष्ट्रलिपि ३१५, हिन्दुस्तानी एकाडमी का वार्षिक सम्मेलन ३१६ दिल्ली में हिन्दुस्तानी सभा ३१८ ।

नीर-क्षीर

३९१—३९५

श्रद्धांजलियाँ

३९७-४४५

मुंशी गोरख प्रसाद 'इबरत' ३९९ हँगामए हसरत ४०० स्वर्गीय पंडित मदन द्विवेदी ४०१ देशबन्धु चितरंजन दास ४०४ मौलाना हसरत मोहानी ४११ मुंशी विष्णु-नारायण भार्गव ४१४ कर्मवीर विद्यार्थी जी ४१७ पं० पद्मसिंह जी शर्मा का स्वर्गवास ४१९ डाक्टर एनी बेसेंट की हिरकबीं जयन्ती ४२० रूस का भाग्य-विधाता ४२१ सर अलीइमाम की स्वर्ग-यात्रा ४२२ मि० जामसेद ताता ४२२ श्रीयुत सहगल का पद-त्याग ४२३ बधाइयाँ ४२४ अभिनन्दन ४२५ हिज जी को बधाई ४२८ श्री राहुल सांकृत्यायन जी ४२८ श्रद्धांजलि ४२९ राजा राममोहन राय ४३१ मिसेज एनी बेसेंट का स्वर्गवास ४३२ मृत्यु पर विजय ४३२ श्री रंगस्वामी आयंगर की शोकजनक मृत्यु ४३४ राजा सर मोतीचंद का स्वर्गवास ४३५ स्व० पंडित बदरीनाथ भट्ट ४३५ स्वर्गीय पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ४३७ स्वर्गीया मैडम क्यूरी ४३८ डाक्टर हीरालाल का स्वर्गवास ४३८ कालाकांकर नरेश का स्वर्गवास ४३९ श्रद्धांजलि ४४० स्वर्गीय सूर्यनाथ तकरू ४४१ स्वर्गीय मौलाना हाली की शताब्दी-जयंती ४४१ मि० फिल्पिस का स्वर्गवास ४४२ सम्राट जार्ज पंचम का स्वर्गारोहण ४४३ हजरत राशिद खैरी का स्वर्गवास ४४३ श्रीमती कमला नेहरू का स्वर्गवास ४४४ श्री मैथिली शरण स्वर्ण-जयन्ती ४४४ डाक्टर एम० ए० अंसारी का स्वर्गवास ४४५।

फुटकर चुटकुले

४४७-४६४

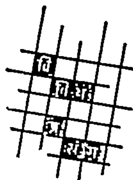
न्याय का प्रश्न ४४९ बनारस की दीवानी कचहरियाँ ४५० न्याय में विलम्ब अन्याय है ४५१ अंग्रेजी न्याय-परम्परा ४५२ अदालतों में चोरी ४५२ संयुक्त प्रान्त में फसलों की हालत ४५३ कारखानों में जुआ ४५४ जुए का युग ४५४ जुए का युग ४५५ नगरों में दुर्घटनाएँ ४५६ खूब फल खाओ ४५७ पश्चिमी व्यायाम का पागलपन ४५७ मोटर व्यवसाय ४५८ टेहरी और बदरीनाथ का मन्दिर ४५८ हमारी संस्थाओं में व्यक्तिगत द्वेष ४५९ माउंट एवरेस्ट की चढ़ाई ४५९ श्री प्राणनाथ विद्यालंकार की अद्भुत खोज ४६१ बंग सम्मेलन ४६२ भारत के कोढ़ी ४६२ काशी में पोस्टमैनों की कांग्रेस ४६२ बी० एन० डब्लू रेलवे ४६३ विदेशी कपड़े पर कांग्रेस की मुहर ४६४ ताऊन की देख-रेख ४६४ बाघ के लिए शेर की सजा ४६४ फलों की खेती कैसे

भद्दी आय ४६५, विज्ञापन-कला ४६५, बेकारी का स्वास्थ्य पर प्रभाव ४६५ भीषण दुर्घटना ४६६ पन्द्रह दिनों में मच्छरों की फसल ४६७ अंग्रेजी समाचारपत्रों का प्रचार ४६७ एवरेस्ट की विजय ४६७ वस्तु का सदुपयोग ४६८ रिश्वत की गरम बाजारी ४६८ हमारी सर्वोत्तम मार्ग्रेट ४६९ भीषण नाव दुर्घटना ४७१ नया रेलवे बोर्ड ४७२ मध्यप्रान्त में आबकारी से आमदनी ४७२ काशी में बिजली ४७३ तम्बाकू पीने पर सजा ४७५ कल्पना की उड़ान ४७५ काशी में कमिश्नरों की चोरी ४७६ गाजीपुर का संगम ४७६ दस साल की कैद ४७७ प्रयाग में मातृत्व की वृद्धि ४७७ पाकिस्तानियों का भयंकर परिणाम ४७८ बेकारी के करिश्मे ४७८ सामाजिक नियन्त्रण की जरूरत है या नहीं ४७९ पेरिस में भीषण दुर्घटना ४८० एम० सी० सी० की धूम ४८० एम० सी० सी० की जय ४८१ सी० पी० सरकार की सतर्कता ४८१ बैंकरों की फरियाद ४८२ डाक्टर भी संरक्षण चाहते हैं ४८२ कोर्ट-शिप ४८३ डाकों की धूम ४८३ अंग्रेजी औषधियों का बल-पूर्वक प्रचार ४८४ पत्रों में अधूरी खबरें ४८५, बातचीत करने की कला ४८५, गांधीवाद का नया रूप ४८ ।

हंस कथा

४९१—५०४

कुछ अपने विषय में ४९१ भारतीय साहित्य का संगठन ४९४ 'हंस' नये रूप में ४९७ 'हंस' का नया रूप ४९९ भारतीय साहित्य के संगठन की एक आलोचना ५०० श्री मुंशी कन्हैयालाल एम० ए० का पत्र ५०१ प्रोफेसर सिल्वन लेवी का व्याख्यान ५०४।



साहित्य-दर्शन

उपन्यास-रचना

भारत-निवासियों ने यूरोपियन साहित्य के किसी अंग को इतना ग्रहण नहीं किया जितना उपन्यास को। यहाँ तक कि उपन्यास अब हमारे साहित्य का एक अविच्छेद्य अंग हो गया है। उपन्यास का जन्म चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग हुआ। शेक्सपियर ने अपने कई नाटकों की रचना इटालियन उपन्यासों के ही आधार पर की है। यह शैली इतनी प्रिय हुई कि आज समस्त संसार में साहित्य पर उपन्यास ही का आधिपत्य है। गत पचास वर्षों में भारत की साहित्यिक शक्ति का जितना उपयोग उपन्यास-रचना में हुआ उतना शायद साहित्य के और किसी भाग में नहीं हुआ। बंगला ने बंकिम पैदा किया गुजराती ने गोवर्धनदास मराठी ने आप्टे उर्दू ने रतननाथ और शरर जो संसार के किसी उपन्यासकार से घटकर नहीं हैं। हिन्दी ने पहले अद्भुत रस के उपन्यासकार पैदा किये पर अब धीरे-धीरे उसमें चरित्र-चित्रण मनोभाव और जासूसी के उपन्यास प्रकाशित होने लगे हैं, और आशा है कि वह थोड़े ही दिनों में इस विषय में किसी मानि भाषा से दबकर नहीं रहेगी। वास्तव में उपन्यास-रचना को सरस साहित्य (Ligl literature) कहा जाता है, इसलिए कि इससे पाठकों का मनोरंजन होता है। प उपन्यासकार को उपन्यास लिखने में उतना ही दिमाग लगाना पड़ता है, जितना किसं दार्शनिक को दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थ लिखने में। उसे सबसे पहले उपन्यास का विषय सोचना पड़ता है। क्या लिखे? भौतिक वैभव की असारता दिखावे या मनोभावों का पारस्परिक संग्राम? कोई गुप्त रहस्य चुने या किसी ऐतिहासिक घटना का चित्रण करे? लेखक अपनी रुचि और प्रकृति के अनुकूल ही इनमें से कोई विषय पसन्द कर लेता है। विषय निर्धारित हो जाने के पश्चात् उसे प्लाट की चिन्ता होती है। वह सोता हो या जागता चलता या बैठा इसी चिन्ता में डूबा रहता है। कभी-कभी उसे सोच-विचार में महीनों बरसों लग जाते हैं। इस चिन्ता में लेखक जितना ही व्यस्त होगा उतनी ही उत्तम उसकी रचना होगी—

उपन्यास की बुनियाद पड़ गयी। अब हम अपना भवन खड़ा करने के लिए मसाले की आवश्यकता होती है। उसके मुख्य साधन ये हैं

१—अवलोकन २—अनुभव । ३—स्वाध्याय ४—अंतर्दृष्टि ५—जिज्ञासा ६—विचार-मन्थन ।

कहते हैं, अमरीका के सुविख्यात साहित्यकार मार्क ट्वेन ने इस बात का अनुभव प्राप्त करने के लिए कि बिना टिकट रेल-ट्राम में सफर करनेवालों के चित्त की क्या दशा होती है कई बार बिना टिकट सफर किया। ऐसे ही रूस और जर्मन ने पेरिस

के चकलों की तस्वीर खींचने के लिए महीनों शोहदों और गुण्डों की संगति की। एक तीसरे महाशय ने चोर के हृदय के भावों को जानने के लिए स्वयं सेंध तक मारी। इसका कारण यह जान पड़ता है कि पाश्चात्य देश के लेखक कल्पना-शून्य होते हैं। उपन्यासकार को ऐसी दशाओं और मनोभावों के वर्णन करने में अपनी कल्पना-शक्ति ही सबसे बड़ी मददगार है। ऐसा बिरला ही कोई प्राणी होगा जिसने बचपन में पैसे या मिठाई न चुरायी हो या चोरी से मेला या तमाशा देखने न गया हो अथवा पाठशाला में अध्यापक से बहाने न किये हों। यदि कल्पना-शक्ति तीव्र हो तो इतने अनुभव को चोरों और डकैतों के मनोभाव चित्रित करने में कृतकार्य कर सकती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कृत्रिम अवस्थाओं में जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे स्वाभाविक नहीं हो सकते। फिर भी उपन्यास की सफलता के लिए अनुभव सर्वप्रधान मन्त्र है। उपन्यास-लेखक को यथासाध्य नये-नये दृश्यों को देखने और नये-नये अनुभवों को प्राप्त करने का कोई अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए।

प्राणियों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए दूसरा साधन अपने भावों को टटोलना है। सर फिलिप सिडनी का कहना था कि 'अपनी निगाह अपने हृदय में डालो और जो कुछ देखो लिखो। लेखक अपने को कल्पना के द्वारा जितनी ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रख सकता है, उतना ही सफल-मनोरथ होता है। तुलसीदास ने पुत्र-शोक कितनी सफलता से दिखाया है। निश्चित ही है कि उन्हें इस शोक का प्रत्यक्ष अनुभव न था। अपने को शोकातुर, वियोगी पिता के स्थान में रखकर ही उन्होंने उन भावों का अनुभव किया होगा।

स्वाध्याय से भी उपन्यासकार को बड़ी मदद मिलती है। एक ऋषि का वचन है कि स्वाध्याय मनुष्य को सम्पूर्ण बना देता है। कुछ लोगों का कहना है कि उपन्यास लेखक को पढ़ना न चाहिए, इससे उसकी मौलिकता मारी जाती है। पर स्वर्गीय डी० एल० राय ने कहा है—जिस लेखक की मौलिकता पुस्तकावलोकन से मारी जाती है उसमें मौलिकता है ही नहीं। स्वाध्याय का उद्देश्य यह न होना चाहिए कि किसी कुशल लेखक के भाव और विचार उड़ाये जायँ बल्कि अपने भावों और विचारों की अन्य लेखकों से तुलना की जाय और उससे अच्छी रचना करने के लिए अपने को प्रोत्साहित किया जाय। अगर हमें किसी लेखक की रचना में ऐसा कोई स्थान दिखायी दे जहाँ उसकी कल्पना शिथिल पड़ गयी है तो हम प्रयत्न करें कि उसी के अनुरूप स्थान पर उससे अच्छा लिख सकें। लेखक को—और विशेष कर उपन्यास-लेखक को—विविध साहित्य का भलीभाँति अध्ययन किये बिना कलम न उठाना चाहिए। यह बात नहीं है कि बिना बहुत पढ़े कोई अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकता। जिन्हें ईश्वर ने प्रतिभा दी है, उनके लिए बहुत पढ़ना अनिवार्य नहीं है। लेकिन जिस प्रकार बिना व्याकरण पढ़े हुए चाहे हम शुद्ध लिखें पर अशुद्धियों से बचने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं रहता उसी प्रकार

तुलना और स्वाध्याय से हमें अपनी त्रुटियों का बोध होता है हमारी बुद्धि विकसित होती है और उन साधनों की झलक मिल जाती है जिनके द्वारा किसी बड़े लेखक ने सफलता प्राप्त की।

कुछ लोगों को भ्रम है कि अपनी रचनाओं के विषय में किसी से कुछ पूछने या राय लेने से उनका अपमान होता है। पर वास्तव में लेखक को जिज्ञासा की उतनी ही जरूरत है जितनी कि किसी विद्यार्थी को। फ्रान्सिस बेकन के विषय में कहा जाता है कि वह सदव ऐसे पुरुषों से जिज्ञासा करता रहता था जो किसी विषय में उससे अधिक ज्ञान रखते थे। कोई आदमी चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो सब विषयों का ज्ञाता नहीं हो सकता। उसे अगर किसी से कुछ पूछना पड़े तो संकोच क्यों करे ? डी० एल० राय महोदय जब कोई ड्रामा लिखते थे तो उसे अपने रसिक मित्रों को सुनाते थे उनकी आलोचना का उत्तर देते थे और जहाँ कहीं कायल हो जाते थे अपनी रचना में काट-छाँट कर देते थे। कभी उन्हें अध्याय के अध्याय और सीन के सीन बदलने पड़ जाते थे। लेखक को सदैव अपना आदर्श ऊँचा रखना चाहिए। उसके मन में यह धारणा होनी चाहिए कि या तो कुछ लिखूँगा ही नहीं या लिखूँगा तो कोई अच्छी चीज जिससे बढ़कर उसी विषय पर फिर शायद कोई न लिख सके।

कभी-कभी ऐसा होता है कि रास्ता चलते-चलते कोई नयी बात सूझ जाती है अथवा कोई नया दृश्य आँखों के सामने से गुजर जाता है। लेखक में ऐसा गुण होना चाहिए कि वह उसे भावों और दृश्यों को स्मृति-पट पर अंकित कर ले और आवश्यकता पड़ने पर उनका व्यवहार करे। कुछ लेखकों की आदत होती है कि वे अपने साथ नोट बुक रखते हैं और ऐसी बातें उसमें तुरन्त टाँक लेते हैं। जिस लेखक को अपनी स्मरण-शक्ति पर विश्वास न हो उसे अपने साथ नोटबुक अवश्य रखनी चाहिए। डायरी लिखना भी अपने विचारों को लेख-बद्ध करने की आदत डालता है।

प्लाट उन घटनाओं को कहते हैं जो उपन्यास के चरित्रों पर घटित हों। लेकिन केवल घटनाओं का बयान करने ही से कहानी में मनोरंजकता का गुण नहीं पैदा हो सकता। उन घटनाओं को कल्पना द्वारा ऐसा सजीव बनाना चाहिए कि उनमें वास्तविकता झलकने लगे। एक उपन्यासकार ने लिखा है कि यूक्लिडिस† की भाँति हम लोगों को अपनी कथा सामने रख देनी चाहिए और तब उसके हल करने में प्रस्तुत हो जाना चाहिए। यूक्लिडिस की विचार शृंखला में कोई ऐसी युक्ति प्रविष्ट नहीं हो सकती जिसके लिए वहाँ अनिवार्य रूप से स्थान न हो। हम भी उसी का अनुसरण करके उच्च कोटि के उपन्यासों की रचना कर सकते हैं। साधारणतः प्लाट वह कथा है जो उपन्यास पढ़ने के बाद साधारण पाठक के हृदय-पट पर अंकित हो जाती है। पुरानी ढंग की कथाओं में बस प्लाट ही प्लाट होता था। उनमें रंग और रोमांस की मात्रा न रहती थी इसलिए

†यूनानी ज्यामितिकार यूक्लिड (Euclid)—सं

वह चित्र इतना भड़कीला न होता था। आजकल पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यास की कथा दस-पाँच पंक्तियों में ही समाप्त हो जाती है। लेकिन इन्हीं दस-पाँच पंक्तियों के सोचने में उपन्यासकार को जितना मनन और चिंतन करना पड़ता है, उतना सारा उपन्यास लिखने में भी नहीं करना पड़ता। वास्तव में प्लाट सोच लेने के बाद फिर लिखना बहुत आसान हो जाता है। लेकिन प्लाट सोचने के साथ ही चरित्रों की कल्पना भी करनी पड़ती है, जिनके द्वारा वह प्लाट प्रदर्शित किया जाय। चार्ल्स डिकेन्स के विषय में लिखा है कि जब वह किसी नये उपन्यास की कल्पना करते थे तो महीनों तक अपने कमरे को बन्द कर विचार-मग्न पड़े रहते थे न किसी से मिलते थे न कहीं सैर करने ही जाते थे। जब दो-तीन महीने के बाद उनके किवाड़ खुलते थे तो उनकी दशा किसी रोगी से अच्छी न होती थी मुख पीला आँखें भीतर को धँसी हुई शरीर दुर्बल। थैकरे के विषय में लिखा हुआ है कि वह सन्ध्या समय किसी नदी के तट पर बैठकर अपने प्लाट सोचा करता था। पर प्लाट को जल्द या देर में कल्पित कर लेना लेखक की बुद्धि-सामर्थ्य पर निर्भर है। जार्ज सैण्ड फ्रान्स की सुविख्यात लेखिका है। उसने सौ से कम उपन्यास नहीं लिखे। पर उसे प्लाट सोचने में बुद्धि नहीं लड़ानी पड़ती थी। वह कलम हाथ में लेकर बैठ जाती थी और लिखने के साथ ही प्लाट भी बनता चला जाता था। सर वाल्टर स्काट के बारे में यही मशहूर है कि वह प्लाट सोचने में मस्तिष्क नहीं लड़ाते थे। कुछ कहानियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें कोई प्लाट ही नहीं होता। मार्क ट्वेन का Innocents Abroad इसी ढंग का उपन्यास है।

प्लाटों की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। साधारणतः उसके छः भेद माने गये हैं—

१—कोई अद्भुत घटना।

२—कोई गुप्त रहस्य।

३—मनोभाव-चित्रण।

४—चरित्रों का विरुद्धपक्ष और तुलना।

५—जीवन के अनुभवों को प्रकट करना।

६—कोई सामाजिक या राजनीतिक सुधार।

(१) अद्भुत—कहानी वही अद्भुत होती है जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हो। प्राचीन कथाएँ बहुधा इसी किस्म की होती थीं। ऐसी कहानी का उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन है। पहले से कल्पना की वृद्धि होने के कारण बहुधा बालकोपयोगी कहानियों में यह प्रणाली उपयुक्त समझी जाती है। प्रौढ़ावस्था में ऐसी कहानियों में जी नहीं लगता। बहुधा नैतिक और आचरण-सम्बन्धी उपदेश भी ऐसी कहानियों द्वारा दिये जाते हैं। इंग्लैंड के विख्यात लेखक स्विफ्ट ने 'गुलीवर की यात्रा' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक में समाज पर व्यंग किया है। वह भी अद्भुत घटनाओं का ही सहारा लेता

है। बहुधा दृष्टान्तों या 'ऐलीगरी' में अद्भुत घटनाओं द्वारा जीवन के गूढ़ तत्त्व हल किये जाते हैं। इंग्लैंड में जान बनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' अद्वितीय ऐलीगरी है। हमारे यहाँ प्राचीन ऋषियों ने बहुधा दृष्टान्तों द्वारा ही जन-साधारण को उपदेश दिये हैं। महाभारत पुराण उपनिषद् आदि में ऐसे दृष्टान्त भरे पड़े हैं। वर्तमान समय में टाल्सटाय और हॉथर्न ने बहुत ही शिक्षाप्रद और अनूठे दृष्टान्त रचे हैं। अतएव अप्राकृतिक घटना-प्रधान उपन्यासों की रचना यदि बहुत सरल है तो उसके साथ ही अत्यन्त कठिन भी है।

(२) गुप्त रहस्य—जासूसी के उपन्यास सब इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के उपन्यास लिखने में लेखक को दो बड़ी शंकाओं का सामना करना पड़ता है। सम्भव है रहस्य आरम्भ से ही खुल जाय अथवा लेखक का रहस्योद्घाटन पाठक को संतोषप्रद न हो। भारतवर्ष में पहले ऐसी कहानियों की प्रथा न थी। योरोप में ऐसी कहानियों को लोग बड़े शौक से पढ़ते हैं। इधर कुछ दिनों से प्राकृतिक घटनाएँ भी रहस्यों द्वारा प्रकट की जाने लगी हैं। इंग्लैंड में कॉनन डायल इस श्रेणी के उपन्यासकारों में बहुत सिद्ध हस्त हैं, फ्रान्स में मार्स लेब्लांक और अमरीका में पो। कॉनन डायल अभी जीवित हैं और अब आपराधिक विषयों की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति है। जासूसी उपन्यासों में लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने में लगा देता है। ऐसी घटनाओं में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना या रहस्य का खोलना जाहिरा असम्भव प्रतीत हो पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यों न सूझी यह तो बिल्कुल साधारण बात थी। इसके साथ पाठक उस रहस्य को किसी दूसरी रीति से खोलने में असमर्थ हो। लेखक का कौशल इस बात में है कि जिस चरित्र को पाठक और लेखक स्वयं दोषी समझते हों वह अंत में निरपराध सिद्ध हो जाये। ऐसे उपन्यास बहुत ही रोचक होते हैं और उनके पढ़ने से बुद्धि तीव्र होती है, कठिन समस्याओं में दिमाग लड़ाने की शक्ति पैदा होती है। मगर उनका लिखना इतना कठिन है कि अब तक हिन्दी में सिवा कॉनन डायल या अन्य लेखकों की कहानियों के अनुवाद के सिवा किसी ने स्वतंत्र कल्पना नहीं की।

(३) मनोभाव का चित्रण—ऐसे उपन्यासों में लेखकों का ध्यान घटना-वैचित्र्य की ओर बहुत कम रहता है। वह ऐसी ही घटनाओं की आयोजना करता है जिनमें उसके चरित्रों को अपने मनोभावों के प्रकट करने का अवसर मिले। घटनाएँ कम होती हैं पात्रों के विचार अधिक। टाल्सटाय के उपन्यासों में यही गुण प्रधान है। ऐसे उपन्यासों को रचने के लिए आवश्यक है कि लेखक अपने को विविध अवस्थाओं में रख सके। इस प्रकार की कहानियों में लेखक को पाठकों के सामने अनिवार्य रूप से अधिकतर अपना ही हृदय खोलकर रखना पड़ता है। दूसरों के मनोगत भावों को जानने का उसके पास और क्या साधन हो सकता है? कोई अपने मन का भाव किसी से नहीं कहता बल्कि

और छिपाता है। मगर किसी को किसी मित्र के मनोभावों का ज्ञान हो भी सकता है, तो बहुत कम। इसलिए ऐसे उपन्यास लिखना लोहे के चने चबाना है। उपन्यासकार को नित्य अपने अंतर की ओर ध्यान रखना पड़ता है। जार्ज इलियट के उपन्यास अधिकतर इसी श्रेणी के हैं।

(४) चरित्रों का विश्लेषण और (५) जीवन के अनुभवों को प्रकट करना—इन दोनों प्रकारों के उपन्यास लिखने के लिए जरूरी है कि लेखक में दिव्य कल्पना-शक्ति के साथ अवलोकन और निरीक्षण की भी प्रचुर मात्रा हो। इसीलिए कहा गया है कि उपन्यासकार को सभी श्रेणी के मनुष्यों से मिलना-जुलना आवश्यक है। उसे अपनी आँखें और कान सदैव खुले रखने चाहिए। एक ही परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न विचारों के व्यक्ति क्या करते हैं, एक ही घटना दोनों को किस प्रकार प्रभावित करती है, इसका निश्चय सहज नहीं है। अनुभव बाह्य जगत्-सम्बन्धी भी होते हैं और अंतर-जगत-सम्बन्धी भी। लेखक को प्राकृतिक दृश्यों का विचित्र घटनाओं का बड़े ध्यान से अवलोकन करना चाहिए। प्रातःकाल समीर के झोंकों से नदी की तरंगों की कैसी छटा होती है, बादल कौन-कौन से रूप धारण करता है, ऐसे अगणित दृश्य सफलता के साथ वही लिख सकता है जिसने स्वयं उनको गौर से देखा हो। केवल कल्पना यहाँ काम नहीं दे सकती। लाजिम है कि लेखक वही दृश्य दिखावे उन्हीं चरित्रों की तुलना करे, जिनका उसने स्वयं अनुभव किया हो। जिसने समुद्र नहीं देखा वह किसी बंदर का दृश्य क्योंकर लिखेगा? जिसने ग्रामीणों की संगति नहीं की वह ग्रामीण जीवन का चित्र क्योंकर खींच सकता है? यही सफलता प्राप्त करने के लिए योरोप के कई विख्यात उपन्यासकारों ने वेश बदलकर उन स्थितियों का अध्ययन किया है जिनके आधार पर वे अपना उपन्यास लिखना चाहते थे।

(६) कोई सामाजिक या राजनैतिक सुधार—किसी उद्देश्य विशेष से लिखे गये उपन्यासों की संख्या आजकल सभी भाषाओं में बहुत अधिक है। उर्दू में भी ऐसे कितने ही उपन्यास हैं, मुख्य भाषाओं का तो कहना ही क्या? आजकल 'सुधार-सुधार' के घोर नाद से सारा वायुमंडल निनादित हो रहा है। कहीं पुलिस के सुधार की चर्चा है, कहीं कारागारों की कहीं न्यायालयों की कहीं सामाजिक प्रथाओं की कहीं शिक्षा-पद्धति की। यह विवादास्पद विषय है कि उपन्यास किसी उद्देश्य से लिखना चाहिए या नहीं। प्रवीण समालोचकगण की राय में साहित्य का उद्देश्य केवल भाव-चित्रण ही होना चाहिए। उद्देश्य से लिखी हुई कहानियों में बहुधा लेखक को विवश होकर असंगत बातें कहनी पड़ती हैं, अनावश्यक घटनाओं की आयोजना करनी पड़ती है, और सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसे उपदेशक का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। मगर रसिक समाज किसी से उपदेश लेना नहीं चाहता उसे उपदेशों से अरुचि है और उपदेशकों से घृणा। वह केवल मनोरंजन और मनोरंजन चाहता है। पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि अत

शताब्दी में पाश्चात्य देशों में जितने सुधार हुए हैं उनमें अधिकांश का बीजारोपण उपन्यासों के ही द्वारा किया गया था। डिकेंस के प्राय सभी उपन्यास टाल्सटाय के कई उत्तम उपन्यास मैक्सिम गोर्की तुर्गनेव बालजक ह्यूगो मेरी करेली चोला आदि प्रभाव उपन्यासकारों ने सुधारों ही के उद्देश्य से अपने ग्रन्थ रचे हैं। हाँ कुशल लेखक का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह सुधार के जोश में कथा की रोचकता को कम न होने दे। वह उपन्यास और अपने चरित्रों को उन्हीं परिस्थितियों में रखे जिनको वह सुधारना चाहता है। यह भी परमावश्यक है कि वह सुधार के विषय को खूब सोच ले और युक्ति से काम न ले नहीं तो उसका प्रभाव कभी सफल न हो सकेगा। लेखक वर्ग प्राय अपने काल के विधाता होते हैं। उनमें अपने देश को अपने समाज को दुख अन्याय तथा मिथ्याचार से मुक्त करने की प्रबल आकांक्षा होती है। ऐसी दशा में असम्भव है कि वह समाज को अपने मनमाने मार्ग पर चलने दे और स्वयं खड़ा हाथ पर हाथ रखे देखता रहे। वह अगर और कुछ नहीं कर सकता तो कलम तो चला ही सकता है। शेक्सपियर और कालिदास के समय में सुधार की आवश्यकता आज से कम न थी लेकिन उस समय राजनीतिक ज्ञान का इतना प्रसार न था। रईस लोग भोग-विलास करते थे कवि और लेखक उनकी विलास-वृत्तियों को और उत्तेजित करते थे। प्रजा पर क्या गुजरती है, इधर किसी का ध्यान न था। यह समय जीवन-संग्राम का है। आज हम जो शिक्षित कहलाते हैं, तटस्थ होकर अन्याय होते नहीं देख सकते।

प्लाट का महत्व जानने के बाद अब हम यह जानना चाहेंगे कि अच्छे प्लाट में कौन-कौन सी बातें होनी चाहिए। समालोचकों के मतानुसार वे ये हैं—सरलता मौलिकता रोचकता।

प्लाट सरल होना चाहिए। बहुत उलझा हुआ पेचीला शैतान की आँत पढ़ते-पढ़ते जी उकता जाय ऐसे उपन्यास को पाठक ऊबकर छोड़ देता है। एक प्रसंग अभी पूरा नहीं होने पाया कि दूसरा आ गया वह अभी अधूरा ही था कि तीसरा प्रश्न आ गया इससे पाठक का चित्त चकरा जाता है। पेचीदा प्लाट की कल्पना इतनी मुश्किल नहीं है, जितनी किसी सरल प्लाट की। सरल प्लाट में बहुत-से चरित्रों की कल्पना नहीं करनी पड़ती इसीलिए लेखक को अल्पसंख्यक चरित्रों के भाव-विचार, गुण-दोष आचार व्यवहार को सूक्ष्म रूप से दिखाने का अवसर मिल जाता है, इससे उसके चरित्रों में सजीवता आ जाती है और वह पाठक के हृदय पर अपना अच्छा या बुरा असर छोड़ जाते हैं। यह बात बहुसंख्यक चरित्रों के साथ नहीं प्राप्त हो सकती। प्लाट में मौलिकता का होना भी जरूरी है। जिस बात या विषय को अन्य लेखकों ने लिख डाला हो उसे कुछ हेर-फेर करके अपना प्लाट बनाने की चेष्टा करना अनुपयुक्त है। प्रेम वियोग आदि विषय इतनी बार लिखे जा चुके हैं कि उनमें कोई नवीनता नहीं बाकी रही। अब तो पाठक कहानियों में नये भावों का नये विचारों का नये चरित्रों का दिग्दर्शन चाहते हैं। अत: 'सुखबहुतरी

से पाठकों को तस्कीन नहीं होती। प्लाट में कुछ न कुछ ताजगी कुछ न कुछ मनोरंजन अवश्य होना चाहिए। यही रोचकता वह मौलिकता की सहगामिनी है। मौलिक प्लाट है तो वह रोचक भी जरूर ही होगा। लेकिन कहानी की रोचकता किसी एक बात पर निर्भर नहीं है। प्लाट की सुन्दरता चरित्रों का विकास घटना का वैचित्र्य सभी सम्मिलित हो जाते हैं तो रोचकता आप ही आप आ जाती है। हाँ उपन्यासकार यह कभी नहीं भूल सकता कि उसका प्रधान कर्त्तव्य पाठकों का मन प्रसन्न करना उनका मनोरंजन करना है। और सभी बातें इसके आधीन हैं। जब पाठक का जी ही कहानी में न लगा तो वह क्या लेखक के भावों को समझेगा? क्या उसके अनुभवों से लाभ उठायेगा? वह कथा के साथ किताब को पटक देगा और सदा के लिए उपन्यासों का निंदक हो जायेगा। आज भी कितने ही ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जिन्हें उपन्यासों से चिढ़ है। उन्होंने प्रण कर लिया है कि उपन्यास कदापि न पढ़ेंगे। कारण यही है कि हिन्दी के वर्तमान उपन्यासों ने उन्हें निराश कर दिया है। नये उपन्यास-लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे उपन्यास-साहित्य के मुख को उज्ज्वल करें इस बदनामी के दाग को मिटा दें।

माधुरी २३ अक्तूबर १६२२

प्राचीन मिस्र जाति के धर्म-तत्व

प्राचीन मिस्र जाति के लोग बड़े धर्मनिष्ठ होते थे और उनके धर्म-सिद्धान्त उनके जीवन के प्रत्येक कार्य में सम्मिलित रहते थे। वह मूर्ति-पूजक थे और जीवन-उपयोगी वस्तुओं की प्रतिमाएं बनाकर उनकी पूजा करते थे। बैल भूमि धान नील नदी आकाश चन्द्रमा सूर्य नक्षत्र और मृतात्माओं का आवाहन करते थे। लेकिन समस्त जाति सब देवताओं की अनुगामी न होती थी। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के देवता भी पृथक् होते थे और उन प्रान्तों के लोग अपने ही देवताओं को सर्वश्रेष्ठ समझते थे। यद्यपि उनके मुख्य-मुख्य देवताओं के स्वरूप में अन्तर था लेकिन वास्तव में वह सब एक ही थे। उदाहरणत: हेलियोपोलिस नगर में 'रा' नाम से सूर्य की पूजा होती थी लेकिन थिब नगर में उसी को 'आमन' के नाम से पूजते थे। इन दोनों स्थानों में सूर्य की प्रतिमा भिन्न-भिन्न थी।

वह लोग अपने देवताओं को मनुष्य की भाँति जोवधारी समझते थे हाँ बुद्धि ज्ञान बल और पराक्रम में उन्हें मनुष्यों से ऊँचा मानते थे। मनुष्यों की तरह उनमें भी इच्छाएँ और भावनाएँ मौजूद थीं। यह देवतागण सपरिवार थे उनके स्त्री बालक और अन्य सम्बन्धी भी थे। उनकी पत्नी और पुत्र भी देवताओं की तरह पूज्य माने जाते थे। बाज नगरों में देवताओं की जगह देवियों की ही पूजा होती थी। पर विद्वानों के मतानुसार मिस्र के उच्च श्रेणी के लोग एकेश्वरवादी थे।

मिस्र के देवताओं में सबसे प्रतिभाशाली सूर्य था। उसका स्वरूप और आभूषण बादशाहों के सदृश था। उसके सिर पर आभा का मंडल और एक सांप बना होता था जो तेज की प्रखरता का सूचक था। लोगों की कल्पना थी कि वह वायुमंडल में एक यान पर बैठा हुआ है और कई मल्लाह उस यान को खींचते हैं। जब वह क्षितिज के ऊपर आता है तो उसके लोचनों की तेजस्वी शिखाएँ समस्त भूमिमंडल को आलोकित कर देती हैं और प्राणियों को बल और तेज प्रदान करती हैं। वह नित्य अपने यान पर खड़ा होकर अपने शत्रुओं से लड़ता और उन्हें परास्त करता है। संध्या हो जाने पर वह पाताल में जाकर शयन करता है। सूर्य के प्रकाश का एक अन्य देवता था जिसका नाम 'होरस' था। वह प्रतिदिन प्रातःकाल एक सुन्दर नवयुवक के रूप में प्रकट होकर आकाश-मंडल में विचरता है और अन्धकार के देवता से जिसका नाम 'सित' है नित्य लड़ता रहता है।

आकाश के देवताओं के बाद मिस्री लोग अन्न और खेतों के देवताओं और देवियों को मानते थे जिनका काम भूमि को उपजाऊ बनाना है।

यह लिखा जा चुका है कि मिस्र के पृथक्-पृथक् स्थानों में भिन्न-भिन्न देवता मान्य समझे जाते थे। लेकिन कालान्तर में जब मिस्र में एक सर्वदेशीय राज्य स्थापित हो गया तो यह पार्थक्य मिट गया। समस्त देवगण सार्वभौम हो गये।

इन सब देवताओं में 'आइसिस' और 'उजेरिसस' सर्वप्रधान थे। यह 'उजेरिसस' प्रकाश का देवता था और उसका भाई 'सित' था जो तिमिरदेव समझा जाता था दुश्मन था। उसके विषय में यह किंवदन्ती थी कि वह प्रभात को आकाश-सागर से निकलकर दिन भर अपना प्रकाश फैलाता रहता है। रात को उसका भाई 'सित' उसको मार कर टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। उसकी पत्नी 'आइसिस' उसके शव पर बैठकर विलाप करती है। 'सित' का डंका बजने लगता है और संसार में अंधकार छा जाता है। लेकिन 'उजेरिसस' का पुत्र 'होरस' क्षितिज से निकलकर अपने पिता की हत्या का बदला लेता है और 'सित' को मारकर फिर संसार में ज्योति फैलाता है। यह अभिनय नित्य होता रहता है।

मिस्र देश के बहुत से नगरों का दावा था कि 'उजेरिसस' के शरीर के टुकड़े उनके मन्दिरों में सुरक्षित हैं। 'उजेरिसस' का मातम मनाने के लिए वर्ष में एक दिन नियत कर लिया गया था। उस दिन समस्त देश में धाड़मार सुनायी देता था और महिलाएँ 'उजेरिसस' के बालों के शोक में अपने केश नोच डालती थीं।

'साई' नगर के पुजारी एक झील के तट पर उजेरिसस के जीवन-मरण और पुनर्जीवन की घटनाओं को तालिका बनाकर दिखाते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार हिरोडोटस ने तालिकों का यह दृश्य देखा था लेकिन उसे ताकीद कर दी गयी थी कि वह इसका कहीं उल्लेख न करे।

मिस्री देवताओं की प्रतिमाएँ अपनी विचित्रता में भारतीय प्रतिमाओं से कम न थीं। किसी का धड़ मनुष्य का था तो सिर पशु का और किसी का धड़ पशु का था तो सिर मनुष्य का था। होरस का सिर चिड़िया के सिर के सदृश है, आइसिस का गाय के सिर के सदृश। 'आनोबीस' नामक देवता का सिर गीदड़ का है और 'प्ताह' का सिर बैल के समान है।

मिस्र देश-निवासी बहुधा पशुओं को पवित्र समझते और उनकी पूजा करते थे। उनमें से सिंह, बाज़, गाय, सियार, बिल्ली, भेड़ा और बगला आदि विशेष आदरणीय थे। इन पशुओं को मारना या किसी प्रकार का कष्ट देना वर्जित था। रोमवालों ने जिस समय मिस्र देश पर आधिपत्य जमा लिया था उस समय एक रोम-निवासी ने एक बिल्ली को मार डाला था। जनता ने उससे बिल्ली के खून का बदला लेना चाहा। मिस्र के राजा ने, जो रोम का करद था, चाहा कि उसे लोगों के हाथ से बचा लें, लेकिन उसका कुछ वश न चला। बिल्ली के घातक को लोगों ने मार ही डाला। प्रत्येक मन्दिर में इन पशुओं में से एक न एक अवश्य ही पाला जाता था और भक्त-जन आकर उसकी पूजा करते थे। एक ईसाई पादरी ने इस प्रथा का इन शब्दों में मज़ाक उड़ाया है—'जब कोई आदमी मन्दिर में आता है तो पुजारी महाशय गम्भीरता और गौरव के साथ कुछ गाते और परदा उठा देते हैं कि उसे देवता के दर्शन करायें। तब वह आदमी क्या देखता है कि एक बिल्ली या एक मगर या एक साँप या कोई दूसरा जानवर प्रकट होता है जो एक सुसज्जित फ़र्श पर बैठा या लेटा हुआ रहता है।

थिब नगर के व्यापारियों ने एक घड़ियाल को हिलाकर उसके कानों में सोने की बालियाँ और हाथों में कंगन पहनाये थे।

यूनान देश के एक यात्री ने, जो ईसा मसीह का समकालीन था, वहाँ नगर के घड़ियाल का वर्णन किया था। वह उसका यों बयान करता है—

'पुजारी कुछ मीठी रोटियाँ, कुछ तली मछलियाँ और कुछ शहद लेकर मेरे साथ झील पर गया। घड़ियाल झील के किनारे लेटा हुआ था। दो आदमियों ने उसका मुँह पकड़कर खोला। एक आदमी ने पहले रोटियाँ उसके मुँह में डाल दीं, फिर मछलियाँ और कुछ शहद आदि भी डाले गये। तब घड़ियाल झील में कूद गया और दूसरे किनारे पर जाकर लेट रहा। उसी समय एक और यात्री यह वस्तुएँ लाया। पुजारी उन्हें भी लेकर झील पर गया और घड़ियाल को यह चीज़ें फिर खिला दीं।

मन्फ़िस नगर के लोग एक बछड़ी की पूजा करते थे और हेलियोपोलिस नगर का देवता एक पक्षी था जिसे यूनान के लोग 'फीनिक्स' अर्थात् उनका कहते थे। मिस्रवाले उसके विषय में बड़ी विचित्र कथाएँ बयान करते थे। उनका विश्वास था कि हर पाँच सौ वर्षों में एक बार उन पक्षियों में से एक 'रा' नगर के मन्दिर में आता है। वह अपने साथ अपने बाप की लाश भी लाता है। उसका मुर में जो एक प्रकार का सुगन्धित गोंद

है लपेटकर वहाँ रख देता है। वह पहले गुर का अंडे के आकार का बनाता है फिर उसमें छेद करके बाप को उसमें रखकर छेद को बन्द कर देता है। यह पक्षी कई शताब्दियों तक जीवित रहता है और जब मरने के दिन निकट आते हैं तो वह सुगन्धित लकड़ियों का एक छोटा-सा पिंजरा बनाकर उस पर चढ़ता है और भस्म हो जाता है। उसकी राख से एक जवान बाहर निकलकर उड़ने लगता है। अरब और फारसी ग्रन्थों में भी इन्हीं कथाओं का समर्थन किया गया है।

मेंफ़ीस नगर में एक ऐसी गाय की पूजा करने की प्रथा थी जिसका रंग काला माथे पर उजला और त्रिकोण दाग और पूँछ पर घने बाल हों। उसे आपीस कहते थे। मिस्र के लोगों का कथन था कि ऐसी गाय आकाश से चमकनेवाली बिजली से पैदा होती है। जब ऐसी गाय कहीं मिल जाती थी तो पुजारी लोग उसके चिह्नों को भलीभाँति देख कर उसे आपीस का स्थान देते थे। किन्तु इस पूज्यपद पर कोई गाय पच्चीस वर्षों से अधिक न रहने पाती थी। अगर कोई इस अवस्था को पहुँच जाता तो पुजारीगण उसे एक पवित्र जल-स्रोत में मग्न कर देते थे और उसकी जगह कोई दूसरी गाय तलाश कर लाते थे। यदि आपीस पच्चीस वर्षों के पहले मर जाती थी तो उसको लाश में मसाला लगाकर कब्र में गाड़ देते थे। जिस समय थिब नगर मिस्र देश का साम्राज्य-स्थान हो गया तो उस नगर का देवता 'आमनें' अन्य सब देवताओं से श्रेष्ठ माना जाने लगा। वह अनादि अनन्त और सर्वशक्तिमान समझा जाता था। वह संसार की सृष्टि करने-वाला सब जीवों का बाप और सब माताओं की माता ख्याल किया जाता था। लोग इन शब्दों में उसकी स्तुति करते थे—

'तू आम जो आकाश की दोनों सीमाओं के मालिक जो चमकने-दमकनेवाला देव तू आकाशों में भ्रमण करनेवाला है, तेरे शत्रुओं का सफाया हो। तू पापियों को निर्वासित कर देता है। तूने नास्तिकों की गौरता और पराक्रम को धूल में मिला दिया है। तू महान् है, नास्तिक निम्न है, तू ऊँचा है और नास्तिक नीचा है, तू सशक्त और तेरा शत्रु अशक्त है। जो जीवों के आधार, तू हमारे बादशाह को चिरंजीवी बना उसको अन्न और जल से परिपूरित कर उसके बालों के लिए सुगन्धि प्रदान कर। संसार तेरे प्रकाश से ज्योतिमय है। तू वह है जिसके परों से बिजली पैदा होती है, तू वह सिंह शेर है जिसकी गरज शत्रुओं को भयभीत कर देती है तू वह पुत्र है जो नित्य जन्म लेता है तू वह वृद्ध है जो अमर है। तू उस स्थान का स्वामी है जहाँ तक कोई नहीं पहुँच सकता।

समस्त मिस्र-निवासियों का विश्वास था कि जब कोई प्राणी मर जाता है तो उसमें कोई अंश जीवित रहता है। इस अंश को वह आत्मा कहते थे। आत्मा का आकार शरीर के समान और अन्य स्वरूप विचार के समान है। वह अदृश्य है उसे स्पर्श करना असंभव है। उनका यह अनुमान था कि मरते समय जीव मुँह से निकलता है। उनके

मतानुसार यह जीव अपने शरीर पर अवलम्बित रहता है। अगर काया सुरक्षित न रखी जाय तो जीव इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। मृतक की सबसे बड़ी सेवा और उसके जीव के साथ सबसे बड़ा उपकार यह है कि शव सड़ने-गलने से बचाया जाय। इसीलिए मसाले लगाने की प्रथा पड़ गयी थी। हिरोडोटस ने मसाले लगाने की प्रथा का सविस्तार बयान किया है। वह लिखता है कि मिस्र के प्रत्येक नगर में कुछ लोग ऐसे रहते हैं जो मसाले लगाने का व्यवसाय करते हैं। जब मृतक का वारिस शव को मसाला लगानेवाले के पास ले जाता है तो वह उसे लकड़ी के नमूने दिखाता है। यह नमूने तीन प्रकार के होते हैं उत्तम मध्यम और निकृष्ट। हर नमूने का मूल्य उसकी हैसियत के अनुसार होता है। जब मजूरी तय हो जाती है तो वारिस लाश को मसाला लगानेवाले को सौंपकर घर चला जाता है।

उत्तम श्रेणी का मसाला लगाने के लिए पहले लाश के सिर का भेजा निकालते थे इस तरह कि कोई यन्त्र सिर में पहुँचाकर उसमे भेजे को हल करते थे फिर एक छोकड़ा नाक के नथनों मे डालकर भेजे को बाहर निकालते थे। तब लाश की पसली-पीटकर आँतें बाहर निकाल लेते थे और शराब से धोकर अंतड़ी में सुगन्धित औषधियाँ भर देते थे। इसके पश्चात् लाश को सत्तर दिन खारे नमक में रखते थे फिर उसको धोते थे और गोंद लगाये हुए कपड़े की पट्टियाँ उस पर लपेटते थे। मसाला लगा चुकने के बाद लाश वारिस को दे दी जाती थी। वह लाश के आकार का एक खाना बनवाकर लाश को उसमें रख देता था और वह दीवार के सहारे से खड़ा कर दिया जाता था।

मध्यम श्रेणी के मसाले की विधि यह थी कि एक प्रकार का गोंद नली द्वारा मुर्दे के पेट में पहुँचाते थे और पेट को फाड़े और आँत को निकाले बिना ही छेद को बन्द कर देते थे जिसमें गोंद बाहर न निकल सके। फिर शव को सत्तर दिन तक खारे नमक में रखते थे। तब नमक में से उसे निकालकर गोंद का पानी बाहर निकाल देते थे। उस पानी के साथ अन्दर का मल भी निकल जाता था। खार में रहने के कारण मांस गल जाता था और लाश में हड्डी और चमड़े के सिवाय और कुछ बाकी न बचता था।

निकृष्ट श्रेणी के मसाले की विधि इससे भी सरल थी। लाश के अन्दर गोंद पहुँचाकर उसे खारे नमक में रख देते थे। गरीब लोग प्रायः इसी तरह के मसाले लगवाते थे।

मिस्र के कब्रिस्तानों में ऐसी लाशें बहुत-सी मिलती हैं और यूरोप के लोग ऐसी हजारों लाशें खोद ले गये हैं। वहाँ के प्रसिद्ध अजायबघरों में मसाले लगी हुई लाशें मौजूद हैं।

प्राचीन मिस्र-निवासियों का विश्वास था कि जीव को भी प्राणियों की भाँति भोजन-वस्त्रादि की आवश्यकता होती है। गरीब लोग तो मसाले-लगी लाशों को बालू में गाड़ देते थे लेकिन अमीरों में उसके लिए अलग मकान बनवाने की प्रथा थी। यह मकान

एक विस्तृत गृह या कम से कम एक कमरे के बराबर होता था। प्राचीनकाल के बादशाहों के समय में यह शव-शाला मीनार के सूरत की बनवायी जाती थी। मेम्फीस नगर के समीप एक शहर के बराबर भूमि शव शालाओं से ही भरी हुई है। कोई-कोई मीनार पंक्तियों में बनाये गये हैं जैसे महल्ली में रहने के घर बने होते हैं। बहुत ऊँचे मीनारों में बादशाहों को और उनसे छोटे मीनारों में अमीरों को दफन करते थे क्योंकि मीनारों के बनाने में समय बहुत लगती थी। कब्र के लिए जमीन के नीचे या पत्थर में तहखाना और उसके सामने एक छोटा-सा नमाजखाना जो बाहर की तरफ खुलता था बनाते थे। नमाजखाने में प्रवेश करने पर पिछली दीवार में एक बड़ी शिला दिखायी देती थी। उसके नीचे एक छोटी मेज होती थी जिस पर पूजादि की सामग्री रखते थे। केवल यह नमाजखाना ही कब्र का वह भाग था जहाँ आदमी जा सकता था। शेष भाग मृतक के लिए ही होता था और किसी को अन्दर जाकर मृतात्मा की शान्ति में विघ्न डालने का अधिकार न था। इसीलिए कब्र का दरवाजा न बनाते थे। नमाजखाने के पीछे एक दालान होता था। वहाँ मृतक की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। कभी-कभी एक मुर्दे के लिए बीस से अधिक मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। इसका अभिप्राय यह था कि अगर मसालेदार शव नष्ट हो जाय तो उसकी जगह मूर्ति रख दी जाय। नमाजखाने के एक कोने में एक कूँआ पत्थरों की चुनाई से बनाया जाता था। कूँए के नीचे तक एक छोटा-सा रास्ता बना होता था जहाँ पत्थरों की कन्दरा बनायी जाती थी। यह मृतक का शयनागार था। उसके मध्य में सुफेद या काले पत्थर की वेदी पर पड़ा हुआ मुर्दा अनन्त निद्रा में मग्न रहता था। उसके निकट बड़े-बड़े बर्तन पानी से भरकर और गेहूँ तथा मांस रख देते थे। इसके बाद उस रास्ते को बन्द करके कूँए को पत्थरों से पाटकर बन्द कर देते थे। फिर कोई मनुष्य अन्दर न जा सकता था। यह कूँए आज भी वैसे ही हैं जैसे चार-पाँच हजार वर्ष पहले थे। लाशें भी उसी सुरक्षित दशा में थीं। यहाँ तक कि लाशों की शक्लों और गर्दनों में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। मृतक के वारिस जब उसके लिए फिर खाने-पीने की चीजें पहुँचाना चाहते थे तो अन्दर न जा सकने के कारण खाद्य पदार्थों को नमाजखाने में रख देते थे। कभी-कभी धूप आदि भी जलाते थे ताकि उनकी सुगन्धि मृतक की नाक में पहुँच जाय।

कुछ काल के बाद लोगों का यह विचार हो गया कि मृतक के लिए भौतिक पदार्थों की आवश्यकता नहीं है, वरन् ईश्वर से विनय करनी चाहिए कि वह उन्हें भूख की पीड़ा से बचाये। इसलिए नमाजखाने की शिला पर यह प्रार्थना लिख देते थे—"हम ओसिरिस को सिजदा करते हैं और उससे विनय करते हैं कि वह उन तमाम चीजों को जिनका सेवन वह आप करता है—अर्थात् रोटी मांस दूध शराब वस्त्र सुगन्धि—मृतक को भी प्रदान करे।

कुछ समय के बाद मिस्र-निवासियों को यह विश्वास हो गया कि जीव को केवल

भोज्य पदार्थ के चित्रों से ही संतोष हो जाता है। उनके लिए रोटी का चित्र बना देना काफी है। अतएव कालान्तर में नमाजवाले की दीवारें चित्रांकित हो गयी। लोग जिस चीज को मृतक तक पहुँचाना चाहते थे उसका चित्र दीवारों पर अंकित कर देते थे। जो चित्र वहाँ बने हुए हैं उनमें किसानों के चित्र भी हैं जो जमीन को जोत और बो रहे हैं। कोई खलिहान से अनाज उठा रहा है। दर्जी कपड़ा और मोची जूते सी रहे हैं। इसी भाँति बढ़ई, राज नाचने-गानेवाले और बाजीगरों की तस्वीरें भी हैं। इसके अतिरिक्त मृतक की भिन्न-भिन्न जीवित अवस्थाएँ भी अंकित की गयी हैं। कहीं-कहीं वह अपनी पत्नी के साथ बैठा हुआ भोजन कर रहा है, या जंगल में शिकार खेल रहा है, या झीलों के तट पर मछलियों का शिकार खेलने में व्यस्त है।

बहुत काल तक मिस्रवालों की यह धारणा थी कि जीव उसी कब्र में रहता है, जहाँ उसकी देह छोड़ दी जाती है। लेकिन कुछ समय बाद उनका यह मत परिवर्तित हो गया और यह कल्पना की जाने लगी कि समस्त जीव भूमि के नीचे उस स्थान पर एकत्र होते हैं जहाँ सूर्य अस्त होता है। वहाँ ओसेरिस राज्य करता है। वह जीवों की कर्मानुसार परीक्षा करने के उपरान्त उन्हें वहाँ निवास करने की आज्ञा देता है। लोगों का कथन था कि जब जीव शरीर से निकलता है तो एक नौका में बैठकर भूमि के नीचे जल-सागर में भ्रमण करता है। वहाँ उसे बड़े भयंकर दैत्य दिखायी देते हैं जो उसे भक्षण करना चाहते हैं लेकिन जीवों के रक्षक देवगण उसकी सहायता करते हैं और उसे न्यायालय तक पहुँचा देते हैं। वहाँ ओसेरिस न्यायासन पर विराजमान होता है। उसके बयालीस सहायक मंत्री होते हैं जो इस बात का अनुसंधान करते हैं कि जीव ने बयालीस कुकर्मों में से किसी का आचरण तो नहीं किया है। जीवों को उनके कर्मानुसार ही दंड या फल मिलता है। पापी जीवों को कोड़े लगाये जाते हैं वे साँप-बिच्छू आदि से कटवाये जाते हैं। पुण्यात्माएँ देवताओं का सहवास करती हुई गूलर के वृक्षों की छाँह में आनन्दपूर्वक अनन्त काल तक विश्राम करती हैं। वह ओसेरिस के साथ दस्तरख्वान पर बैठती और उन पदार्थों का भोजन करती हैं जो एक देवी उनके लिए बनाती है और उत्तम प्रकार के इत्र सूँघती हैं।

मिस्रवालों का यह अभीष्ट था कि जब जीव ओसेरिस के न्याय-सिंहासन के सम्मुख खड़ा हो तो वह अपने को निरपराध सिद्ध कर सके। इसलिए एक छोटी-सी पुस्तक ताबूत के अन्दर रख देते थे। उस पुस्तक में वह उत्तर लिखे होते थे जो ओसेरिस और उसके सहायकों को देने चाहिए। उदाहरणतः अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी चाहिए—

'मैंने कभी कपट-व्यवहार नहीं किया किसी को धोखा नहीं दिया। मैंने किसी अनाथ विधवा को नहीं सताया किसी विभाग में झूठ नहीं बोला। अपने कर्तव्य-पालन में कभी आलस्य नहीं किया। किसी ऐसी वस्तु को नहीं छुआ जिसे देवताओं ने निषिद्ध

चुराया हो। किसी की हत्या नहीं की। मन्दिरों की धनभूमि और देवताओं के भोग-प्रसाद की ओर से कभी गाफ़िल नहीं रहा। मृतकों को भोजन और जल पहुँचाता रहा। अनाज तौलने में कभी कमी नहीं की। किसी की ज़मीन बेईमानी से नहीं ली। तौल और माप से कम नहीं बेचा। देव-समर्पित पशुओं को नहीं मारा। पूज्य पक्षियों को जाल में नहीं पकड़ा। पवित्र मछलियों का शिकार नहीं किया। किसी नहर को नष्ट नहीं किया और न उसे काटा। मैं निर्दोष हूँ। बल्कि मैंने भूखों को भोजन दिया है, प्यासों को पानी दिया है, नंगों को कपड़े पहनाये हैं, मांझियों को नौका से सहायता दी है, देवताओं की वेदी पर भेंट चढ़ायी है और मुर्दों की भोजनादि से सेवा की है। ऐ न्यायियो! मुझे मुक्त करो और खुदा के सामने मेरी बुराई मत करो क्योंकि मेरा मुख और दोनों हाथ पवित्र हैं।

यह उत्तर बहुधा मठ की दीवारों पर यहाँ तक कि मृतक के मुँह पर भी लिख दिये जाते थे।

माधुरी : मार्गशीर्ष १९७८

उपन्यास

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज़ जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की परिभाषाएँ नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों। मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं पर इतनी समानता पर भी उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है उसी भाँति सब आदमियों के चरित्रों में बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। इसी चरित्र-समानता और विभिन्नता—अभिन्नता और भिन्नत्व और भिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है। सन्तान-प्रेम मानव चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो। लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ हैं, उसके भेद हैं। कोई तो सन्तान पर मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप

नाना प्रकार के कष्ट झेलता है लेकिन धर्म-भीरुता से अनुचित रूप से धन संग्रह नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा हो। कोई औचित्य का लेशमात्र भी विचार नहीं करता जिस तरह भी हो कुछ धन संचय करना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है जहाँ सन्तान की सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है जब कि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अपरिमित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानवीय गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म जितना ही विस्तृत होगा उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है कि जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है वह भी संतान प्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर यह सारी बुरी आदतें छोड़ देता है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए यहीं से उपन्यासकारों के दो गिरोह हो गये हैं, एक Idealist या आदर्शवादी दूसरा Realist या यथार्थवादी। Realist चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है, उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं, और चूँकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है नेक आदमी धक्के खाते हैं यातनाएँ सहते हैं मुसीबतें झेलते हैं अपमानित होते हैं, उनकी नेकी का फल उलटा मिलता है बुरे आदमी चैन करते हैं नामवर होते हैं यशस्वी बनते हैं, उनकी बदी का फल उलटा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है। Realist अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्रों में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं इसलिए Realism हमारी दुर्बलताओं हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। वास्तव में Realism हमको Pessimist बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है। इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर ध्यान दिलाने के लिए Realism

अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब Realism दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है तो वह आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए इस संसार से ऊपर उठकर किसी ऐसे लोक में पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले वह भूल जाय कि चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ है जहाँ उसे सज्जन सहृदय उदार प्राणियों के दर्शन हों जहाँ छल और कपट विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में खयाल होता है कि जब हम किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों। अंधेरी कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठायें। इस कमी को Idealism पूरा करता है। Idealism हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं जो साधु-प्रकृति होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नहीं होते उनकी सरलता उन्हें व्यावहारिक विषयों में धोखा देती है लेकिन कांइयाँपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल ऐसे व्यावहारिक ज्ञान विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है। Realism यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो Idealism हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ Idealism में यह गुण है वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए हम वही उपन्यास उच्च कोटि के समझते हैं जहाँ Realism और Idealism का समन्वय हो गया हो। उसे आप Idealistic Realism कह सकते हैं। Idea को सजीव बनाने के लिए Realism का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है वह दो कौड़ी के हैं। चरित्रों को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हों। महान से महान पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने में कोई हानि नहीं होती। यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हम Idealist हैं। हमारे प्राचीन

साहित्य पर Idealism की छाप लगी हुई है। हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है हममें सद्भावों का संचार करता है हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों जो प्रलोभना के आगे सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

उपन्यास-साहित्य पर थोड़ी-सी विवेचना करने के बाद अब हम अपने हिन्दी उपन्यासों पर दृष्टिपात करना चाहते हैं। पाठक शायद यह तो जानते ही हैं कि उपन्यास एक पश्चिमी पौधा है जो भारतवर्ष में लगाया गया है। हमारे यहाँ उपन्यास-काल से पहले ऐसे किस्से-कहानियों का बहुत प्रचार था जिनमें प्रेम और विरह के वर्णन ही प्रधान होते थे। अभी एक निगाहें माशूका का 'कुरबान' नाज हो जाता था। माशूका अपनी सहेलियों से अपनी विपत्ति कहानी सुनाती थी आशिक साहब आहें भरते थे मिर धुनते थे परस्पर खबर होती थी यार समझाने के लिए जमा हो जाते थे हकीम दवा करने आते थे पर प्रेम के बीमार पर किसी दवा या समझाने-बुझाने का असर न होता था। दोनों महीनों बरसों जुदाई की तकलीफें झेलने के बाद किसी हिकमत से मिल जाते थे। अकसर किस्सों में तिलिस्म और ऐयारी के विचित्र दृश्य होते थे जिससे कुतूहल बढ़ता था। उर्दू में 'तिलिस्म होशरुबा' बड़े-बड़े पृष्ठों के सत्ताइस जिल्दों में खत्म होता था और 'बोस्ताने खयाल' सात जिल्दों में। उस वक्त तक हिन्दी में उपन्यास का मैदान प्रायः खाली था। दो एक अनुवाद अवश्य निकल गये थे पर कोई उपन्यास-लेखक न पैदा हुआ था। उर्दू में तो उनके पहले 'फ़साना आज़ाद' के रचयिता पंडित रतननाथ दर 'सरशार' मौलवी अब्दुल हलीम शरर, मौलाना मुहम्मद अली आदि कई अच्छे उपन्यासकार हो गये थे। बंगला में भी बंकिम बाबू के उपन्यास निकल चुके थे लेकिन हिन्दी में मैदान खाली था। उस समय स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की रचना हुई और वह हिन्दी में अनोखी एकदम नयी चीज थी। हिन्दी पाठक टूट पड़े और 'चन्द्रकान्ता' की खूब धूम हो गयी। यद्यपि 'चन्द्रकान्ता संतति' 'तिलिस्म होशरुबा' का अनुकरण मात्र है, लेकिन हिन्दी में आशिक-माशूक की जो कथाएँ छपती थीं जिनमें न कोई भाव होता था न कोई प्रभाव उन पाठकों के लिए चन्द्रकान्ता ही गनीमत थी।

समझ में नहीं आता कि जब अन्य भाषाओं में ऐसे-ऐसे उपन्यासकार पैदा हुए जिनका जोड़ अब तक पैदा नहीं हुआ तो हिन्दी में क्यों यह मैदान खाली रहा।

'चन्द्रकान्ता' के बाद देवकीनन्दन ने कई सामाजिक उपन्यास लिखे जिनमें उपन्यास के अंकुर मौजूद थे। ऐयारी की ऐसी हवा बँधी कि उनके बाद भी बहुत दिनों तक ऐयारी के क़िस्से निकलते रहे। उसके बाद जासूसी उपन्यास निकलने शुरू हुए जो अधिकांश European detective stories के अनुवाद होते थे। कुछ दिनों तक जासूसी उपन्यासों की खूब धूम रही और बहुत समय था कि उसके बाद मौलिक उपन्यासों की बारी आती लेकिन इसी बीच में बंगला उपन्यासों का रेला शुरू हुआ और वह अभी तक जारी है। बंगला में अच्छे-बुरे जितने उपन्यास निकल सकते हैं उनका बिना कुछ सोचे-समझे अनुवाद कर लिया जाता है। किसी अन्य भाषा के रत्नों से अपना भंडार भरना आपत्ति की बात नहीं। सम्पन्नतम भाषाओं में अन्य भाषाओं के अनुवाद होते रहते हैं लेकिन वह भाषा ही क्या जहाँ सब कुछ अनुवाद ही हो और अपना कुछ न हो। इस पहलू से देखिए तो 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का महत्व बहुत कुछ बढ़ जाता है। कम से कम अपनी वस्तु तो है। हमारा ध्येय है कि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनावें। क्या अनुवादों से राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त किया जा सकता है? एक मित्र से इस विषय पर वार्तालाप होने लगा तो उन्होंने कहा—हम यह मानते हैं कि अनुवाद से भाषा का महत्व नहीं बढ़ता लेकिन जिन लोगों के लिए अनुवाद जीविका का प्रश्न है उन्हें आप क्या कह सकते हैं। इसका आशय यह हुआ कि जो लोग और किसी उपाय से जीविका का प्रबन्ध नहीं कर सकते वे ही अनुवाद किया करते हैं। मगर इसी तरकीब से तो किसी स्वास्थ्य विषय की रक्षा की जा सकती है। चोर के लिए चोरी भी तो जीविका ही का प्रश्न है फिर चोर को सज़ा क्यों दी जाती है? फिर जब हम देखते हैं कि हिन्दी जाननेवाला आदमी एक महीने में बंगला का इतना ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि बंगला की साधारण पुस्तकें समझने लगे तो बंगला से अनुवाद करने के लिए और भी कोई उज़्र नहीं रह जाता। अगर अनुवाद ही करना है तो उन भाषाओं से किया जाये जो बंगला से कहीं सम्पन्न हैं। हमने अभी तक जिन गिने-गिनाये French या Russian पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है अंग्रेज़ी अनुवादों से किया है। हमारे युवकों को जिनका विचार साहित्य-सेवा करने का हो उनको उचित है कि वे योरोपियन भाषाएँ सीखें और उनके रत्नों से हिन्दी का भंडार भरें। वह हम कोई ऐसी चीज़ दे सकेंगे जिन्हें प्राप्त करने के हमारे यहाँ बहुत कम साधन हैं।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। Art for Art's Sake के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित

हो। ईर्ष्या और प्रेम क्रोध और लोभ अनुराग और विराग दुःख और लज्जा—यह सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती। जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्रगति से बदल रही हैं इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि शायद अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि Author पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारत ही न नहीं योरोप के बहुत बड़े विद्वान भी अपनी रचनाओं द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है उसका Interest क्षणिक होता है। ह्यू गो का ला मिज़रेबुल टाल्सटाय के अनेक ग्रन्थ डिकन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए साहित्य की उच्च कोटि की हैं और अब तक उनका Interest कम नहीं हुआ। आज भी शॉ वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं। हमारा ख्याल है कि कुशल कलाकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करता है कि उनमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। Art for Arts Sake का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनैतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखायी देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनायी देता है तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का दिल न दहल उठे। हाँ उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पावे वरना उपन्यास नीरस हो जायगा।

अन्त में हम अपने सहृदय नवीन लेखकों से अनुरोध करते हैं कि यदि आप उपन्यास लिखना चाहते हैं तो पहले तैयारी कीजिए। बिना मानव शास्त्र का उचित ज्ञान प्राप्त किये कभी न कलम उठाइए। यों तो जिन्हें रचना की ईश्वरदत्त शक्ति प्राप्त है वह आप ही आप लिख लेंगे लेकिन मन में नीरमास होने पर भी तो शास्त्र का कुछ ज्ञान होना परमावश्यक है। सबसे प्रधान मनोवृत्ति है। एक बार किसी प्रसिद्ध चित्रकार से एक शरीफ ने पूछा कि ऐसे सुन्दर रंग आप कहाँ से लाते हैं? चित्रकार ने मुस्कराकर उत्तर दिया 'जनाब अपने दिमाग से।'

समालोचक जनवरी १९२५

गल्पांक का प्रस्ताव

विशेषांकों के निकालने में कदाचित् समस्त हिन्दी पत्रिकाओं में 'चाँद' ही को प्रथम स्थान प्राप्त है। अपने जन्म से लेकर अब तक 'चाँद' के भी विशेषांक निकल चुके हैं। इस वर्ष भी उसने चार विशेषांक निकालने का निश्चय कर लिया है। उसका वर्ष नवम्बर से शुरू होता है और गत मास 'चाँद' का अछूतांक निकल चुका है। उसके बाद ही यह गल्पांक प्रकाशित करने का प्रस्ताव उसके सम्पादक और व्यवस्थापक के असाध्य उत्साह का द्योतक है। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की जो दशा है वह किसी से छिपी नहीं है। इन कठिनाइयों से जरा भी भयभीत न होकर बराबर आगे कदम बढ़ाते जाना अजेय आशावादिता के सिवा और क्या कहा जा सकता है। किसी कवि ने कहा है—

> जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है
> मुर्दादिल क्या खाक जिया करते हैं।

यही उत्साहशीलता, यही आशावादिता जीवन है और जीवन में आकर्षण का होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि जो 'चाँद' आज से चार-पाँच वर्ष पहले एक हजार छपता था आज समस्त भारतवर्ष की मासिक पत्रिकाओं में सर्वोच्च स्थान पर आरूढ़ होने का गर्व कर सकता है। 'चाँद' आकर्षण-शक्ति का आधार भी तो है।

आज से एक महीना पहले जब 'चाँद' के सुयोग्य सम्पादक ने मुझसे गल्पांक प्रकाशित करने का प्रस्ताव किया तो मैं विस्मित रह गया। प्रस्ताव बिल्कुल नूतन और असाधारण था। मुझे भय हुआ कि कहीं गल्पांक का मजाक न उड़ाया जाय। नये विचार सनातन धर्मावलम्बियों की दृष्टि में हास्यास्पद होते ही हैं। लोग नाक भौं सिकोड़ने लगें यह क्या उपद्रव है। भला कोई कुछ भी तो हो गल्पों में ऐसी कौन-सी विशेषता है कि उनको यह महत्त्व दिया जाय। किन्तु साहित्य में गल्प के महत्त्व पर जब विचार किया तो मुझे इस प्रस्ताव का सहर्ष स्वागत करने और इस अंक का सम्पादन भार लेने में कोई बाधा न दिखायी दी। गल्प वर्तमान साहित्य में एक नयी चीज है। लेकिन इसके साथ ही उसका अधिकार अमर है। कोई पत्रिका गल्पों के बिना रोचक नहीं हो सकती और हिन्दी में न सही अन्य समुन्नत भाषाओं में तो ऐसी कितनी ही पत्रिकाएँ हैं जिनमें गल्पों के सिवा और कुछ होता ही नहीं।

वास्तव में गल्प के सिवा और किसी प्रकार के लेखों में यह गुण नहीं है कि वह अत्यन्त अद्भुत और प्रभावित रूप में समाज में नवीन भावों, सिद्धान्तों और तत्त्वों का प्रचार कर सके। हमारे देश में पराधीनता के कारण जीवन-संग्राम इतना भीषण है कि हमारी सारी मानसिक और शारीरिक शक्ति उसमें समाप्त हो जाती है। शुष्क और दुर्बोध विषयों का अध्ययन करने की हममें क्षमता ही नहीं रह जाती। हम नये विचार

पढ़ना तो करना चाहते हैं पर इस तरह कि हमें परिश्रम या अध्ययन न करना पड़े। यह विभूति गल्प ही में है कि वह मनोरंजन करते हुए हमें विज्ञान अर्थशास्त्र राजनीति इतिहास भूगोल मनोविज्ञान शिल्प स्वास्थ्य वाणिज्य आदि की शिक्षा दे सकती है, यहाँ तक कि आज औषधियों की बिक्री का भी काम इससे लिया जाता है। इसे आप औषधालय को अमृतधारा समझिये जो जुकाम से लेकर तपेदिक तक में समान रूप से अपना चमत्कार दिखाती है। आजकल सिनेमा का प्रचार दिनोदिन अमरबेल की बेल की तरह बढ़ रहा है। इसने साहित्य के एक प्रधान अंग नाटक का गला घोंट दिया। अभी सिनेमा में स्वर की कमी है। संसार के विज्ञान इस समस्या को हल करने में दत्तचित्त हैं। और आशा है कि बहुत थोड़े काल में सिनेमा के चित्र बातें भी करेंगे गीत भी गायेंगे। उस दिन ड्रामा का प्राणान्त ही समझिये।

कविता केवल भावों से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु है। वह हमारे उत्कृष्ट कोमल भावों ही को कम्पित कर सकती है। किन्तु कविता-देवी को कल-कारखानों धनी स्त्रियां ऊँची-नीची अट्टालिकाओं और वाणिज्य तथा व्यापार की कंचन-भरी कोठियों से घृणा है। उसे तो हरे-भरे जल-तट मधुर स्वर से गानेवाली नदियों निर्जन पवित्र वनों ही से कुछ विशेष प्रेम है। वर्तमान परिस्थिति उसके लिए अनुकूल नहीं। उसे प्रेम सत्य और इन्द्र से चिढ़ है। अब और साहित्य में क्या रह गया? निबन्ध? निस्सन्देह, लेकिन यह शिक्षा को मनन करने की वस्तु है मनोरंजन की नहीं।

अब उपन्यास ही बाकी बच रहता है। लेकिन जिस सिनेमा ने नाटक की हत्या कर डाली वही उपन्यासों का भी खून कर रहा है। रुपये आठ आने खर्च करके केवल दो-तीन घंटे में जब हम किस्से का आनन्द उठा सकते हैं तो पुस्तक लेकर अपनी कोठरी में कई-कई दिनों तक पढ़ने का कष्ट क्यों उठाने लगे? माना कि सिनेमा में भाषा के सौरस्य उक्तियों की सुन्दरता विचारों की नवीनता और मौलिकता वाक्यों के मनोहर विन्यास शब्दों की मनोहारिणी सजावट मीठी-मीठी चुटकियाँ हृदय में चुभ जानेवाले व्यंग्यों का रसास्वादन हम नहीं कर सकते लेकिन अधिकांश प्राणी मनोरंजन चाहते हैं और सिनेमावाले रचना के मर्मस्पर्शी स्थलों को चित्रित करने में नहीं चूकते। पर रस साहित्य का स्वाद सरसरी तौर से पढ़ने से नहीं मिलता। हमारे सुलेखक-वृन्द भावों को शब्दों में ऐसा छिपाते हैं कि जब तक एक वाक्य को बार-बार न पढ़िये उसका पूरा आनन्द नहीं मिलता। और यहाँ इतना अवकाश नहीं। दस बजे दफ्तर या कचहरी में सिर मारने के बाद अब मस्तिष्क में इतनी ताकत कहाँ कि साहित्य से सिर मारें।

ऐसी परिस्थिति में गल्प ही एक ऐसी वस्तु है जो उपयोगिता मनोरंजकता और कम से कम समय लेने में सिनेमा से टक्कर ले सकता है। उपन्यास पढ़ने को कई दिन

चाहिए और वह भी एकान्त । यहाँ दो म एक भी प्राप्त नहीं । सिनेमा देखने के लिए भी तैयारी की जरूरत है । शाम ही को भोजन आदि से छुट्टी कर लो तीन घण्टों के लिए घर से गायब रहो वहाँ से नौ बजे भाड़-धाये धक्कम-धुक्की में घर लौटो सिनेमा हाल में भी तीन घन्टे मोड़-माड़ म आसन जमाये तपस्या करते रहो । क्या इसमें कुछ कम कष्ट है ? कहीं हमारी अनुपस्थिति म कोई चोरी का धन्धा और गोड़ का पूरा मुकदमा आ पड़ा तो शिकार हाथ से निकल जाने की सम्भावना ही है । गल्प इन सब झंझटों बखेड़ों से पाक है । दफ्तर कचहरी विद्यालय दूकान वायुसेवन सैर-सपाटा कहीं जाते हों 'चाँद' का गल्पांक उठा लीजिए और पढ़ लीजिए । रेल में तो गल्प आपके लिए अनिवार्य है । उसके बिना आपका समय किसी तरह कट ही नहीं सकता । अगर आपको लम्बा सफर करना है बम्बई से दिल्ली या कलकत्ता जाना है और वह भी कम से कम सेकेण्ड क्लास में तब तो आप कायाकल्प चन्द्रकान्ता भूतनाथ वगैरह कोई भी उपन्यास लेकर पढ़ सकते हैं ।

यदि आपका सफर छोटा है, बनारस से लखनऊ या प्रयाग जाना है और वह भी इण्टर या तीसरे दर्जे में तब आपके लिए गल्पांक के सिवाय और कोई उपाय नहीं । उस विपत्ति में इसी के हाथों आप का निस्तार होगा उस मौके पर आपका यही दुबला-पतला छोटा-मोटा मित्र ही काम आयेगा । तोप और मशीन-गन बड़ी लड़ाई के लिए है और दुर्भाग्यवश वैसी लड़ाइयाँ भी दो सौ वर्ष में कहीं एक बार होती हैं । पिस्तौल और तमन्चे की जरूरत तो आपको आठों पहर रहती है । कम से कम रात में एक मजबूत लाठी तो होनी ही चाहिए । और न सही कोई कुत्ता साहब ही आप से खामखाह उलझ पड़ें तो ? गल्प आपकी छड़ी है जिसे आप सफर में किसी तरह नहीं छोड़ सकते ।

दूकान पर बैठे ग्राहकों की बाट देखते-देखते जब आप की आँख दुखने लगे तब गल्पांक उठा लीजिए फिर चाहे ग्राहक आये या न आये आपकी बला से । आपको ग्राहकों की परवा न रहेगी । आप संध्या समय बिना एक पैसे का माल बेचे प्रसन्न-चित्त घर लौट सकते हैं । किसी अफसर के इजलास में पेशी करके मौके के बाद दूसरे इजलास में आने के पहले यदि दस-बीस मिनट का भी अवसर मिल गया तो गल्पांक आपके साथ है । यह समय बड़े मजे से कट जायगा । आपको अरदली की आवाज की ओर कान न लगाये रहना पड़ेगा । अरदली की पुकार खुद-बखुद आपके कान में पहुँचेगी और इतनी जल्द पहुँचेगी कि आपको अचरज होगा । यदि आपने गल्प समाप्त कर लिया है तो 'चाँद' को मेज पर रख दीजिए और तेजी से लपकते हुए जाइए—इतनी तेजी से नहीं कि जल्दी के कारण और विलम्ब हो और चोट आने से मिले । यदि अभी गल्प समाप्त नहीं हुआ तो पत्रिका को हाथ में लिये देखते जाइए, इजलास तक जाते जाते उसके बचे हुए दो-एक पृष्ठ समाप्त हो जायेंगे । सम्पादक महोदयों को तो हम गल्प

पढ़ने की सलाह न देंगे। उनके पास न समय की कमी है, न अवकाश की। वह चाहें तो तिलिस्मे होशरुबा की पचीसों जिल्दें बोस्ताने खयाल के सात भाग चन्द्रकान्ता सन्तति के चौबीस हिस्से या भसिद्ध लेखक की हजारों रातें आनन्दपूर्वक समाप्त कर सकते हैं।

लेकिन विद्यार्थियों के गल्पाध्ययन के हम कट्टर पक्षपाती हैं। उपन्यास तो वे बेचारे पढ़ ही नहीं सकते इतना अवकाश कहाँ मोटी की मोटी पुस्तकें पढ़नी हैं और परीक्षा का भूत सिर पर सवार है। हाँ परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के बाद वे चाहें तो उपन्यास पढ़ सकते हैं क्योंकि तब बरसों सिवा उपन्यास पढ़ने के और कोई काम न रहेगा। हाँ जीवन की भौतिक आवश्यकताओं से निश्चिन्त रहने को लत है। लेकिन अध्ययन-काल में तो गल्प ही उनका उद्धार कर सकता है। जहाँ ईक्लिड से जी ऊबे चट गल्पांक उठाइए और पन्द्रह-बीस मिनट में आपका दिमाग ताजा हो जायगा सिर का चक्कर भाग खड़ा होगा और आप नयी स्फूर्ति से भाषा-विज्ञान पर धावा करेंगे। जिस विद्यार्थी के पास यह अमृतधारा है उसे फिर किसी दूसरी मनोरंजनौषधि की जरूरत ही नहीं। एक बूँद जल या शक्कर में मिलाकर उतार लीजिए तबीयत हरी हो जायगी सारी विपत्ति-बाधा पलायन कर जायेगी। अभी हम तो कहते हैं, लेक्चर हॉल में भी यदि आपको नींद आने लगे तो चुपके से गल्पांक निकाल लीजिए और बेधड़क डेस्क पर रख लीजिए। आपकी निद्रा काफूर हो जायगी। गिरफ्तार होने की जरा भी शंका नहीं अध्यापक महोदय की सारी चेतना और उपचेतना-शक्ति तत्वविवेचना में संलग्न हो रही है।

महिलाओं का तो गल्प के बिना जीवन ही दुस्तर समझिए। उनके लिए न सिनेमा है न उपन्यास न चहलकदमी। इन स्वर्गीय पदार्थों से विधि-वाम ने उन्हें किसी पूर्व कुसंस्कार के प्रायश्चित रूप में वंचित कर दिया है। सन्ध्या समय सिनेमा देखने जायँ तो बताइए भोजन कौन बनाये? अगर कोई मिसरानी लगी हुई है तो भोजन की चिन्ता नहीं। लेकिन नन्हें-नन्हें बालकों की हठीली चंचल कलह प्रिय सेना तो साथ न छोड़ेगी। एक दर्जन न सही मगर आधे दर्जन बच्चों को साथ ले जाना क्या मुँह का कौर है या खाला जी का घर? अगर पुरुषों को एक दिन यह मुसीबत पड़ जाय तो छठी का दूध याद आ जाय। और ही क्या कहें पचास सैकड़े पुरुष तो उसी दिन वैराग्य धारण कर लें। अगर संसार-मोहपरता बहुत बढ़ी हुई है तो कदाचित् इतनी जल्द वे वैराग्य न लेंगे लेकिन सन्तान-निग्रह की पुस्तकों के लिए तो और कार्यालय को तुरन्त ही आर्डर भेज दिया जायगा। ईश्वर न करे कि पुरुषों के सिर यह बला आये नहीं तो सृष्टि का अन्त ही समझिए अल्लाह मियाँ को अपने क्रीड़ा-मनोरंजन के लिए दूसरे ही प्रकार की दुनिया रचनी पड़ेगी। औरों की बात तो नहीं जानते हम तो उसी दिन जहर खाकर सो रहेंगे। अब बताइये यह आधे दर्जन बच्चे बाँधे कैसे जावें? सब के सब तो गोद में आ ही नहीं सकते। विवश होकर एक बग्घी करनी पड़ी। चलिए, दो रुपये की चपत पड़

गयी। रास्ते में बच्चा की भूख का क्या ठिकाना? हलवाई की दूकान देखी या खोमचे वाले की आवाज सुनी और भूख लगी। पाँच बजे के लगे-लगे कहीं सात बजे सिनेमा भवन के पास पहुँचे। मगर इसकी शायद ही कभी नौबत आती है। अधिकतर ता यही हुआ है और दो एक बार देखने में भी आता है कि महिलाओं का मन्दम पैच भी साथ से चला रहता है और उन्हें आधे रास्ते से घर लौटना पड़ता है। अगर किसी तरह रोते धोते सिनेमा पहुँच भी गयी और हाल में भी आ पहुँची तो यह न समझिए कि समापन का खात्मा हो गया। असली विपत्ति तो अब शुरू होती है। कोई किसी के चुटकी काटता है, कोई रो-रोकर दुनिया सिर पर उठाता है माता बेचारी किस-किस को समझाये। छोटे तो समझाने से मान भी जाते हैं बड़े जिस से आशा थी कि शान्ति से बटेंगे उन्हें भी वहाँ आकर सनसनी सूझती है। उनके प्रश्नों का उत्तर देना स्वयं एक बला है। बनाव वह विस्मय-सा लगता है कि सारा हाल चकना उठता है। लोग दाँत पीस-पीसकर और मुट्ठियाँ बाँध-बाँधकर रह जाते हैं। कहीं सभाओं होती तो खून ही कर डालते। उधर बच्चे हैं कि अपनी शरारत से बाज नहीं आते। अभागिनी माता को तमाशे का नाममात्र भी आनन्द नहीं मिलता। सारा ध्यान और मनोयोग बच्चों के शासन की भेंट हो जाता है। और जब वह यहाँ से घर लौटती है तो मानो उसे निर्वाण प्राप्त हो जाता है। कान पकड़ती है कि अब कभी सिनेमा का नाम न लेंगे। दस रुपये बरबाद गए मानो जुरमाना दे आये। यह तो सिनेमा का हाल हुआ। कहीं थियेटर हुआ तब तो मरण ही समझो। लड़का का कोमल इन आँखों नहीं सहन कर सकता पर कान तो खड़ा सकता है। उधर रंग में सा रे गा मा की ध्वनि उठी इधर मुन्ने ने पंचम स्वर में अलापना शुरू कर दिया। फिर बताइए दर्शक लोग क्यों न दाँत पीसें और क्यों न अपना माथा पीटें। खासी लूटें। भारतवर्ष में रुपये दो रुपये सरकारी कर्मचारियों के लिए विशेषतः पुलीस और रजिस्ट्री विभागवालों के लिए तो कोई बड़ी बात नहीं लेकिन हमा-शुमा के लिए तो समाज एक रुपया एक मास के बराबर है। दिन भर बैठे-बैठे कमर टूट गयी आँखें फूट गयीं भेजा फट गया पसीने की नदी बह गयी तब जाकर मुश्किल देवी के दर्शन प्राप्त हुए, तब यह कैसे सम्भव है कि उसी महाकष्ट प्राप्त मुद्रा से खरीदे हुए आनन्द में बाधा पड़ते देखकर हम मौन रह जायँ? दूसरों की बात हम नहीं चलाते। सम्भव है कुछ लोग भी हों जो खून का घूँट पीकर रह जायें। लेकिन मेरे लिए तो यह असह्य है। यहाँ तो अपन ही बच्चा के शारगुल से जामे से बाहर हो जाता हूँ। जब तक घर पर रहता हूँ सारा समय चपतबाजी में ही व्यतीत करता हूँ। यहाँ तक इस काम में अभ्यस्त हो गया हूँ कि यदि कभी देवी जी अपनी सेना लेकर गंगा-स्नान को चली जाती हैं तो बार-बार हाथों में खुजली होती है और कोई नहीं मिलता तो मुझे नौकर ही पर दो-चार हाथ साफ कर लेता हूँ। सिनेमा और थियेटर का तो यह हाल हुआ उत्पात कोई महिला जैसे एड

॥ गप्पोंक का मसाला ॥

सकती है ? यह तो उसके लिए वर्जित फल आकाश-कुसुम है। प्रातः से लेकर आधी रात तक तो दम मारने का अवकाश नहीं मिलता। अगर सबेरे बच्चों को नाश्ता न मिले तो वह जीता ही नोच डालें उससे भी किसी तरह प्राण बच जायें तो स्वामी जी दफ्तर में एक मिनट की देर होने पर मेघवत् गरज उठते हैं। उनकी यह गगनभेदी ध्वनि सुनकर स्त्री के तो प्राण ही निकल जाते हैं मालूम होता है घर की दीवारें हिल रही हैं धरती काँप रही है। और क्यों न गरजें। उन्हें इसका सोलहों आने अधिकार है। स्त्री और है ही किस मरज की दवा। ख़ैर, नाश्ते से तो अभी फुरसत मिलने नहीं पायी थी कि भोजन की बारी आ पहुँची। किसी तरह यह बला भी टली स्वामी अपने काम पर गये और लड़के स्कूल सिधारे तो छोटे बच्चों के मुकदमे पेश होने लगे। अगर न्यायाधीश को अभियुक्त को दण्ड देकर जो फुरसत मिल जाती है उसका यहाँ नाम भी नहीं। दण्ड दिया तो कान के परदे फड़वाने के लिए भी तैयार रहना पड़ता है। दो-चार मुकदमे पेश होते-होते फिर तीन बजे और लड़के स्कूल से आ पहुँचे। अधिकांश तो ऐसा होता है कि एक या दो बजने के पहले ही आ पहुँचते हैं और ऐसा तो शायद ही कभी होता है कि घर आने पर तीन न बजते हों। न जाने स्कूलवाले घड़ी तेज कर देते हैं या लड़के छुट्टी होने के पहले ही भाग खड़े होते हैं। आये दिन एक न एक त्योहार आज की छुट्टी। आज क्या है ? व्यास पूजा की छुट्टी है। आज क्या है ? मौनी अमावस्या की छुट्टी है। आज क्या है ? निर्जला एकादशी है। इन त्योहारों में और तो कुछ नहीं होता हाँ गृहिणी का उत्तरदायित्व अवश्य मात्रा में बढ़ जाता है। और दिन तो सिर में पीड़ा ही होकर रह जाती है छुट्टियों में तो मौत का सामना होता है। दिन तो खैर किसी भाँति कट गया पर रात को काली बला ही समझो कभी किसी बच्चे को दस्त आ रहे हैं कभी कोई ज्वर में पड़ा है कभी दाँत निकल रहे हैं कभी ठंड लग गयी है। शिशु-शुश्रूषा के कष्ट माता के सिवा और कौन झेल सकता है ? रातें बैठे-बैठे कट जाती हैं। पति महाशय पास ही पलँग पर पड़े नाक की शहनाई बजा रहे हैं। ऐसी डरावनी आवाज निकल रही है मानों कोई कुत्ता गुर्रा रहा हो। बेचारी अबला सुन-सुन मारे भय के सूखी जा रही है, पर पति को जगाने की हिम्मत नहीं पड़ती। सम्भव है पति देवता की निद्रा भंग हो जाती है पर आँख नहीं खोलते। उठना तो दूर रहा शायद अपने दिल में सोचते हैं मैं अपना काम करके चुका मैं क्यों अपने आराम में खलल डालूँ। तुम्हारे सिर पर जो पड़े वह तुम आप भुगतो। इसी भय चिन्ता और ग्लानि में बहुधा अबलाओं का जीवन व्यतीत हो जाता है। उच्च साहित्य ऐसे विपद्-ग्रस्त प्राणियों का साथ नहीं देता वह चिन्ता से मुक्ति देनेवाली वस्तु नहीं चिन्ता का निमन्त्रण देनेवाली वस्तु है। वह चाहता है घर के सारे काम-काज छोड़कर मेरी उपासना करो तब मैं वरदान दूँगा तब तुम्हें मुझसे साक्षात् होगा इन शोर-गुल चीख-पुकार, मार-धाड़ हाय-तोबा में मैं नहीं आता। इधर ध्यान का मौका ही नहीं होता। भोजन बनाना है कोई चिन्ता नहीं।

मन्का रोता है, रोने दो। स्वामी के आने का समय हुआ आने दो। कुछ परवा नहीं घर के काम-धन्धे को तिलांजलि दे दो और मेरी हो जाओ। अतएव महिलाएँ उपन्यासों से मन समझे भयभीत होती हैं। उनके कुल घर का मालिक तो बेचारा गम्न हो है। चाय का पानी चूल्हे पर चढ़ा हुआ है। इन दस मिनटों के सदुपयोग का सबसे उत्तम उपाय यही है कि उपन्यास खोलकर बैठ जाइए। जब तक पानी गर्म होगा आप किसी मानस प्रदेश की सैर करके लौट आओगी। बच्चे को थपकियाँ देकर सुलाते-सुलाते भी इस गन्धो-घान में एक बार भ्रमण कर सकती हैं। यही समय नष्ट होने का भय नहीं। यह साधु का आशीर्वाद है जो आप राह चलते प्राप्त कर सकती हैं यह आपके समय का Bye-Product (आनुषंगिक पैदावार) है।

यहाँ हम उस श्रेणी के सज्जनों का बिल्कुल जिक्र नहीं करते जिनका समय किसी रोग का पता लगाने में कटता हो। इस श्रेणी के तीन भेद हैं, वैद्य हकीम और डाक्टर। यहाँ डाक्टर का आशय वह डाक्टर नहीं जो डाक्टर रवीन्द्रनाथ या डाक्टर सप्रू का है। अन्य मानिये य सज्जन एक कीटा भी नहीं निकाल सकते। यहाँ डाक्टर का आशय वह मनुष्य है जो जीवन की रक्षा के लिए विष खिलाता है, जिसकी उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ प्राणनाशक कीटों की भी वृद्धि हो रही है, जिसने मानव जीवन को कीटों का क्रीडास्थल बना दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि कलियुग वास्तव में कलियुग है। मौत का बाजार गर्म है। लेकिन फिर भी अधिकांश डाक्टर मक्खी मारते ही देखे जाते हैं। बेचारे सारे दिन अपने कमरे में बैठे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पत्थर गुदकाया करते हैं कि किसी भाँति कोई शिकार फँसे। कुछ मेज मौला भज की रट लगाया करते हैं। कोई सिर दर्द का रोगी भी आ फँसा तो समझ लो उस गरीब की जान की कुशल नहीं। कोई सनकर रोग लेकर आ जायगा। तुरन्त उसके फेफड़ों की परीक्षा होने लगी और एक क्षण में डाक्टर साहब ने बड़े विश्वासपूर्ण भाव से यह तत्व निकालकर रख दिया कि जनाब आपको galloping pthisis (गलपिंग थाइसिस) हो रहा है। इतना सुनते ही बेचारे रोगी के प्राण पखेरू उड़ जाते हैं फिर इस चिन्ता को वह हृदय से नहीं निकाल सकता। भूत-सा उसके सिर पर सवार रहता है यहाँ तक कि अन्त को galloping pthisis के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते हैं और डाक्टर साहब की भविष्यवाणी पूरी हो जाती है। अब रोगी आप की शरण आ गया आपके चरणों पर अपने आपको समर्पण कर दिया। अब खा-पकाकर हाथ मारिये आपकी बहार है। औषधियों के बिल न चुका सके तो उसका घर-बार कुर्क करा लीजिए, मगर जाने न दीजिए, क्योंकि ऐसे शुभ अवसर रोज नहीं मिलते जैसा आपको स्वयं अनुभव है। इन महात्माओं से हमारा निवेदन है कि इस असामान्य प्रतीक्षा के समय का भार भलीभाँति सदुपयोग कर सकते हैं। क्या उपन्यास पढ़कर? कदापि नहीं। उसका मानसिक उत्थान के लिए जिस तन्मयता की जरूरत है वह

॥ सत्संग का प्रसाद ॥

आपको कहाँ नसीब ? आपकी आँखें तो सड़क पर आने-जानेवालों की ओर लगी हुई हैं ? इस मानसिक व्यग्रता की दशा में गल्प ही वह मन्त्र है जो आपको शान्ति प्रदान कर सकता है । *उठा लीजिए गल्पांक ।* इसमें आपका दोहरा फ़ायदा है । अभी पथिक आपको हाथ पर हाथ धरे बैठा देखता है तो समझता है आप ग़रज़मन्द हैं । आप को पढ़ते देखेगा तो समझेगा आप बड़े अध्ययनशील हैं नित्य शास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ा करते हैं । इससे आपकी कीर्ति बढ़ेगी और कहीं किसी राजा-रईस की निगाह पड़ गयी तो आपका बेड़ा पार है । आप उसके पारिवारिक चिकित्सक नियुक्त हो जायँगे पाँचों घी में होंगी । यह भी याद रखिए कि यदि आपकी स्मृति में मनोरंजक गल्पों का काफ़ी खजाना हो तो आप अपने रोगियों का उससे कहीं अधिक उपकार कर सकते हैं जितना अपनी कड़वी ज़हरीली दवाएँ पिलाकर । हाँ यह ध्यान रहे कि कहानियाँ ज़रा हास्यपूर्ण हों ।

इस जीवन-संग्राम में साहित्य पर जो सबसे बुरा असर पड़ा है वह यह है कि वह मर्सिया बना जाता है । कोई पत्र-पत्रिका या पुस्तक उठा लीजिए, आदि से अन्त तक रुलानेवाली बातों से भरा पाइएगा । यहाँ तक कि हमारी लेखन-शैली भी इतनी गम्भीर हो गयी है कि उसे शोक-शैली कह सकते हैं । यह हम न मानेंगे कि वर्तमान परिस्थितियों ने हमें शोकवादी बना दिया है । आखिर हम आपस में बैठकर हँसते-बोलते तो हैं ही हँसना भूल तो नहीं गये । हाँ अगर कुछ दिन यही हाल रहा तो सम्भव है कि अनुपयोग के कारण यह शक्ति हमसे छीन ली जाय विकास न पाने के कारण उसका लोप हो जाय । रोने का ठेका साहित्य-सेवी ही क्या लें ? मजा यह है कि हमारे नवयुवक लेखक जब कलम हाथ में लेते हैं तो तुरन्त पचपन-साला गाम्भीर्य धारण कर लेते हैं । कदाचित् वह समझते हैं कि विनोद हमारी शान के खिलाफ़ है छिछोरापन है । अगर वह ऐसा समझते हैं तो यह उनकी बड़ी भारी— महात्मा गाँधी के शब्दों में हिमालियन— भूल है । हास्य साहित्य-रसों में अगर प्रधान नहीं तो एक प्रधान रस अवश्य है । हम तो यही कहेंगे कि यह प्रधान रस बल्कि उससे भी चार अंगुल ऊँचा है । न जाने *शृंगार* को क्यों प्रधान रस माना जाता है । जिस रस का आरम्भ सत्रह वर्ष से पहले नहीं होता और कदाचित् चालीस वय के पहले ही समाप्त हो जाता है उसे प्रधान क्यों माना जाय ? हास्य क्यों न प्रधान रस माना जाय जिसका विकास शिशु के छठें मास से ही होने लगता है और जीवन-पर्यन्त रहता है यहाँ तक कि मरण-शैया पर पड़ा हुआ रोगी भी मृत्यु से दो-चार मिनट पहले तक हँसता देखा गया है । आप कहेंगे गहरी विपत्ति में हँसी नहीं आती । *आँतें तो काँयें-कूयें कर रही हैं आप कहते हैं हँसिए । मगर इस दशा में* कहीं हँसी आती है ? हँसी तो पेट भरने पर ही आती है । मैं इसे नहीं मानता । गाँवों की दशा कितनी दयनीय है, इसके निरूपण की जरूरत नहीं । बेचारे किसान पहर रात रहे से काम करने लगते हैं और पहर रात तक बराबर काम करते रहते हैं । इस बीच में कदाचित् एक बार भी उन्हें पेट भर भोजन नहीं मिलता । न वस्त्र पर कपड़ा है न

पेट में अन्न न देह पर मांस जमींदार की धौंस असग लगान की चिन्ता ऊपर से। एक लगान ही क्यों यों कहिए कि बेचारे चिन्ता के एटलांटिक सागर में डुबकियाँ खा रहे है। लेकिन वहाँ भी हँसी का अभाव नहीं। वे भी हँसते देखे जाते हैं वे भी कभी-कभी धूम और विनोद में मग्न हो जाते हैं। पर हमारे साहित्य-समाज पर ग्लानि और दुख का ऐसा भारी बोझ लदा हुआ है कि उसको कलम के नोकों पर हँसी आने का नाम नहीं लेती। क्या वे कसम खा सकते हैं कि मित्र-समाज में वे कभी हँसते ही नहीं कसम नहीं। सच्ची बेपावसी वह सकते है? हम कह सकते है हँसना मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य है। आप हँसते है और खूब खिलखिलाकर। आपके कहकहे दीवारों को हिला देते है। मगर न जाने क्यों कलम हाथ में लेते ही आप गम्भीरता के सागर में डूबने-उतराने लगते है। कम से कम नवयुवकों के लेख में तो विनोद की प्रधानता होनी चाहिए। गम्भीरता उनके लिए अस्वाभाविक है। हम खुद खूसट रोग के लिए क्या कोई सहायता की आवश्यकता नहीं। हम अकेले इतना तो सकते है कि कहिए आँखों से गया वहा दें कहिए महासागर तरंगित कर दें। हमारी आँखें महर्षि अगस्त्य के चिल्लू से जो भर भी कम नहीं है। आप हमारे क्षेत्र में आकर हमारे साथ जबरदस्ती करते है। हम इस क्षेत्र को उतना ही सुरक्षित रखना चाहते है जितना हमारे योरोपीय साम्राज्यवादी मुसलमान को। जिस तरह उन्हें यह असह्य है कि कोई अन्य जाति एक अंगुल जमीन पर अपना कब्जा जमा ले उसी तरह हमें भी असह्य है कि नवयुवक महाशय आकर हमारे क्षेत्र में हस्तक्षेप करें। हम आपको समझाये देते है मगर आप मान गये तो खैर नहीं तो जनाब हमने भी पुलीस का दरवाजा देखा है। जाम पर लेसकर एक रौरव-मुद्रा निकालेंगे और दारोगा जी को नजर देकर झट-पट रपट कर देंगे तब आपको आटे-दाल का भाव मालूम होगा। खुद अपनी जायदाद के कितने लोभी होते है यह शायद आपको मालूम नहीं हम आपको इसका प्रमाण दे देंगे। आप में नया जोश है, नया रक्त है नया जीवन है, नयी स्फूर्ति है आप अगर रोने पर उतारू होंगे तो प्रलय ही कर डालेंगे। फिर हम गरीबों के लिए कहाँ जगह रह जायगी सिवाय परलोक के। इसलिए हम पर दया कीजिए और वैराग्य नैराश्य विचार के विषय हमारे लिए रिजर्व रखकर अपने लिए, विनोद परिहास और हास्य रस लीजिए। इस तरह हमारे और आपके बीच में समझौता हो जाने से कलह का भाव बन्द हो जायगा।

हम यह मानते है कि वर्तमान जलवायु हास्य के विकास के अनुकूल नहीं। लेकिन हमें अपनी प्रबल आशावादिता से इस नैराश्य-तिमिर को हटाना होगा। रोने के लिए हमारा घर ही क्या थोड़ा है कि हम अपने साहित्य-कुंज में आकर भी वही रोना-धोना शुरू कर। साहित्यकारों को जिन्दादिल होने की बड़ी जरूरत है। हमसे कई बूढ़े आदमियों ने कहा है कि ऐसी कोई चीज लिखिए जिसमें हँसी आवे। आप सोच तो ऐसी

ही चीजें मिलते हैं जिसे पढ़कर रोना हो आता है और मन और भी दुखी हो जाता है। दुखी हृदय जिस चीज का अपने आस-पास अभाव पाता है उसे वह साहित्य में खोजता है। लेकिन उसे जब वहाँ भी निराशा होती है तो वह साहित्य से भी उदासीन हो जाता है। आज हमारी जनता चार्ली चैपलिन की नकलें देखकर क्यों लोट-पोट हो जाती है? जिस दिन उसका तमाशा होता है उस दिन क्यों हाल ठसाठस भर जाता है? इसीलिए कि वहाँ हम थोड़ी देर के लिए अपनी दुखमय परिस्थितियों को विस्मृत कर देने की आशा होती है। किसी भाषा को लीजिए, उसके हास्य-चरित्र ही उसकी जान होते हैं। हाँ हास्य सौजन्यपूर्ण होना चाहिए, यह नहीं कि वहाँ भी अपने दिल के फफोले फोड़े जायें। हम इस समय विपत्ति के रोग से ग्रसित हैं हम ऐसी औषधि की जरूरत है जो यह दुख हरे, हमारे सन्ताप को मिटावे हम सँभलें। और ऐसे साहित्य का उत्थान नवयुवकों द्वारा ही हो सकता है। विपत्ति रोने से नहीं कटती। रोने से तो वह और भी प्राणघातक हो जाती है। उसे हम हँसकर ही काट सकते हैं। कम से कम विपत्ति का भार कुछ तो हलका हो जाता है। रात को वन में भटका हुआ पथिक दीपक की ज्योति देखकर जिस भाँति उसकी ओर लपकता है, उसी तरह हम चाहते हैं कि विपत्ति के मारे हुए प्रेमी पाठक साहित्य की ओर लपकें। उन्हें विश्वास हो कि यहाँ हमारे दुख का बोझ कुछ हलका होगा हमें सुख का अनुभव होगा हमारा मन प्रसन्न होगा। हास्यमय कथाओं द्वारा यह उद्देश्य कुछ न कुछ अवश्य पूरा हो सकता है। हाँ हास्य अश्लीलता-रहित निर्मल उदार होना चाहिए। साहित्यिक हास्य और सामाजिक हास्य में बड़ा अन्तर होता है। वही बात जिससे मित्र-गोष्ठी में पेटों में बल पड़ जाते हैं साहित्य में निन्द्य हो जाती है। बुधरो और बीरबल की कथाएँ यों बहुत ही हास्यपूर्ण हैं लेकिन *उनमें अधिकांश ऐसी हैं जिन्हें साहित्य में लाना साहित्य का अपमान करना होगा।*

चाँद : दिसम्बर, १६२६

साहित्य की प्रगति

साहित्य की सैकड़ों परिभाषाएँ की गयी हैं और उनमें से हम अपना मतलब निकालने के लिए एक ले लेंगे। परिभाषा है तो पीढ़ियों की वस्तु, मगर जब घर बनाना है तो नींव डालनी ही पड़ेगी। हवा में मकान बना सकते तो क्या बात थी लेकिन अभी विज्ञान वह विद्या नहीं जान पाया है। साहित्य जीवन की आलोचना है, इस उद्देश्य से कि सत्य की खोज की जाय। सत्य क्या है और असत्य क्या है, इसका निश्चय हम आज तक नहीं कर सके। एक के लिए जो सत्य है वह दूसरे के लिए असत्य। एक श्रद्धालु हिन्दू के लिए चौबीसों अवतार महान सत्य है—संसार की कोई भी वस्तु उन अवतारों

पुत्र पत्नी उसकी नजरों में इतनी सत्य नहीं है। उस सत्य की रक्षा के लिए वह अपनी ही नहीं अपने पुत्रों की आहुति भी दे देगा। इसी प्रकार दया एक के लिए सत्य है पर दूसरा उसे संसार के सब दुःखों का मूल समझता है और इसलिए असत्य कहता है। इसी सत्य और असत्य का संग्राम साहित्य है। दर्शन और विज्ञान का उद्गम भी यही है लेकिन वह बुद्धि के रास्ते से वहाँ पहुँचना चाहता है। बेचारा साहित्य भी वही यात्रा कर रहा है लेकिन गंभीर विचार से मौन न रहकर केवल थकान मिटाने के लिए अपनी बाँसुरी बजाकर गाता भी जाता है। यह रास्ता तो काटना ही पड़ेगा तो क्यों न हँस खेलकर काटो। इसी 'दया सत्य' पर बड़े-बड़े धर्मों की बुनियाद पड़ी यह मानो मानव जाति की ओर से इन्द्र को ललकार थी उनका सिंहासन छीनने के लिए लेकिन आज उसका मजाक उड़ाया जा रहा है।

यह सत्य और असत्य की यात्रा उसी वक्त से शुरू हुई जब से मनुष्य में आत्मा का विकास हुआ। इसके पहले तो उसकी सारी शक्तियाँ प्रकृति से अपने भोजन के लिए लड़ने में ही खर्च हो जाती थीं। जब यह चिंता लगी हो कि आज बच्चे खायेंगे क्या या आज रात की सर्दी काटने के लिए आग कैसे जले तो सत्य और असत्य के राग कौन गाता। उस वक्त सबसे बड़ा सत्य यह भूख और ठंड थी। साहित्य और दर्शन सभ्य जीवन के लक्षण हैं जब हममें इतना सामर्थ्य आ जाय कि पेट के सिवा कुछ और भी सोच सकें। रोटी-दाल से निश्चिन्त होने के बाद ही खीर और पकौड़ी की सूझती है। आदि में मनुष्य में पशु-प्रकृति की ही प्रधानता थी। केवल पशुबल ही सबसे बड़ा अधिकार था। मगर जब मनुष्य आयेदिन के कलह और रुधिर से तंग आ गया तो तरह-तरह के नियम बने और मतों की सृष्टि हुई। नये-नये सत्यों का आविष्कार हुआ जो प्रकृत सत्य न थे वरन् मानव सत्य थे। मनुष्य ने अपने को नीति के बन्धनों से जकड़ना शुरू कर दिया। जातियाँ बनी उपजातियाँ बनीं और दायभाग के आधार पर समाज का संगठन हो गया। पहले दस-पाँच भेड़-बकरियाँ और थोड़ा-सा नाज ही सम्पत्ति थी। फिर स्थावर सम्पत्ति का आविर्भाव हुआ और चूँकि मनुष्य ने इस सम्पत्ति के लिए बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ की थीं बड़े-बड़े कष्ट उठाये थे वह उसकी नजरों में सबसे बहुमूल्य वस्तु थी। उसकी रक्षा के लिए वह अपनी और अपने पुत्रों के प्राणों की बाजी लगा सकता था। विवाह प्रथा को ऐसा रूप दिया गया कि सम्पत्ति घर से बाहर न जाने पाये। और उस धुँधले अतीत से आज तक का मानव-इतिहास केवल सम्पत्ति-रक्षा का इतिहास है। तब समाज में दो बड़े-बड़े भेद हो गये। जो संसार के इस संग्राम में परास्त हो गये उन्होंने ईश्वर भजन का आश्रय लिया और संसार को माया कहकर उससे विरक्त हो गये और नये-नये बन्धन बनने लगे यहाँ तक कि हमारा क्षेत्र संकुचित होते-होते रूढ़ियों का एक कारागार सा बन गया। धर्म के नाम पर हजारों तरह के पाखंड समाज में घुस आये जिनमें उलझकर मानव-समाज की गति रुक गयी। गति सब चीज को दुर्बल करती है। यह प्रकृति

का नियम है। वही संस्थाएँ जिनका निर्माण समाज के कल्याण के निमित्त किया गया था अन्त में समाज के पाँव की बेड़ियाँ बन गयीं। वही दूध जो एक मात्रा में अमृत है उस मात्रा से बढ़कर विष हो जाता है। मानव-समाज में शान्ति का स्थापन करने के लिए जो-जो योजनाएँ सोच निकाली गयीं वह सभी कालान्तर में या तो क्षीण हो जाने के कारण अपना काम न कर सकीं या कठोर हो जाने के कारण कष्ट देने लगीं। जो पहले कुलपति था वह राजा बना। फिर वह इतना शक्तिशाली बन बैठा कि अपने को भगवान का कारकुन समझने लगा जिससे बाजपुर्स[†] करने का किसी मनुष्य को अधिकार न था। उसकी अधिकार-तृष्णा बढ़ने लगी। उसकी इस तृष्णा पर समाज का रक्त बहने लगा। अन्त में मानव जाति में इन अत्याचारों के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न हो गया। मनुष्य की आत्मा इन निरर्थक ही नहीं घातक बन्धनों को मकड़ी के जाले की भाँति तोड़-फोड़ कर निर्मल स्वच्छ मुक्त आकाश और वायु में विचरण करने के लिए आतुर हो उठी। बीच-बीच में कितनी ही बार ऐसे विद्रोह उठे। हमारे जितने मत हैं वह सब इसी विद्रोह के स्मारक हैं किन्तु इन विद्रोहों में कलह की जो मुख्य वस्तु थी वह ज्यों की त्यों बनी रही। सम्पत्ति में हाथ लगाने का किसी को या तो साहस ही न हुआ या किसी को सूझी ही नहीं। जो इन सारे दुर्व्यवस्थाओं का मूल था वह इतने सौम्य वेश में धर्म और विद्या और नीति के आवरण में महान बना हुआ बैठा था कि किसी को उसकी ओर सन्देह करने की भी प्रेरणा न हुई। हालाँकि उसी के इशारे और सहयोग से समाज पर नित नये-बन्धन लगाये जा रहे हैं। यह बड़े-बड़े न्यायालय और यह साम्राज्यवाद और ये बड़े बड़े व्यापार के केन्द्र उसी के रचे हुए खिलौने हैं। ये भिन्न-भिन्न मत उसके खिलौना के सिवा और क्या है। यह जात-पाँत यह ऊँच-नीच का भेद उसी की खोदी हुई [illegible] हैं। यह चकले जो मानव-समाज के कोढ़ हैं उसके कर विनोद हैं। ये हमारी असंख्य विधवाएँ ये हमारे लाखों मजूर जो पशुओं की भाँति जीवन काट रहे हैं उसी धनमदी के छू-मन्तर की विभूतियाँ हैं। उसने Puritanism का कुछ ऐसा निषेधात्मक रूप ग्रहण कर लिया है, कि जो उससे तनिक मात्र भी विमुख हो जाय उसकी खैरियत नहीं। उसका कानून मालूम-सा है वही कठोर, वही जाल-जैसा है। उसकी अपील के लिए कहीं कोई Tribunal नहीं है। तात्पर्य यह कि उसने जीवन को इतना संकीर्ण इतना उलझनदार, इतना आपाधापीपूर्ण इतना स्वार्थमय इतना कृत्रिम बना दिया है कि मानवता उससे भयभीत हो उठी है और उसको पछाड़ फेंकने के लिए, उसके पंजों से निकल जाने के लिए वह अपना पूरा जोर लगा रही है। इन रस्सियों ने इन बंधनों ने इन असंख्य बाधाओं ने सृष्टि की व्यापक चेतना में जो दर्जे-से बना दिये हैं जिनमें बन्द होकर वह अपनी स्वच्छन्दता खो बैठे हैं आज हमारी आत्मा उन दर्जों को तोड़कर उस व्यापक चेतना से सामंजस्य प्राप्त करने के लिए उतावली हो गयी है। संभव है, रस्सी को जोर से खींचकर सहसा टूटने के साथ ही वह

---

†जवाब-तलब

अपने ही जाल में गिर पड़े। संभव है पिंजरे में बन्द पक्षी की भाँति पिंजरे से निकल, वह शिकारी चिड़ियों का ग्रास बन जाय पर उसे पिंजरा मंजूर है ग्रास बन जाना मंजूर है, उन दबों में रहना मंजूर नहीं। संसार को जी भर कर भोगने की स्वाभाव लालसा जिसे सदियों की Puritanism ने खूंखार बना दिया है सब-भक्षी बन जाना चाहती है। निषेधों की उसे बिलकुल परवाह नहीं है। वह पाप को पुण्य असत्य को सत्य और अपूज्य को पूज्य बना देना ठान बैठी है। उसने Puritanism का सदियों तक व्यवहार करके देख लिया है और अब बिना उसे जमीन में दफन किये उसे चैन नहीं। झूठ बोलना पाप है। क्यों पाप है? अगर उस झूठ से समाज का अहित होता है तो वह बेशक पाप है। अगर उससे समाज का कल्याण होता है तो वह पुण्य है। निरपेक्ष सत्य के अस्तित्व को ही वह स्वीकार नहीं करती। चोरी को तुम पाप कहते हो? तुम चाहते हो कि संसार की सारी सम्पत्ति बटोरकर उस पर एकाधिपत्य जमा लो। कोई उसे छुए तो उसके लिए जेल है, फाँसी है। हममें और तुममें इसके सिवा और क्या अंतर है कि तुम सफल चोर हो और हम चोर-कला में तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते। इस Puritanism ने हमारी आत्मा को कितना शुष्क काठ का-सा कठोर बना दिया है कि उसमें रस का लोप हो गया। कविता कितनी ही सुन्दर और भावमयी हो वह उसका आनन्द नहीं उठा सकती। इससे वासनाओं का उद्दीपन होता है। चित्रकला से तो उसे दुश्मनी है। भला मनुष्य की क्या मजाल है कि वह परमात्मा के काम में दखल दे। सृष्टि परमात्मा का काम है। मनुष्य अगर उसकी नकल करता है तो उसे सूली पर चढ़ा दो फाँसी पर लटका दो। इतिहास में ऐसे धर्मात्माओं की कमी नहीं है जिन्होंने पुस्तकालय जला दिये विद्यालयों को भूमिस्थ कर दिया संगीत के उपासकों को निर्वासित कर दिया। तीर्थ स्थानों में जो विलास-लीलाएँ होती हैं वह इसी Puritanism का प्रसाद है। आज भारत में जो पाँच करोड़ अछूत नौ करोड़ मुसलमान और लगभग एक करोड़ ईसाई हैं और जिस धर्मान्ध के कारण राष्ट्र के विकास में बाधाएँ खड़ी हो गयी हैं उसका जिम्मेदार इस Puritanism के सिवा और कौन है? और बातों में तो प्युरिटेनिज्म से ज्यादा हानि नहीं होती। मत शराब पियो मत मांस खाओ। इनके बगैर समाज की कोई हानि नहीं। दरिद्र देश में पैसे का दुरुपयोग किसी तरह भी क्षम्य नहीं। लेकिन इससे पैदा होनेवाली अहम्मन्यता तो और भी अक्षम्य है। त्याग और संयम स्तुत्य है, तभी तक जब तक वह अहंकार को न अंकुरित होने दे लेकिन दुर्भाग्य से इन दोनों में कारण और कार्य का-सा सम्बन्ध पाया जाता है। जो जितना ही नीतिवान है वह उतना ही अहंकारी भी है। इसलिए समाज आचारवानों को सन्देह की आँखों से देखता है। एक शराबी या ऐयाश आदमी अगर उदार हो सहानुभूति रखता हो दयाशील हो सेवा-भाव रखता हो तो समाज के लिए वह एक पक्के आचारवादी किन्तु अनुदार, मनहूस संकीर्ण-हृदय पुरुष से कहीं ज्यादा उपयोगी है। प्युरिटन मनोवृत्ति सदैव इस ताक में रहती है कि किसका पाँव फिसले और वह तालियाँ बजाय।

प्युरिटेनिज्म और मनुदारता दो पर्याय-से हो गये हैं और जहाँ सेक्स का प्रश्न आ जाता है वहाँ तो वह नंगी तलवार बारूद का ढेर है। यहाँ वह किसी तरह की नर्मी नहीं कर सकता। उसे अपने नियमों की रक्षा के लिए किसी का जीवन नष्ट कर देने में एक प्रकार का गौरव-युक्त आनन्द प्राप्त होता है। भोग उसकी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप है। चोरी करके हम समाज में रह सकते हैं धोखा देकर झूठी गवाही देकर मित्रों को कुचलकर, मित्रों से विश्वासघात करके अपनी स्त्री को डंडों से पीटकर हम समाज में रह सकते हैं उसी शान और सम्मान के साथ लेकिन भोग अक्षम्य अपराध है। उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं। पुरुषों के लिए तो चाहे किसी तरह क्षमा सुलभ भी हो जाय किन्तु स्त्रियों के लिए क्षमा के द्वार बन्द हैं और उन पर असहिष्णुता का मजबूत ताला पड़ा हुआ है। इसी का यह प्रसाद है कि हमारी बहनें और बेटियाँ आये दिन तीर्थ-स्थानों में लाकर छोड़ दी जाती हैं और इस तरह उन्हें कुत्सित जीवन बिताने के लिए मजबूर किया जाता है। हम केवल अपराधी को दंड देकर सन्तुष्ट नहीं होते उसके कुटुम्ब का उसकी सन्तान का और सन्तानों की भी सन्तान का बहिष्कार कर देते हैं। हम स्त्री या पुरुष किसी के लिए भी व्यभिचार के समर्थक नहीं लेकिन यह कहाँ का न्याय है कि जिस अपराध के लिए पुरुष को दंड देने में हम असमर्थ हों उसी अपराध के लिए कुमारियों या विधवाओं को कलंकित किया जाय? सौभाग्यवतियों को हमने इसलिए छोड़ दिया है कि परिस्थितियाँ उनके अनुकूल हैं और समाज उन्हें दंड देने में असमर्थ है। जो पुरुष स्वयं बड़े चाव से व्यभिचार करता है, वह भी अपनी स्त्री को पिंजरे में बन्द रखना चाहता है और यदि वह मानव स्वभाव से प्रेरित होकर पिंजरे से निकलने की इच्छा करे तो उसकी गरदन पर छुरी फेरने से भी नहीं हिचकता। यह सामाजिक विषमता असह्य हो उठी है और वह बड़ी तेजी से विद्रोह का रूप धारण कर रही है।

इन सामाजिक व्यवस्थाओं का हमने इसलिए संक्षिप्त वर्णन किया है कि जैसा हमने प्रारम्भ में कहा है—साहित्य जीवन की आलोचना है इस उद्देश्य से कि उससे सत्य और सुन्दर की खोज की जाय। बाह्य जगत हमारे मन के अन्दर प्रवेश करके एक दूसरा जगत बन जाता है, जिस पर हमारे सुख-दुख भय-विस्मय रुचि या अरुचि का गहरा रंग चढ़ा होता है। एक ही तत्व भिन्न-भिन्न हृदयों में भिन्न भाव उत्पन्न करता है। एक आदमी अपने लड़के को इसलिए पीट रहा है कि लड़का लंबाड़ी है मन लगा कर नहीं पढ़ता। इस पर तरह-तरह की आलोचनाएँ होती हैं। बाप का धर्म है कि लड़के को बुराई करते देखे तो उसे ताड़ना दे। यह सनातन रीति है। दूसरा कहता है—नहीं लड़का केवल इसलिए लंबाड़ी हो गया है कि उस ढंग से पढ़ाया नहीं जाता। यह बाप का दोष है। तीसरा आदमी एक कदम और आगे जाता है और कहता है—खेलना लड़कों का स्वाभाविक धर्म है यही उसकी शिक्षा है। बाप को कोई अधिकार नहीं है कि वह लड़के के प्राकृतिक विकास में बाधक हो। एक चौथा आदमी बाप की इस

ताड़ना में पुत्र-स्नेह का नहीं—स्वार्थ मोह बन्धन का रंग झलकता हुआ देखता है। बाह्य जगत और मनुष्य जगत में यही अन्तर है। साहित्य की रचना करनेवाले तो वही होते हैं जो जगत-गति से विशेषरूप से प्रभावित होते हैं जिनके मन में संसार को कुछ अधिक सुन्दर, कुछ अधिक उत्कृष्ट देखने की महत्वाकांक्षा होती है। वे असुन्दर को देखकर जितने दुखी होते हैं, उतना ही सुन्दर को देखकर प्रसन्न होते हैं। और वे अपने हर्ष या शोक को अपने मन में ही रखकर संतुष्ट नहीं होते। वे संसार को भी अपने हर्ष या शोक का एक भाग देना चाहते हैं। भाव को अपना बनाकर सब का बना देना यही साहित्य है। डा. रवीन्द्रनाथ ने अपने 'सौन्दर्य और साहित्य' नामक निबन्ध में लिखा है—

'सौन्दर्य-बोध जितना विकसित होता जाता है, उतना स्वतन्त्रता के स्थान पर सुसंगति, आघात के स्थान पर आकर्षण, आधिपत्य के स्थान पर सामंजस्य हम प्राप्त देता है।

हम इसमें इतना और मिला सकें—असुन्दरता की जगह उदारता, भेद की जगह मेल, घृणा की जगह प्रेम।

नवीन साहित्य की रुचि में बिलकुल यही विकास नजर आ रहा है। वह अब आदर्श चरित्रों की कल्पना नहीं करता। उसके चरित्र अब उस श्रेणी से लिये जाते हैं जिन्हें कोई प्युरिटन छूना भी पसन्द न करेगा। मेक्सिम गोर्की, अनातोल फ्रांस, रोमां रोलां, एच. जी. वेल्स आदि योरोप के स्वर्गीय रतननाथ सरशार, शरच्चन्द्र आदि भारत के—ये सभी हमारे मानव के क्षेत्र को फैला रहे हैं उसे मानसरोवर और कैलाश की चोटियों से उतारकर हमारे गली-कूचों में खड़ा कर रहे हैं। वह किसी शराबी को किसी जुआरी को किसी विषयी को देखकर घृणा से मुंह नहीं फेर लेते। उनकी मानवता पतितों में वह खूबियाँ उससे कहीं बड़ी मात्रा में देखती है जो हम ब्रह्मचारियों में और पवित्रता के पुजारियों में नहीं मिलती। बुरे आदमी को भला समझकर, उससे प्रेम और आदर का व्यवहार करके उसको अच्छा बना देने की जितनी सम्भावना है उतनी उससे घृणा करके उसका बहिष्कार करके नहीं। मनुष्य में जो कुछ सुन्दर है, विशाल है आदरणीय है, आनन्दप्रद है, साहित्य उसी की मूर्ति है। उसकी गोद में उन्हें आश्रय मिलना चाहिए, जो निराश्रय हैं जो पतित हैं जो अनादृत हैं। माता उस बालक से अधिक से अधिक स्नेह करती है, जो दुर्बल है बुद्धिहीन है, सरल है। सपूत बेटे पर वह गर्व करती है। उसका हृदय दुखी होता है, कपूतों ही के लिए। कपूत ही में वह अपना मातृ-वात्सल्य को टिका पाती है। बीस पच्चीस साल पहले वेश्या साहित्य से बहिष्कृत थी। अगर कभी वह साहित्य में लायी जाती थी तो केवल अपमानित किये जाने के लिए। रचयिता की प्युरिटन-मनोवृत्ति बिना उसे मनमाना दंड दिये विश्राम न लेती थी। अब वह साहित्य में अपमान की वस्तु नहीं आदर और प्रेम की वस्तु बन

गयी है। गऊ की हत्या के लिए बेचनेवाला अगर दोषी है तो खरीदनेवाला कम दोषी नहीं है। खरीदनेवाले का अगर समाज में आदर है तो बेचनेवाले का क्यों अनादर हो? वेश्या में बेटीपन है, मातापन है, पत्नीपन है। उसमें भी भक्ति और श्रद्धा है, सहृदयता है। उसका तो जीवन ही पर-सुख के लिए अर्पित हो गया है। वह समाज के गद्य की सूक्ति है। उसकी शोभा इसी में है कि वह गद्य में घुल-मिलकर सम्पूर्ण गद्य को सजीव और चमत्कृत कर दे। सूक्तियों को चुनकर अलग कर देने से उनका सूक्तिपन ज्यों का त्यों रहता है, समाज शुष्क हो जाता है। अगर कोई ईश्वर है, तो ये देवदासियाँ हिसाब के दिन उससे पूछेंगी—हमने सदा पर-सुख चेष्टा की सदैव दूसरों के जख्म पर मरहम रक्खा जख्मी भी किया लेकिन माल लेने के लिए नहीं बल्कि अपना प्रेम Inject करने के लिए। क्या उसका यही पुरस्कार था?—और हमें विश्वास है ईश्वर उन्हें कोई जवाब न दे सकेगा। प्राचीनकाल की अप्सराएँ तो देवताओं और ऋषि-मुनियों की मंजूरे-नजर थीं। हम उनकी कलयुगी बेटियों का किस मुँह से अनादर कर सकते हैं।

ईश्वर का जिक्र बड़े मौके से आ गया। साहित्य की नवीन प्रगति उससे विमुख हो रही है। ईश्वर के नाम पर उनके उपासकों ने भू-मण्डल पर जो अनर्थ किये हैं, और कर रहे हैं उनको देखते इस विद्रोह को बहुत पहले उठ खड़ा होना चाहिए था। आदमियों के रहने के लिए शहरों में स्थान नहीं है, मगर ईश्वर और उनके मित्रों और कर्मचारियों के लिए बड़े-बड़े मन्दिर चाहिए। आदमी भूखों मर रहे हैं मगर ईश्वर अच्छे से अच्छा खायगा अच्छे से अच्छा पहनेगा और खूब विहार करेगा। अपनी सृष्टि की खबर लेना उसने छोड़ दिया तो साहित्य भी जो ईश्वर के दरबार में प्रजा का वकील है, साफ-साफ कह देगा—*आपकी यह स्वार्थपरता आपकी शान के खिलाफ है।* लेकिन ईश्वर की लीला कुछ ऐसी विचित्र है, कि हम मुँह से जितने ही अनीश्वरवादी बनते हैं आत्मा से उतने ही ईश्वरवादी बन जाते हैं। अब तक मुँह से ईश्वरवादी थे आत्मा से पक्के नास्तिक। अब परिस्थिति बदल रही है और सच्चा ईश्वरवाद उषा की लालिमा से उदित हो रहा है। पूजा को ईश्वरवाद से क्या प्रयोजन। जहाँ मेल है, सामंजस्य है समन्वय है, वही ईश्वर है। नकली ईश्वरवाद से आत्मवाद प्रस्फुटित हो रहा है।

लेकिन इसके साथ युवकों का औरतपन और युवतियों का तितलीपन भी नवीन प्रगति का एक लक्षण है, जिसके हम समर्थक नहीं। प्रणय केवल मनोविनोद की वस्तु नहीं। वह इससे कहीं पवित्र और महान है। वह आत्म-समर्पण है, स्त्री के लिए भी और पुरुष के लिए भी। वर्तमान योरोपीय साहित्य बड़े वेग से उच्छृंखल प्रेम की ओर जा रहा है। वैवाहिक मैत्री और वैवाहिक परीक्षा की समस्याएँ साहित्य में हल की जा रही हैं। यह पेटभरों की स्वाद-लिप्सा है। संसार का सारा धन खींचकर वे अब निश्चिन्त हो गये हैं और निश्चिन्त आदमी कामरता की ओर न जाय तो क्या करे! बौद्धिक

विकास के लिए रसिकता परमावश्यक है। रस की उपेक्षा केवल शुष्क और रक्तहीन प्राणी ही कर सकता है। जो स्वस्थ है, बलवान है, उसका रसिक होना अनिवार्य है, लेकिन रसिकता और कामुकता में जो अन्तर है, उसे योरोप का साहित्य भूलता जा रहा है। सदियों के बन्धन और निग्रह के बाद अब जो उसे यह वस्तु मिली है तो वह सब-भक्षी हो जाना चाहता है। इस लुब्धातुरता की दशा में उसे आगा और पीछा कुछ नहीं सूझता। स्त्री और पुरुष दोनों ही वैवाहिक जीवन की जिम्मेदारियों से भाग रहे हैं। अगर वह प्युरिटनिज्म सीमा का अतिक्रमण कर गया था तो यह रसिकता भी सीमा के बाहर निकली जा रही है। अब तक पुरुष इस क्षेत्र में विजय-कामना किया करता था। अब स्त्री भी योरोपीय साहित्य में उसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन कर रही है। उस शीत-प्रधान देश के लिए सदैव उत्तेजना की जरूरत है। वहाँ जमे हुए घी को पिघलाने के लिए थोड़ी-सी गर्मी चाहिए ही। यहाँ तो घी यों ही पिघला रहता है उसके लिए आँच दिखाने की जरूरत नहीं। रसिकता भोजन-रूपी जीवन के लिए चटनी के समान है, जो उसके स्वाद और रुचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर तो कोई जीवित नहीं रह सकता।

विषय बहुत बड़ा है। एक छोटे-से भाषण में उसकी काफी व्याख्या नहीं की जा सकती। समाज का वर्तमान संगठन दूषित है। दुःख दरिद्रता अन्याय ईर्ष्या द्वेष आदि मनोविकार, जिनके कारण संसार नरक के समान हो रहा है इनका कारण दूषित समाज-संगठन है। सोशियालोजी के साथ साहित्य भी इसी प्रश्न को हल करने में लगा हुआ है।†

मार्च, १९३२

जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान

जीवन में घृणा का स्थान

निन्दा क्रोध और घृणा यह सभी दुर्गुण हैं लेकिन मानव जीवन में से अगर इन दुर्गुणों को निकाल दीजिए, तो संसार नरक हो जायगा। यह निन्दा ही का भय है, जो दुराचारियों पर अंकुश का काम करता है, यह क्रोध ही है जो न्याय और सत्य की रक्षा करता है और यह घृणा ही है जो पाखंड और धूर्तता का दमन करती है। निन्दा का भय न हो क्रोध का आतंक न हो घृणा की धाक न हो तो जीवन विशृंखल हो जाय और समाज नष्ट हो जाय। इनका जब हम दुरुपयोग करते हैं तभी ये दुर्गुण हो जाते हैं लेकिन दुरुपयोग तो अगर दया करुणा प्रशंसा और भक्ति का भी किया जाय

†हिन्दू विश्वविद्यालय के बिहारी ऐसोसिएशन के वार्षिकोत्सव पर पढ़ा गया।

तो वह दुर्गुण हो जायेंगे। अन्धी दया अपने पात्र को पुरुषार्थहीन बना देती है, अन्धी करुणा कायर, अन्धी प्रशंसा घमंडी और अन्धी भक्ति भूत। प्रकृति जो कुछ करती है, जीवन की रक्षा ही के लिए करती है। आत्म-रक्षा प्राणी का सबसे बड़ा धर्म है और हमारी सभी भावनायें और मनोवृत्तियाँ इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। कौन नहीं जानता कि वही विष जो प्राणों का नाश कर सकता है, प्राणों का संकट भी दूर कर सकता है। अवसर और अवस्था का भेद है। मनुष्य को गन्दगी से दुर्गन्ध से अन्य वस्तुओं से क्यों स्वाभाविक घृणा होती है? केवल इसीलिए कि गन्दगी और दुर्गन्ध से बचे रहना उसकी आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक है। जिन प्राणियों में बचाव का भाव विकसित नहीं हुआ उनकी रक्षा के लिए प्रकृति ने उनमें दबकने दम साध लेने या छिप जाने की शक्ति डाल दी है। मनुष्य विकास-क्षेत्र में उन्नति करते-करते इस पद को पहुँच गया है कि उसे हानिकर वस्तुओं से आप ही आप घृणा हो जाती है। घृणा का ही उग्र रूप भय है और परिष्कृत रूप विवेक। ये तीनों एक ही वस्तु के नाम हैं उनमें केवल मात्रा का अन्तर है।

तो घृणा स्वाभाविक मनोवृत्ति है और प्रकृति द्वारा आत्म-रक्षा के लिए सिरजी गयी है। या यों कहो कि वह आत्म-रक्षा का ही एक रूप है। अगर हम उससे वंचित हो जायँ तो हमारा अस्तित्व बहुत दिन न रहे। जिस वस्तु का जीवन में इतना मूल्य है, उसे शिथिल होने देना अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारना है। हममें अगर भय न हो तो साहस का उदय कहाँ से हो। बल्कि जिस तरह घृणा का उग्र रूप भय है, उसी तरह भय का प्रचंड रूप ही साहस है। जरूरत केवल इस बात की है कि घृणा का परित्याग करके उसे विवेक बना दें। *इसका अर्थ यही है कि हम व्यक्तियों से घृणा न करके उनके बुरे* आचरण से घृणा करें। धूर्त से हमें क्यों घृणा होती है? इसीलिए कि उसमें धूर्तता है। अगर आज वह धूर्तता का परित्याग कर दे तो हमारी घृणा भी जाती रहेगी। एक शराबी के मुँह से शराब की दुर्गन्ध आने के कारण हमें उससे घृणा होती है, लेकिन थोड़ी देर के बाद जब उसका नशा उतर जाता है और उसके मुँह से दुर्गन्ध आना बन्द हो जाती है तो हमारी घृणा भी गायब हो जाती है। एक पाखंडी पुजारी को भरत ग्रामीणों को ठगते देखकर हम उससे घृणा होती है लेकिन कल उसी पुजारी को हम ग्रामीणों की सेवा करते देखें तो हमें उससे भक्ति होगी। घृणा का उद्गम ही यह है कि उससे बुराइयों का परिष्कार हो। पाखंड धूर्तता अन्याय बलात्कार और ऐसी ही अन्य कुप्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर *जितनी ही प्रचंड घृणा हो उतनी ही कल्याणकारी होगी।* घृणा के शिथिल होने से ही हम बहुधा स्वयं उन्हीं बुराइयों में पड़ जाते हैं और स्वयं *वैसा ही घृणित व्यवहार करने लगते हैं। जिसमें प्रचंड घृणा है वह जान पर खेलकर* भी उससे अपनी रक्षा करेगा और तभी उसकी जड़ खोदकर फेंक देने में वह अपने प्राणों

की बाजी लगा देगा। महात्मा गांधी इसीलिए अछूतपन को मिटाने के लिए अपने जीवन का बलिदान कर रहे हैं कि उन्हें अछूतपन से अखण्ड घृणा है।

साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता

जीवन में जब घृणा का इतना महत्व है तो साहित्य कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है, जो जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। मानव-हृदय आदि से ही सु और कु का रंग-स्थल रहा है और साहित्य की सृष्टि ही इसीलिए हुई कि संसार में जो सु या सुन्दर है और इसलिए कल्याणकर है उसके प्रति मनुष्य में प्रेम उत्पन्न हो और कु या असुन्दर और इसलिए असत्य वस्तुओं से घृणा। साहित्य और कला का यही मुख्य उद्देश्य है। कु और सु का संग्राम ही साहित्य का इतिहास है। प्राचीन साहित्य धर्म और ईश्वर द्रोहियों के प्रति घृणा और उनके अनुयायियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भावों की सृष्टि करता रहा। नवीन साहित्य समाज का खून चूसनेवालों रंगे सियारों हथकण्डेबाजों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवालों के विरुद्ध उतने ही जोर से आवाज उठा रहा है और दीनों दलितों अन्याय के हाथ सताये हुओं के प्रति उतने ही जोर से सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है। सम्भव है वह भावुकता की तरंग में और कठोर सत्य की ओर से आँखें बन्द करके संसार में क्रान्ति मचा देने का स्वप्न देख रहा हो सम्भव है किन्तु वह दरिद्रता के कारण सहानुभूति का पात्र समझ रहा है उसकी सारी बुराइयों को दुरवस्था और दरिद्रता के सिर मढ़ रहा है। वे इतने भोले-भाले प्राणी न हों पर वह सतयुग का स्वप्न-स्वप्न देखने में इतना मग्न है कि इस समय उसे किसी बाधा-विघ्न की ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं है। लेकिन उन कला-कारों का उद्देश्य क्या यह था कि वे किसी व्यक्ति या समाज के प्रति घृणा फैलायें? वे व्यक्तियों के शत्रु नहीं हैं, न वे द्वेष या ईर्ष्या के कारण साहित्य की रचना करते हैं। वे उन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के शत्रु हैं जिनके हाथों ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। व्यक्तियों से उन्हें उतना ही प्रेम है, जितना अपने किसी भाई से हो सकता है। जिन सूदखोर महाजनों या मजदूरों के पसीने की कमायी पर मोटे होनेवाले मिल-मालिकों के प्रति वह अपनी कृतियों में जहर उगलता है, उन्हीं को संकट में देखकर वह उनकी सेवा करना अपना सौभाग्य समझेगा। वह जानता है कि यह गरीब खुद अपनी स्वार्थान्धता के हाथों दुखी हैं और अपनी धनलिप्सा के शिकार होकर गरीबों को सता रहे हैं। उसे उनसे सहानुभूति होती है पर उन परिस्थितियों के साथ वे बिलकुल समझौता नहीं कर सकते हो सकता है उनमें कुछ ऐसे भी हों जिन्हें सूदखोरों के हाथों कष्ट उठाने पड़े हों सम्भव है उन्हीं के हाथों उनका सर्वनाश हो गया हो लेकिन अगर वह कलाकार है तो उसमें

तो वह दुर्गन्ध हो जायेंगे। अन्धी क्षमा अपने पात्र को पुरुषार्थहीन बना देती है अन्धी श्रद्धा कायर, अन्धी प्रशंसा घमंडी और अन्धी भक्ति धूर्त। प्रकृति जो कुछ करती है, जीवन की रक्षा ही के लिए करती है। आत्म-रक्षा प्राणी का सबसे बड़ा धर्म है और हमारी सभी भावनाएँ और मनोवृत्तियाँ इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। कौन नहीं जानता कि वही विष जो प्राणों का नाश कर सकता है, प्राणों का संकट भी दूर कर सकता है। अवसर और अवस्था का भेद है। मनुष्य को गन्दगी से दुर्गन्ध से अवस्थ वस्तुओं से क्यों स्वाभाविक घृणा होती ह ? केवल इसीलिए कि गन्दगी और दुर्गन्ध से बचे रहना उसकी आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक है। जिन प्राणियों में घृणा का भाव विकसित नहीं हुआ उनकी रक्षा के लिए प्रकृति ने उनमें दबकने दम साध लेने या छिप जाने की शक्ति डाल दी है। मनुष्य विकास-क्रम में उन्नति करते-करते इस पद को पहुँच गया है कि उसे हानिकर वस्तुओं से आप ही आप घृणा हो जाती ह। घृणा का ही उग्र रूप भय है और परिष्कृत रूप विवेक। ये तीनों एक ही वस्तु के नाम हैं उनमें केवल मात्रा का अन्तर है।

तो घृणा स्वाभाविक मनोवृत्ति है और प्रकृति द्वारा आत्म-रक्षा के लिए सिरजी गयी है। या यों कहो कि वह आत्म-रक्षा का ही एक रूप है। अगर हम उससे वंचित हो जायँ तो हमारा अस्तित्व बहुत दिन न रहे। जिस वस्तु का जीवन में इतना मूल्य है, उसे शिथिल होने देना अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारना है। हममें अमर भय न हो तो साहस का उदय कहाँ से हो। बल्कि जिस तरह घृणा का उग्र रूप भय है, उसी तरह भय का प्रचंड रूप ही साहस है। जरूरत केवल इस बात की है कि घृणा का परित्याग करके उसे विवेक बना दें। इसका अर्थ यही है कि हम व्यक्तियों से घृणा न करके उनके बुरे आचरण से घृणा करें। भूत से हमें क्यों घृणा होती है ? इसीलिए कि उसमें धूर्तता है। अगर आज वह धूर्तता का परित्याग कर दे तो हमारी घृणा भी जाती रहेगी। एक शराबी के मुँह स शराब की दुर्गन्ध आने के कारण हमें उससे घृणा होती है, लेकिन थोड़ी देर के बाद जब उसका नशा उतर जाता है और उसके मुँह से दुर्गन्ध आना बन्द हो जाती है तो हमारी घृणा भी गायब हो जाती है। एक पाखंडी पुजारी को सरल ग्रामीणों को ठगते देखकर हमें उससे घृणा होती है लेकिन जब उसी पुजारी को हम ग्रामीणों की सेवा करते देखें तो हमें उससे भक्ति होगी। घृणा का उद्देश्य ही यह है कि उससे बुराइयों का परिष्कार हो। पाखंड धूर्तता अन्याय बलात्कार और ऐसी ही अन्य कुप्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचंड घृणा हो उतनी ही कल्याणकारी होगी। घृणा के शिथिल होने से ही हम बहुधा स्वयं उन्हीं बुराइयों में पड़ जाते हैं और स्वयं वैसा ही घृणित व्यवहार करने लगते हैं। जिसमें प्रचंड घृणा है, वह जान पर खेलकर भी उनसे अपनी रक्षा करेगा और तभी उनकी जड़ खोदकर फेंक देने में वह अपने प्राणों

की बाज़ी लगा देगा। महात्मा गाँधी इसीलिए अछूतपन को मिटाने के लिए अपने जीवन का बलिदान कर रहे हैं कि उन्हें अछूतपन से प्रचण्ड घृणा है।

साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता

जीवन में जब घृणा का इतना महत्व है तो साहित्य कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है, जो जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। मानव-हृदय आदि से ही सु और कु का रंगस्थल रहा है और साहित्य की सृष्टि ही इसीलिए हुई कि संसार में जो सु या सुन्दर है और इसलिए कल्याणकर है, उसके प्रति मनुष्य में प्रेम उत्पन्न हो और कु या असुन्दर और इसलिए असत्य वस्तुओं से घृणा। साहित्य और कला का यही मुख्य उद्देश्य है। कु और सु का संग्राम ही साहित्य का इतिहास है। प्राचीन साहित्य धर्म और ईश्वर द्रोहियों के प्रति घृणा और उनके अनुयायियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भावों की सृष्टि करता रहा। नवीन साहित्य समाज का खून चूसनेवाले रंगे सियारों, हृदयहीन-धनिकों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवालों के विरुद्ध उतने ही ज़ोर से आवाज़ उठा रहा है और दीनों, दलितों, अन्याय के हाथ सताये दुखियों के प्रति उतने ही ज़ोर से सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है। संभव है वह भावुकता की तरंग में और कठोर सत्य की ओर से आँखें बन्द करके संसार में क्रान्ति मचा देने का स्वप्न देख रहा हो। सम्भव है जिन्हें वह दरिद्रता के कारण सहानुभूति का पात्र समझ रहा है उनकी सारी बुराइयों को दुरवस्था और दरिद्रता के सिर मढ़ रहा है। वे इतने भोले-भाले प्राणी न हों पर वह नवयुग का स्वर्ण-स्वप्न देखने में इतना मग्न है कि इस समय उसे किसी बाधा-विघ्न की ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं है। लेकिन उन कलाकारों का उद्देश्य क्या यह था कि वे किसी व्यक्ति या समाज के प्रति घृणा फैलायें? वे व्यक्तियों के शत्रु नहीं हैं, न वे द्वेष या ईर्ष्या के कारण साहित्य की रचना करते हैं। वे उन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के शत्रु हैं जिनके हाथों ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। व्यक्तियों से उन्हें उतना ही प्रेम है, जितना अपने किसी भाई से हो सकता है। जिन सूदखोर महाजनों या मज़दूरों के पसीने की कमाई पर मोटे होनेवाले मिल-मालिकों के प्रति वह अपनी कृतियों में ज़हर उगलता है, उन्हीं को संकट में देखकर वह उनकी सेवा करना अपना सौभाग्य समझेगा। वह जानता है कि यह गरीब खुद अपनी स्वार्थलिप्सा के हाथों दुखी है और अपनी धनलिप्सा के शिकार होकर गरीबों को सता रहे हैं। उसे उनसे सहानुभूति होती है पर उन परिस्थितियों के साथ वह बिलकुल समझौता नहीं कर सकता। हो सकता है उनमें कुछ ऐसे भी हों जिन्हें सूदखोरों के हाथों कष्ट उठाने पड़े हों, सम्भव है उन्हीं के हाथों उनका सर्वनाश हो गया हो लेकिन अगर वह कलाकार है तो उसमें

साहित्य में असर करने की ताकत मुमकिन नहीं। शायद शैली का सौन्दर्य यह ही का एक रूप हो हालांकि ऐसे कुशल लिखनेवाले भी देखे गये हैं जिनकी कलम-शैली में सारी खूबियाँ मौजूद हैं मगर रस नहीं। ऐसे साहित्यकारों की शैली की गठन और वाक्य-विन्यास की प्रशंसा तो की जा सकती है मगर पढ़नेवाले के दिल पर उसका असर नहीं होता।

स्वर्गीय मौलाना राशिद-उल-खैरी में यह तीनों गुण मौजूद थे और यही उनकी साहित्यिक सफलता का रहस्य है। उन्होंने बहुत ही दर्दमंद दिल पाया था और उसके साथ ही सच्चाई का पक्ष लेनेवाला भी। वह मध्यम वर्ग में पैदा हुए और उस वर्ग के रहन-सहन के हर पहलू से परिचित थे। उनकी खूबियाँ और बुराइयाँ दोनों ही उनकी नज़रों के सामने थीं। इसी सोसाइटी में सालिहा जैसी लाजवन्ती और स्वाभिमानिनी लड़कियाँ भी देखी थीं और काज़िम जैसे नेक और सदाचारी बुजुर्ग भी। उनके दिल पर उन पात्रों का गहरा प्रभाव था मगर उन्होंने यह भी देखा कि आधुनिक समाज में कुछ ऐसी बुराइयाँ घुस गयी हैं जिनके विषाक्त वातावरण में खूबियाँ दिनोंदिन मिटती जा रही हैं और बुराइयाँ रोज़ ब रोज़ पाँव फैलाती जाती हैं। उन्होंने व्यक्तिवादी प्रकृति न पायी थी। उनकी प्रकृति का रंग सामाजिक था।

सालिहा और काज़िम की हैसियत व्यक्तियों की है मगर वे अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। इन्हीं के ज़रिये मौलाना राशिद समाज का सुधार करना चाहते हैं। सोसाइटी रूढ़ियों की जंजीरों में जकड़ी हुई है। अंधविश्वासों ने धर्म का रूप धारण कर लिया है। फिजूल खर्ची की वबा बवाल बन गयी है और अंग्रेज़ी सभ्यता अपने आडम्बरों और प्रसाधनों के साथ समाज के असली तत्वों को तोड़ती-फोड़ती जा रही है। उदारता खत्म होती जाती है। अपने परिवार को पालने का ख़याल प्रमुख होता जा रहा है, स्वार्थ बढ़ता जा रहा है। इंद्रिय-भोग का रंग छाया हुआ है आध्यात्मिकता लुप्त हो रही है नारी पीड़ित है, उसे उसके अधिकारों से वंचित कर दिया गया है उस पर शारीरिक और धार्मिक बन्धन इतने ज़्यादा लगा दिये गये हैं कि वह अपाहिज हो गयी है। वह अपने पति की जीवन-संगिनी न रह कर केवल उसके मनोरंजन की वस्तु बन गयी है। उसके अपमान और पतन के उदाहरण आये दिन उनके अनुभव में आये होंगे और आश्चर्य नहीं कि उनका दर्दमंद दिल उसकी बेकसी पर रो उठता था और उसके सुधार के लिए बेचैन हो जाता था। उनकी कहानियाँ और उपन्यास चोट खाये हुए दिल की पुकारें हैं जिनमें दिल पर असर करने का गुण कूट-कूट कर भरा हुआ है।

हमारा कवि और साहित्यकार आम तौर पर क्रिया शक्ति से शून्य होता है। संसार उसकी मनोदशाओं को प्रेरित करने का साधन है। उसे अपनी मनोदशाएँ संसार से अधिक प्रिय हैं। वह संसार की घटनाओं से वहीं तक प्रभावित होता है कि उसके अपने मन की करवटें जाग उठें। इससे ज़्यादा उसे दुनिया से दिलचस्पी नहीं।

मौलाना राशिद केवल साहित्यकार न थे वह चिन्तक भी थे और सुधारक भी। वो उर्दू में और भी उपन्यासकार हुए हैं जिन्होंने सांस्कृतिक समस्याओं पर कहानियाँ लिखी हैं मगर उनकी कृतियों में चोट नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने विधवा-विवाह या परदा या तलाक आदि समस्याओं को केवल इसलिए अपना विषय बनाया कि वह सरलता से इस पर अपनी कहानियाँ गढ़ सकते थे या इसलिए कि पब्लिक को इन मसलों से दिलचस्पी थी और ऐसी सामयिक कृतियाँ लोकप्रिय हो सकती थीं। ऐसा नहीं मालूम होता कि सामाजिक समस्याओं से उन्हें आत्मिक कष्ट होता है और जो कुछ वह लिख रहे हैं वह सुधार के एक स्थायी आवेश की दशा में लिख रहे हैं। मौलाना राशिद उल-खैरी की कहानियों में सच्चाई है, दर्द है, गुस्सा है बेचारगी है, झुँझलाहट है जैसे वह समाज की जड़ता और बेदर्दी से दुखी हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उनके शब्दों में असर पैदा हो लोग उनकी बातें सुने और उन पर सोच-विचार और अमल करें।

उनके जितने सामाजिक उपन्यास और कहानियाँ हैं वे सभी सुधार के आवेग से भरे हुए हैं। वह दलील से भी काम लेते हैं नसीहतों से भी शब्दों के सौन्दर्य से भी और इसलाम के इतिहास और रवायतों और शरीयत के हुक्मों से भी। चाहते हैं काश उनकी आवाज में सूरे इसराफ़ील की-सी ताक़त और असर होता। इस आवेश में कभी कभी उनकी कृतियों में कला की दृष्टि से त्रुटियाँ भी उत्पन्न हो गयी हैं। कभी-कभी ऐसा खयाल होने लगता है कि यह किसी उपदेशक की अपील है कोई साहित्यिक सृष्टि नहीं। अक्सर सुधारक और चिन्तक साहित्यकार पर हावी हो गया है लेकिन मौलाना राशिद सच्चाइयों से इतने करीब थे और उनसे इतना असर लेते थे कि उनका मन कला के सिद्धान्तों को आँख से ओझल कर देने के लिए विवश हो जाता था। बेशक दुनिया आर्टिस्ट के सीमित चिन्तन से कहीं ज्यादा बड़ी है। खुदा की दुनिया और इन्सान की दुनिया में कोई मुकाबला नहीं। खुदा की दुनिया में आये दिन ऐसी सूरतें पैदा आती रहती हैं जिन्हें इन्सान की दुनिया गवारा नहीं कर सकता जो मनुष्य की बुद्धि से परे हैं।

वास्तविकता चाहती है कि आर्टिस्ट दुनिया को उसी तरह दिखाये जैसे वह उसे देखता है। मगर इससे उसकी मानव अनुभूतियों को आघात पहुँचता है तो पहुँचे अगर इससे उसकी न्याय-बुद्धि को चोट लगती है तो लगे पर उसे वास्तविकता से इधर-उधर हटने की इजाज़त नहीं। मगर साहित्यकार सब कुछ समझने पर भी आदर्शवादी बनने पर मजबूर है। जब तक उसकी नज़र में समाज का कोई अधिक सुन्दर रूप नहीं है वर्तमान समाज के वैषम्य कैसे उसे उद्विग्न करेंगे? हमने अगर किसी नहीं देखी है तो हम अपने झरने की गन्दगी और सड़ाँध से क्योंकर बेज़ार होंगे। असन्तोष के लिए किसी ऊँचे आदर्श का दिमाग में होना ज़रूरी है। न सोचना नहीं कर सकता है जो ठीक बात

तो हमें तो इसमें हानि के बदले लाभ ही नजर आता है। चौथे या सातवें दरजे तक एक ही भाषा रहने से मुसलमान लड़कों को संस्कृत के और हिन्दू लड़कों को फारसी के सैकड़ों शब्द अभिप्राय रूप में मालूम हो जायेंगे और इससे उनके परस्पर व्यवहार में सुविधा ही होगी। जिसे साहित्य पढ़ने का शौक है वह चौथा या मिडिल पास करके साहित्य की दो-तीन किताबें चार महीनों में पढ़कर इस कमी को पूरा कर सकता। अब हम अंग्रेजी के हजारों शब्दों को अपनी भाषा में आने से किसी तरह नहीं रोक सकते (और न रोकना चाहिए) तो सौ-दो-सौ फारसी शब्दों के मिल जाने से हिन्दी का ह्रास न होगा।

इस सम्मेलन के साथ एक कवि सम्मेलन भी हुआ था जिसके सभापति श्री प्रो मनोरंजन एम. ए. थे। श्री प्रोफेसर साहब स्वयं अच्छे कवि हैं और जीवन में कविता का स्थान क्या है, यह खूब जानते हैं। आपने बहुत ठीक कहा कि कविता केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं और न गा-गा कर सुनाने की चीज है। वह तो हमारे हृदय में प्रेरणाओं को जगानेवाली हमारे अवसाद-ग्रस्त मन में आनन्दमय स्फूर्ति का संचार करनेवाली (स्त्रैण भावनाओं की नहीं) वस्तु है। कविता में अगर जागृति पैदा करने की शक्ति नहीं है, तो वह बेजान है। आप हाथी बाँधें या तम्बों के तार या घुनघुन और इश्क उसमें जीवन को तड़पानेवाली शक्ति होनी चाहिए। प्रेमिकाओं के सामने बैठकर आँसू बहाने का यह जमाना नहीं है। उस व्यापार में हमने कई सदियाँ खो दीं विरह का रोना रोते-रोते हम कहीं के न रहे। अब हमें ऐसे कवि चाहिए जो हजरते इसराफील की तरह हमारी मरी हुई हड्डियों में जान डालें। इसलिए इस कवि ने लेनिन को खुदा के सामने ले जाकर क्या फरियाद करायी है और उसका खुदा पर इतना असर होता है कि वह अपने फरिश्तों को हुक्म देता है—

उठो मेरी दुनिया के गरीबों को जगा दो
काखे[1] उमरा के दरो-दीवार हिला दो।
गरमाओ गुलामों का लहू सोजे यकीं से
कुंजिश्के[2] फ़रोमाया[3] को शाहीं[4] से लड़ा दो।
सुलतानिये[5] जमहूर[6] का आता है जमाना
जो नक्शे कोहन तुमको नजर आये मिटा दो।
जिस खेत से दहकाँ[8] को मयस्सर नहीं रोजी
उस खेत के हर खोशए[9] गन्दुम को जला दो।
क्यों खालिको[10] मखलूक[11] में हायल रहें परदे
पीराने[12] कलीसा को कलीसा[13] से उठा दो।

मार्च १९३६

१—महल २—चिड़ा ३—तुच्छ ४—शिकरा ५ ६—प्रजा राज्य ७—पुराना ८—किसान ९—गेहूँ की बाल १०—स्रष्टा ११—सृष्टि १२—मठधारी १३—गिरजे।

॥ बिहार-प्रान्तीय-साहित्य सम्मेलन पूर्णिया ॥

इन्दौर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन

श्री जैनेन्द्रकुमार ने इन्दौर साहित्य-सम्मेलन की चर्चा करते हुए अपने पत्र में लिखा है—

'मेरे खयाल में सम्मेलन ठीक-ठीक रूप में अब की पहली बार अपना राष्ट्रभाषा सम्मेलन के रूप को अनुभव कर सका है। जैसे और प्रान्तीय भाषाएँ हैं हिन्दी को अब वैसा ही नहीं रहना है, हिन्दी अखिल राष्ट्र की होगी। इस तरह सम्मेलन को भी उसके अनुरूप होना होगा।

यह काम गांधी जी के सभापतित्व के तले न हो तो और कैसे हो? हिन्दी के साथ हिन्दुस्तानी शब्द जोड़कर उसके रूप के सम्बन्ध में सम्मेलन ने अपना मन्तव्य स्पष्ट किया है। लिपि के लिए विद्वानों की अलहदा कमेटी बैठायी गयी है। लिपि के प्रश्न के सम्बन्ध में सम्मेलन अन्तिम निर्णय देने से बचा है। यह ठीक भी है। विद्वानों की समिति धैर्य से इस प्रश्न के सब पहलुओं पर विचार करके कुछ स्थिर करेगी। अन्य प्रान्तीय भाषाओं के लिए सुगम और निकट होने की दृष्टि से हिन्दी म जो सुधार व हेरफार आवश्यक होवें उस प्रश्न को भी सम्मेलन ने छोड़ा नहीं है। एक और भी महत्वपूर्ण बात इस सम्मेलन म हुई है। 'भिन्न-भिन्न भाषाओं के माध्यम स जो साहित्य कार अन्तर प्रान्तीय और भारतवर्षीय होने योग्य साहित्य प्रस्तुत कर रहे हैं। उन सब में परस्पर परिचय विचार-विनिमय भी जरूरी है। अन्यथा राष्ट्र के जीवन में और साहित्य म ऐक्य कसे आवे।

प्रान्त की भाषाओं की विविधता और विशिष्टता सुरक्षित रहे, फिर भी वे सब क्या न मिलकर एक संयुक्त बलिष्ठ राष्ट्र-भारत के विकास म सहायक हों। यह काम पंचायती के माध्यम से तो नहीं हो सकता। होगा तो अधूरा हो सकता है। हिन्दी के माध्यम और केन्द्र के द्वारा सब भाषाएँ एक दूसरे के स्पर्श और परिचय में आवें—इस जरूरत को भी सम्मेलन ने पहचाना और इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत किया।

बम्बई के श्री मुंशी के संयोजकत्व में एक समिति बनी है। श्री मुंशी से इस सम्बन्ध मे मेरी काफी बातचीत हो गयी। वह इस बारे में तत्पर और उद्यमशील हैं और मुझे विश्वास है, निकट भविष्य में ही कुछ निश्चित फल सामने आवेगा। एक प्रस्ताव-द्वारा साहित्यकों की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था पी ई एन में सम्मिलित होने का अनुरोध हिन्दी-साहित्यिकारों से किया गया है। यह सब सम्मेलन के पक्ष में दृष्टिकोण के विस्तार के प्रमाण हैं और मैं उनका स्वागत करता हूँ।

रहा यह प्रश्न हिन्दी का वर्तमान साहित्य राष्ट्रभाषा होने के योग्य है या नहीं इस विषय म तो मैं यह कह सकता हूँ कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का आधार उसके एतद् कालीन साहित्य की श्रेष्ठता है ही नहीं। बराक रवीन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दी में नहीं

है, लेकिन हिन्दी को उस पर सम्मानित्व में पस्त हो जाना चाहिए। हिन्दी में समय व्यक्ति यदि कम है, तो और होंगे यदि नहीं है तो अब उठेंगे। हिन्दी के पक्ष में इसे चाहे कोई लोग हीनता ही समझें, मैं तो इसे सौभाग्य समझता हूँ कि वह उतनी सम्पन्न की भाषा नहीं जितनी कृषक और मजदूर की है। उतनी तहजीब की भाषा नहीं जितनी नित्य जीवन की है। यदि हिन्दी की मर्यादा है, तो यही हिन्दी का बल भी है। आज हिन्दी का लेखक इस बात को देखने से बच नहीं सकता कि उसको बाँधने और पढ़नेवाला पाठक उसके आस-पास का हो नहीं है, वह तो दूर कोने-कोने तक फैला है। ऐसी हालत में हिन्दी-लेखक के लिए यह सुभीता नहीं रहेगा कि वह अपना भाषा अथवा भाव में परिमित प्रान्तीय अतिशय साम्प्रदायिक अथवा संकीर्ण रह सके। राष्ट्र भाषा की कसौटी अब जब रोज ब रोज गढ़ कर सख्त होती जाती है, तब हिन्दी के लेखक को बरबस ऊँचा होना पड़ेगा ही नहीं तो वह नहीं पूछा जायेगा। साहित्य में उन्नतिशील धारा को प्रोत्साहन देने और अल्प प्राण स्थूलता को व्यथ करने का अमोघ साधन अनायास ही हिन्दी को मिल गया है। मैं दूसरी भाषा के जागृत पाठक से निवेदन करूँगा कि वह हिन्दी के वर्तमान साहित्य में तृप्ति न पाकर एक दम विमुख न हो तनिक धीरज धरें और यदि उन जैसे प्रबुद्ध पाठकों की संख्या काफ़ी हो जाये तो वे देखेंगे कि हिन्दी में उनकी रुचि के योग्य सामग्री प्रस्तुत करनेवाले लेखकों के भी होने में देर नहीं लगती। आज तो मैं स्वीकार करता हूँ कि हिन्दी में स्वामी कम है, बसता थोथ ही ज्यादा है। मष्ठ थोड़ा है, अतिरेक साधारण का ही है पर क्या अन्य भाषा भाषी मौका नहीं देंगे कि किसान और मजदूर के बल पर जो भाषा परिपालित है, वह नज़ाकत सीख ले?

यह निर्विवाद है कि इन्दौर सम्मेलन ने लिपि भाषा और साहित्य को कौमी रूप देने के लिए तारीख के माफ़िक उद्योग किया है। अन्तर प्रान्तीय साहित्य-संघ का आयोजन करके उसने इस कमी को पूरा कर दिया है, जो बरसों से लोगों को खटक रही थी और यदि हमारा यह उद्योग सफल हुआ तो एक दिन हमारा साहित्य सच्चे मानों में राष्ट्र की सम्पत्ति होगा। इस कमेटी की ओर से भी कन्हैयालाल मुन्शी ने प्रान्तीय साहित्य महारथियों से पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया है और हाल में ही एक गश्ती चिट्ठी भेजी है। जिसमें संघ के कार्यक्रम का रूप स्थिर करने की चेष्टा की गयी है। सम्मेलन के इस प्रस्ताव का हवाला देने के बाद कहा गया है—

'इसके पहले कि कमेटी भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के प्रतिनिधियों का चुनाव करके काम शुरू करे, यह जरूरी है कि मूल विचार पर प्रान्तीय भाषाओं में अच्छी तरह विचार किया जाय। इसलिए मेरा आप से यह निवेदन है कि आप अपनी प्रान्तीय भाषा में किसी ऐसे पत्र-द्वारा जिसे इस आयोजन से सहानुभूति हो इसकी जरूरत पर विचार करें। मुझे पूरी आशा है कि हमारी प्रान्तीय भाषाओं के प्रायः सभी राष्ट्रवादी पत्र इस

आयोजना का स्वागत करेंगे। तजवीज यह है कि इस काम के लिए या तो मौजूदा मासिक पत्रों में किसी का उपयोग किया जाय या कोई नया पत्र निकाला जाय और उसमें हरएक भाषा के लिए एक-एक खंड नियत कर दिया जाय और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकार प्रतिमास उसके लिए लेख लिखें जो हिन्दी में तरजुमा होकर उसमें छपें। लेख यथासाध्य छोटे हों और उस विषय के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों द्वारा लिखे जायँ। उनके विषय यह हों—

(१) उस भाषा के नवीन साहित्य के किसी एक अंग पर एक लेख जैसे उपन्यास ड्रामा इतिहास या निबन्ध।

(२) उस प्रान्तीय भाषा की मासिक प्रगति पर एक लेख।

(३) (क) किसी उपन्यास या ड्रामा का छोटा-सा खुलासा (ख) उस माह के पत्रों में छपी हुई एक या दो कविताएँ।

(४) उस महीने में छपी हुई किसी सुन्दर रचना की आलोचना।

अगर आप इन लेखों को हिन्दी में अनूदित कराने का प्रबन्ध न कर सकें तो बम्बई में इसका कोई इन्तजाम किया जायगा जहाँ यह सुअवसर है कि प्राय सभी भाषाओं के जानकार मौजूद हैं। इस तरह हमारे हाथ में अन्तरप्रान्तीय साहित्य का एक पत्र हो जायगा।

अतएव मैं आप से अनुरोध करता हूँ कि आप ऐसे साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त करें जो आपकी भाषा में इस आयोजन को कार्यरूप में लाने के इच्छुक हों और मुझे सूचना दें कि (१) आप इस विचार को पसन्द करेंगे और (२) हर महीने मेरे पास लेख भेजेंगे।

उत्तर यथासाध्य जल्द दें जिसमें मैं महात्मा जी को शीघ्र ही इसकी रिपोर्ट दे सकूँ।

इस पत्र में जो कार्यक्रम रक्खा गया है, अगर वह व्यवहार में लाया गया तो यह राष्ट्र की एक बड़ी सेवा होगी। भारत के प्रान्तों में प्राचीन सांस्कृतिक एकता तो किसी न किसी रूप में मौजूद है लेकिन आश्चर्य है कि इस युग में जब कि एकीकरण के अनेक साधन मौजूद हैं, हम संस्कृति के एक मुख्य विभाग में एक दूसरे से परिचित भी नहीं हैं। रूस और फ्रांस का स्वीडेन और पोलैंड का जापान और स्पेन का साहित्य हमें अंग्रेजी-द्वारा सुलभ है। हम उसकी रचनाएँ पढ़ते हैं, उन पर बहस करते हैं और उनसे अपनी साहित्य-क्षुधा को तृप्त करते हैं। स्वभावत हम अपने साहित्य में भी वही उत्कर्ष वही ओज वही प्रतिभा देखने की कामना करने लगते हैं, और तुलना में जब हम अपने प्रान्तीय साहित्य को हलका पाते हैं तो उसकी ओर से हमारे मन में ग्लानि और अपनी हीनता का भाव पैदा हो जाता है मगर वास्तव में हम अपने राष्ट्र के साहित्य से परिचित भी नहीं हैं। प्रान्त तो राष्ट्र नहीं है, राष्ट्र तो प्रान्तों का समूह है।

जब तक हम इस प्रान्तीय भाषा भेद का बोझ न सकेंगे राष्ट्र साहित्य अपने सम्पूर्ण रूप में हमारे सामने कैसे आयेगा। अभी जो रंग अलग-अलग लाल हरे, नीले पीले नजर आ रहे हैं जब ये सब मिल जायेंगे तभी उनमें उज्ज्वल प्रकाश आयेगा। वक्ता जब श्रोताओं का उमड़ता हुआ समूह अपने सामने देखता है, तो उसकी जिह्वा पर जैसे सरस्वती बैठ जाती है। श्रोताओं की संख्या कम हुई, तो उसी अनुपात से उसका उत्साह क्षीण हो जाता है। उसी तरह लेखक की प्रतिभा भी जब एक विशाल राष्ट्र की भावना से लिखती है, तो उसमें कुछ और बात पैदा हो जाती है उस कवि से पूछिए, जो किसी आल इण्डिया-कवि सम्मेलन के लिए एक कविता लिख रहा है। उसकी इच्छा यही होगी कि अपनी आत्मा का सारा वैभव इस कविता पर लुटा दे। अपने सामने बृहत्तर कवियों को बैठे देखने की कल्पना ही मानो उसकी प्रतिभा को कोड़ लगा-लगाकर जगाती रहती। जिम्मेदारियों के अनुपात से ही हमारी शक्तियों का विकास होता है। जब हमारे साहित्यकारों के सामने केवल अपना प्रान्त नहीं वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र होगा तब वह पूरा मनोयोग और पूरी तैयारी और उत्कृष्ट साधन के साथ साहित्य की रचना करेगा। यह बात नहीं कि वह इस वक्त कुछ उठा रखता है, बल्कि क्षेत्र का विस्तार अदृश्य रूप से उसकी बुद्धि को चमका देगा। वह विद्वान् भी जो प्रान्तीय भाषाओं से काफ़ी प्रोत्साहन न पाकर या तो कुछ लिखने की चेष्टा ही नहीं करते या अंग्रेजी में लिखते हैं सम्भव है तब राष्ट्र भाषा में लिखना अपनी शान के खिलाफ न समझें। हमें विश्वास है हिन्दी का साहित्य-संसार इस नया प्रगति का अभिवादन करेगा और हमारे मान्य सम्पादकगण इस आयोजन को अपनी आलोचना और परामर्श और शुभकामना से जीवन प्रदान करेंगे।

जून १९३५

तुलसी-जयन्ती या तुलसी-पुण्यतिथि ?

जन्म-दिन को जो उत्सव मनाया जाता है उसको 'जयन्ती' कहते हैं। उसी को 'वर्षगाँठ' या 'सालगिरह' भी कहते हैं। श्रावण शुक्ला सप्तमी तो गोस्वामी तुलसीदास जी की निधन-तिथि है इसलिए उस दिन 'जयन्ती' नहीं पुण्य-स्मृति-तिथि मनानी चाहिए। 'तुलसी-जयन्ती' की जगह 'तुलसी-पुण्यतिथि' का ही प्रयोग और प्रचार होना अच्छा है। जब गोस्वामी जी के जन्म संवत् का ही ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो सका है, तब उनके जन्म-दिन का ठीक पता लगाना कैसे सम्भव हो सकता है? चूँकि वे स्वयं एक दोहे में अपनी निधन-तिथि अंकित कर गये हैं इसलिए उसमें शक करने की कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसी दशा में 'तुलसी-तिथि' शब्द ही सबसे उपयुक्त मालूम होता है। हिन्दी

साहित्य-सम्मेलन और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को चाहिए कि 'तुलसी-जयन्ती' शब्द का प्रयोग और प्रचार रोकने की कोशिश करें। हिन्दी-पत्र सम्पादकों को इस नियन्त्रण में अधिक सफलता मिल सकती है। हिन्दी प्रेमियों को यह भूल सुझाने का यही उपयुक्त अवसर है।

तुलसी-स्मृति-तिथि कैसे मनायी जाय ?

इस महीने (जुलाई श्रावण) मे जगह-जगह तुलसी-तिथि मनायी जायगी। २१ जुलाई (शनिवार) को इस देश के अनेक नगरों और ग्रामों म विशेष रूप से तुलसीदास सम्बन्धी उत्सव मनाया जायगा। यों तो नित्य ही असंख्य स्थानों में तुलसीदास जी का गुणगान हुआ करता है पर उस दिन उनके निमित्त कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिए।

हिन्दी-पाठकों को स्मरण होगा कि महामना मालवीय जी ने काशी के तुलसी-घाट का जीर्णोद्धार करने के लिए पत्रों में एक अपील छपवायी है। उस पर यदि साल-भर में इसी एक दिन ध्यान दिया जाय तो कुछ ही बरसो में—और अगर सुयोग मिल गया तो एक ही साल मे—तुलसी-घाट का जीर्णोद्धार हो जा सकता है।

तुलसीदास जी स सम्बन्ध रखनेवाले अनेक स्थान काशी में है और सबकी दशा शोचनीय है। गोपाल मन्दिर के अहाते म एक कोठरी है जिसे लोग गोस्वामी जी का निवास स्थान बतलाते है यह साल-भर मे एक बार सिर्फ श्रावण-शुक्ला सप्तमी को खुलती है। क्या उस अँधेरी (!!!) कोठरी का इतना ही सम्मान पर्याप्त है ? जिस स्थान में महीनों और बरसों रहकर गोस्वामी जी न 'विनय पत्रिका' क समान अपूर्व विनय-ग्रन्थ लिखा उस स्थान की दुदशा हिन्दीवालों के लिए घोर लज्जाप्रद है।

यही हाल अस्सी घाटवाले तुलसी-मन्दिर का है। जिस भाषा के हिमायती करोड़ों हों उस भाषा के सवश्रेष्ठ कवि के प्रति ऐसी उदासीनता! अमात्य तुलसीदास का जो हिन्दुस्तान म हिन्दी के कवि हुए!

हर साल लोग जगह-जगह तुलसी-जयन्ती के नाम से तुलसी-तिथि मनाते है। करते क्या है ? गाँववाले दो-चार सेर घी प्रसाद में झोंक देते है! हवन के साथ-साथ ब्राह्मण-भोजन तो चाहिए ही ? वह भी थोड़ा-बहुत हो ही जाता है। इसके बाद ढोलक-झाल लेकर लोग तुलसी-कृत रामायण गाने लगते है। चार-छ घण्टे लोग गला फाड़कर चिल्लाते है। बस हो गये तुलसीदास से उऋण! शहरवाले एक नोटिस छपवाकर बँटवा देते है। लोग निश्चित स्थान पर जुटते है। भाषण होते है लेख पढ़े जाते है कविताएँ सुनायी जाती है, सब में यही कहा जाता है कि गोस्वामी जी की कविता ऐसी है, वैसी है, उनके उपकारों का हम बदला नहीं दे सकते—इत्यादि। बस एक ही तरह की

जाते हर साल । भला कोई कहेगा कहाँ से ? कोई रिमम तो करता नहीं और जो करता है वह —उ उत्सव में आता नहीं । इस तरह एक रस्म-सी पूरी कर दी जाती है । यह तो एक तरह से बला टालना है, इससे कुछ ठोस काम नहीं हो सकता ।

इस समय आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ-जहाँ तुलसी-तिथि मनायी जाय वहाँ तुलसी-निधि के लिए थोड़ा-बहुत जो मिल सके धन-संग्रह किया जाय और वह द्रव्य महामना मालवीय जी को इस निवेदन के साथ भेज दिया जाय कि वे इसे तुलसीदास से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों के जीर्णोद्धार म लगावें । इस तरह अगर कुछ साल भी लगातार यह काम हो तो तुलसी-निधि म यथेष्ट धन एकत्र हो सकता है । उससे राजापुर काशी और अयोध्या में तुलसीदास जी के जितने स्मृति-चिन्ह हैं सबकी रक्षा और पूजा-प्रतिष्ठा का प्रबन्ध किया जा सकता है ।

तुलसीदास जी ने हिन्दूजाति और हिन्दूधर्म का जो उपकार किया है उसका वर्णन करने का यहाँ स्थान नहीं है । उन्होंने हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-संस्कृति की बड़ी रक्षा की है । हिन्दू-समाज और हिन्दू-साहित्य उनके उपकार-भार स कभी मुक्त नहीं हो सकता । इसलिए हिन्दू-जाति का प्रतिनिधित्व करनेवाली हिन्दूमहासभा का भी कर्तव्य है कि वह इस दिशा में अपनी कुछ शक्ति लगावे । गोस्वामी जी की रचनाएँ सनातनधर्म की ढाल हैं पर सनातनधर्म सभाओं को देश-हित के मार्ग म रोड़े अटकाने स फुरसत ही नहीं मिलती कि वे अपने अनन्य संरक्षक की ओर कुछ भी ध्यान दें । वैष्णव-महासम्मेलन भी केवल सामिष्ट झगड़ों में ही फँसा रहता है—वह सम्पन्न होकर भी तुलसीदास जैसे अनन्य वैष्णव के लिए आज तक कुछ न कर सका । किन्तु इन निर्जीव संस्थाओं से आगे भी विशेष आशा नहीं है । अतएव हिन्दी-साहित्य से प्रेम रखनेवाले लोग ही इस काम को अपने हाथ म लें और हिन्दी के इस लोकप्रिय महाकवि के समुचित सम्मान का आयोजन करें । किन्तु इस आयोजन का श्रीगणेश इसी २६ जुलाई को हो जाना चाहिए ।

काशी में अन्यत्र एक तुलसीदास जी का मन्दिर भी है, जिसके विषय म कहा जाता है कि वह काशी-नरेश की सहायता से बना है । उसमें गोस्वामी जी की एक शुभ प्रस्तरमूर्ति स्थापित है, जो उनके असली चित्र के आधार पर तैयार की गयी है । सुनते हैं, उसी असली चित्र को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है । लेकिन हमने आज तक उस मन्दिर को तीर्थ का रूप नहीं दिया । राजापुर की तीर्थयात्रा के लिए हम कभी उत्साहित नहीं हुए । अस्सी-घाट के तुलसी-मन्दिर म जो खड़ाऊँ गोस्वामी जी की रक्खी है उसकी ओर हमारा ध्यान कभी नहीं गया । उसी तुलसी-मन्दिर के पास एक तुलसी-पुस्तकालय है, जिसमें तुलसीदास-सम्बन्धी समस्त साहित्य का संग्रह करने की हमारी प्रवृत्ति कभी नहीं हुई । फिर हम तुलसी-तिथि क्यों मनाते हैं ? शेक्सपियर की जन्मभूमि को अंग्रेजों ने स्वर्ग बना डाला है और हमारी भाषा के शेक्सपियर की जो दशा है, वह आपके सामने है ।

॥ तुलसी-स्मृति-तिथि कैसे मनायी जाय ? ॥

तुलसीदास के ग्रन्थों से कितने ही लोग लखपती हो गये, बहुतों ने करोड़ों रुपये कमा कर घर में भर लिये और न जाने कब तक यह क्रम जारी रहेगा। किन्तु ऐसे लोगों में कोई ऐसा माई का लाल आजतक आते-जाते नहीं दिखाई दिया जो तुलसीदास के नाम पर एक परसेंट रॉयल्टी की रकम भी खुशी से निकालकर देता। सच तो यह है कि हममें अभी अपनी भाषा के रत्नों की परख करने की योग्यता ही नहीं है; हम सिर्फ लकीर पीटने में ही बहादुर हैं। किन्तु सिर्फ पुरानी लकीर पीटकर तुलसीदास जैसे महाकवि को श्रद्धांजलि देने से कोई लाभ नहीं।

जुलाई १९३३

साहित्यिक गुंडापन

इस होड़-युग में अन्य व्यवसायों की भाँति पत्र-पत्रिकाओं को भी अपने स्वामियों या संचालकों को लाभ देने या अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए तरह-तरह की चालें चलनी पड़ती हैं। योरोपवाले तो शब्द-जाल या पहेलियों या लाटरियों का लटका निकालते हैं और अपने ग्राहकों को अपनी तकदीर आजमाने का मौका देकर अपना मतलब निकालते हैं। हिन्दी में धन के अभाव से और ढंग की चालें चली जाती हैं। पत्र में किसी तरह का विवाद छेड़ दिया जाता है, या कला के नाम पर अश्लील नग्न चित्र दिये जाते हैं। अदालती नोटिसों के लिए मददगारों की खुशामदें की जाती हैं, उनके सामने नाक रगड़ी जाती है, भण्डाफोड़ की धमकी देकर रकमें सीधी की जाती हैं और इसे सत्योद्घाटन का महान् नाम दिया जाता है। या कोई चौंकानेवाली चीज छापी जाती है, जिसे पढ़कर लोगों में उस पत्र की ख्वाहमख्वाह चर्चा हो। जहाँ दो साहित्य के प्रेमी जमा हों वहीं उसी सनसनी भरे हुए लेख पर बातें होने लगें। इनका सिद्धान्त है—बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा? उन्हें तो पत्रिका के ग्राहक बढ़ाना चाहिए, क्योंकि उसका स्वामी नफा चाहता है और नफा न हुआ तो बेचारे सम्पादक की जान की कुशल नहीं, डण्डा-डेरा सम्भाल कर अपने घर की राह लेनी पड़ेगी। रोटी का सवाल तो बड़ा टेढ़ा है। गरीब सम्पादक अपनी आत्मा की हत्या करके सनसनी पैदा करने के लिए या तो नास्तिकता के समर्थक लेखों की माला निकालने लगता है, या किसी भले आदमी की पगड़ी उछालता है। जान पड़ता है, प्रयाग की मासिक पत्रिका 'सरस्वती' आज-कल इन्हीं गंदी चालों से अपना कोष भरने के लिए मजबूर है। उसके जुलाई के अंक में पं. बनारसीदास चतुर्वेदी पर जो आक्षेपपूर्ण लेख 'संस्मरण' के रूप में निकला है, उसके लिए दूसरा कोई उत्तर नहीं हो सकता। आदमी कोई गर्हित काम उसी वक्त करता है जब उसका जीवन संकट में पड़ जाता है और इस दृष्टि से

यह दया का पात्र है लेकिन यदि वह केवल अपनी कुटिल मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए किसी को लांछित करता है, तो वह दया का नहीं धिक्कार का पात्र है। हम नहीं समझते इस संस्मरण के लेखक सरस्वती-सम्पादक ठाकुर श्रीनाथसिंह जी दया के पात्र हैं, या धिक्कार के।

अगस्त १९३३

इंटरव्यू क्या है ?

भारत ने योरोप से जहाँ और बहुत-सी अच्छी-बुरी बातें सीखी हैं वहाँ पत्र-प्रकाशन भी है और पत्र-प्रकाशन में यहाँ भी वही नीति मान्य है जो योरोप में है। वहाँ प्रथा है कि पत्रों के सम्पादक या प्रतिनिधि विशिष्ट व्यक्तियों से भेंट करके किसी सामाजिक धार्मिक राजनैतिक या अन्य महत्वपूर्ण समस्या पर उनकी सम्मति जनता के सामने रखते हैं। इंटरव्यू का उद्देश्य महत्वपूर्ण विषयों पर अनुभवी महात्माओं की राय दृष्टि-कोण या निर्णय प्रकाशित करके जनता में जागृति फैलाना या किसी विशेष पक्ष का समर्थन करना होता है। इसके लिए पहले ही से आज्ञा ले ली जाती है। बहुधा इंटरव्यू करनेवाले पहले ही से कुछ प्रश्न बना लेते हैं। उन प्रश्नों का जवाब व अक्षरशः नोट करते जाते हैं और इंटरव्यू समाप्त हो जाने पर पूरा कथन सुना दिया जाता है और इंटरव्यू देनेवाले का उस पर हस्ताक्षर ले लिया जाता है। तब इंटरव्यू करने वाले को उस कथन या संस्मरण को छापने का अधिकार होता है। वह इसकी पूरी एहतियात करता है कि कथन में एक शब्द या वाक्य भी ऐसा न आने पाये जिससे उस विशिष्ट पुरुष के विषय में किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो सके। अगर ऐसा कोई वाक्य असावधानी के कारण रह भी जाता है, तो इंटरव्यू देनेवाला उसी वक्त उसका संशोधन कर देता है।

मगर यहाँ क्या हुआ ?

यहाँ सरस्वती-सम्पादक ने एक नये ढंग का इंटरव्यू लिया। आप लखनऊ गये चतुर्वेदीजी से मिले उनसे अपनी भक्ति और घनिष्टता दिखायी और उसी आत्मीयता की झोंक में जिसे शायद इस भक्ति-प्रदर्शन ने और गहरा कर दिया हो चतुर्वेदी जी से जो कुछ बातें हुईं उन्हें घर आकर स्मृति से लिखा जो कुछ न याद आया वह अपनी तरफ से मिला दिया शब्दों का हेर-फेर तो कोई बात ही न थी न कोई कलम पकड़नेवाला था। चतुर्वेदी जी के मुँह से जो कुछ कहलाना चाहा अपनी कलम से लिख दिया। इतनी बातें याद कैसे रहतीं केवल उनका भाव याद रह सकता था और भावों

॥ मगर यहाँ क्या हुआ ! ॥

को अपने शब्दों में लिखकर बहुत बड़ा अनर्थ किया जा सकता है। एक आदमी कहता है—'राम की कविताएँ साधारण होती हैं।' इस भाव को इस तरह लिखकर—'राम के बाप ने भी कभी कविता की थी वह कविता करनी क्या जाने' उसका रूप कितना विकृत किया जा सकता है। ऐसा मालूम होता है कि श्रीनाथसिंह जी यह मंसूबा बाँध कर ही गये थे कि इण्टरव्यू के बहाने इनके मुँह में ऐसी-ऐसी बातें रख दूँ कि सभी पत्र सम्पादकों और लेखकों से चतुर्वेदी जी की लड़ाई हो जाय और वे सब श्रीनाथसिंह जी को अपना उद्धारक और हिमायती समझ कर उनकी पीठ ठोकने लगें। मगर हिन्दी के सम्पादक इतनी आसानी से चकमे में आनेवाले नहीं हैं। बात के ढंग से बात करनेवाले का चरित्र का पर्दा खुल जाता है। अगर कोई आदमी आकर हम से कहे कि पं. देवीदत्त जी शुक्ल कहते थे कि अब की प्रेमचंद प्रयाग आवेंगे तो उनकी वह दुर्गत की जायगी कि कहानी लिखने का नाम न लेंगे तो मैं विचार करूँगा कि कहनेवाला किस ढंग का आदमी है तुरंत शुक्लजी से लड़ने के लिए तैयार न हो जाऊँगा। जिस प्राणी का मन कुत्सा में बसता है उसका विश्वास ही कौन करता है? दूसरों की निन्दा करनेवाला अपनी उपासनावाला लड़ाई लगानेवाला आदमी अगर समझे कि लोग उसका आदर करेंगे तो उसकी भूल है। ऐसे आदमी को घृणा के सिवा और किसी बात की आशा न रखनी चाहिए। भला चतुर्वेदी जी ने कहा कि अमुक व्यक्ति को लिखने की तमीज नहीं या उन्होंने अमुक व्यक्ति को साहित्य-क्षेत्र में आगे न बढ़ाया होता तो वह अब तक गुमनाम पड़ा होता या यह कि मि. ऐंड्रूज और महात्मा गाँधी उनसे भिन्न मत रखते हैं तो क्या यह बातें लिखने की हैं। आदमी बातचीत में साधारणतः कुछ सतर्क नहीं रहता शब्दों को तौल कर मुँह से नहीं निकालता बल्कि ऐसी ही बातें करता है जिन्हें वह समझता है कि सामने बैठे हुए व्यक्ति को अच्छी लगेंगी। वह मिलनेवाले की रुचि और स्वभाव देखकर उसी ढंग की बातें करता है। अगर मुझ से कोई शोहदा मिलने आवे तो मैं उससे वेदान्त की बातें न करूँगा। अपने घर जो आदमी आता है, उसका कुछ न कुछ सत्कार करना लाजिम हो जाता है। श्रीनाथसिंह जी की जगह अगर मि. ऐंड्रूज चतुर्वेदी जी से मिलने गये होते तो वह प्रवासी भारतीयों का प्रसंग छेड़ते। श्रीनाथसिंह जी वह सारे गपोड़े लिखकर खुद अपने ही खोदे हुए गढ़े में औंधे मुँह गिर पड़े हैं क्योंकि चतुर्वेदी जी ने ऐसी ही बातों का पात्र समझा। अगर श्रीनाथसिंह जी जरा और जोर लगाते तो चतुर्वेदी जी अपने अन्तरंग का गुप्त भाव भी खोल देते। ऐसा कौन है जिसने कभी ताक झाँक न की हो कभी मनचलेपन के स्टेज पर दो चार अभिनय न किये हों। फिर चतुर्वेदी जी तो युवा के क़दम से अभी गुज़रने से बहुत दूर हैं और युवा के ज़हर से रंगुए भी हैं। श्रीनाथसिंह जी अगर थोड़ी-सी और चालबाज़ी से काम लेते तो चतुर्वेदी जी के रसिक जीवन का भंडाफोड़ भी कर सकते थे पर क्या यह सारी बेहूदगी एक प्रतिष्ठित पत्रिका के प्रतिष्ठित सम्पादक के योग्य है, और क्या सरस्वती के पाठक

इसीलिए 'सरस्वती' चाहिए थे कि उन्हें इस तरह के लेख पढ़ाने चाहिए? किन्हीं की व्यक्तिगत बातचीत को, जो उसने हमें अपना मित्र समझकर हमारे ऊपर विश्वास करके की हो, पब्लिक में लाने का हमें कोई अधिकार नहीं है। अगर हम ऐसा करते हैं, तो विश्वासघात करते हैं। आखिर इस इंटरव्यू से किस समस्या, किस प्रश्न, किस बात पर प्रकाश पड़ा? ज्यादा से ज्यादा पढ़नेवाला यही समझेगा कि बनारसीदास बड़ा नीच आदमी है, बिलकुल बना हुआ, बड़ा दम्भी, बड़ा शेखीबाज। अगर किसी आदमी के प्रति जनता में यही भाव फैलाने में हम सफल हुए तो यह क्या कोई बड़े ऊँचे दर्जे का काम है? किसी की इज्जत बिगाड़ देना क्या कोई बड़ा पवित्र उद्देश्य है? आपस में वैमनस्य पैदा करा देना क्या बड़ी सराहना का काम है? श्रीनाथसिंह जी मुझसे मिल चुके हैं और जितने ही मनुष्यों के बारे में ऐसी बातें कर चुके हैं कि यदि मैं लिखूँ तो वह प्रयाग में बहुत हलके हो जायेंगे। लेकिन ऐसी बात करना जितनी बड़ी नीचता है, उसका ज़िक्र करना उससे भी बड़ी नीचता है। इस तरह के प्रोपेगंडा से श्रीनाथसिंह जी न साहित्य का उपकार कर रहे हैं, न 'सरस्वती' का, न अपना, वरन् समाज के सामने हिन्दी के सम्पादकों की मिट्टी पलीद कर रहे हैं, उन्हें कलंकित कर रहे हैं। आपकी यह कृति देखकर इसके सिवा और क्या होगा कि दुनिया कहेगी—जब 'सरस्वती' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका का सम्पादक ऐसा मर्कटापन कर सकता है, तो फिर शायद यह आवा ही बिगड़ा हुआ है।

अगस्त १९३२

भारतीय साहित्य और पं० जवाहरलाल नेहरू

जिन दिनों 'हंस' के पन्नों में भारतीय साहित्य के संगठन और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय साहित्य-संघ स्थापित करने की ज़रूरत पर विचार किया जा रहा था, उन्हीं दिनों पण्डित जवाहरलाल जी अल्मोड़ा जेल में बैठे हुए स्वतंत्र रूप से इसी विषय पर और इसी दिशा में चिन्तन कर रहे थे। उन्हें हमारे आयोजन की बिलकुल खबर न थी, फिर भी आपके उस लेख से, जो हाल में सहयोगी 'प्रताप' में प्रकाशित हुआ है, उनके और हमारे आयोजनों में अद्भुत सादृश्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि राष्ट्र की विचार-धारा सांस्कृतिक एकता की ओर कितने वेग और कितनी एकाग्रता के साथ दौड़ रही है। नेहरू जी राष्ट्र के प्राण हैं और उनका हृदय राष्ट्र का हृदय है जिसमें राष्ट्र की सम्पूर्ण आकांक्षाएँ और भावनाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। साहित्यिक और सांस्कृतिक एकता राष्ट्र के विकास का अन्य अंग है और यह भविष्य का शुभ लक्षण है कि यह भावना राष्ट्र के मन में प्रबल हो उठी है।

नेहरू जी ने लेख के प्रारंभ में हिन्दी के नवीन साहित्य की दरिद्रता के विषय में यथार्थ ही कहा है कि ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से पहले बंगाल और इसके

जाग महाराष्ट्र और गुजरात ने पश्चिम से आयी हुई जागृति को ग्रहण किया और कुछ आगे निकल गये। हिन्दी-प्रान्तों में राजनैतिक जागृति देर में हुई और भाषा-भेद के कारण हम दूसरे प्रान्तों की जागृति से बहुत फ़ायदा नहीं उठा सके लेकिन अगर हम उलटी नहीं कर रहे हैं, तो भारत की जो भाषाएँ उन्नत समझी जाती हैं वह भी संसार की उन्नत भाषाओं की तुलना में नगण्य हैं। इसका मुख्य कारण अगर यह है कि देश की सारी प्रतिभा अंग्रेजी का अभ्यास करने में खर्च होती रही और जिनके कन्धों पर राष्ट्र को आगे बढ़ाने का भार था वे अपनी भाषाओं को हेय समझकर उसकी ओर से उदासीन हो गये और आज भी अंग्रेजी के प्रति हमारा मोह यथामात्र भी कम नहीं है, तो दूसरा कारण यह भी था कि प्रांतीय भाषाओं में आदान-प्रदान का क्रम बंद-सा हो गया और राष्ट्र का साहित्य मानो अलग-अलग कोठरियों में बंद होकर मुक्त वायु और प्रकाश न पाने के कारण दुर्बल और निर्जीव और निस्तेज होता चला गया। अतएव—

'हम इस अनुभव से लाभ उठाना चाहिए और देश की सब भाषाओं में किसी तरह का संबंध पैदा करना चाहिए। उनके साहित्यकारों की एक संस्था बने जिसकी बैठक कभी-कभी हुआ करे। इससे बजाय मुकाबले और द्वेष के आपस का मेल बढ़ना और हमारा साहित्य एक दूसरे की तरक्की में मदद कर सकेगा। विचार-धाराएँ देश भर में तेजी से फैलेंगी और हमारी एकता बढ़ेगी। मैंने सुना है कि इसके आरंभ करने का कुछ प्रयत्न हो रहा है लेकिन उसके बारे में मुझे कुछ ज्यादा मालूम नहीं है। मैं आशा करता हूँ ऐसा भारतीय साहित्य-संघ भारत की सब भाषाओं की बाबत करेगा। हिन्दी और उर्दू तो बहनें नहीं हैं, एक ही शरीर पर दो चेहरे हैं। उनका तो हमें करीब से करीब संबंध करना है। बंगला मराठी और गुजराती हिन्दी की छोटी बहनें हैं दक्षिण की भाषाएँ हमारे देश में सबसे पुरानी हैं। इनके अलावा और भी भारत की छोटी और बड़ी भाषाओं को उस संस्था में लेना चाहिए। मैं तो यह भी सिफारिश करूँगा कि अंग्रेजी को भी उस में जगह हो। हमारी भाषा वह नहीं है लेकिन फिर भी देश के जीवन में उसका बड़ा हिस्सा है। वह एक तरह की सौतेली भाषा हो गयी है।

हमारा ख्याल है कि अंग्रेजी भाषा वर्तमान परिस्थिति में इतनी ग़ालिबी हो गयी है कि इसे किसी संघ या संस्था की मदद की जरूरत नहीं रही। वह सौतेली भाषा नहीं बल्कि पटरानी भाषा है, और भारत की अन्य सभी भाषाएँ उसकी दया की भिखारिणी बनी हुई हैं। हमारे शिक्षित वर्ग की यह हालत हो गयी है कि उनमें से अधिकांश अपनी मातृ-भाषा में एक लाइन भी शुद्ध नहीं लिख सकते। दुःख तो यह है कि जो हमारे नेता कहलाते हैं उनमें से अधिकांश अपनी मातृ-भाषा से अनभिज्ञ हैं और जिस समाज के नेता जनता से इतनी दूर हट गये हों कि उनमें भाषा का संबंध भी न हो उस समाज की दशा जो हो रही है, वह हम अपनी आँखों देख रहे हैं। और तो और, हम अपनी इस अयोग्यता और अनभिज्ञता पर लज्जित भी नहीं होते कि आगे के लिए कुछ आशा बँधे।

हम स्पष्टवादिता के अभिमान में बेलटके कहते हैं—हमें तो अंग्रेजी लिखने और बोलने में ज्यादा सुविधा होती है।

आगे चलकर नेहरू जी ने हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने और मराठी बंगला गुजराती गुरुमुखी आदि के हिन्दी-लिपि में लिखे जाने के विषय में वही विचार प्रकट किये हैं जिन पर हिन्दी-प्रचार आंदोलन चल रहा है। उसके बाद आप कहते हैं—

'दूसरा सवाल यह है कि हमारे साहित्यकारों को दुनिया के साहित्यकारों से सम्बन्ध पैदा करना चाहिए और अंतर्राष्ट्रीय साहित्य-संघों में शरीक होना चाहिए। इसके बगैर हम दुनिया के अगुआ देशों में नहीं हो सकते। हमको यह मानना होगा कि इस नवयुग में नये विचार योरोप और अमेरिका से आ रहे हैं। उनके बगैर समझे हम आज कल की दुनिया का सामना नहीं कर सकते। पहली बात जो यह नवयुग सिखाता है वह यह है कि संसार एक है, उसके अलग-अलग टुकड़े हम नहीं कर सकते और जो अलग होना चाहते हैं वे पीछे पड़ जाते हैं।

यह कथन अक्षरशः सत्य है लेकिन अंतर्राष्ट्रीय संघों में शामिल होने के लिए भी हमें एक राष्ट्रभाषा की शरण लेनी होगी। हम प्रांतीय भाषाओं के बल पर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं आ सकते। यह स्वप्न देखना कि भारत की सभी प्रांतीय भाषाएँ संसार की समुन्नत भाषाओं के बराबर हो सकती हैं भूल है। एक राष्ट्र एक ही भाषा को लेकर अंतर्राष्ट्रीय संघों के सामने खड़ा हो सकता है। हाँ प्रांतीय साहित्य के कुछ अमूल्य अनुवाद संसार के सामने रक्खे जा सकते हैं पर यह तो वैसा ही होगा जैसे कोई आदमी मँगनी के वस्त्र पहनकर किसी सभा में बैठने का साहस करे। उस अनुवाद से जो सम्मान मिलेगा वह व्यक्ति का सम्मान होगा। और पुस्तक की मूल भाषा का संसार की दृष्टि में कोई गौरव न होगा। आज रूसी और स्वीडिश और फ्रेंच ग्रंथों का जो अंतर्राष्ट्रीय सम्मान है, वह इसलिए नहीं कि उनके अंग्रेजी अनुवाद छप गये बल्कि इसलिए कि वे अपनी मूल भाषा में पढ़ी गयीं और पसन्द की गयीं। जब उनकी ख्याति हुई तो अंग्रेजी और जर्मन और फ्रेंच अनुवाद होने लगे। अगर हम संसार-साहित्य में वह स्थान प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें अपनी राष्ट्रभाषा बनानी होगी और उसी के आधार पर संसार-साहित्य-समाज में भाग लेना पड़ेगा। यह आशा तो की जा सकती है कि किसी समय संसार में पैंतीस करोड़ भारतीयों की एक भाषा का संसार में प्रचार हो जाय लेकिन यह असंभव है कि भारत की मुख्य बारह भाषाएँ भी किसी समय संसार की प्रौढ़ भाषाओं से बराबरी का स्थान प्राप्त कर लें।

लेख के अंतिम भाग में नेहरू जी ने हम सबको संसार की अन्य उन्नत भाषाएँ सीखने का आदेश देते हुए कहा है—

हम में से काफी लोगों को विदेशी भाषाएँ भी सीखनी चाहिए। वही हमारे लिए दुनिया की तरफ की खिड़कियाँ होंगी जिनके जरिये धूप और ताजी हवा आयेगी।

अंग्रेजी तो हम में से बहुत लोग जानते हैं। इससे हम फायदा उठायेंगे क्योंकि इस भाषा का फैलाव बढ़ता जाता है लेकिन अंग्रेजी काफी नहीं है, और सिर्फ अंग्रेजी जानने की वजह से हम अक्सर धोखा खा चुके हैं। हम सारी दुनिया को अंग्रेजी ऐनकों से देखने लगे हैं और यह नहीं महसूस करते कि वह एकतरफी है। अंग्रेजी हुकूमत से राजनैतिक मुकाबला करते हुए भी हम विचारों में बहुत कुछ उनके गुलाम हो गये "मगर हम फ्रेंच या जर्मन या रूसी किताबें या अखबार पढ़ें तो मालूम होता है कि दुनिया में कोई और चीज भी है और अंग्रेजों का उसमें इतना बड़ा हिस्सा नहीं है, जितना हम समझते थे।

मगर आप स्वीकार करते हैं कि हमारे लिए बड़ी तादाद में योरोप की अन्य भाषाएँ सीखना मुश्किल है, इसलिए आप कहते हैं—

'यह उचित होगा कि विदेशी भाषाओं में जो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं उनका अनुवाद हिन्दी में हो। यह मुझे बहुत आवश्यक मालूम होता है अगर हम दुनिया की विचार-धाराओं को समझना चाहते हैं।

अभी हम अंग्रेजी से जिन पुस्तकों का अनुवाद करते हैं उनका प्रचार बहुत कम होता है, क्योंकि ऐसी पुस्तकों को समझनेवाले अधिकतर अंग्रेजी पढ़े लोग ही हैं, और वह हिन्दी अनुवाद न पढ़कर मूल अंग्रेजी पुस्तक पढ़ना ज्यादा पसन्द करते हैं पर योरोप की दूसरी भाषाओं के अनुवादों के विषय में यह बात न रहेगी क्योंकि उन्हें मूल में पढ़ना गिने-गिनाये आदमियों के लिए ही सुलभ होगा।

हम आशा करते हैं कि हमारे पाठक इस प्रश्न पर विचार करेंगे और वह सज्जन भी जिनको भ्रम है कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने से प्रांतीय भाषाओं को हानि पहुँचेगी प्रान्तीय भाषाओं और हिन्दी के सम्बन्ध का वास्तविक रूप समझेंगे। यह काम भारतीय साहित्य-संघ का होगा कि वह निश्चय करे कि प्रांतीय भाषाओं की कौन कौन सी पुस्तकें हिन्दी में लायी जायें और उन्हें किस तरह संसार-साहित्य के सामने रक्खा जाय। हिन्दी को कोई अलग भाषा समझ कर उससे उदासीन हो जाना प्रांतीय भाषा और साहित्य के लिए लाभ-प्रद तो न होगा हाँ राष्ट्र-साहित्य के लिए हानिकर अवश्य हो जायगा।

नवम्बर १९३४

राष्ट्रभाषा कैसे समृद्ध हो

हमें यह देखकर हर्ष होता है कि राष्ट्र-भाषा से हमारे नेताओं की दिलचस्पी बढ़ती जा रही है। मद्रास में हिन्दी प्रचार सप्ताह के संबंध में जनाब मौलवी जमाल मुहम्मद श्री सी वाई चिन्तामणि और अन्य महानुभावों ने जो भाषण किये उनमें राष्ट्रभाषा की उन्नति और प्रचार से पैदा होनेवाली सांस्कृतिक एकता का महत्व सभी ने स्वीकार किया मगर राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद ने इस प्रश्न को दूसरी ही दृष्टि से देखा।

आपने दक्षिण की एक सभा में भाषण देते हुए कहा कि राष्ट्रभाषा प्रचार से ही समृद्ध होगी। जब वह भिन्न-भिन्न प्रांतों में व्यवहार में आने लगेगी तब उसमें नये-नये शब्द और मुहावरे शामिल होंगे और उसका भंडार दिन-दिन बढ़ता जायगा। हम उस भाषण का एक अंश यहाँ उद्धृत करते हैं—

My point of view is that Hindi authors and readers should be requested to give up their horror of un-Hindi idioms and uses. The desire must be to absorb as many varieties of expression as are available to them. Some of the articles appearing in this magazines, by their very nature, are untranslatable in Hindi except by a use of the local idioms. In such articles such idioms have been retained with a view to make the language more effective. Hindi readers must develop catholicity of taste and an anxiety to secure enrichment of expression by an absorption of expressive idioms of other provinces.

[मेरे विचार में हिन्दी लेखकों और पाठकों से यह निवेदन करना चाहिए कि वे हिन्दी मुहावरों और उनके व्यवहारों पर अपनी जीदना छोड़ दें। उनकी इच्छा यह होनी चाहिए कि अभिव्यक्ति के जितने विभिन्न रूप मिल सकें उन्हें ग्रहण करें। इस मेगज़ीन के कई लेख कुछ इस ढंग के हैं कि उनका हिन्दी में अनुवाद होना कठिन है, इसके सिवा कि स्थानीय मुहावरों का व्यवहार किया जाय। ऐसे लेखों में वह मुहावरे ज्यों के त्यों रहने दिये गये हैं जिससे भाषा ज़्यादा सजीव हो जाय। हिन्दी पाठकों को अपनी रुचि में उदारता लानी चाहिए, और उन्हें यह आकांक्षा होनी चाहिए कि अन्य प्रांतों के भावपूर्ण मुहावरों से अपनी भाषा को समृद्ध बनायें।]

सजीव भाषाएँ हमेशा दूसरी भाषाओं से अपना कोष बढ़ाती रहती हैं। हमारे देखते-देखते हिन्दी में हज़ारों अंग्रेज़ी शब्द और मुहावरे आ मिले और मिलते जा रहे हैं। खुद अंग्रेज़ी भाषा संसारव्यापी होने के कारण विद्युद्गति से बढ़ रही है। संसार की ऐसी कोई भाषा नहीं जिससे अंग्रेज़ी ने अपना भंडार न भरा हो। आज कोई अंग्रेज़ लेखक भारत जीवन के दृश्य दिखाना चाहे तो उसे उपयुक्त शब्दों की कमी न होगी। मसोलिनिया और आमीस अरब और अफ्रीका सभी से अंग्रेज़ी का सम्पर्क है और उन देशों का वृत्तान्त लिखते समय अंग्रेज़ लेखकों को वहाँ के शब्दों और मुहावरों से काम लेना पड़ता है। इसी प्रकार द्वारा अंग्रेज़ी भाषा दिन-दिन बलवान होती जाती है। हिन्दी का क्षेत्र भारत की अन्य भाषाओं से बड़ा है लेकिन जब वह राष्ट्रभाषा बन रही है तो उसे सभी प्रांतीय भाषाओं से मन्थन लेनी पड़ेगी। हाँ इसका ध्यान रखना पड़ेगा कि अपना कोष बढ़ाने की धुन में वह अपना रूप ही न खो बैठे। हैदराबाद में जिस हिन्दुस्तानी भाषा का व्यवहार होता है वह हिन्दुस्तानी का बिगड़ा हुआ रूप है, और हम उसे हिन्दुस्तानी न कह कर दक्खिनी कहने के लिए मजबूर हैं। अगर हिन्दी की भी वही गति

हुई, तो वह दक्खिनी हिन्दी हो जायगी। हिन्दी के मौलिक रूप को क़ायम रखते हुए हम उसे जितना सरल बना सकें उतना ही अच्छा। जिस हिन्दी का बम्बई और पूना और मैसूर और मद्रास बंगाल या उड़ीसा में अहिन्दी भाषी जनता द्वारा व्यवहार होता है, अगर कहीं वही हिन्दी लिखने में भी आने लगी तो हिन्दी का अन्त ही हो जायगा। जिस तरह भिन्न-भिन्न देशों में व्यवहृत होने पर भी अंग्रेज़ी की एक मर्यादा है जिससे कोई बाहर जाने का साहस नहीं कर सकता उसी तरह हिन्दी की भी एक मर्यादा है और उसका चाहे जितना ही विस्तार हो उसकी इस मर्यादा की रक्षा होनी आवश्यक है।

नवम्बर १९३५

त्रिवेणी' से हमारा नम्र निवेदन

मद्रास से निकलनेवाली अंग्रेज़ी सहयोगिनी 'त्रिवेणी' ने भारतीय साहित्य-संगठन की हमारी आयोजना और 'हंस' का स्वागत करते हुए एक छोटा-सा नोट लिखा है, जिसे हम नीचे* दे रहे हैं। हमारी सहयोगिनी ने भी आदि से ही भारत की सांस्कृतिक एकता

---

* A COMMONWEALTH OF LITERATURES

We welcome the efforts that are being made by Mr K. M. Munshi *to give an all-India status to our provincial literatures.* 'Hans', the Hindi magazine till now conducted by Sri Premchandji will hereafter be edited conjointly by Sjts. Munshi and Premchandji. It will publish articles about the different literatures with personal sketches of writers and poets, and translations into Hindi of the more valuable literary pieces. Triveni has similar aims, and since 1928 it has bestowed a great deal of attention on the literary and cultural movements in Andhra, Maharashtra, Karnataka, and other linguistic units of India. In fact, this has been a prominent feature of Triveni, and it is not quite accurate today to say that we know *the latest literary and cultural activity in England,* but not that of our neighbouring province.

While we readily recognise that it is useful to conduct a magazine in Hindi for the benefit of all Indian provinces, we believe that it is not less important that Indian literature should keep in touch with the literature of the world by the publication of articles on the Indian literatures and translations of poems, plays and stories, in an international language like English. There are many ways in which Triveni and Hans can co-operate with advantage. There is however a wide spread feeling in *South India that, in their zeal for the propagation of Hindi,* the pracharaks are making exaggerated claims on its behalf and referring

का आदर्श अपने सामने रखा है और बड़ी योग्यता के साथ उसका पालन किया है 'हंस' का उद्देश्य भी यही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ 'त्रिवेणी' भारतीय संस्कृति और साहित्य को अंग्रेजी के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ले जाना चाहती है वहाँ हम भारत के भिन्न-भिन्न साहित्यों में एकसूत्रता पैदा करके और सांस्कृतिक भेदों को मिटाकर राष्ट्रीय संस्कृति और साहित्य का रूप स्थिर करने के पक्ष में हैं। हमारा विचार है जब तक हमारा एक साहित्य न हो जाय और हमारी संस्कृति में एकरूपता न आ जाय हम अपनी वर्तमान दशा में अपने को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई सम्मान का स्थान नहीं पा सकते। जब तक हम साहित्य और संस्कृति में राष्ट्रीयता को अखिल भारतीय न कर लें अन्तर्राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुँच ही नहीं सकते। राष्ट्रीयता ही अन्तर्राष्ट्रीयता की सीढ़ी है। हम अपने इच्छित स्थान तक इस सीढ़ियोंवाले मार्ग द्वारा ही पहुँच सकते हैं। जब तक भारतीय साहित्यों में परस्पर परिचय न हो उनके अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य में स्थान पाने की बात तो ऐसी ही है कि भारत राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त किये बिना ही अन्तर्राष्ट्रीय समाज में मिलने का दावा करे। राष्ट्र के जितने अंग हैं उन सब को पूरा किये बगैर राष्ट्रीयता दुर्लभ है और जिस देश में राष्ट्रीयता की भावना इतनी विशृंखल हो वह अंतर्राष्ट्रीय ऊँचाइयों तक चढ़ने के प्रयत्न में मुँह के बल नीचे आ गिरे तो आश्चर्य नहीं। अगर भारत में भिन्न-भिन्न उपराष्ट्र बने रहेंगे और सभी अपने साहित्य और संस्कृति की पृथकता की रक्षा करते रहेंगे और एक दूसरे से मिलने की कोशिश न करेंगे तो राष्ट्रीयता का विकास क़यामत तक न होगा। हमें अपनी प्रान्तीय भक्ति को कुछ न कुछ त्यागना पड़ेगा। सांस्कृतिक एकता के बिना राजनैतिक एकता हो भी जाय तो स्थायी नहीं हो सकती। अगर हिन्दी के प्रचारक तामिल या अन्य भाषाओं पर हिन्दी की श्रेष्ठता सिद्ध करने की गलती कर रहे हैं तो इसको क्षम्य समझना चाहिए। जब तक

---

to the literatures in Kannada, Tamil or Telugu with condescension It is one thing to say that, as Hindi is spoken by the largest number of Indians, it might eventually serve as a medium of communication between province and province. It is altogether different to exalt it to the position of a national language and impose it on all provinces, to the detriment of the local language. We draw a distinction between a common language and a national language. There are several sub-nationalities in India, and to them their mother-tongue is the national language and also the prime vehicle of creative self-expression. Hindi is not inherently superior to Telugu or Bengali nor is its literature as rich and varied as theirs. We respectfully warn Mr Munshi against the subtle danger that lurks behind the Hindi movement. The Hansa must steer clear of it.

उन्ह अपने उद्देश्य की अच्छता में विश्वास न आयेगा वे उनके लिए अपने समय और बुद्धि का बलिदान क्यों करेंगे। किसी नये मत की दीक्षा लेने के बाद हम में कुछ उद्दण्डता आ ही जाती है। यह स्वाभाविक है। विद्वानों को इसे बालकों का उत्साह समझ लेना चाहिए। हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने के लिए अधीर नहीं है। अगर कोई Common language और National language में भेद की कल्पना करके अपने मन को संतोष दे सकता है, तो हमें कोई आपत्ति नहीं। हम हिन्दुस्तानी को Common language ही बनाने के इच्छुक हैं और हमारा उद्देश्य केवल यही है कि It might eventually serve as a Medium of Communication between province and province. हिन्दी इसलिए सामान्य भाषा नहीं स्वीकार की गयी है कि उसका साहित्य तेलगू या बँगला या किन्हीं अन्य बरबनो साहित्यो से श्रेष्ठ है, बल्कि केवल इसलिए कि उसे ज्यादा से ज्यादा समझते और बोलते हैं और इसीलिए साहित्यिक एकता प्राप्त करने के लिए हमें हिन्दी माध्यम की जरूरत है। हमारी समझ में अब तक यह नहीं आया कि इस आयोजन से प्रांतीय भाषाओं या साहित्यों को हानि कैसे पहुँच सकती है। क्या यह किसी साहित्य के लिए हानि की बात है कि उसके पाठकों का क्षेत्र बढ़े और उसे अन्य साहित्यों से परिचित होने का अवसर मिले? क्या यह तेलगू या तामिल के कवियों और सुलेखकों के लिए हानि की बात है कि उनकी रचनाओं से एक प्रान्त के बजाय सम्पूर्ण राष्ट्र फायदा उठाये या उनके पाठकों के लिए यह अनिष्ट की बात है कि अन्य साहित्यों की विमल कृतियों से आनन्द उठाने का उन्हें अवसर मिले? अंग्रेजी और अंग्रेजी साहित्य-द्वारा हमें संसार के सभी साहित्यों से परिचय मिलता है—क्या यह हमारे लिए हानि की बात है? अगर यह हानि की बात नहीं तो क्या भारत के अन्य साहित्यों से परिचित होना ही हानिप्रद है, या केवल इसलिए हानिप्रद है कि वह अंग्रेजी द्वारा न होकर हिन्दी जैसी गरीब भाषा द्वारा होता है? अगर यही उद्योग अंग्रेजी द्वारा होता तो क्या हमारी सहयोगिनी के लिए अधिक संतोष की बात होती? क्या और किसी भाषा के जरिये यह साहित्यिक एकता लायी जा सकती है? अगर नहीं तो हिन्दी यह उद्योग करके कोई बहुत बड़ा अपराध कर रही है? अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए हमें अंग्रेजी अवश्य पढ़ना चाहिए, प्रांतीय व्यवहार के लिए मातृ-भाषा है ही मगर राष्ट्रीय व्यवहार के लिए अब हमारे लिए हिन्दी सीखना लाजिम हो गया है। अभी हम हिन्दी की अवहेलना कर सकते हैं मगर शायद एक समय वह आयेगा जब उसकी अवहेलना न की जा सकेगी।

नवम्बर १९३१

साहित्यिक क्लबों की आवश्यकता

हिन्दी बोलने और समझनेवालों की संख्या भारत में पन्द्रह करोड़ से कम नहीं है। बंगाली बोलने और समझनेवाले कुल पाँच करोड़ हैं। फिर भी बंगाली पुस्तकों के देखते हिन्दी पुस्तकों और पत्रिकाओं की खपत कुछ नहीं है। यहाँ अच्छी से अच्छी पत्रिका भी घाटे ही पर चलती है और अच्छी से अच्छी पुस्तक भी गोदाम में पड़ी सड़ती है। कोई सज्जन एक पुस्तक मँगा लेते हैं तो सारे मुहल्ले में लूट मच जाती है। लोग एक-दो मील से उसके लिए दौड़ते हैं। अक्सर पुस्तक के स्वामी को पुस्तक देखने को नहीं मिलती और वह हाथों हाथ गायब हो जाती है। यह कैफियत देखकर वह सोचता है, कहाँ से इस बला में आ पड़े। पुस्तक नहीं देते तो बेमुरौवत कहलाते हैं, स्वार्थी की उपाधि मिलती है। देते हैं तो लौटकर नहीं आती। इसलिए पुस्तक मँगायें ही क्यों? यह है हमारा साहित्यानुराग! पुस्तक पढ़ना तो चाहते हैं पर गाँठ का पैसा खर्च करके नहीं। जिनकी माकूल आमदनी है वह भी पुस्तकों की भिक्षा माँगने में नहीं शरमाते। अगर यही दशा रही तो हम नहीं समझते साहित्य की उन्नति कैसे होगी। प्रकाशक नये उत्साह से मैदान में आता है पर साल-दो साल में घर की जमा गँवाकर बैठ जाता है। नयी-नयी पत्रिकाएँ निकलती हैं और दस-पाँच हजार का खून करके प्रस्थान कर जाती हैं। इस शिथिलता का एक उपाय जगह-जगह साहित्यिक क्लबों का खुलना है। प्रत्येक कस्बे और गाँव में ऐसे क्लब स्थापित होने चाहिए। नगरों में तो हर मुहल्ले में ऐसे क्लबों का खुलना वांछनीय है। अगर दो-एक उत्साही सज्जन भी हिम्मत करें तो उन्हें दस बीस तीस ऐसे साहित्यानुरागी मिल जायेंगे जो उसे चार आने महीने तक खुशी से दे देंगे। अगर इन क्लबों द्वारा सौ रुपये वार्षिक की पुस्तकें और पत्रिकाएँ खपने लगें तो साहित्य का उद्धार हो सकता है। समस्त देश में अगर ऐसे दस हजार क्लब भी खुल जायें तो बहुत कुछ काम बन जाय। इस क्लब के मेम्बरों का एक काम यह भी होगा कि वह साहित्य-प्रेमियों को एक दो चार पुस्तकें खरीदने के लिए नियम-बद्ध कर सकें। अन्य देशों में ऐसे क्लबों की बड़ी कसरत है और यही कारण है कि वहाँ मामूली किताबें भी पचास-पचास हजार तक बिक जाती हैं। हम आशा है, हिन्दी संसार इस प्रस्ताव की ओर ध्यान देगा।

जून १९३१

पटना का हिन्दी-साहित्य परिषद्

२१ २२ सितम्बर को पटना ने अपने साहित्य परिषद् का कई बरसों के बाद आनेवाला वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया। हिन्दी के शब्द-जादूगर श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी सभापति थे और साहित्यकारों का अच्छा जमघट था। हम तो अपने दुर्भाग्य से उसमें सम्मिलित होने का गौरव न पा सके। शुक्रवार की सन्ध्या समय से ही हमें ज्वर हो आया और वह सोमवार को उतरा। हम छटपटाकर रह गये। रविवार को भी हम यही आशा करते रहे कि आज ज्वर उतर जायगा और हम चले जायेंगे लेकिन ज्वर ने उस वक्त गला छोड़ा जब परिषद् का उत्सव समाप्त हो चुका था। पटने जाकर खाट पर सोने से काशी में खाट पर पड़े रहना ज्यादा सुखद था। और यों भी बीमारी के समय चाहे वह हलकी ही क्यों न हो बुजुर्गों के मतानुसार और धर्मशास्त्रियों के आदेशानुसार काशी के समीप ही रहना ज्यादा कल्याणकारी होता है—लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से। अतएव हमें आशा है कि हमारे साहित्यिक बन्धुओं ने हमारी गैरहाजिरी मुआफ कर दी होगी। इस ज्वर ने ऐसा अच्छा अवसर हमसे छीन लिया इसका बदला हम उससे जबरन लेंगे चाहे हम अहिंसा नीति तोड़नी क्यों न पड़े। सभापति का जो भाषण छपकर बासी भात के रूप में मिला है, वह गर्म-गर्म कितना स्वादिष्ट होगा—यह सोचता हूँ तो यही जी चाहता है कि ज्वर महोदय कहीं फिर मिलें लेकिन उनका कहीं पता भी नहीं। इस भाषण में जीवन है, आवेश है, मस्ती व निर्वासन है और साहित्यसेवियों के लिए आदर्श है मगर आपने पूर्वजों का बोझ मस्तक पर लादने की जो बात कही वह हमारी समझ में नहीं आयी। हमारा ख्याल है कि हम पूर्वजों का बोझा जरूरत से ज्यादा लादे हुए हैं और उसके बोझ के नीचे दबे जा रहे हैं। हम अतीत में रहने के इतने आदी हो गये हैं कि वर्तमान और भविष्य की जैसे हम चिन्ता ही नहीं रही। योरोप और पश्चिमी जग इसीलिए हमारी उपेक्षा करता है कि वह हम पाँच हजार साल पहले के जन्तु समझता है, जिसके लिए अजायबघरों और पिंजरापोलों में ही स्थान है। वह हमारे भोजपत्रों और ताम्रलेखों को ला-लाकर इसलिए नहीं ले जाता कि उनसे ज्ञान का अर्जन करे, बल्कि इसलिए कि उन्हें अपने संग्रहालयों में सुरक्षित रखकर अपने विजय-गर्व को तुष्टि दे। उसी तरह जैसे पुराने जमाने में विजय की लूट के साथ नर-नारियों की भी लूट होती थी और जुलूसों में उनका प्रदर्शन किया जाता था। प्राचीन अगर हम साहस और आग देता है तो उसके साथ ही रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास भी देता है। चुनांचे आज राम और कृष्ण रामलीला और रासलीला की वस्तु बनकर रह गये हैं और बुद्ध और महावीर ईश्वर बना दिये गये हैं। यह प्राचीन का भार नहीं तो और क्या है कि आज भी धर्मरत प्राणी जिसमें अच्छे-खास पढ़े-लिखे आदमियों की संख्या है नदियों में नहाकर अपना मन शुद्ध कर लिया करते हैं? प्राचीन उन राष्ट्रों

और जातियों के लिए गर्व की वस्तु होगी और होनी चाहिए या अपने पूर्वजों के पुरुषार्थ और उनकी साधनाओं से आज मालामाल हो रहे हैं। जिस जाति को पूर्वजों से पराजय का अपमान और रूढ़ियों का बोझ ही विरासत में मिला वे प्राचीन के नाम को क्यों रोयें। ऐसे दर्शन को क्या हम लेकर चाटें जिसने हमारे पूर्वजों को इतना अकर्मण्य बना दिया कि जब बख्तियार खिलजी ने बिहार विजय किया तो पता चला कि सारा नगर और किला एक विशाल वाचनालय था। विद्वान् लोग मजे से राज्य का आश्रय पाते थे और अपनी कुटिया में बैठे हुए प्राचीन शास्त्रों में डूबे रहते थे। उनके इर्द-गिर्द क्या हो रहा है, दुनिया किस गति से बढ़ी जा रही है उन्हें इसकी खबर न थी। और शायद बख्तियार उन विद्वानों से मुखातिब न होता और उनकी वृत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती तो वे उसी तन्मयता से अपने शास्त्र पढ़ते और आध्यात्मिक विचारों के आनन्द लूटते रहते और अमर जीवन की मंजिल नापते चले जाते! उधर पश्चिम के साहसिक समुद्र के तूफान का मुकाबला करके संसार विजय कर रहे थे और हमारे बाबा-दादा बैठे मुक्ति का मार्ग ढूँढ रहे थे। पश्चिम ने जिस वस्तु के लिए तपस्या की उसे वह वस्तु मिली। हमारे पूर्वजों ने जिस वस्तु की तपस्या की वह उन्हें मिली या मिलेगी। जिसके लिए संसार मिथ्या हो और दुःख का घर हो उसकी यदि संसार उपेक्षा करे तो उन्हें शिकायत का क्या मौका है। हम स्वयं भी और से निश्चिन्त रहना चाहिए। वह हम मिलेगा और जरूर मिलेगा। चतुर्वेदी जी के शब्दों में 'ग्रन्थों के बन्धनों में' आदी हम स्वामी राम के कथन में भी मुक्ति का गीत ढूँढने के बजाय वेदान्त का बन्धन ढूँढने लगे। और क्यों न ढूँढते? बन्धनों के सिवा और ग्रन्थों के सिवा हमारे पास और क्या था। पंडित लोग पढ़ते थे और मोटा लोग लड़ते थे और एक-दूसरे की बेइज्जती करते थे और लड़ाई से फुरसत मिलती थी तो व्यभिचार करते थे। यह हमारी व्यावहारिक संस्कृति थी। पुस्तकों में वह जितनी ही ऊँची और पवित्र थी व्यवहार में उतनी ही निन्द्य और निकृष्ट।

आगे चलकर सभापति जी ने हमारी वर्तमान साहित्यिक मनोवृत्ति का जो चित्र खींचा है उसका एक-एक शब्द यथार्थ है—

हम भारती इस भाषण को क्या करें? यदि किसी के दोष सुनता हूँ तो तुरन्त मान लेता हूँ और उस मनुष्य का पेट में लेकर फिर बाहर आता हूँ और अपनी साहित्यिक पीढ़ी को उस निन्द्य निधि की मीरास बाँटता हूँ। संसार के पापों का मैं बिना प्रमाण सरस विश्वासी होता हूँ और यह चाहता हूँ कि मेरी ही तरह मेरा पाठक भी मेरी लोक-निन्दा पर विश्वास करे, किन्तु यदि किसी के गुण किसी की मौलिकता किसी की उच्चता की चर्चा सुनता हूँ तब मैं उसके लिए प्रमाण प्रस्तुत करने के दस्तावेज लेना चाहता हूँ।

और भाषण के अन्तिम शब्द तो बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं—

'हम बड़े हो या छोटे हमने घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति में मरने का डर बोया

है। हमारे लिए मार डालना ही गुनाह नहीं मर जाना गुनाह हो गया है "आज के साहित्यिक चिंतक पर जिम्मेदारी है कि वह पुरुषार्थ को दोनों हाथों में लेकर जीने का खतरा और मरने का स्वाद अपनी पीढ़ी में बोये। यह पुरुषार्थ शस्त्रधारों से नहीं हो सकता यह तो कलम के धनियों ही के करने का काम है।

अक्टूबर १९५२

हिन्दी-साहित्य के विद्यालय

दो साल पहले हिन्दी साहित्य के इच्छुकों के लिए पढ़ाई की व्यवस्था केवल नाम को थी। विशारद आदि परीक्षाओं में लोग बैठते थे मगर खुद घर पर पढ़कर। प्रयाग का हिन्दी विद्यापीठ काशी का भगवानदीन साहित्य विद्यालय और सिरसा का हिन्दी विद्यालय यथासाध्य साहित्य की शिक्षा देते थे मगर धन की कमी और शिक्षकों के अभाव के कारण वे बहुत थोड़े-से छात्रों को लेते थे। न पढ़ाई ही नियमित रूप से होती थी न वे छात्रों के रहने का कोई इन्तजाम कर सकते थे। इसलिए बाहर के छात्रों और खासकर दक्षिण भारतवासियों को बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ता था बेचारे इतनी दूर की यात्रा करके आते थे और यहाँ कोई सुविधा न पाकर निराश लौट जाते थे। हर्ष की बात है कि साहित्य-प्रेमियों के उद्योग से इधर दो साहित्य-विद्यालय खुल गये हैं, जिन्होंने साहित्य को ही अपना मुख्य क्षेत्र बना लिया है। उनमें एक है बिहार प्रान्त का 'वैद्यनाथ साहित्य-विद्यालय' और दूसरा गोरखपुर का 'खोपापुर हिन्दी-साहित्य विद्यालय'। देवघर का दूसरा नाम वैद्यनाथधाम है, जो तीर्थस्थान भी है और अच्छी जलवायु के लिए भी प्रसिद्ध है। यहाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं की पढ़ाई का अच्छा प्रबन्ध है। उसके साथ अंग्रेजी संस्कृत शिल्प आदि की शिक्षा की भी व्यवस्था की गयी है। एक छात्रालय भी है, जहाँ केवल पाँच रुपये महीने में छात्रों को अच्छा भोजन मिल सकता है। व्यायाम के लिए भी इन्तजाम किया गया है। इस विद्यालय के संस्थापक कलकत्ते के उत्साही सज्जन श्रीयुत् मदनलाल जी कन्या है। विद्यालय का प्रबन्ध योग्य व्यक्तियों के हाथ में है, जिनमें श्री जनार्दन झा 'द्विज' एम ए और श्रीयुत् लक्ष्मी-नारायण सिंह 'सुधांशु' एम ए एल०-एल बी के नाम से हिन्दी-संसार परिचित है। हमें यह जानकर विशेष सन्तोष हुआ कि विद्यालय में छात्रों को लेखन और सम्पादन कला की शिक्षा भी दी जाती है।

खोपापुर साहित्य-विद्यालय को खुले केवल तीन साल हुए। यहाँ भी हिन्दी-विशारद-योग्यता और विशारद परीक्षाओं की शिक्षा दी जाती है। इस वर्ष में आसाम आसाम उत्कल महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब आदि अहिन्दी प्रान्तों के पच्चीस छात्रों को

छात्रवृत्ति देकर शिक्षा देने की व्यवस्था की जा रही है। साथ ही यह प्रबन्ध भी किया जा रहा है कि अंग्रेजी के साथ देश की दो अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी सिखायी जायें। विद्यालय के संचालकों ने यह प्रबन्ध करके अपनी उदारता का परिचय दिया है, क्योंकि सांस्कृतिक विकास के लिए हमें दूसरों को अपनी भाषा देना ही नहीं है उनसे लेना भी है। तभी दान-प्रतिदान स्थायी हो सकेगा। जिन सज्जनों को कुछ पूछना हो हिन्दी साहित्य विद्यालय थोपापुर, पो देईबीहा (गोरखपुर) के पते से पत्र-व्यवहार करें।

अप्रैल १९३६

भारतीय साहित्य परिषद्

हम पिछले अंकों में एक अखिल-भारतीय-साहित्य परिषद् की जरूरत पर अपने विचार लिख चुके हैं। हमें हर्ष है कि महाराष्ट्र और गुजरात के साहित्य-परिषदों ने भी इसकी जरूरत तस्लीम की है और उसको कार्यक्रम में लाने का आन्दोलन कर रहे हैं। भाषाएँ तो हर एक प्रान्त की अलग-अलग हैं मगर सभी भाषाओं में सांस्कृतिक एकता मौजूद है और साहित्य की प्रेरणाएँ भी सभी भारतीय साहित्यों में प्राय: एक-सी हैं। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य सभी भाषाओं में या तो भक्तिप्रधान है या शृंगार प्रधान मगर नये साहित्य ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग-अलग प्रवृत्तियों को विकसित किया है। आज का जीवन जितना जटिल हो गया है और उस पर नित्य नये विचारों नये वादों नये दृष्टिकोणों का जिस तरह असर पड़ता रहता है, उसी तरह नवीन साहित्य भी जो उसी उद्गम से निकलता है विषय प्रवृत्तियों आदर्शों और विचारों में इतना बहुरूपी है कि प्रान्तीय साहित्यों में मौलिक एकता होने पर भी अलग-अलग धाराएँ साफ नजर आती हैं। अब समय आ गया है कि उन धाराओं का समन्वय किया जाय। पुराने जमाने में साहित्यकार केवल समाज का एक मूषक मात्र होता था उसका सचालन और शोध करते थे मगर नये जमाने का साहित्यकार इतना संतोषी नहीं है। वह समाज के परिष्कार में दखल देना चाहता है राजनीतिज्ञों की गलतियों को सुधारना चाहता है जो काम व्यवस्थापक लोग कानून और दण्ड-विधान से करना चाहते हैं वही काम वह आत्मा को जगाकर आन्तरिक आदेशों से पूरा करने का इच्छुक होता है। समाज में उसने अपना एक स्थान बना लिया है, और आज कोई उन्नत राष्ट्र उसकी अवहेलना नहीं कर सकता। इसलिए यह जरूरी है कि भारत की सभी भाषाओं के साहित्यकारों का ऐसा परिषद् हो जिसमें साहित्य और कला और संस्कृति की समस्याओं पर विचार किया जाय और सभी एक-दूसरे के अनुभवों और सिद्धियों से फायदा उठावें और जो कदम उठावें वह व्यवस्थित रूप से। कितने ही ऐसे पेचिदा सामाजिक और बौद्धिक प्रश्न हैं, जिन पर विचार-विनिमय

किये बग़ैर हम कोई राय कायम करने में असफल हो रहे हैं। प्रान्तीय परिषदों में परस्पर कोई आदान-प्रदान न होने के कारण वे एक दूसरे की प्रगति से बिलकुल बेख़बर हैं। एक ही काम को अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से करने से धन और श्रम की जितनी क्षति होती है, क्या वह समन्वय से कम नहीं की जा सकती? साहित्य अब केवल भक्ति और शृंगार नहीं है। वह समाजशास्त्र भी है धर्मशास्त्र भी है अर्थशास्त्र भी है और सब कुछ है जिस पर राष्ट्रों का अस्तित्व टिकता है। ऐसे महत्व की तरफ से हम इतने दिनों कैसे ग़ाफ़िल रहे यह नहीं समझ में आता। भाषा भेद ही इसका कारण था और अब भी है, लेकिन भेद के रहते हुए भी हम साहित्यिक संगठन को मुल्तवी न कर सकेंगे। अतएव यह विचार किया गया था कि ३ और ४ अप्रैल को काशी में भारतीय साहित्यसेवियों का परिषद् बुलाया जाय और इस शुभकार्य का श्रीगणेश कर दिया जाय लेकिन कई कारणों से हमें वह तारीखें बदलनी पड़ीं और अब यह तय किया गया है कि नागपुर-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर २१-२४ अप्रैल को भारतीय परिषद् की बैठक भी हो। जब साहित्य प्रेमियों की अन्तर्राष्ट्रीय सभाएँ समय-समय पर होती रहती हैं तो एक ही राष्ट्र के प्रान्तीय साहित्यकार एक-दूसरे से बेगाना बने रहें, एक-दूसरे से प्रकाश पाने की कोशिश न करें और साहित्य की प्रगति का उचित निरूपण न करें यह तो जीवन के लक्षण नहीं। हम आशा है इस अवसर पर सभी प्रान्तों के महारथी आने का कष्ट करेंगे। साहित्य-सम्मेलन क्या अभी तक यह फ़ैसला नहीं कर पाया कि इस परिषद् की व्यवस्था करना उसका कर्तव्य है?

अप्रैल १९३६

प्रगतिशील लेखक-संघ

The Indian Progressive Writers Association पर हम किसी पिछली संख्या में आलोचना कर चुके हैं। हमने इस संघ के उद्देश्य और कार्य-क्रम का भी उल्लेख किया था। हमें हर्ष है कि संघ ने उत्साह के साथ काम शुरू कर दिया है। उसका मुख्य कार्यालय प्रयाग में है। अलीगढ़ लाहौर देहली अमृतसर लखनऊ आदि स्थानों में उसकी शाखाएँ खुल गयी हैं। इलाहाबाद में तो वह एक सजीव साहित्यिक संस्था का रूप धारण करती जाती है। जैसा इसके नाम से ज़ाहिर है। संघ उस साहित्य और कला-प्रवृत्ति का पोषक है जो समाज में जागृति और स्फूर्ति लावे जो जीवन की यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाले। संघ ने लखनऊ में १० अप्रैल को अपना सालाना जलसा करना निश्चय किया है। जिन सज्जनों को संघ के उद्देश्यों से हमदर्दी हो वह श्रीयुत् एस एस ज़हीर, १८ कैनिंग रोड इलाहाबाद से पत्र-व्यवहार करें।

अप्रैल १९३६

हिन्दी लेखक संघ का एक वर्ष

हिन्दी लेखक संघ के जीवन का एक वर्ष पूरा हो गया। उसके मुखपत्र 'लेखक' के जीवन के भी छह महीने समाप्त हुए और अब समय आ गया है कि हम उसके कार्य की आलोचना करें। लेखक-संघ की हिन्दी में जरूरत है इसमें तो शायद अब किसी को संदेह न हो। उसके उद्देश्य ऊँचे हैं, काम-क्षेत्र विस्तृत है और इतने थोड़े समय में उसने जो कुछ किया है, उस पर उसके इने-गिने कार्यकर्ताओं को हम बधाई दे सकते हैं। अभी तक उसकी शक्ति केवल संगठन और 'लेखक' के प्रकाशन की ओर ही रही है। उसके साहित्यिक और सांस्कृतिक अंग की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। सदस्यों की हमें जरूरत है, मगर यदि हरेक पाठक 'लेखक' का ग्राहक बनकर लेखक-संघ में प्रविष्ट हो जाय तो संघ में और साधारण पत्रों में अंतर ही क्या रहता है। संघ तो केवल लेखकों की संस्था होनी चाहिए और उसके पास ऐसे साधन होने चाहिए, जिनसे वह लेखकों में आदान-प्रदान का, साहित्य और संस्कृति की समस्याओं पर प्रकाश डालने का, लेखकों में परस्पर मैत्री और सद्भाव पैदा करने का उद्योग कर सके। इन कामों के लिए धन और योग्य व्यक्तियों के सहयोग दोनों ही की जरूरत है। संघ के पास काफी कौड़ी भी नहीं। मेम्बरों से जो चन्दा मिलता है, वह 'लेखक' के प्रकाशन के लिए भी काफी नहीं होता। यही कारण है कि संघ के कार्यकर्ताओं की सारी शक्ति अपनी हस्ती बनाये रखने में ही खर्च हो रही है। 'लेखक' के गत छह अंकों को देखकर हम यह कह सकते हैं कि उसने भावी लेखकों को बहुत उपयोगी सामग्री दी है। प्रत्येक संख्या में ऐसी अनेक बातें रहती हैं जो लेखकों के लिए जरूरी हैं और सम्पादकों ने उसे उपयोगी बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जो कमी खटकती है, वह यह है कि उसका आलोचनात्मक अंग बहुत कमजोर है, हालांकि इस पत्र में उस पर खास जोर दिया जाना चाहिए। संघ के सदस्यों में आलोचकों की कमी नहीं है। ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि संघ आलोचकों की एक गोष्ठी बनाकर छपनेवाली पुस्तकों पर उनकी निष्पक्ष सम्मति प्रकाशित किया करे। इससे लेखकों का हित भी होगा और साहित्य का भी। हम 'हंस' के पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे 'लेखक' के ग्राहक बनें। जो युवक हैं वह सीखने के लिए बनें, जो वयोवृद्ध हैं वे सिखाने के लिए बनें। उनकी जिम्मेदारी अपनी कृतियाँ रचकर ही नहीं समाप्त हो जाती बल्कि आनेवालों का मार्ग प्रदर्शन का भार भी उन्हीं पर है।

दिसम्बर, १९३५

पुस्तकालय आन्दोलन

हाल में कलकत्ते में पुस्तकालयों को संगठित करने और भारत में एक पुस्तकालय संघ स्थापित करने के विचार से एक जलसा हुआ है। पुस्तकालय का राष्ट्र के जीवन में क्या स्थान है, यह लिखने की जरूरत नहीं। इतना ही कह देना काफी है कि वह विद्यालयों से कहीं महत्वपूर्ण है और उनसे कहीं कम खर्च और उसके साथ ही कहीं आसान शील। अगर कोई इस बात की खोज करे कि अब तक विद्यालयों ने ज्यादा महापुरुष पैदा किए या पुस्तकालयों ने तो शायद बाजी पुस्तकालयों ही के हाथ रहेगी। आज भी संसार के महान व्यक्तियों में अधिकांश वही हैं जिन्होंने पुस्तकालयों के विद्यालयों में शिक्षा पायी। भारत में पुस्तकालयों पर अभी तक बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया। दानवीरों की प्रवृत्ति विद्यालयों ही की ओर रही है और इसका नतीजा यह है कि जनता में नये-नये विचारों के प्रचार के सबसे अच्छे साधन से हम वंचित रहे। सरकार ने न स्थानीय संस्थाओं ने इस ओर अग्रसर होने की आवश्यकता समझी।

लेकिन जैसा मि० मीच विलसन ने पुस्तकालय सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा—'पुस्तकों का एक स्थान पर संग्रह कर देना ही पुस्तकालय नहीं है। पुस्तकें स्वतः कुछ भी नहीं हैं। जब पुस्तकाध्यक्ष उन्हें चुनकर, उनका वर्गीकरण करके उन्हें आकर्षक रूप से प्रदर्शित करता है तभी पुस्तकालय का निर्माण होता है।' यह बात हमारे पुस्तकालयों के अधिकारी अभी नहीं समझ सके हैं और इसीलिए समाज में पुस्तकाध्यक्षों का जो स्थान होना चाहिए, वह उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। अधिकांश पुस्तकाध्यक्ष तो अपना कर्तव्य यही समझते हैं कि पुस्तकों की रक्षा करते रहें और पुस्तकों को जहाँ तक हो सके कम इशु करें नहीं वे खराब हो जायेंगी। उन्नत देशों में पुस्तकाध्यक्ष का पद अच्छे विद्वानों को दिया जाता है और इस पद को प्राप्त कर लेना गौरव की बात है। भारत में इस पद के लिए कोई ऐरा-गैरा उपयुक्त समझा जाता है। वह पुस्तक-प्रेमियों को किसी तरह की सलाह नहीं दे सकता न अपने पद के महत्व को समझता है। ज्यादा से ज्यादा वह अपना कर्तव्य यही समझता है कि आप जो पुस्तक माँगें उसे निकलवा दे। और जब तक इस पद पर सुयोग्य व्यक्तियों को न रखा जायगा थोड़े-बहुत जो पुस्तकालय मौजूद हैं उनसे भी जनता को विशेष लाभ न होगा। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के शब्दों में—

'कितने शोक की बात है कि हमारे कितने बालक अध्यापकों के आपत्तिजनक दुर्व्यवहार के कारण पुस्तकों की अरुचि के साथ विद्यालय से निकलते हैं। और यदि विद्यालयों में हमें योग्य और प्रकाशवान अध्यापकों की जरूरत है, तो पुस्तकालयों में भी विचारशील और शिष्ट मनुष्यों की जरूरत है, जिन्होंने बहुत कुछ पढ़ा हो जो पाठकों के

सलाहकार बन सकें किसी खास विषय पर अच्छी से अच्छी किताबों का चुनाव कर सकें और पाठकों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को पुष्ट कर सकें।

सितम्बर १९३२

परितोष

'हंस' के आत्मकथांक निकलने के पहले सहयोगी 'भारत' ने 'हंस' के कार्यकर्ताओं का परामर्श दिया था कि आत्मकथांक निकालने से कोई फायदा न होगा, यह तो केवल आत्मविज्ञापन का एक बहाना है। शब्द यह नहीं थे पर भाव कुछ ऐसा ही था। दुर्भाग्यवश मैं आत्मकथा का बड़ा पक्षपाती हूँ और उसे साहित्य का महत्वपूर्ण अंग समझता हूँ। मैं जानता हूँ कि उनके इस परामर्श से जिसमें आक्षेप की गंध भी थी मुझे क्षोभ हुआ और मैंने अपने भाव को काशी से निकलनेवाले पाक्षिक पत्र 'जागरण' में एक छोटे से नोट में प्रकट किया। जागरण के सम्पादक महोदय को मेरा वह लेख पढ़कर आश्चर्य हुआ मगर उन्होंने उस लेख को आपत्तिजनक होते हुए भी छापना ही उचित समझा। हाँ अपनी आत्म-शुद्धि के लिए उस पर टिप्पणियाँ लगा दीं। मैंने छापे में उस लेख को फिर देखा तो मुझे उसके लिखने का खेद हुआ। अखबारी दुनिया में इस किस्म के आक्षेप होते रहते हैं। मुझे क्षुब्ध होने की कोई ऐसी सख्त जरूरत न थी। 'भारत' को हमारा विचार नहीं पसन्द आता तो यह कोई असाधारण बात नहीं थी। किसी उद्योग को सभी पसन्द नहीं करते। दो-चार पसन्द करते हैं, दो-चार नापसन्द करते हैं। यह तो दुनिया का दस्तूर है लेकिन खैर' भूल तो हो ही गयी अब पछताने से क्या हो सकता था। समझा था खैर, मुझसे भूल हुई तो भारत ही इसे क्षमा करेगा मगर 'जागरण' के तीसरे अंक में भारत के सम्पादक पं. नन्ददुलारे वाजपेयी ने मेरे उस लेख का जो उत्तर दिया है, उसे पढ़कर मेरा वह खेद मिट गया। उन्होंने ढेले का जवाब पत्थर से नहीं गोले से दिया। इससे मुझे सच्चा परितोष हुआ। मुझे मालूम हुआ मैं ही क्षुब्ध होना नहीं जानता इस कला में मुझसे कहीं धुरंधर कलाविद् पड़े हुए हैं। वाजपेयी जी फरमाते हैं—

'प्रेमचन्द जी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेंडा वृत्ति के कारण काफी बदनाम हैं और हिन्दी के बड़े से बड़े समीक्षक ने उनकी शिकायत की है ...प्रेमचन्द के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष जो उनकी साहित्य-कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है—वही प्रोपेगेंडा है।

यह जले हुए दिल के शब्द हैं जो शायद बहुत दिन से भरा बैठा था और इस अवसर को पाकर भरपूर जोर से वार करना चाहता है। इसका क्या जवाब दिया जा

सकता है। सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगेंडा करते हैं—सामाजिक नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगेंडा न हो तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे जो प्रोपेगेंडा नहीं कर सकता वह विचारशून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगेंडा को गर्व से स्वीकार करता हूँ। मेरा विरोध तो उस प्रोपेगेंडा के आक्षेप से है जो मान और यश कीर्ति और धन-माल के वश किया जाता है। जिस आदमी ने जीवन में एक बार भी किसी साहित्य सम्मेलन या सभा में शरीक होने का गुनाह न किया हो जो प्लेटफार्म को सूली का तख्ता समझता हो उसे अपना ढिंढोरा पीटनेवाला कहना न्याय नहीं है। यों तो यहाँ किसी मानहानि का भय नहीं जो आक्षेप कोई करना चाहे, कर सकता है। वाजपेयी जी ने मनोविज्ञान के विद्यार्थी की हैसियत से मेरे उस लेख में मेरी प्रोपेगेंडा वृत्ति देखकर संतोष लाभ किया यह मेरे लिए भी आनन्द की बात है।

एक इल्जाम तो साबित हो गया। अब दूसरा इल्जाम सुनिये। फर्द जुर्म काफी लम्बी है—

'भारत' के सम्बन्ध में इतनी बुरी सम्मति पढ़कर हमें क्षोभ किंचित नहीं हुआ (गलत क्षोभ तो आपको इतना हुआ जितनी मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी कम से कम इसी विचार से कि मैं आपसे उम्र में बहुत बड़ा हूँ और मेरे सठियाने में केवल आठ साल शेष हैं) क्योंकि उसमें भी हम प्रेमचंद जी की उपन्यास-कला का एक रहस्य ही देख पड़ा। उपन्यास लिखने का पुराना तरीका यह था कि एक पक्ष को परम धार्मिक धीर और धीरोदात्त बनाकर दूसरे को हद दरजे तक उसके विपरीत बना दिया जाय और उन्हीं दोनों विरोधी दलों के संघर्ष से कथा का विकास होता रहे। यह बहुत पुराना ढर्रा था जिसमें सत्य की ओर से आँखें मूँदकर उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया जाता था। जिसे आधुनिक विकसित साहित्य एक जमाने से छोड़ चुका है।

इसका अर्थ है कि मैं उसी पुराने ढर्रे के दकियानूसी ढंग की पुरानी लकीर का फकीर बना हुआ हूँ और 'भारत' के यशस्वी सम्पादक नये से नये ढंग के साहित्य के अपटूडेट ज्ञाता हैं—योरोप के प्रेस से उपन्यास-साहित्य की पुस्तकें निकलते ही उनके पास चली आती हैं और वह उनको आलोचनात्मक बुद्धि से पढ़ते हैं औरों को यह सौभाग्य कहाँ नसीब! इसी बहुज्ञता और अप टू डेट पन की तो बरकत है कि आप 'भारत' में ऐसे साहित्यिक तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं जिन्हें हम पुरानी लकीर के फकीर समझ ही नहीं सकते—यही सोचकर चित्त को शान्त कर लेते तो क्षुब्ध होने की नौबत क्यों आती। मैं अपने मित्र को सूचित करता हूँ कि सत्य और असत्य का संघर्ष रामायण और महाभारत काल से लेकर आज भी तक बराबर चला आता है और जब तक साहित्य की सृष्टि होती रहेगी यह संघर्ष साहित्य का मुख्य आधार बना रहेगा। मानवी स्वभाव नहीं बदला करता और न साहित्य-तत्त्व में परिवर्तन हो सकता है। हाँ सतही आँखों से पढ़नेवालों को चाहे नये साहित्य में वह संघर्ष न नजर आये क्योंकि नये साहित्य

सेवी पुरानी परिपाटी का व्यवहार करते हुए भी नवीन आविष्कार का गौरव प्राप्त करने के लिए धोखे की टट्टी खड़ी किया करते हैं। और जो ऊपर ही ऊपर तैरते हैं उन्हें ऐसा भ्रम हो जाय तो आश्चर्य नहीं। साहित्य का क्षेत्र है, सौन्दर्य की सृष्टि और सौन्दर्य सम्बन्धवाचक है। सुन्दर की कल्पना ही बिना असुन्दर के नहीं हो सकती जैसे ही जैसे प्रकाश अन्धकार के सम्बन्ध से ही व्यक्त हो सकता है। मैंने भी अपनी सभी रचनाओं में इस सत्य को गुप्त रखने की चेष्टा की है जिसमें मुझे भी नवीन आविष्कार का गौरव मिले और अगर हमारे मित्र ने मेरा कोई उपन्यास पढ़ा होता तो वह ऐसी असंगत बात न कहते। संभव है बड़े से बड़े समीक्षक ने उनसे यह शिकायत की हो पर उन्होंने स्वयं मेरी कोई रचना पढ़ने का कष्ट नहीं उठाया यह सिद्ध है। बिना कोई चीज पढ़े उसकी आलोचना करना आजकल का फैशन है और मुझे इसकी शिकायत नहीं।

इसके बाद दूसरा पैराग्राफ 'भारत सम्पादक' की आत्म-विरुदावली से शुरू होता है जिसमें आपने सातवें आसमान पर बैठकर जमीन पर पैर घसीटनेवाले क्षुद्र प्राणियों पर दया-दृष्टि डाली है। फरमाते हैं—

'साहित्य में हम शुद्ध साहित्यिक संस्कृति चाहते हैं साग-सपेरा कुछ भी नहीं। चाहे वह साहित्य का कोई लेख हो पुस्तक हो अथवा संस्था हो—हम उसकी परख अपनी इसी मूल भावना की कसौटी पर करते हैं। यदि हम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विपक्ष में हैं तो इसलिए, कि वह वास्तव में साहित्य-सम्मेलन नहीं है'

कितनी शुद्ध साहित्य-सुधा-वृष्टि है! अहंकार का एक महान कुटिल रूप है, अल्पमत की गौरवमयी श्रेणी में रहना चाहे उसकी संख्या एक ही तक परिमित हो। सभी बड़े-बड़े विचार प्रवर्तकों ने अपनी अकेली आवाज से संसार पर विजय पायी है और यदि हमारे योग्य 'भारत' सम्पादक उस गौरव के उम्मीदवार हैं तो हमें शिकायत की कोई गुंजाइश नहीं। हम सभी चाहते हैं कि कोई ऐसी बात कहें, जो कोई दूसरा न कह सके कोई ऐसा काम कर दिखायें जो दूसरा न कर सके। कभी यह इच्छा सच्ची होती है कभी महत्वाकांक्षा से प्रेरित। हम इसे वाजपेयी जी के बलवान व्यक्तित्व और उज्ज्वल प्रतिभा का प्रमाण समझते हैं। उनको नजर में हिन्दी का कोई लेखक नहीं जँचता मैं इन बातों से नहीं चौंकता। मान इससे भी कोई बड़ी अनोखी नयी अभूतपूर्व बात कहिए, मैं जरा भी न चौंकूँगा मिनकूँगा ही नहीं। इतने महान आविष्कार की उपेक्षा कौन कर सकता है हिन्दी में ऐसा कोई लेखक नहीं जिसकी आत्मकथा लिखने योग्य हो। यहाँ तो सभी आत्म-विज्ञापन के उपासक हैं! केवल एक अपवाद है, और वह भारत के सुयोग्य सम्पादक पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी एम ए। आश्चर्य नहीं है कि उन्होंने 'भारत' का सम्पादक होना क्यों स्वीकार कर लिया क्योंकि सम्पादकत्व में आत्म-विज्ञापन कूट-कूटकर भरा होता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष के लिए तो कोई गुफा ही ज्यादा उपयुक्त स्थान होती। यहाँ कैसे सूझ पड़े! बात यह है कि आपकी अन्तर आत्मा चाहे स्वीकार करे या न करे,

लेकिन 'हम जुमा दीमरे लेख' आपके लेखों टिप्पणियों के एक-एक शब्द से टपक पड़ता है और चूँकि आप अपने लेखों को गलतियों से ऊपर समझते हैं उन्हें साहित्य के रत्न मानते हैं इसलिए जब मैंने उन पर अपना विरोधी मत प्रकट किया तो आपको सदमा हो गया। अहंकार ने हम और आप जैसे व्यक्तियों से कहीं महान पुरुषों को हास्यास्पद बनाया है। कोई चौंकानेवाली बात नहीं।

इसके आगे आप सप्तम आकाश से भी ऊपर उड़ गये हैं और साहित्य के उद्देश्य और आत्म की पवित्रता पर ज्ञान से भरी बातें कही हैं। हम उसका एक-एक शब्द स्वीकार करते हैं। बेशक साहित्य सात्विक जीवन है। बेशक यह कठिन तपस्या और महान यज्ञ है। लेकिन जब कोई सूत्रों में बातें करे जिसको समझने के लिए किसी दार्शनिक के पास जाना पड़े तो फिर उसका क्या जवाब? बात भी तो समझ में आवे। उदाहरणार्थ इन वाक्यों को लीजिए—

'जहाँ व्यक्ति में व्यक्तित्व के कोई स्वतन्त्र विषय नहीं रह जाते उच्च साहित्य की वह मातृभूमि है। जहाँ अपरिग्रह का साम्राज्य है प्लेटो नहीं जाने जाते। जहाँ वाणी मौन रहती है गाथा गाने में सुख नहीं मानती। उस उच्च स्वर से जितने क्रिया कलाप होते हैं आत्म प्रेरणा से होते हैं।

जहाँ वाणी मौन रहती है वह साहित्य है? वह साहित्य नहीं गूँगापन है। साहित्य का काम भावों का अन्तःकरण में अनुभव करना ही नहीं उनको व्यक्त करना है। वह मनोभाव तभी साहित्य कहलाते हैं जब वह व्यक्त हो जाते हैं वाणी में प्रकट होते हैं। तुलसीदास ने रामायण द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त किया है अन्यथा आज उनका कोई नाम भी न जानता। यही शाब्दिक गोरख धन्धे 'भारत' के साहित्यिक लेखों की विशेषताएँ हैं जिनका कोई अर्थ नहीं होता। अगर वाणी मौन रहने में सुख मानती तो आज संसार में साहित्य शब्द का अस्तित्व भी न होता।

इन वाक्यों का सीधा-सादा अर्थ जो हम समझ सके हैं वह यह मालूम होता है कि साहित्यकारों को आत्म-विज्ञापन नहीं करना चाहिए, यह सभी के लिए नियम है और साहित्यिक प्राणियों के लिए और भी अधिक। इसके मानने में किसी को आपसे मतभेद नहीं हो सकता लेकिन क्या आत्मकथा और आत्म-विज्ञापन समान हैं? थोड़े-बहुत अच्छे या बुरे अनुभव सभी प्राणियों के जीवन में हुआ करते हैं। जो लोग साहित्य के क्षेत्र में आकर अपना तन-मन घुलाते हैं वह केवल आत्म-विज्ञापन के भूखे नहीं होते। आप अपने दार्शनिक गाम्भीर्य के कारण उन्हें जितना चाहे पतित समझ लें पर साहित्य-क्षेत्र में जो कोई भी आता है वह अपनी आत्मा की प्रेरणा से ही आता है। यह दूसरी बात है कि परम पद को प्राप्त कर सके या न कर सके। स्कूल में सभी लड़के तो गांधी और गोखले नहीं हो जाते न सभी 'भारत' सम्पादक हो जाते हैं पर यह कहना कि वे केवल विद्याभ्यास का स्वाँग रचने आते हैं ऐसी बात है जिसका जवाब खामोशी है। फिर

हमने यह दावा तो नहीं किया कि हंस का 'आत्मकथांक' अमर साहित्य बनेगा हम अगर ऐसी हिमाकत करते भी—क्योंकि हम प्रोपेगेंडिस्ट हैं—तो 'भारत' सम्पादक जैसे मनस्वी पुरुष को हमारे दावे की उपेक्षा करनी चाहिए थी। लेकिन साहित्य के कूड़े करकट से ही अमर साहित्य की सृष्टि होती है। कोई अमर साहित्य के लिखने का इरादा करके अमर साहित्य की रचना नहीं कर सकता। जिस पर ईश्वर की कृपा होती है वही इस पद को पाता है। हम तो कहते हैं कि एक मामूली मजदूर के जीवन में भी खोजने से कुछ ऐसी बातें मिल जायेंगी जो अमर साहित्य का विषय बन सकती है। केवल देखनेवाली आँख और लिखनेवाला कलम चाहिए। आगे चलकर आपने इससे भी ज्यादा मार्के की बातें कही है—

'हमारे देश में आत्मकथा लिखने की परिपाटी नहीं रही। यहाँ की दार्शनिक संस्कृति म उसका विधान नहीं है। यहाँ के सन्त हिमालय की कन्दराओं मे जाकर चिरजागृति की समृद्धि करते थे और करते है। प्राचीन भारत अपना इतिवृत्ति और अपनी आत्मकथा नष्ट कर आज फिर जीवन का रहस्य बतलाता है और जिन्होंने गाथाएँ लिखी वह छिपा गये। इस युग के महापुरुष महात्मा गांधी ने जो आत्मकथा लिखी है उसकी मूल भावना है, प्रायश्चित अर्थात् वह केवल नकारात्मक घोषणा है, परन्तु प्रेमचन्द जी कैसी आत्मकथाएँ लिखा रहे हैं यह बतलाने की जरूरत नही है।

फिर वही शून्य शब्दाडम्बर, वही रहस्य भरी बातें जो सुनने में गूढ़ पर वास्तव में निरर्थक है। भारत की दार्शनिक संस्कृति में समाचारपत्रो का विधान भी तो नहीं है। फिर आप क्यों 'भारत' का सम्पादन करते है ? प्राचीनकाल मे बहुत-सी ऐसी बातें थी जो अब नहीं है और बहुत-सी ऐसी बातें नही थी जो अब है। तब कोई अंग्रेजी का एम ए भी नही होता था। मै आपसे पूछता हूँ आप अपने नाम के सामने वाजपेयी और एम ए की उपाधियाँ क्यों लगाते है ? केवल आत्म-विज्ञापन के लिए या इसमें और कोई रहस्य है ? भारत के सन्त हिमालय म बस गये मगर अमर साहित्य की सृष्टि भी कर गये नही तो आज आप उपनिषद्, वेद रामायण और महाभारत के दर्शन करते ? कालिदास और माघ और भास और बाण न साहित्य लिखा या नहीं ? या वह भी बस गये और उनके नाम से आत्म-विज्ञापन के इच्छुकजनों ने पुस्तकें लिख डालीं ? प्राचीन भारत मे अपनी आत्मकथा नहीं नष्ट की कभी नहीं उनकी आत्मकथा आज भी सूर्य की भाँति चमक रही है। हाँ केवल उनका रूप यह नही था। उन्होंने अपनी आत्मकथा मन्त्रों और श्लोकों और आत्मानुभावों के रूप में लिखी। हम आज गद्य-लेख में और डाइरेक्टरी लिख रहे है। साहित्य मे कल्पना भी होती है और आत्म-अनुभव भी। जहाँ जितना आत्मानुभव अधिक होता है, वह साहित्य उतना ही चिरस्थायी होता है। आत्मकथा का आशय है, कि केवल आत्म-अनुभव लिखे जायें उसमें कल्पना का लेश भी न हो। बड़े-बड़े लोगों के अनुभव बड़े-बड़े होते है। लेकिन जीवन में ऐसे कितने ही

अवसर पाते हैं अब छोटों के अनुभव से ही हमारा कल्याण होता है। सुई की जगह तलवार नहीं काम दे सकती।

आगे चल कर सहयोगी ने फिर एक अत्यन्त विवादास्पद बात कही है। सुनिए—

'साहित्य को केवल वाग्-विलास माननेवाले आदमी उसके उपयोगितावाद की दुहाई दे सकते हैं अस श्रीयुत प्रेमचन्द जी ने सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी वगरह का नाम लेकर दी है, परन्तु हम तो उसे बहुत ही साधारण कोटि की धारणा मानते हैं। लौकिक उपकार ही साहित्य की कसौटी नहीं है और न वह साहित्यकार के विकास में सहायक बन सकती है। नीति के दोहे लिखने के दिन गये। इस समय हिन्दी के रचनाकारों को अपने संस्कार और अपनी साधना की आवश्यकता है। दूसरा की भलाई का बीड़ा वे आगे कभी उठावेंगे। फिर इस साधारण परोपकारी दृष्टि से भी आत्मकथा लिखने के योग्य हिन्दी में कितने आदमी हैं। कितने ऐसे महच्चरित हैं जिनकी जीवनी हिन्दी जनता की पथ-नियामक बन सकती है।

इन वाक्यों का क्या जवाब दिया जाय? जब कोई कहे जाय कि संसार में सब अन्धे ही अन्धे बसते हैं तो उसका जवाब ही क्या हो सकता है। एक आदमी अपने जीवन के तत्व आपके सामने रखता है अपनी आत्मा के संशय और संघर्ष लिखता है, आपसे अपनी बीती कहकर अपने चित्त को शान्त करना चाहता है आपसे अपील करके अपने उद्योगों के औचित्य पर राय लेना चाहता है और आप कहते हैं यह वाग्-विलास है। वाग्-विलास आत्मकथा लिखना नहीं अलीक कहना है कविता का शृंगार-वर्णन करता है। अपने हृदय-पट को अपनी ठोकरों को अपनी हारों को प्रकट करना अगर वाग्-विलास है तो फिर साहित्य वाग्-विलास ही है और इसके सिवाय कुछ नहीं है।

अब रही साहित्य की उपयोगिता की बात। साहित्य का मूलाधार सत्य सुन्दर और शिव है। साहित्य की सामग्री मनुष्य का जीवन है। कभी-कभी चर और अचर जीवन भी। पर उसका उद्देश्य भी तो कुछ होगा। क्यों संसार के महान पुरुषों ने साहित्य की रचना की? बिना किसी उद्देश्य के? हम उन्हें इतना मिथ्याचारी नहीं समझते। केवल अपनी आत्मा की शान्ति के लिए? इसके लिए लिखने की जरूरत न थी। साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है। जो चतुर कलाकार है वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हँसी उड़वाता है। उपयोगिता मानसिक दार्शनिक व्यावहारिक या केवल विनोदात्मक हो सकती है। मुख्य करके भावों की संस्कृति ही उसका गौरव है। जिस वाणी पुस्तक या लेख में उपयोगिता का तत्व नहीं है, वह साहित्य नहीं कुछ भी नहीं। 'गीतांजलि' को तो साहित्य कहिएगा? टालस्टाय ने तो साहित्य लिखा? तुलसी और सूर ने भी तो साहित्य रचा? क्या उसमें कुछ भी उपयोगिता नहीं है? अब रह

गयी यह बात कि हिन्दी में ऐसे लिखनेवाले कितने हैं जिनकी जीवनी हिन्दी जनता की पथ-निर्दामक बन सकती है। आपका ख्याल है एक भी नहीं मेरा ख्याल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं जिनसे हमें प्रकाश मिल सकता है। अन्तर यही है, कि मेहतर में साहित्यिक बुद्धि नहीं लेखक में विवेचन शक्ति होती है। साहित्यकार के विकास के और क्या साधन हैं ? या तो अपने अनुभव या दूसरों के अनुभव ! किसी भी मनुष्य का जीवन इतना तुच्छ नहीं है जिसमें बड़े से बड़े महत्वशालियों के लिए भी कुछ न कुछ विचार की सामग्री न हो। महत्वशाली इसी तरह बनते हैं। घूरे पर से भी फूल को चुन लेना निषिद्ध नहीं कहा जा सकता। एक महात्मा से किसी ने पूछा था —आप इतने बुद्धिमान कैसे हुए ? उसने जवाब दिया—मूर्खों की सोहबत से।

यहाँ तक तो ऊपर की बातें थीं। अब तत्व की बात सुनिए। श्रीयुत् वाजपेयी जी फरमाते हैं—

'परन्तु जब 'हंस' की ओर से लिखा गया कि आत्मकथांक तो निकलेगा ही तब मैंने उपर्युक्त टिप्पणी लिखी थी जिस पर बिगड़कर प्रेमचंद जी लिखते हैं 'हंस' को मेरी सम्मति की जरूरत नहीं है! प्रेमचंद जी यदि साहित्यिक शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकते'''तो ऐसा न करने से उनकी असहिष्णुता का असत्य और असभ्य रूप प्रत्यक्ष करती है, उससे दूसरों को नहीं उनको और उनके पत्र को ही क्षति उठानी पड़ेगी—ऐसी आशंका है।

मालूम है 'भारत' के अनुद्वेगशील सम्पादक महोदय को इन पंक्तियों पर कोई टिप्पणी जमाने की जरा भी जरूरत न मालूम हुई। आप मुझे एक राय देते हैं मैं कहता हूँ मुझे आपकी राय की जरूरत नहीं मेरी जो इच्छा होगी करूँगा। मैं आपकी राय का पाबन्द नहीं हूँ। आपने आत्मकथांक निकालने का विरोध किया। आप ही के जैसे बुद्धि और विवेक रखनेवाले बहुत से सज्जनों ने आत्मकथांक निकालने का समर्थन किया। अगर अशिष्टता न हो तो मैं 'भारत' के सम्पादक को भी समर्थकों में ही रख सकता हूँ। मैं मानता हूँ इतनी रुखाई से मुझे यह वाक्य न लिखना चाहिए था। मुझे उसका खेद था और बहुत कुछ परितोष हो जाने पर अब भी है। लेकिन यह कहना कि हम आपकी बात नहीं मानते कठोर होते हुए भी उतना कठोर नहीं है, जितना यह कहना कि तुम असत्य हो और असभ्य हो और इसका खमियाजा तुम्हें उठाना पड़ेगा ! लेकिन जब अहंकार को चोट लगती है तो आदमी संयत रहने का प्रयास करने पर भी चौंक ही जाता है। अंत में हम श्रीयुत् नंददुलारे जी वाजपेयी से नम्रता के साथ निवेदन करते हैं कि मेरी तो अच्छी-बुरी किसी तरह कट गयी अब तो हाथ न लगा हालांकि कोशिश बहुत की और अब इस फिक्र में हूँ कि कोई पीठ का पूरा ऐंठ फँस जाय तो अपनी कोई रचना उसे समर्पित कर दूँ, लेकिन आपको अभी बहुत कुछ करना है बहुत कुछ सीखना है, बहुत कुछ रचना है। आत्मा बहुत अच्छी चीज है, लेकिन संसार में बड़े

से बड़े भारतवासियों को भी कुछ न कुछ भुकना ही पड़ता है। यह न समझिए कि जो कुछ आप समझते हैं, वही सत्य है, दूसरे निरे गावदी हैं। मतभेद होना स्वाभाविक है, लेकिन जिनसे मतभेद हो उन्हें नीच न समझिए। जिसे आप नीचा समझेंगे वह आपकी पूजा न करेगा। अब गुस्सा थूक दीजिए। आपने बिगड़ कर मन को शान्त कर लिया मैंने आपके बिगड़ने का आनन्द उठाकर मन को शांत कर लिया। आइए, हाथ मिला लें।

मार्च १६३२

पत्रों के ग्राहकों का आपत्तिजनक व्यवहार

भारतवर्ष में पत्र-पत्रिकाओं की जो दशा है, वह किसी से छिपी नहीं है। हिन्दी में तो दो-एक को छोड़कर और सभी घाटे पर चल रही हैं। प्रश्न होगा—जब सभी को घाटा हो रहा है, तो वे बन्द क्यों नहीं कर दी जातीं? जिस चीज के ग्राहक नहीं उसे तैयार करने से फायदा? लेकिन क्या हमारे स्कूल और कालेज या विद्यालय घाटे पर चल रहे हैं? उनका काम शिक्षा का प्रचार करना है, अपना काम कर रहे हैं। इस पवित्र उद्देश्य के लिए नुकसान उठाना बुरी बात नहीं। पत्र-पत्रिकाओं का भी यही काम है। वे विचारों का प्रचार करती हैं और कुछ नुकसान उठाने को तैयार रहती हैं, लेकिन जिस तरह स्कूल या कालेज के छात्र माहवार फीस देना बन्द कर दें तो विद्यालय नुकसान उठाने के लिए तैयार होने पर भी न चल सकेगा उसी भाँति प्रत्येक पत्र को ग्राहकों पर भी कुछ तकिया करना पड़ता है। वह इस प्रकार के काम में एक तरह से अपने पाठकों को भी सहयोगी बना लेता है। पाठक चार रु या आठ रु देकर केवल पत्रिका के ग्राहक ही नहीं होते उस संस्था द्वारा होनेवाले प्रचार के श्रेय के भागी भी होते हैं। यहाँ केवल ग्राहक और दुकानदार का नाता नहीं है। ऐसी दशा में जब हम देखते हैं कि पाठक पत्रिकाओं के साथ अपने कर्तव्य और जिम्मेदारी का बिलकुल विचार नहीं करते तो बड़ा दुःख होता है। आप किसी पत्र के ग्राहक रहें या न रहें, यह आपकी खुशी। पत्रों के व्यवस्थापक यह तो चाहते हैं कि उनके ग्राहक जितने ही ज्यादा होंगे उतना ही उन पर आर्थिक भार कम पड़ेगा। इसीलिए वे पाठकों की खुशामद करते रहते हैं लेकिन पाठक को इस बात का पूरा अधिकार है कि अपना चन्दा पूरा हो जाने के बाद वह नये वर्ष के लिए ग्राहक बने या न बने लेकिन कितना अच्छा हो कि वे वी० पी० की सूचना पहुँचते ही एक कार्ड डालकर अपने इनकार की सूचना दे दें लेकिन अनुभव यह है कि तीन-तीन महीने पहले से सूचना देने और बार-बार निवेदन करने पर भी कि 'यदि आपको अगले मास पत्र का ग्राहक बनना स्वीकार न हो तो आप एक कार्ड द्वारा इत्तला दे दीजिए'

कोई सूझता नहीं आती। मगर जब इस मौन को प्राचीन शिष्टाचार के अनुसार अनुमति का लक्षण समझकर पत्र वी० पी० से भेज दिया जाता है तो ग्राहक उसे तुरन्त लौटा देते हैं। जरा भी नहीं सोचते कि वी० पी० के भेजने में कितना खर्च पड़ा होगा, उनके नाम की पत्रिका छापने में भी कुछ न कुछ खर्च पड़ा ही होगा और दफ्तर को जो लिखा-पढ़ी करनी पड़ती है वह अलग। और खेद तो यह है कि ऐसे कृपालु पाठकों में अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे सज्जन होते हैं। अपने तीन पैसे न खर्च करके पत्रों से आठ आने खर्च करा देना कौन-सी भलमनसी या शिष्टता है? इसके सिवा और क्या कहा जाय कि यह भी हमारे चरित्र के पतन का एक चिह्न है जो देश को गुलाम बनाये हुए है। जिस देश के शिक्षित समाज में शिष्टता का इतना लज्जाजनक अभाव हो जहाँ स्वार्थ की मात्रा इतनी बढ़ गयी हो उस देश का ईश्वर ही मालिक है।

मई १९३३

जापान में पत्रों का प्रचार

जापान की जनसंख्या लगभग साढ़े छः करोड़ है। वहाँ ग्यारह सौ तेतीस दैनिक और दो सौ पच्चीस साप्ताहिक और मासिक पत्र निकलते हैं। कई दैनिकों की ग्राहक-संख्या दस से बीस लाख तक है। इन पत्रों की आर्थिक दशा का अनुमान इससे हो सकता है कि 'ओसाका मैनीची' पत्र के कार्यालय के बनवाने में तेतीस लाख रुपये लगे थे। 'टोकियो नीची' का भवन भी करीब-करीब ऐसा ही है। 'असाही' कम्पनी ने भी टोकियो में बत्तीस लाख की लागत से एक विशाल भवन बनवाया है। एक-एक कार्यालय में दो-तीन हजार आदमी काम करते हैं। केवल सम्पादकीय-विभाग में चार-पाँच सौ आदमी होते हैं। जापान और भारत की व्यक्तिगत आय में इतना बड़ा अन्तर नहीं है। उसकी आबादी भी यहाँ की आबादी का एक-पाँच से अधिक नहीं है। फिर भी वहाँ के पत्र कितनी उन्नत दशा में हैं। भारत में तो ऐसा शायद ही कोई पत्र हो जिसका प्रचार पचास हजार से अधिक हो। इसका कारण तो यह हो सकता है कि यहाँ हरेक प्रान्त की अलग भाषा है। लेकिन हिन्दी-भाषी प्रान्तों की जनसंख्या तो लगभग जापान की जनसंख्या की दुगुनी है पर कोई भी हिन्दी दैनिक जहाँ तक हमारा अनुमान है, बीस हजार से अधिक नहीं छपता। अधिकांश तो चार-पाँच हजार के अन्दर ही रह जाते हैं। ऐसी दशा में पत्रों की उन्नति क्योंकर हो सकती है।

फरवरी १९३३

एक सार्वदेशिक साहित्य-संस्था की आवश्यकता

भारत में विज्ञान और कला की इतिहास और गणित की शिक्षा और राजनीति की भाल-भाँति संस्थाएँ तो हैं लेकिन साहित्य की कोई ऐसी संस्था नहीं है। इसलिए साधारण जनता को अन्य प्रान्तों की साहित्यिक प्रगति की कोई खबर नहीं होती और न साहित्य-सेवियों को ही आपस में मिलने का अवसर मिलता है।

बंगाल के दो-चार कलाकारों के नाम से तो हम परिचित हैं लेकिन गुजराती तामिल तेलगू और मलयालम आदि भाषाओं के निर्माताओं से हम बिलकुल अपरिचित हैं। अंग्रेजी साहित्य का तो जिक्र ही क्या फ्रांस जर्मनी रूस पोलैण्ड स्वीडन बेलजियम आदि देशों के साहित्य से भी अंग्रेजी अनुवादों द्वारा हम कुछ न कुछ परिचित हो गये हैं लेकिन बंगला को छोड़कर भारत की अन्य भाषाओं की प्रगति का हमें बिलकुल ज्ञान नहीं है। हरेक प्रान्तीय भाषा अपना सम्मेलन अलग-अलग करती है और करना ही चाहिए। हरेक प्रान्त में लोकल कौंसिलें हैं पर प्रान्तीय साहित्यों की केन्द्रीय संस्था कहाँ है? हमारे खयाल में ऐसी एक संस्था की जरूरत है और यदि साहित्य सम्मेलन इसकी स्थापना करे, तो वह राष्ट्र और हिन्दी की बड़ी सेवा करेगा।

अभी तक हिन्दी ने जो विस्तार प्राप्त किया है वह एक प्रकार से अपनी शक्ति द्वारा किया है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो भारत के सभी बड़े शहरों में समझी जाती है, चाहे बोली न जाती हो। अगर अंग्रेजी बीच में न आ जाती होती तो अन्य प्रान्तों के निवासी एक-दूसरे से हिन्दी ही में बातें करते और अब भी करते हैं यद्यपि वही जो अंग्रेजी से अनभिज्ञ हैं।

अब वह समय आ गया है कि प्रान्तीय भाषाओं का सम्बन्ध ज्यादा घनिष्ठ किया जाय और हमारे संस्कारों का एका समन्वय हो जाय कि हम राष्ट्रीय भाषा का ही नहीं राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण भी कर सकें। हरेक प्रान्त के साहित्य की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यह आवश्यक है कि हमारी राष्ट्रभाषा में उन सारी विशेषताओं का सामंजस्य हो जाय और हमारा साहित्य प्रान्तीयता के दायरे से निकलकर राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पहुँच जाय। इस विषय में हम अन्य भाषाओं के कलाकारों की सहायता और सहयोग से जितना आगे बढ़ सकते हैं, उतना और किसी तरह नहीं बढ़ सकते। यों तो कई बंगला और मराठी के विद्वान् हिन्दी में बराबर लिख रहे हैं और अनुमान किया जा सकता है, कि हिन्दी का अब क्षेत्र फैलता जायगा लेकिन ऐसी एक राष्ट्रीय साहित्य संस्था द्वारा हम इस प्रगति को और तेज कर सकते हैं।

अभी हमें बम्बई जाने का अवसर मिला था। वहाँ हमें गुजरात के प्रमुख साहित्य-सेवियों से बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हमें मालूम हुआ कि वे ऐसी संस्था के लिए कितने उत्सुक हैं बल्कि मैं तो कहूँगा कि यह प्रस्ताव उन्हीं महानुभावों का था

और मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के माननीय अधिकारियों से अनुरोध करूँगा कि वे इस प्रस्ताव को कार्य रूप मे परिणत करें। हिन्दी का प्रचार समस्त भारत मे बढ़ रहा है। यदि साहित्य सम्मेलन ऐसी संस्था का आयोजन करे तो मुझे विश्वास है कि अन्य भाषाओं के लेखक उसका स्वागत करेंगे और हिन्दी का गौरव भी बढ़ेगा और विस्तार भी।

यह कौन नहीं जानता कि भारत में प्रान्तीयता का भाव बढ़ता जा रहा है। इसका एक कारण यह भी है, कि हरेक प्रान्त का साहित्य अलग है। यह आदान-प्रदान और विचार-विनिमय ही है जिसके द्वारा प्रान्तीयता के सर्प को रोका जा सकता है। राष्ट्रों का निर्माण उसके साहित्य के हाथ में है। यदि साहित्य प्रान्तीय है, तो उसके पढ़नेवालों में भी प्रान्तीयता अधिक होगी। अगर सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य सेवियों का वार्षिक अधिवेशन होने लगे तो सर्प की जगह सौम्य सहकारिता का भाव उत्पन्न होगा और यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि साहित्यों के सन्निकट हो जाने से प्रान्तों में भी सामीप्य हो जायगा। जिन विद्वानों का अभी हमने नाम ही सुना है उन्हें हम प्रत्यक्ष देखेंगे उनके विचार उनके श्रीमुख से सुनेंगे और सत्संग से बहुत-से भ्रम बहुत-सी संकीर्णताएँ आप ही आप शान्त हो जायेंगी। अन्यत्र हम पी ई एन नामक विश्व साहित्य संस्था का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित कर रहे हैं। जब बड़ी-बड़ी उन्नत भाषाओं को ऐसी एक संस्था की जरूरत मालूम होती है तो क्या भारत की प्रान्तीय भाषाओं का एक केन्द्रीय संस्था से सम्बद्ध हो जाना आवश्यक नहीं है? भारत की आत्मा अभिव्यक्ति के लिए अपने साहित्यकारों की ओर देख रही है। दार्शनिक उसके विचारों को प्रकट कर सकता है वैज्ञानिक उसके ज्ञान की वृद्धि कर सकता है उसका मर्म उसकी वेदना उसका आनन्द उसकी अभिलाषा उसकी महत्वाकांक्षा तो साहित्य ही की वस्तु है और वह महान शक्ति प्रान्तीय सीमाओं के अन्दर जकड़ी पड़ी हुई है। बाहर की ताजी हवा और प्रकाश से वह वंचित है और यह बन्धन उसके विकास और वृद्धि में बाधक हो रहा है। सृष्टि-धाराएँ अपने एकान्त पथ पर चलकर संकीर्ण और प्रवाह-शून्य हो गयी हैं। इन धाराओं को सम्मिलित करके हम उनमें प्रवाह और प्रगति उत्पन्न कर सकते हैं। और यह हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का नैसर्गिक कर्तव्य है।

फरवरी १९३४

हिन्दी लेखक-संघ

हिन्दी लेखक-संघ के संगठन के विषय में भी सत्यजीवन जी वर्मा जो आन्दोलन कर रहे हैं उसके विषय में आपने संगठन के लिए एक अपील प्रकाशित की है और अभी तक के प्रस्तावित विचारों के आधार पर एक विवरण-पत्र भी बना डाला है। जब सभी क्षेत्रों में इस समय संगठन होता जा रहा है तब कोई कारण नहीं कि लेखकों का भी एक

संगठन न हो। आशा है सम्बद्ध वर्ग इसे आवश्यक समझेगा और श्री सत्यजीवन जी वर्मा के पास से आवेदन-पत्र तथा विवरण-पत्र मंगाकर प्रस्तावित विवरण को देखकर, संघ का सदस्य बन जायगा और अपने समुदाय की हित-रक्षा में भाग लेगा। श्री सत्यजीवन वर्मा ने सम्बद्ध समुदाय से जो अपील की है, वह इस प्रकार है—

मान्यवर महोदय

'लेखक-संघ' के संगठन के प्रस्ताव पर पत्रों में काफ़ी चर्चा हो रही है जिसे आपने देखा होगा। प्रायः सभी लोग इस प्रस्ताव से किसी न किसी रूप में सहमत हैं। यह प्रस्ताव नया नहीं। आपने स्वयं भी किसी न किसी समय इस प्रकार की एक संस्था की आवश्यकता का अनुभव किया होगा। प्रस्तुत प्रस्ताव इसी चिरवांछित अभिलाषा की पूर्ति के लिए किया गया है।

संगठन का यह युग है। सारा संसार संगठन की ओर दौड़ रहा है। समाज में प्रत्येक श्रेणी के लोग अपना-अपना संगठन कर रहे हैं। यह अत्यन्त वांछनीय है। अब युग बदल गया है। प्रत्येक वर्ग अपने स्वत्वों और आदर्शों की रक्षा के लिए किसी न किसी रूप में बहुमत की आकांक्षा करता है। व्यक्तिगत प्रयत्नों से आजकल कुछ भी नहीं हो सकता। जब तक हमारा एक संघ न होगा, हम एक मत न होंगे, हममें अपने ध्येय की प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा न होगी, हम उसके निमित्त प्रयत्नशील न होंगे—हम कुछ नहीं कर सकते। इसी हेतु हमें संगठन की आवश्यकता होती है।

जब सभी क्षेत्रों में संगठन की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र इस नियम से परे कैसे रह सकता है? हिन्दी-सेवियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। सभी अपनी शक्ति, पहुँच, कल्पना और आदर्श के अनुसार उसकी सेवा और

उसका बहुत-सा समय और शक्ति मार्ग ढूँढने में नष्ट हो जाती है। उसे आवश्यकता है एक केन्द्रीय संस्था की जो उसे अपने व्यवसाय में कुशल सफल बनने में सहायता पहुँचा सके उसकी सेवाओं का आदर कर सके और जो उसके सुख-दुख में सहायक बन सके। धीरे-धीरे वह समय भी आ रहा है जब लेखन-कला एक प्रकार का व्यवसाय समझा जायगा। अभी सम्भव नहीं है रोटी का प्रश्न सभी के साथ-साथ लगा रहता है। अपनी आवश्यकताओं के निमित्त सब को कुछ न कुछ 'अर्थ' की आवश्यकता पड़ती है, अतएव लेखकों के आर्थिक हित की रक्षा के निमित्त उनके लिए समय-कुसमय में आर्थिक सहायता का आयोजन करने के लिए भी एक संस्था की आवश्यकता होगी। 'लेखक संघ' की उपयोगिता इस विषय में भी प्रतीत होती है।

नवीन हिन्दी-साहित्य की अभी शैशवावस्था है। अभी उसे बड़े यत्न से सँभालना लालना और पालन करना है। वर्तमान साहित्य की सृष्टि में यदि संयम और दूरदर्शिता से काम न लिया गया तो आगे चलकर हम एक दिन पछताना पड़ेगा कि हमारी सारी मेहनत व्यर्थ गयी। आधुनिक युग में जहाँ प्रत्येक काम में जीवन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, वहाँ यह मानना पड़ेगा कि अभी ये सारी चेष्टाएँ आदर्शहीन ही हैं। भविष्य में क्या होगा हम यह नहीं कह सकते परन्तु भविष्य में हम क्या करना है यह हम निश्चय कर सकते हैं। वर्तमान और विगत के अनुभव हम अपना भावी कार्यक्रम निश्चय करने में सहायक हो सकते हैं। साहित्य की वर्तमान प्रगति और उसके विगत अनुभवों को सामने रखकर अपने देश-जाति के कल्याण की कामना कर हमें अपना भावी कार्यक्रम बनाना पड़ेगा जिसमें हमारे लेखक-गण उसके अनुसार चल सकें। हमें अपने सहयोगियों की कठिन मार्गों से सावधानतापूर्वक रक्षा करनी पड़ेगी।

हमारे सामयिक साहित्य की दशा पर भी यदि ध्यान दिया जाय तो उसकी प्रगति भी कुछ विशृंखल-सी प्रतीत होगी। पत्रकार और पत्रों ने निश्चित ध्येय और आदर्श अभी तक निर्दिष्ट नहीं किया है जिसके कारण पत्रों के प्रचार तथा उनकी उपयोगिता में बाधा पड़ रही है। अतः सामयिक साहित्य की देख-रेख भी हमारा कर्तव्य होना चाहिए। लेखकों के ही भरोसे सामयिक साहित्य का संचालन है अतः 'लेखक संघ' विशेषरूप से सामयिक साहित्य का परिचालन कर सकेगा।

उपर्युक्त सारी बातों को देखकर आप हमसे पूर्णतः सहमत होंगे कि अब 'लेखक-संघ' का संघटन शीघ्र ही हो जाना आवश्यक होगा। इसकी उपयोगिता के विषय में आप हमसे अधिक संतुष्ट होंगे। हमें आशा है कि अब आप अपना पूरा सहयोग देकर इस संघ की स्थापना में हाथ बँटाकर हिन्दी-साहित्य के एक अत्यन्त आवश्यक कार्य के संपादन का श्रेय लेंगे।

सितम्बर १९३४

पटना का हिन्दी-साहित्य परिषद्

इक्कीस-बाईस सितम्बर को पटना में अपने साहित्य परिषद् का कई बरसों के बाद आनेवाला वार्षिकोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया। हिन्दी के शब्द-जादूगर श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी सभापति थे और साहित्यकारों का अच्छा जमघट था। हम तो अपने दुर्भाग्य से उसमें सम्मिलित होने का गौरव न पा सके। शुक्रवार की सन्ध्या समय से ही हमें ज्वर हो आया और वह सोमवार को उतरा। हम छटपटाकर रह गये। रविवार को भी हम यही आशा करते रहे कि आज ज्वर उतर जायगा और हम चले जायेंगे लेकिन ज्वर ने उस वक्त गला छोड़ा जब परिषद् का उत्सव समाप्त हो चुका था। पटने जाकर खाट पर सोने से काशी में खाट पर पड़े रहना ज्यादा मुफीद था और यों भी बीमारी के समय चाहे वह हलकी ही क्यों न हो बुजुर्गों के मतानुसार और धर्मशास्त्रों के आदेशानुसार काशी के समीप ही रहना ज्यादा कल्याणकारी होता है—लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से। अतएव हमें आशा है, हमारे साहित्यिक बन्धुओं ने हमारी गैरहाजिरी मुआफ कर दी होगी। इस ज्वर ने ऐसा अच्छा अवसर हमसे छीन लिया। इसका बदला हम उससे अवश्य लेंगे चाहे हम अहिंसा नीति तोड़नी क्यों न पड़े। सभापति का जो भाषण छपकर काफी मात्रा के रूप में मिला है वह अक्षर-अक्षर कितना स्वादिष्ट होगा—यह सोचता हूँ तो यही जी चाहता है कि ज्वर महोदय कहीं फिर दिखें लेकिन उनका कहीं पता भी नहीं। इस भाषण में जीवन है, आदेश है, मार्गनिदर्शन है और साहित्य सेवियों के लिए आदर है मगर आपने पूर्वजों का बोझ मस्तक पर लादने की जो बात कही वह हमारी समझ में न आयी। हमारा ख्याल है कि हम पूर्वजों का बोझ जरूरत से ज्यादा लादे हुए हैं और उनके बोझ के नीचे दबे जा रहे हैं। हम अतीत में रहने के इतने आदी हो गये हैं कि वर्तमान और भविष्य की जैसे हमें चिन्ता ही नहीं रही। योरोप और पश्चिमी जग इसीलिए हमारी उपेक्षा करता है कि वह हमें पाँच हजार साल पहले के जन्तु समझता है, जिसके लिए अजायबघरों और पिंजरापोलों में ही स्थान है। वह हमारे भोजपत्रों और ताम्रलेखों को लाद-लादकर इसलिए नहीं ले जाता कि उनसे ज्ञान का अर्जन करे, बल्कि इसलिए कि उन्हें अपने संग्रहालयों में सुरक्षित रखकर अपने विजय-गर्व को पुष्टि दे उसी तरह जैसे पुराने जमाने में विजय की लूट के साथ नर-नारियों की भी लूट होती थी और जुलूसों में उनका प्रदर्शन किया जाता था। प्राचीन हमें अमर आदर्श और मार्ग देता है तो उसके साथ ही रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास भी देता है। जभी तो आज राम और कृष्ण रामलीला और रासलीला की वस्तु बनकर रह गये हैं और बुद्ध और महावीर ईश्वर बना दिये गये हैं। यह प्राचीन का भार नहीं तो और क्या है कि आज भी असंख्य प्राणी जिनमें अच्छे-खासे पढ़े-लिखे आदमियों की काफी संख्या है नदियों में नहाकर अपना मन शुद्ध कर लिया करते हैं? प्राचीन उन राष्ट्रों और जातियों के लिए गर्व की

वस्तु होगी और होनी चाहिए, जो अपने पूर्वजों के पुरुषार्थ और उनकी साधनाओं से प्राप्त मालामाल हो रहे हैं। जिस जाति को पूर्वजों से पराजय का अपमान और कमियों का शौक ही विरासत में मिला वे प्राचीन के नाम को क्यों रोयें ? ऐसे रतन को क्या हम लेकर चाटें जिसने हमारे पूर्वजों को इतना अकर्मण्य बना दिया कि जब बख्तियार खिलजी ने बिहार विजय किया तो पता चला कि सारा नगर और किला एक विशाल पाठशालय था। विद्वान लोग मजे से राज्य का आश्रय पाते थे और अपनी कुटिया में बैठे हुए प्राचीन शास्त्रों में डूबे रहते थे। उनके इर्द-गिर्द क्या हो रहा है दुनिया किस गति से बढ़ी जा रही है उन्हें इसकी खबर न थी। और शायद बख्तियार उन विद्वानों से मुखातिब न होता और उनकी वृत्ति क्यों की त्यों बनी रहती तो वे उसी तन्मयता से अपने शास्त्र पढ़े जाते और आध्यात्मिक विचारों के आनन्द लूटते रहते और अमर जीवन की मंजिल नापते चले जाते। उधर पश्चिम के नाविक समुद्र में तूफान का मुकाबला करके संसार विजय कर रहे थे और हमारे बाप दादा बैठे मुक्ति का मार्ग ढूंढ रहे थे। पश्चिम ने जिस वस्तु के लिए तपस्या की उसे वह वस्तु मिली। हमारे पूर्वज ने जिस वस्तु की तपस्या की वह उन्हें मिली या मिलेगी। जिसके लिए संसार मिथ्या हो और दुःख का घर हो उसकी यदि संसार उपेक्षा करे तो उन्हें शिकायत का क्या मौका है। हमें स्वर्ग की ओर से निश्चिन्त रहना चाहिए। वह हमें मिलेगा और जरूर मिलेगा! चतुर्वेदी जी के ही शब्दों में 'धर्मों के बन्धनों के मारे हम स्वामी राम के कथन में भी मुक्ति का गीत ढूंढने के बजाय वेदान्त के बन्धन ढूंढने लगे। और क्यों न ढूंढते ? बन्धनों के सिवा और धर्मों के सिवा हमारे पास और क्या था। पंडित लोग पढ़ते थे और योद्धा लोग लड़ते थे और एक-दूसरे की बेइज्जती करते थे और लड़ाई से फुरसत मिलती थी तो व्यभिचार करते थे! यह हमारी व्यावहारिक संस्कृति थी। पुस्तकों में वह जितनी ही ऊंची और पवित्र थी व्यवहार में उतनी ही निम्न और निकृष्ट।

आगे चलकर सभापति जी ने हमारी वर्तमान साहित्यिक मनोवृत्ति का जो चित्र खींचा है, उसका एक-एक शब्द यथार्थ है—

'हम अपनी इस आदत को क्या करें ? यदि किसी के दोष सुनता हूँ तो तुरन्त मान लेता हूँ और उस आक्षेप को पेट में लेकर फिर बाहर आता हूँ और अपनी साहित्यिक पीढ़ी को उस लिप लिपि की बराबर बांटता हूँ। संसार के दोषों का मैं बिना प्रमाण सरल विश्वासी होता हूँ और यह चाहता हूँ कि मेरी ही तरह मेरा पाठक भी मेरी लोक-निन्दा पर विश्वास करे, किन्तु यदि किसी के गुण किसी की मौलिकता किसी की उच्चता की चर्चा सुनता हूँ तब मैं उसके लिए प्रमाण मालूम करने के इजहार लेना चाहता हूँ।

और भाषण के अन्तिम शब्द तो बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं—

'हम बड़े हों या छोटे हमने घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति में मरने का डर बोया है। हमारे लिए मार डालना ही गुनाह नहीं मर जाना गुनाह हो गया है' '''आज के साहित्यिक चिंतक पर जिम्मेदारी है कि वह पुरुषार्थ को दोनों हाथों म लेकर जीने का खतरा और मरने का स्वाद अपनी पीढ़ी म बोये। यह पुरुषार्थ शस्त्रकारों से नहीं हो सकता। यह तो कलम के धनियों ही के करने का काम है।

अक्तूबर, १९३५

लंदन में भारतीय साहित्यकारों की एक नयी संस्था

हम यह जानकर सच्चा आनन्द हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवकों मे भी साहित्य म एक नयी स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पदा हो गयी है। लदन में The Indian Progressive Writers Association की इसी उद्देश्य से बुनियाद डाल दी गयी है और उसने जो अपना मैनिफेस्टो भेजा है उसे देखकर यह आशा होती है कि अगर यह सभा अपने इस नये माग पर जमी रही तो साहित्य म नवयुग का उदय होगा। उस मैनिफेस्टो का कुछ अंश हम यहाँ भाशय रूप म देते हैं—

भारतीय समाज मे बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे है। पुराने विचारो और विश्वासों की जड़े हिलती जा रही है और एक नये समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय साहित्य-कारों का धम है कि वह भारतीय जीवन म पदा होनेवाली क्रान्ति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के माग पर चलाने मे सहायक हों। भारतीय साहित्य पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से जीवन की यथार्थताओं से भागकर उपासना और भक्ति की शरण में जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है रूप में भी अथ म भी। और आज हमारे साहित्य म भक्ति और वैराग्य की भरमार हो गयी है। भावुकता ही का प्रदर्शन हो रहा है, विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया गया है। पिछली दो सदियों में विशेषकर इसी तरह का साहित्य रचा गया है जो हमारे इतिहास का लज्जास्पद काल है। इस सभा का उद्देश्य अपने साहित्य और दूसरी कलाओं को पुजारियों पंडितों और अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकाल कर उन्हें जनता के निकटतम संसर्ग मे लाया जाय उनम जीवन और वास्तविकता लायी जाय जिससे हम अपने भविष्य को उज्ज्वल कर सकें। हम भारतीय सभ्यता की परम्पराओं की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे और आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से उन सभी बातों का सचय करेंगे जिससे हम अपनी मंजिल पर पहुँच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वतमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय

करना चाहिए और वह है, हमारी रोटी का हमारी दरिद्रता का हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनैतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आयेगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता अकर्मण्यता और अन्धविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है वह सब कुछ जो हममे समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों का भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हम कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।

इन उद्देश्यों को सामने रखकर इस सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किये हैं—

१—भारत के भिन्न-भिन्न भाषा-प्रान्तों म लेखकों की संस्थाएँ बनाना उन संस्थाओं में सम्मेलनों पम्फ्लेटों आदि द्वारा सहयोग और समन्वय पैदा करना। प्रान्तीय केन्द्रीय और लन्दन की संस्थाओं में निकट सम्बन्ध स्थापित करना।

२—उन साहित्यिक संस्थाओं से मेल जोल पैदा करना जो इस सभा के उद्देश्यों के विरुद्ध न हों।

३—प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि और अनुवाद करना जो कलात्मक दृष्टि म भी निर्दोष हो जिससे हम सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर सकें और भारतीय स्वाधीनता और सामाजिक उत्थान की ओर बढ़ सकें।

४—हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा और इंडो-रोमन लिपि को राष्ट्र लिपि स्वीकार कराने का उद्योग करना।

५—साहित्यकारों के हित की रक्षा करना उन साहित्यकारों की सहायता करना जो अपनी पुस्तकें प्रकाशित कराने के लिए सहायता चाहते हों।

६—विचार और राय को आजाद करने के लिए प्रयत्न करना।

मैनिफेस्टो पर सभी डा मुल्कराज आनन्द डा के एम भट्ट डा ज सी घोष डा एम सिन्हा एम डी तासीर और एम एस जहीर के शुभ नाम हैं और पत्रव्यवहार का पता—

डा एम आर आनन्द
१२ रमेन स्क्वायर
लन्दन।

हम इस संस्था का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वह चिरंजीवी हो। हमें वास्तव में ऐसे ही साहित्य की जरूरत है और हमने यही आदर्श अपने सामने रखा है। 'हंस' भी इन्हीं उद्देश्यों के लिए जारी किया गया है। हाँ हम अभी इंडो-रोमन को राष्ट्र-लिपि स्वीकार करने को तैयार नहीं क्योंकि हम नागरी लिपि में संशोधन करके उसे इतना पूर्ण बना लेना चाहते हैं जिससे वह भारत की सभी भाषाओं

के लिए समान रूप से उपयोगी हो। हम यह भी कह देना चाहते हैं, कि अगर यह संस्था भारत के उस साहित्य को जो उसके उद्देश्यों के अनुकूल हो अंग्रेजी में अनुवाद कराके प्रकाशित कराने का प्रबन्ध कर सके तो वह साहित्य और राष्ट्र—दोनों ही की सच्ची सेवा होगी। हम हिन्दी लेखक-संघ के सदस्यों से निवेदन कर देना चाहते हैं कि वे इन प्रस्तावों पर विचार करें और उस पर अपना मत प्रकट करें। लेखक संघ के उद्देश्य भी बहुत कुछ इस संस्था से मिलते हैं और कोई कारण नहीं कि दोनों में सहयोग न हो सके।

जनवरी १९३६

साहित्य सम्मेलन के विषय में

पाठकों को मालूम ही है कि इस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जलसा ईस्टर की छुट्टियों में *नागपुर में होगा। तैयारियाँ हो रही हैं स्वागत-समिति बनायी जा रही है।* प्रबन्ध मन्त्री जी ने हिन्दी के विद्वानों से निबन्धों के विषय लिख भेजने की प्रार्थना की है। निबन्ध तो आयेंगे और पढ़े जायेंगे लेकिन हमारे विचार में सम्मेलन को अबकी केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन न होकर आल इण्डिया साहित्य सम्मेलन बनने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि वह अन्य प्रान्तों के विद्वानों को निमन्त्रित कर सके और जो लोग मार्ग-व्यय लेना चाहें, उन्हें मार्ग-व्यय भी दे सके तो इससे हिन्दी-साहित्य का बहुत कुछ उपकार होगा। हमें इस वक्त साहित्य की प्रगति के विषय में भारत के सभी महारथियों से परामर्श करके अपनी कोई नीति स्थिर कर लेनी चाहिए। अन्यत्र हम लखनऊ की एक साहित्य-सभा का मेनिफेस्टो प्रकाशित कर रहे हैं। उस पर भी सम्मेलन को विचार करना चाहिए। सम्मेलन में व्यक्तिगत रूप से निबन्ध पढ़ देने से साहित्य की प्रगति को कोई दिशा नहीं मिल सकती। उसे तो इस प्रगति का संचालन करने के लिए कोई सिद्धान्त स्थिर कर लेने की जरूरत है, जिससे वह साहित्य पर नियन्त्रण रख सके। प्रगतिशील और अप्रगतिशील साहित्य में क्या अन्तर है इस पर खूब गौर करके उसे अपना निश्चय देना चाहिए कि वह किस प्रकार के साहित्य को आश्रय देना चाहता है और यह मार्ग-प्रदर्शन उसी वक्त हो सकता है, जब सम्पूर्ण भारत के साहित्य-महारथियों के सत्परामर्श और सहयोग से सम्मेलन अपना कोई मत पक्का कर ले।

जनवरी १९३६

अखिल भारतवर्षीय पुस्तकालय-संघ

हमारे देश में संस्थाओं और सभाओं की विशेष कमी नहीं है, किन्तु उनमें अधिकांश ऐसी ही हैं, जो केवल प्रस्ताव पास करने में ही बहादुर हैं ! इसका मुख्य कारण है सच्ची लगनवाले उत्साही कार्य-कर्ताओं और सहानुभूतिशील धन-दाताओं का अभाव। देश में सुशिक्षा का अभाव भी संस्थाओं और सभाओं की उन्नति में बाधक है, किन्तु शिक्षा प्रचार-द्वारा अविद्या को दूर करने का प्रयत्न भी संस्थाओं और सभाओं-द्वारा ही किया जा सकता है। इसलिए मुख्य अभाव सच्चे स्वयंसेवकों और दानियों का ही है। इसी अभाव के कारण बहुतेरे सम्मेलन और संघ निर्जीव हो रहे हैं। अखिल भारतीय पुस्तकालय-संघ की भी यही दशा है।

हमें कुछ ऐसा स्मरण है कि लाहौर की स्वतंत्रता-घोषिणी काँग्रेस के समय उक्त संघ का महाधिवेशन आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय के सभापतित्व में हुआ था। उसमें कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए थे। सभापति के भाषण में भी पुस्तकालयों के संगठन की एक अच्छी स्कीम थी, परन्तु प्रस्ताव और स्कीम को कार्य के रूप में परिणत करने के लिए कुछ उद्योग हुआ या नहीं, इसका हम पता नहीं, क्योंकि पत्र-पत्रिकाओं में कभी इसकी चर्चा देखने में नहीं आयी। प्रायः सभा-सोसाइटियों का यह ढंग देखा जाता है, वे साल भर चुप बैठी रहती हैं और साल के अन्त में महाधिवेशन करने के लिए सभापति के चुनाव आदि की चर्चा से पत्रों में कुछ धूम मचा देती हैं। अब इधर भारतीय पुस्तकालय-संघ की चर्चा भी छिड़ गयी है। क्योंकि आगामी १३, १४ सितम्बर को कलकत्ते में उसका एक वृहत् अधिवेशन होने जा रहा है। उसके अध्यक्ष होंगे अन्नामलाई-विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष डॉक्टर टामस। कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी के पुस्तकाध्यक्ष मिस्टर असदुल्लाह उसके मन्त्री का काम कर रहे हैं। प्रतिनिधि-शुल्क चार रुपया निश्चित किया गया है। आशा ही नहीं, विश्वास भी है, कि सम्मेलन बहुलांश में सफल होगा। विद्वानों के पाण्डित्य पूर्ण भाषण होंगे। विद्वानों के उर्वर मस्तिष्क से निकले हुए उपयोगी प्रस्ताव भी पास होंगे, किन्तु प्रति वर्ष इसी तरह रस्म पूरी करने से कोई ठोस काम नहीं हो सकता। हम सम्मेलन के संचालकों से यह आशा करते हैं कि वे इस बार कोई ऐसा कार्य-क्रम निर्धारित करें, जिसे क्रियात्मक रूप देने में विशेष कठिनाई न हो। उनके प्रशंसनीय उद्योग में सफलता होने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हुए हम कुछ मोटी-मोटी बातें उनके सामने पेश करते हैं, जिन पर ध्यान दिये बिना हमारा खयाल है कि संघ में सजीवता और कार्य-क्षमता नहीं आ सकती। बातें ये हैं—

किसी केन्द्र स्थान में संघ का निश्चित कार्यालय होना चाहिए। व्यवस्था ऐसी की जाय कि कार्यालय में नियमित रूप से बराबर काम हो। प्रारम्भ में दो-चार युवक इसके लिए अपने जीवन भर की सेवाएँ अर्पित करने को तैयार हों। त्याग के बदले पर

लक्ष्मी लोटती है। त्याग ही की छत्रछाया में सिद्धि बसती है। दो-चार त्यागी युवक ही सारे देश को पुस्तकालय-सम्बन्धी आन्दोलन की ओर आकृष्ट कर सकते हैं। कोई एक युवक समस्त देश के पत्रों में निरन्तर पुस्तकालय संगठन की चर्चा करते रहने का भार उठा ले। वह पत्र-सम्पादकों से भी प्रार्थना करता रहे कि वे उसके काम का महत्व समझ कर उसकी सहायता करें टिप्पणियाँ लिखा करें अग्रलेख लिखा करें। वह नियमानुकूल आवश्यक पत्रव्यवहार करके ही संघ को सजीव रख सकेगा। दूसरा युवक साल-भर सारे देश में भ्रमण करके प्रचार-काम कर लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करे, धनिकों का सहयोग प्राप्त करे सभी जगहों के छोटे-बड़े पुस्तकालयों का निरीक्षण करके एक रिपोर्ट तैयार करे। हमारा अनुमान है कि देश-भर के पुस्तकालयों की सूची संघ के पास तैयार होगी। उस सूची के सहारे सब पुस्तकालयों के संचालकों से लिखा-पढ़ी करके उन्हें संघ से सम्बद्ध कराने की आवश्यकता है। संघ के कार्यालय में देश भर के पुस्तकालयों की नियमावली और वार्षिक कार्य-विवरणों का संग्रह होना चाहिए। अब तक जो संघ के अधिवेशन हो चुके हैं उनकी रिपोर्टों और स्पीचों का भी संग्रह प्रकाशित करना आवश्यक है। संघ की ओर से एक वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित हुआ करे जिसमें देश-भर के पुस्तकालयों का संक्षिप्त विवरणात्मक परिचय दिया जाय। वह रिपोर्ट देश-भर के दैनिक पत्रों में प्रकाशित करा दी जाय। यदि कुछ दिनों के बाद स्थिति अनुकूल हो जाय जिसकी पूरी सम्भावना है तो संघ का एक मुखपत्र भी निकाला जा सकता है।

हमारी समझ में यह योजना असाध्य नहीं है। हाँ इसमें आवश्यकतानुसार संशोधन हो सकता है। हम संघ के संचालकों का ध्यान इधर आकृष्ट करना चाहते हैं। साथ ही हिन्दी-पत्रकारों और पाठकों से भी हमारा अनुरोध है कि वे संघ की सहायता में यथाशक्ति हाथ बँटावें। इस देश में पुस्तकालयों के संगठन की बड़ी आवश्यकता है। संगठित होकर वे शिक्षा-प्रचार के कार्य को बहुत आगे बढ़ा सकते हैं। ज्ञान की ज्योति का प्रसार करने में पुस्तकालय आधुनिक स्कूल-कालेजों से भी बढ़कर हैं। देश में ज्ञान का आलोक फैलाने के लिए पुस्तकालय ही सर्वोत्तम साधन है। पुस्तकालय की उपयोगिता को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। यदि सच्ची लगन से इस दिशा में काम किया जाय तो आशा है कि देश के धनी-मानी लोग अवश्य ही इधर ध्यान देंगे।

जून १९३२

श्रीकृष्ण और भावी जगत्

मनुष्य को आदि से सुख और शांति की खोज रही है और अंत तक रहेगी मानव सभ्यता का इतिहास इसी खोज की कथा है। जिस जाति ने इस रहस्य को जितना अधिक समझा वह उतनी ही सभ्य और जितना ही कम समझा उतनी ही असभ्य समझी

जाती है। लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से चले। किसी ने योग का मार्ग लिया, किसी ने तप का, किसी ने भक्ति का, किसी ने ज्ञान का, किन्तु त्याग सभी मार्गों का स्थायी लक्षण था। 'निवृत्ति' की दुहाई सभी दे रहे हैं। सुख का मूल निवृत्ति है, सब ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया। मोक्ष आवागमन के बन्धन से छूट जाना सुख और शान्ति की चरम सीमा है। मोक्ष-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्गों पर दीपक सब के लिए एक है—निवृत्ति।

इसका परिणाम क्या हुआ? जिसे धर्म का अनुराग हुआ उसने संसार और संसार के व्यापार से मुँह मोड़कर जंगल की राह ली। कर्म बन्धन है, कर्म से भागो नहीं। यह बन्धन पृथ्वी में बाँध देगा। तपोवन आबाद हो गये। आज भी मोक्षार्थी उसी धर्म-तत्त्व पर मग्न हैं। बुद्ध ने भी निवृत्ति को ही प्रधान रखा, जैन मत में भी इसी तत्त्व को प्रधानता रही। भिक्षुओं के विहार बस्ती से दूर बने और वहाँ निर्वाण-पद प्राप्त होने लगा। ईसाई धर्म में भी पोप का राजाओं पर आधिपत्य हुआ, आश्रम बने और धर्मी लोग बस्ती से दूर जंगल में रहने लगे। इस्लाम ने भी यही शिक्षा दी कि दुनिया से दिल न लगाओ। शंकर, रामानुज, वल्लभाचार्य सभी निवृत्ति मार्ग के उपासक रहे और यदि जन-साधारण उस मार्ग पर चलने लगते तो आज संसार से मानव-वंश मिट गया होता। किन्तु काम, क्रोध, मोह, लोभ ने मोक्ष प्राप्ति की निवृत्ति में सदा बाधा डाली। यह गौरव भगवान् कृष्ण को ही है कि उन्होंने निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों को संयुक्त कर दिया। प्रवृत्ति-युक्त निवृत्ति और निवृत्ति-युक्त प्रवृत्ति के आदर्श की सृष्टि की। कर्म करो लेकिन उसमें बँधो मत। कर्म बन्धन नहीं है, कर्म से फल की आशा रखना बंधन है। अनासक्त जो कर्म किया जाय, जो निष्काम हो, उससे बन्धन नहीं होता। वही सुख और शान्ति का मूल है।

सोचिए कितना महान् सत्य है! कितना मौलिक आदर्श! निवृत्ति मानव स्वभाव से मेल नहीं खाती। उसके मार्ग पर चलनेवाले विशिष्ट जन ही होंगे। जन-साधारण के लिए वह मार्ग नहीं है। फिर उनके लिए धर्म का क्या आदर्श रह जाता है। वर्णाश्रम धर्म पर चलना। यहीं ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न हो जाता है। निवृत्ति-मार्ग का पथिक कर्म के बंधन में फँसे हुए प्राणियों से अपने को यदि ऊँचा नहीं तो पृथक् अवश्य समझता है। कर्म मनुष्य के लिए स्वाभाविक क्रिया है। आँखें हैं तो देखेगा, पाँव हैं तो चलेगा, पेट है तो खायेगा। कर्म के पूर्ण बहिष्कार की तो कल्पना भी नहीं हो सकती। समाधि भी तो कर्म है। मौन रहना भी कर्म है। सोचना भी कर्म है, नित्य कर्म हो या निमित्त कर्म, प्राणी कर्म के फंदे से नहीं निकल सकते। फिर कर्म सदैव बंधन ही क्यों हो। उससे परमार्थ भी तो किया जा सकता है, सेवा भी तो की जा सकती है। तब यह निकला कि त्याग भाव से कोई कर्म न किया जाय वरन् जितने कर्म हों अनासक्त भाव से निष्काम भाव से ही किये जायें। यहाँ कर्म का आनन्द तो मिलता है, कर्म से उत्पन्न होनेवाला दुःख नहीं मिलता। न कोई भेद है न द्वेष है। कर्म में पुरुषार्थ भी तो है।

लेकिन कर्मयोग के मार्ग पर बने रहना छोटी बात नहीं है। जंगल में समाधि लगाकर बैठ जाना उतना कठिन नहीं है जितना कर्तव्य की वेदी पर अपना बलिदान करना। अपने कर्मों में हानि या लाभ से उदासीन रहना वीरों का ही काम है। और ऐसे कर्मयोगी संसार में विरले ही होते हैं। ममत्व के पंजे से निकलना सिंह के मुँह से निकलना है। समय-समय पर ज्ञानी पुरुष अवतरित होते रहते हैं और ममत्व के बंधन को दुःख के मूल को तोड़ने का उद्योग करते हैं पर यह बंधन झटके पाकर कुछ और दृढ़ होता जाता है। यहाँ तक कि आज इस संसार में ममत्व का एकछत्र राज्य है। भारतीय ममत्व पर कुछ रोक थी कुछ निग्रह था क्योंकि वह अपने परम्परागत संस्कारों से अपने को मुक्त नहीं कर सकता था। बुद्ध और अशोक जैसे चरित्र जो प्रभुता को लात मारकर ज्ञानार्जन के लिए निकल पड़े हों संसार में मुश्किल ही से मिलेंगे। भारत की संस्कृति धर्म की भित्ति पर खड़ी की गयी थी। हमारे समाज और राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था धर्म पर अवलम्बित थी। लेकिन पाश्चात्य देशों में धर्म को जीवन से पृथक् रखा गया जिसका फल यह हुआ कि आज संसार में जीवन-संग्राम ने प्रचण्ड रूप धारण कर रखा है। और यह ईश्वरहीन सभ्यता किसी संक्रामक रोग की भाँति फैलती जा रही है। जातियों और राष्ट्रों में अविश्वास है, आपस में संघर्ष। स्वामी और मजूर अमीर और गरीब में भीषण युद्ध हो रहा है। धन और प्रभुता की तृष्णा एक विकराल जंतु की भाँति समस्त सभ्य संसार को निगलती चली जा रही है। उद्धार की जो युक्तियाँ सोची जाती हैं वह फलीभूत नहीं होतीं। हरेक राष्ट्र सशस्त्र दूसरे की गरदन दबा बैठने की घात में लगा हुआ है। निर्बल जातियाँ उनके पैरों के नीचे पड़ी अंतिम साँसें ले रही हैं। मनुष्य एक मशीन बनकर रह गया है। जीवन में कृत्रिमता बढ़ती जाती है। सम्पदा के पीछे संसार पागल हो रहा है। उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार के बंधन नहीं बलवान राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों का बलवान व्यक्ति निर्बल व्यक्तियों का गला दबा रहे हैं। संघर्ष की व्यापक ध्वनि सुनायी दे रही है। कहीं शांति नहीं कहीं सुख नहीं। ईश्वरहीन उद्योग में शांति कहाँ। हम नहीं समझते कि किसी युग में स्वार्थ का इतना प्राबल्य था। विचारवान लोग कह रहे हैं कि यह प्रलय का लाभ है, यह संघर्ष एक दिन अग्नि की भाँति फैलकर सारे राष्ट्रों को भस्म कर डालेगा।

ऐसे समय में संसार के उद्धार का एक ही उपाय है और वह है कर्मयोग। इसी तत्व को सम्मुख रखकर हम ममत्व स्वार्थ और संघर्ष के पंजे से छूट सकते हैं। स्वार्थ का विलुप्त होना ही प्रेम का प्रसार है, उसी भाँति जैसे अन्धकार का हटना ही प्रकाश है। हिंसा और अप्रेम से भरा हुआ संसार पंगु हो रहा है। हिंसामय अमर्तन्त्र और हिंसा मय एकतंत्र में विशेष अन्तर नहीं है। आधिभौतिकवाद के धर्महीन तत्वों से संसार का उद्धार न होगा। उसमें अध्यात्मवाद की स्फूर्ति डालनी पड़ेगी। आधिभौतिकवाद योरोप का आविष्कार नहीं। हमारे यहाँ चार्वाक् के सिद्धान्त भी उसी पक्ष का प्रतिपादन करते

है। पर योरोप का ईश्वरहीन सुखवाद ही आज संसार पर आधिपत्य जमाये हुए है। 'अधिकांश प्राणियों का अधिक से अधिक उपकार' सिद्धान्त रूप से निर्दोष है लेकिन जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि 'उपकार' से क्या अभिप्राय है तब तक इस मत का भारत समर्थन नहीं कर सकता। जिस तरह 'उपकार' शब्द का व्यवहार किया जा रहा है उससे तो यही विदित होता है कि 'उपकार' का आशय स्वार्थ के सिवाय और कुछ नहीं। यह स्वार्थ-बुद्धि वर्तमान जगत को संग्राम का क्षेत्र बनाये हुए है। समाज में जो विषमता फैली हुई है उसका कारण यही स्वार्थोपासना है। जब तक कर्मयोग के तत्व व्यवहृत न होंगे संसार स्वार्थ के पंजे में दबा पड़ा रहेगा। कर्मयोग ही वह तत्व है जो स्वार्थ को मिटाकर परार्थ की ध्वजा फहरायेगा। योरोप में कांट हीगेल शॉपेनहार आदि दार्शनिकों ने अध्यात्मवाद के बीज बो दिये हैं। अमेरिका में वेदान्त-तत्वों का जिस उत्साह से स्वागत किया जा रहा है, भारत के धर्मोपदेशकों और दार्शनिकों का वहाँ जो सम्मान हो रहा है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि हवा का रुख किधर है। यही लोग जो स्वार्थ के सब से बड़े उपासक हैं उससे अब विरक्त-से होते जा रहे हैं। विचारशील मनुष्य *प्रत्येक राष्ट्र में बाह्य व्यवहारों से पराङमुख होता जा रहा है।* योरोप ने अपनी परम्परागत संस्कृति के अनुसार स्वार्थ को मिटाने का प्रयत्न किया है और कर रहा है। समष्टिवाद और बोलशेविज्म उसके वह नये आविष्कार हैं जिनसे वह संसार में युगान्तर कर देना चाहता है। उनके समाज का आदर्श इसके आगे और जा ही न सकता था। किन्तु अध्यात्मवादी भारत इससे संतुष्ट होनेवाला नहीं। वह अपने परलोक को ऐहिक-स्वार्थ पर बलिदान नहीं कर सकता। वह अध्यात्मवाद से भटककर दूर जा पड़ा था जिसके फलस्वरूप उसे एक हजार वर्ष तक गुलामी करनी पड़ी। अबकी वह चेतेगा तो संसार को भी अपने साथ जगा देगा और उस व्यापक भ्रातृभाव की स्थापना करेगा जो संसार के सुख और शान्ति का एकमात्र साधन है। अबकी इस जागृति में ऊँच-नीच छोटे-बड़े का भेद मिट जायगा। समस्त संसार में अहिंसा और प्रेम का जयघोष सुनायी देगा और भगवान कृष्ण कर्मयोग के जन्मदाता के रूप में संसार के उद्धारकर्ता होंगे।†

---

†यह लेख मुंशी जी के कागजों में उन्हीं के हस्ताक्षर में मिल गया। पता नहीं क्यों छपने के लिए कहीं भेजा नहीं गया या संभव है कहीं किसी अज्ञात पत्र में छपा हो। कब लिखा गया कहना मुश्किल है पर थोड़ा पुराना ज़रूर लगता है।—सं

तसवीर के दो रुख़

हमें बेचारे महाशय दामोदर लाल के साथ बड़ी सहानुभूति है। हम तो यहाँ के रईसों और अमीरों का सदाचार देखकर समझ रहे थे कि वह मसनवीपन जिससे काव्य और महाकाव्य बनते थे भारत से विदा हो गया अब केवल विस्की और विस्की आदमी रह गये हैं और अब हम किसी महाकाव्य के प्रादुर्भाव से निराश हो जाना पड़ेगा क्योंकि आखिर पुराने जमाने के दुष्यन्त और अर्जुन और विक्रम की कथाएँ कहाँ तक चलेंगी और फिर पुराने जमाने की बातें आप कितनी ही नयी भाषा में और रहस्यवाद की कविता में लिखिए उसमें आप नयापन तो नहीं ला सकते। लेकिन महाशय दामोदरलाल जी का शुक्र अदा करें। उन्होंने एक अच्छे महाकाव्य की सामग्री जुटा दी और साहित्य-समाज को उनका इतज्ञ होना चाहिए। उनके साथ ही श्रीमती रत्नप्रभा देवी को भी धन्यवाद देना चाहिए कि उन्होंने दामोदर लाल जी के हृदय में ऐसे क्लासिकल प्रेम की सृष्टि की। गुमनाम ने यही पाट अदा किया मगर कितनी खूबसूरती के साथ, कितनी सीवाल्मेन्ट के साथ। हमा ने वही पार्ट अदा किया मगर जिस नैतिक साहस का इस अवसर पर परिचय दिया है और प्रेम के लिए जितना महान् बलिदान किया है वह हुस्न और इश्क के स्टेज पर भी रोज-रोज नहीं नजर आता। अन्त के बारे में हम चिन्ता नहीं। जो विवाह वेद और शास्त्रों और बाजे-गाजे के साथ होते हैं उन्हीं का अन्त क्या सदैव शुभ ही होता है? अगर हमा चतुर है और उसके चतुर होने में किसी काफिर को ही शक हो सकता है क्योंकि उसने तजरबे के पाठशाला में यह शिक्षा प्राप्त की है, तो कोई वजह नहीं कि उसका अन्त मुबारक न हो। दामोदर लाल में गद्दी छोड़ दी सही। मगर अठारह लाख सालाना की गद्दी का वारिस हारे बरसों भी लाख दो लाख दरकार ही सकता है और क्या वह मठ के पूरे अलावन को लाख-हारे के महन्त को लाख में अठारह लाख देते हैं उसी महन्त के बच्चे के प्रति अपनी श्रद्धा दिखायेंगे। असम्भव! फिर हमा ने कुछ कम त्याग नहीं किया। वह विवाह के पहले सैण्ट्रल-सम्भ्रान्त की दीक्षा लाख हारे के महन्त से ले चुकी थी और महन्त को भी सेवा में पाँच हजार की भैंसी भेंट कर चुकी थी। वह कच्ची गोलियाँ नहीं खेली है। हाँ दामोदर लाल जी के विषय में हमें कुछ सन्देह है लेकिन हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि जिस तरह आज हम उनकी सराहना कर रहे हैं अगर खुदा न ख्वास्ता कोई अवसर आया तो इतनी ही तत्परता से उनके साथ सहानुभूति भी प्रकट करेंगे।

॥ तसवीर के दो रुख़ ॥

२७ मार्च १९३३

अभिवादन

जिसके सामने सारा भारत किसी न किसी रूप में सिर झुकाता है, जिसे आस्तिक और नास्तिक, साधु और गृहस्थ, ज्ञानी और भक्त, संन्यासी और कर्मयोगी समान रूप से पूज्य मानते हैं, उसी की शुभ जन्म-तिथि के उत्सव में हम भी दर्द भरा दिल और आँसू भरी आँखें लिये आनन्द मनाने आये हैं ।

भगवन्, हम अपना रोना सुनाकर आप का मन व्यथित न करेंगे । हमारे पास में फूल, धूप, दीप, नैवेद्य जो कुछ है, वह आपके चरणों पर अर्पित है । भक्त की इतनी मानरक्षा तो कीजियेगा ही । फिर इन्द्र लोक हो या क्षीरसागर, जाकर आराम के सुख भोगिये । जब आप हमारी करुण-कहानी सुनना नहीं चाहते तो हम भी नहीं सुनाना चाहते । जब तक हैं आप की पूजा करते हैं, जब न रहेंगे तो क्या होगा कौन जाने । आपके लिए हमारे-जैसे असंख्य हैं, हमारे लिए तो आप एक ही हैं । आप हमें विस्मृत कर दें, हमारे तो रोम-रोम में अणु-अणु में आप विराज रहे हैं, हम आपको कैसे भुला दें ।

आप ने गीता का उपदेश देकर समझ लिया कि उससे अनन्तकाल तक हमें जीवन बल और ज्ञान मिलता रहेगा । क्या आपने यह सोचने का भी कष्ट उठाया कि उस उपदेश पर चलने की योग्यता भी हम में है या नहीं ? आप तो अन्तर्यामी हैं । अगर वह योग्यता हम में न थी, तो क्या आप उसे प्रदान न कर सकते थे ? आप में यह सामर्थ्य नहीं है, तो क्या हमें इस धोखे में डालना चाहते हैं ? सूर्य मेघों की आड़ में छिपकर यह कहने का साहस रखता है कि उसमें प्रकाश नहीं ? फिर क्या हम उस योग्यता के अधिकारी न थे ? भिक्षा का अधिकारी भिक्षुक के सिवा कोई और भी होता है भगवन्— लेकिन क्यों गिला करें ! आप समर्थ हैं, आपको दोष देना छोटे मुँह बड़ी बात है । हमीं दुर्बल हैं, हमीं दोषी हैं, हमीं अभागे हैं । योगेश्वर को अपने-पराये से क्या प्रयोजन ! मोह और वात्सल्य तो मानवी दुर्बलता है । मेघ का काम तो बरसना है, उसे इससे क्या मतलब कि पृथ्वी की प्यास बुझती है या किसी अभागे की मड़ैया बहती है । आपने अमर-ज्ञान की वर्षा कर दी, हम उसे नहीं हृदयंगम कर सके तो आपका क्या दोष ? माता बालक के सामने भोजन रख देती है, वह खाता है या नहीं उसे इससे क्या मतलब ! यही तो निर्मम ज्ञान है । लेकिन ऐसी माता कितने दिनों माता कहलाने का गर्व करेगी ? हमारा क्या बिगड़ा ? हम तो वायु के कण थे । फिर वायु में मिल जायेंगे । दुःख है तो यही कि आप के नाम को कलंक लगेगा । आपको कुछ मालूम है आप की इस जन्मभूमि में जहाँ आपने रास-क्रीड़ा की थी और योग साधन भी किया था क्या हो रहा है ? उसकी दशा आँखों से देखकर भी क्या आपको चोट नहीं लगती ? आपकी इस निष्ठुरता

का रहस्य तो यही नहीं है कि हम आपकी नजरों से गिर गये। और क्या इसमें सारा दोष हमारा ही है? तो अब आप ही बताइए हम किसकी शरण जायें! शायद आपने यह उपदेश देकर पृथ्वी को स्वर्ग बनाना चाहा था पर पृथ्वी-पृथ्वी बनी हुई है, जहाँ हिंसा स्वार्थ और अपहरण का राज्य है। आपसे यही प्रार्थना करने की धृष्टता करते हैं कि या तो इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाइए, या हमें इस पृथ्वी पर अपने अस्तित्व को बनाये रखने की शक्ति दीजिए और या या......संसार में हमारा निशान ही क्यों रहे?

अगस्त १९३३

राहु के शिकार

साल में दो-चार बार सूर्य और चन्द्र पर राहु के हमले होते हैं पर जिन पर हमले होते हैं उनका तो बाल भी नहीं बाँका होता हाँ सौ दो सौ आदमियों पर उनका क्रोध उतर जाता है। जिस पेट में सूर्य और चन्द्र को निगल जाने की शक्ति है वह तो भूमण्डल के निवासियों को इस तरह चट कर सकता है जैसे ऊँट के मुँह में जीरा। सौ दो सौ को ही निगल कर वह सन्तोष कर लेता है, यह उसकी भलमनसी है। ग्रहण स्नान और सोमवती स्नान और लाखों तरह के स्नानों की बला हिन्दुस्तान के सिर से कभी टलेगी भी या नहीं समझ में नहीं आता। आज भी संसार में ऐसे अन्धविश्वास की गुंजाइश है तो भारत में। अब भी करोड़ों आदमी यही समझते हैं कि सूरज भगवान और चन्द्र भगवान पर संकट आता है और उस संकट पर गंगा स्नान करना प्रत्येक प्राणी का धर्म है। कितने अच्छे खासे पढ़े-लिखे लोग भी इतनी आस्था में गंगा में डुबकियाँ लगाते हैं मानों यही स्वर्ग द्वार हो। लाखों आदमी अपनी गाढ़े पसीने की कमाई खर्च करके धक्के खाकर पशुओं की भाँति रेल में लादे जाकर, रेले में जानें गँवाकर नदी में डूबकर स्नान करते हैं केवल अन्धविश्वास में पड़कर। कितने बच्चे और स्त्रियाँ खो जाती हैं कितनी गुंडों के हथकण्डों का शिकार हो जाती हैं कितनों के गहने लुट जाते हैं इसका हाल तो दैव ही जाने। पुराने जमाने में जब लोग पैदल यात्रा करके स्नान करने जाते थे तो इस यात्रा का कुछ महत्व भी था। मार्ग में बहुत कुछ अनुभव हो जाता था। नदियों के तट पर धर्मोपदेश सुनने का अवसर मिल जाता था। अब वह सब तो कुछ न रहा केवल पैसे गँवाकर भाँति-भाँति के कष्ट सहना रह गया है। अगर धनी लोग ही यह पुण्य लूटने जाते तो कोई बात न थी। रोना तो यह है कि अधिकतर दरिद्र ही जाते हैं महाजन से रुपये कर्ज लेकर या चोरी से रेल में बैठकर। न जाने यह मिथ्या भ्रम भारत का गला कब छोड़ेगा!

अगस्त, १९३३

अजमेर में श्रीदयानन्द-निर्वाण अर्धशताब्दी

ऐसा तो भारतवर्ष में शायद ही कोई हो जो अजमेर में अर्धशताब्दी के उत्सव का विरोधी हो। ऐसे उत्सवों से राष्ट्र में जागृति और उत्साह उत्पन्न होता है और अपने उद्धारकों की यादगारी मनाना सभ्य राष्ट्रीय जीवन का एक अंग है। यों तो हर नगर में आर्य समाज के सालाने जलसे होते रहते हैं और गुरुकुल के उत्सवों में भी समाज के मुख्य कार्य-कर्ताओं में विचार विनिमय होता ही रहता है पर स्वामी जी के निर्वाण के पचास वर्ष बीत जाने पर यह आवश्यक है कि जिस संस्था को उस महान पुरुष ने जन्म दिया उसके प्रमुख नेता एक साथ बैठकर यह विचार करें कि जिस मार्ग पर वे अपनी संस्था को ले जा रहे हैं वही वर्तमान दशा में सबसे अच्छा मार्ग है या उसमें कुछ रद्दो बदल करने की जरूरत है। और अगर जरूरत है तो क्या है। इस उत्सव के लिए भाँति-भाँति के मनोरंजनों और तमाशों का प्रबन्ध करना उस अवसर के महत्व को घटा देना है। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि इन तमाशों के बगैर उत्सव सफल ही न होगा। उसके साथ ही हम देखते हैं कि वहाँ कई ऐसे खर्च हैं जो किसी सिद्धान्त से भी उचित नहीं सिद्ध किये जा सकते। मसलन हमें ज्ञात हुआ है कि वहाँ हवन में दस हजार खर्च करने का निश्चय किया गया है। देश में जब ऐसी आर्थिक दशा फैली हुई है कि करोड़ों मनुष्यों को एक वक्त सूखा चना भी मयस्सर नहीं दस हजार का घी और सुगन्ध जला डालना न धर्म है, न न्याय। हम तो कहेंगे यह समाज के प्रति अपराध है। क्या इस रुपये का इससे अच्छा कोई खर्च न निकाला जा सकता था? बेशक इतना शानदार हवन देश में एक विलक्षण बात होगी। जो लोग हवन-कुण्ड के चारों ओर बैठे यज्ञ-कर्ता बने हुए घी के कुप्पे के कुप्पे आग में झोंकेंगे उन्हें और तमाशाइयों को एक प्रकार की सनसनी अवश्य होगी पर उस सनसनी की इतनी कीमत बहुत ज्यादा है। धार्मिकता भी खास हालतों में आपत्तिजनक हो जाती है।

अक्टूबर, १९३३

महात्मा जी का बौद्ध मिशनरी को जवाब

उस दिन महात्मा गांधी ने उस बौद्ध का बड़ा अच्छा जवाब दिया जो चीन से आया है और भारत में बौद्ध धर्म प्रचार करना चाहता है। महात्मा जी ने कहा हिन्दू धर्म में बौद्ध धर्म का बहुत कुछ अंश मिला हुआ है और बुद्ध के सच्चे भक्त भारत में ही हैं। बुद्ध ने भगवान के सिद्धांतों का प्रचार किया उनका प्रचार जितना ही किया जाय उतना ही अच्छा सच यही है कि बौद्ध धर्म के सच्चे सिद्धांतों का प्रचार किया जाय

उसके उन मिथ्या विश्वासों का नाश जो हरेक धर्म के साथ उसी तरह निकल आते हैं जैसे धान में पौधों के साथ घास निकल आती है। और धर्म के प्रचार का साधन वही है जो महात्मा जी ने बतलाया। उदाहरण—बौद्ध-जीवन के सच्चे आदर्श का पालन ही बौद्ध-धर्म का प्रचार है।

१६ अक्टूबर १९३३

स्थानीय रामकृष्ण सेवाश्रम

काशी के रामकृष्ण सेवाश्रम के द्वारा विगत बत्तीस वर्षों से दीन दुखियों की सेवा शुश्रूषा हो रही है। इस आश्रम के तेईसवें वर्ष के कार्य-विवरण से प्रकट होता है कि इसके अस्पताल में सोलह सौ सात रोगी अच्छे होने पर अस्पताल से चले गये। कुल एक सौ अठासी रोगियों की मृत्यु हो गयी। इतनी अधिक मौतों का कारण यह है कि अस्पताल में जो रोगी भर्ती होते हैं, वे अधिकतर बहुत बूढ़े या कमजोर या असाध्य रोगों से पीड़ित होते हैं। अक्सर तो ऐसे ही रोगी भर्ती होते हैं जो मृत्यु के निकट होते हैं। अस्पताल में रोगियों की रोजाना औसत तादाद एक सौ अठारह रही। अक्सर सड़कों गलियों और घाटों पर ऐसे रोगी पाये जाते हैं जिनकी खबर लेनेवाला कोई नहीं होता। अस्पताल में दो सौ सोलह रोगियों की सेवा-शुश्रूषा तथा उनकी सब प्रकार की सहायता की गयी। अस्पताल में भर्ती हुए रोगियों के सिवाय भी बहुत से रोगियों को आश्रम के दवाखानों की ओर से दवाइयाँ दी गयीं। ऐसे रोगियों की संख्या एकतालीस हजार चार सौ नौ थी। ऐसे रोगियों की रोजाना औसत तादाद दो सौ अठानबे रही। आश्रम की ओर से गरीबों की अन्य कई प्रकार की सहायता की गयी है। गत वर्ष कुल आय तिरसठ हजार एक सौ सतहत्तर रु० और व्यय छप्पन हजार आठ सौ छिहत्तर रु० था। इसमें आने पाई के अंक छोड़ दिये गये हैं। आश्रम के प्रधान निरीक्षक स्वामी नरोत्तमानन्द, सभापति राजा सर मोतीचन्द, कोषाध्यक्ष श्री बलदेवदास, मन्त्री राय गोविन्दचन्द और स्थानापन्न सहायक मन्त्री स्वामी सत्यानन्द हैं। समिति को सेवा का क्षेत्र बढ़ाने के लिए और भी धन की आवश्यकता है। हाल ही में आश्रम का वार्षिकोत्सव कलकत्ता के हाईकोर्ट के जस्टिस श्रीमन्मथनाथ मुकर्जी के सभापतित्व में हुआ था। उस अवसर पर ढाका के एक सज्जन ने एक हजार रुपये का गुप्त दान और हुगली जिले की श्रीमती कमलेश्वरी दत्त ने पाँच सौ रुपये का दान किया था। यह संस्था दीन-दुखियों की वास्तविक सेवा कर रही है। आशा है कि जनता इसकी पूरी सहायता करेगी जिससे यह और अधिक सेवाकार्य करने में समर्थ हो सके। ईश्वर-पूजा का सर्वोत्कृष्ट मार्ग दीन-दुखियों और असहाय दीन रोगियों की सेवा शुश्रूषा है और वह रामकृष्ण सेवाश्रम के द्वारा सुचारु रूप से हो सकता है।

२० नवम्बर १९३३

विदेश यात्रा और प्रायश्चित्त

एक जमाना था कि भारत के भिक्षुओं ने विदेश-यात्रा करके अपने देश और धर्म का गौरव बढ़ाया था। फिर पाखंड का यह चक्र चला कि विदेश जाना पाप हो गया। और आज भी ऐसे उदाहरण आये दिन मिलते रहते हैं कि लोग विदेश से लौट कर प्रायश्चित्त करने के लिए काशी दौड़ते हैं। इस बीसवीं सदी में ऐसा ढकोसला भारत-जैसे पाखंड-प्रधान देश के सिवा और कहाँ हो सकता है, और भारत अध्यात्मवाद का केन्द्र है। आज भी यहाँ के अध्यात्मवादी लोग विदेश जाना पाप समझते हैं और उसके प्राय-श्चित्त-स्वरूप गोबर खाते हैं, सिर मुड़ाते हैं और भोज देते हैं। इस धर्मान्धता और पाखंड-लिप्सा पर आँसू बहाने की इच्छा होती है। इसी विषय पर 'प्रिय' जी ने यह मोटी 'आज' में एक बड़े मजे का नोट लिखा है। आप प्रायश्चित्त की व्याख्या करने के बाद कहते हैं—

'आप अगर समझते हैं कि विदेश यात्रा कोई पाप नहीं तो आपका यह कर्तव्य हो जाता है कि इसके लिए प्रायश्चित्त का दबाव डालनेवालों को आप निर्भीकता के साथ दिखा दें कि आप में पाखण्ड के विरुद्ध युद्ध करने की शक्ति का अभाव नहीं है। और अगर आप ऐसा नहीं कर सकते या स्वयं भी इस प्रकार के पाखण्ड में विश्वास रखते हैं, तो फिर आपका यह कर्तव्य हो जाता है कि आप विदेश जाने के पाप से ही अपने को बचाये रहें।'

इसी पाखण्ड ने और इन्हीं पाखण्डियों ने भारत को चौपट किया और आज भी उनका वैसा ही पाखण्ड राज है।

जनवरी १९२४

अच्छी और बुरी साम्प्रदायिकता

इंडियन सोशल रिफ़ार्मर अंग्रेजी का समाज सुधारक-पत्र है और अपने विचारों की उदारता के लिए मशहूर है। डाक्टर आलम के ऐंटी-कम्युनल लीग की आलोचना करते हुए, उसने कहा है कि साम्प्रदायिकता अच्छी भी है और बुरी भी। बुरी साम्प्रदायिकता को उखाड़ना चाहिए। मगर अच्छी साम्प्रदायिकता वह है, जो अपने क्षेत्र में बड़ा उपयोगी काम कर सकती है, उसकी क्यों अवहेलना की जाय। अगर साम्प्रदायिकता अच्छी हो सकती है, तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, मक्कारी भी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि पराधीनता में जिम्मेदारी से बचत होती है मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता है और झूठ से दुनिया को ठगा जाता है। हम तो

साम्प्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं जो हर एक संस्था में दलबन्दी कराती है और अपना छोटा-सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।

जनवरी १९३४

जाति भेद मिटाने की एक आयोजना

बम्बई के मि० बी० जाधव ने वर्तमान भेद भाव को मिटाने के लिए यह प्रस्ताव किया है कि सभी हिन्दू-उपजातियों को ब्राह्मण कहा जाय और हिन्दू शब्द को उड़ा दिया जाय जिससे भेद भाव का बोध होता है। प्रस्ताव बड़े मजे का है। हम उस दिन को भारत के इतिहास में मुबारक समझेंगे जब हरिजन सभी ब्राह्मण कहलायेंगे मगर मि० जाधव का प्रस्ताव चले या न चले (चलने की दूर भविष्य में भी आशा नहीं) लेकिन हवा का रुख कह रहा है कि दस-बीस साल में यह सारी जातियाँ जिन्हें शूद्र कहा जाता है ब्राह्मण नहीं तो क्षत्री अवश्य बन चुकी होंगी। और क्षत्री से ब्राह्मण बनना केवल उनके एक दम उछलने का काम है। सरकार भेद-भाव मिटाने में सहायता क्या देगी उसे तो उसके स्थायी रखने में जैसे कोई विशेष आनन्द आता है। स्कूल में लड़के का नाम लिखाने जायें तुरन्त उसकी जात लिखानी पड़ेगी। जहाँ हिन्दू नाम आया वहीं उसकी जात अनिवार्य रूप से आ जाती है। जन-गणना में तो हमारे बड़े-बड़े सिविलियन समाज-शास्त्र के पण्डित जातियों में नयी-नयी खोज करके और मुर्दा छिपी जातियों का आविष्कार करके अपना नाम अमर कर लेते हैं। हिन्दू खुद जाति-भेद का जितना भक्त है, सरकार इस बात में उससे कोस भर आगे बढ़ी हुई है। और हमारा तो कहना ही क्या हम तो पहले कायस्थ या ब्राह्मण या वैश्य हैं पीछे आदमी। किसी से मिलते ही हम पहला सवाल यही करते हैं कि आप कौन साहब हैं। ग्रामीणों में भी यही प्रश्न पूछा जाता है—कौन ठाकुर? अगर वह अपनी सजाति हुआ तो उनके लिए चिलम भी है, तमाखू भी है वरना उसमें हम कोई दिलचस्पी नहीं रखते। और हम जितने गर्व से अपने को शर्मा वर्मा तिवारी चतुर्वेदी लिखते हैं कि क्या पूछना? यह इसके सिवा क्या है कि भेद भाव हमारे रक्त में सन गया है और हममें जो पक्के राष्ट्रवादी हैं वे भी अपनी साम्प्रदायिकता का बिगुल बजाकर फूले नहीं समाते वरना इसकी जरूरत ही क्या है कि हम अपने को चतुर्वेदी या त्रिवेदी कहें। खासकर उस दशा में कि हमने वेद की सूरत भी नहीं देखी और इसमें भी सन्देह है कि हमारे पूर्वजों ने भी कभी वेदों के दर्शन किये थे।

फरवरी १९३४

रूस में धर्म विरोधी आन्दोलन

रूस में इन दिनों ईश्वर द्रोही सोवियट सरकार ने फिर जोरों से ईश्वर के विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया है। इधर उसके अनीश्वरवादी प्रोपेगैंडा मे कुछ सुस्ती आ गयी थी जिसका नतीजा यह हुआ कि जो गिरजे बन्द कर दिये गये थे वह फिर खुल गये और जनता मे धर्म चर्चा फिर बढ़ गयी। दुनिया म इस पर चाहे जितना शुल मचे मगर हम तो यही कहेंगे कि इसकी जिम्मेदारी सोवियट सरकार पर नहीं उन धर्मोपजीवियों पर है जिन्होंने धर्म के नाम पर नाना प्रकार के पाखण्ड फैला रखे हैं। ईश्वर मन की एक भावना है। उसके लिए मन्दिरो मसजिदों या गिरजाघरो की जरूरत नहीं। वह घट-घट व्यापी है एक-एक अणु में उसकी व्याप्ति है। वह प्रजा की कमायी पर चैन करनेवाला राजा नहीं कि उसे इसकी चिन्ता हो कि लोग उसके विमुख न हो जायें। जो लोग ईश्वर भक्ति की धुन म बड़े-बड़े महल बनवाते हैं कि ईश्वर इसमें रहेगा वे असीम को चारदीवारी मे बन्द करके व्यापक ईश्वर का अपमान करते हैं और जो लोग उसकी प्रतिमा बनाकर उसका शृंगार करते हैं भोग लगाते हैं उसका विवाह करते हैं और उसके नाम की माला जपते हैं वे तो ईश्वर का खिलौना बनाकर ऐसा पाप करते हैं जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। ईश्वर की उपासना का केवल एक मार्ग है और वह है मन वचन और कर्म की शुद्धता अगर ईश्वर इस शुद्धता की प्राप्ति मे सहायक है तो शौक से उसका ध्यान कीजिए, लेकिन उसके नाम पर जो हरेक धर्म म स्वार्थ हो रहा है उसकी जड़ खोदना किसी तरह ईश्वर की सबसे बड़ी सेवा है। और सोवियट सरकार इसी पाखंड का अन्त करना चाहती है। सर्वशक्तिमान ईश्वर से आदमी क्या द्रोह करेगा? गंगा को इसकी क्या परवाह कि कोई उसे फूल चढ़ाता है या थूके। वह दोनों ही को समान रूप से बहा ले जाती है।

मार्च १९२४

हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य—२

लाश की दुर्गति

समाज म कुछ बुराइयाँ ऐसी है जिनके सुधार के लिए शास्त्रों के प्रमाण खोजने पड़ते हैं कुछ ऐसी जिनके लिए कानून म संशोधन कराने की जरूरत है। यह दोनों ही बातें स्पष्ट मालूम है लेकिन कुछ ऐसी बुराइयाँ भी है जिनके सुधार के लिए न शास्त्रीय प्रमाणों की जरूरत है, न कानून की केवल जनता म एक प्रकार के सद्भाव और सुरुचि की और हिन्दू लाशों की दुर्गति उन्हीं म एक है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी हिन्दू के मरते ही

उसके सगे-सम्बन्धियों को उससे लेश-मात्र भी ममता नहीं रह जाती। झटपट बाँस का ठाठ बना शव को रस्सी से कसकर बाँध लोग किसी नदी या मरघट की ओर भाग चलते हैं। अगर किसी अमीर की लाश है तो उस पर रेशमी या शाल का कफन है गरीब की है, तो मामूली लैनगुस का और अनाथ है तो चिथड़े ही उसके कफन के लिए काफी हैं मगर बाँस का ठाठ और रस्सियों का बन्धन अवश्य रहना चाहिए। और लाश को लेकर लोग कितनी उतावली दिखाते हैं कि उसके झोंके में लाश गरदन हिलाती हाथ मटकाती और पाँव उछालती चलती है, अगर इतनी मजबूती से न बँधी हो तो अवश्य ही नीचे गिर पड़े। लाश को धरती पर भी देर तक न रहना चाहिए, लेकिन यह क्या कि जिसको जीते इतने प्यार करते थे मरने के बाद उसके साथ जरा भी मुरौवत जरा भी सौजन्य नहीं दिखा सकते। क्या वह स्वार्थ का ही सम्बन्ध था? और अब उस सम्बन्ध को निभाने की कोई जरूरत नहीं रही? कहा तो जाता है कि मरने पर भी आत्मा देह के पास मँडराती रहती है लेकिन स्वार्थी हिन्दू समाज इसकी बिलकुल परवाह नहीं करता।

और रास्ते में 'राम नाम सत्य है' का वह शोर मचता है कि कुछ न पूछिए। अगर रात का समय हुआ तो सारे मुहल्ले की नींद खुल जाती है। क्या शोर इसलिए मचाया जाता है कि जनता को जीवन की क्षणभंगुरता की याद दिला दी जाय—यह आदमी मर गया इसी तरह एक दिन तुम भी और तुम्हारे अपने भी राम नाम सत्य हो जायेंगे। मृत्यु एक ऐसा कठोर सत्य है जिसको बार-बार याद दिलाने की जरूरत नहीं। सब जानते हैं हम एक दिन मरेंगे। हिन्दू-समाज में मौत का भय और भी अधिक है। अगर कोई मौत का भूल गया है तो वह बड़ा भाग्यवान है। क्यों शोर मचा कर उसको मौत की याद दिला रहे हो। इस शोरगुल से हमारी धार्मिकता का नहीं हमारी हृदय शून्यता का बोध होता है। यह समय इतना गंभीर और यह लीला इतनी मर्मस्पर्शी होती है कि चित्त को कम से कम कुछ देर के लिए अन्तर्मुखी हो जाना चाहिए। जिस समय मूक वेदना और गहरे आत्म चिन्तन और मृतात्मा के प्रति सच्ची शुभ कामना और मृत्यु के रौद्र और घातक तथा अनन्त की कल्पना से हमारे मन को प्रभावित हो जाना चाहिए हम इस तरह भागते और चिल्लाते हैं मानों हम शोक कम और स्वार्थमय भय अधिक है। ईसाइयों और मुसलमानों का देखिए। उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया कितनी शान्त गंभीर, कोमल और सौजन्य पूर्ण होती है। बाँस की टिकटी की जगह या तो लकड़ी का ताबूत होता है या पलंग। शव उस पर बहुत धीरे से लिटा दिया जाता है और ताबूत ले जाने वाले सिर झुकाये बहुत ही आहिस्ता आहिस्ता कब्रिस्तान की तरफ जाते हैं। मातम करने वाले भी उसी शान्ति से जनाजे के पीछे चलते हैं। इस दृश्य का देखनेवालों पर इतना असर होता है कि राह चलते लोग जरा ठिठक जाते हैं। मृत प्राणी के प्रति इन भावों

का यह सम्मान और स्नेह देखकर चित्त प्रसन्न होता है। उसके विपरीत हिन्दू शव की कितनी छीछालेदर होती है कि उसे वीभत्स कह सकते हैं।

यह तो हुई रास्ते की बात। श्मशान का दृश्य तो और भी घृणोत्पादक होता है। वह लकड़ी की चिता शव का उस पर लिटाया जाना वह आग का लपकना वह चिरायन्ध वह भंग-धतूरा लोगों का डंडे लिये चिता की लकड़ियों का उकसाना और शव को उलटना-पलटना वह कपाल क्रिया वह आँतों का फूटकर बाहर निकलना—इतना रोमांचकारी दृश्य है कि जो उसके अभ्यस्त नहीं हैं उन्हें कई दिन तक ग्लानि होती रहती है। इससे बढ़कर शव की क्या दुरशा हो सकती है? यह सौसत देखकर साधारण आदमी मृत्यु से भयभीत हो उठे तो क्या आश्चर्य है अमर मृत्यु नये जन्म का द्वार है, तो इतना भयंकर इतना अमानुषीय क्यों? मृत्यु को इतने नग्न इतने वीभत्स रूप में दिखाकर हम अपनी आत्मा को दुखी करते हैं। क्यों शव दाह का कोई ऐसा विधान नहीं सोचा जाता जिससे मृत्यु हमारे सामने इतने अमंगल रूप में न आवे हम उसका पैशाचिक ताण्डव न देखकर उसका शान्त वैभव देख सकें। अपने ही प्यारों को आँखों के सामने इस दशा में देखकर चित्त में विराग और जीवन से उदासीनता उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

जिस माता के स्तन से हम पले जिन अंगों के स्पर्श म हमने अपार सुख का अनुभव किया जिस बालक को हमने गोद में खिलाया और जिन मित्रों के गले लिपट कर हमने सुख के दिन काटे उन्हीं को यों जलते चिटकते फटते देखना हृदय को कोमल भावनाओं से शून्य कर देता है और शायद यही कारण है कि जीवन में हमारी चाहे जितनी दुरशा हो कितना ही अपमान सहना पड़े हम सब कुछ 'शीर मादर' की तरह पी जाते हैं। क्या अपने प्रियजनों की दुरशा करना भी शास्त्रों म लिखा हुआ है? क्यों ऐसी वीभत्स लीला देखकर भी हममें उसके प्रति घृणा नहीं उत्पन्न होती? रिवाज शास्त्रों से भी ज्यादा दीर्घायु होते है यह सत्य है, लेकिन यह भी सत्य है कि समय के प्रवाह के सामने रिवाजो को हमेशा परास्त होना पड़ा है और कोई वजह नहीं है कि इस विषय म भी सुधार किया जाय। योरप में भी कभी-कभी शव दाह की क्रिया होती है लेकिन यन्त्रों की मदद से वह लीला इतनी जल्द और इतने परिष्कृत रूप से समाप्त हो जाती है कि आत्मा की तरह देह भी क्षण-मात्र म अदृश्य हो जाती है।

इस दुरशा के बाद तब आत्मा की शान्ति का रस्टराग शुरू होता है और तेरहवें दिन बड़ा भोजन से उसकी समाप्ति होती है। धम के नाम पर कैसे-कैसे पाखंड किये जाते हैं वह पिन्डदान और वह महाब्राह्मणों के नखरे और वह बिरादरीवालों का मूर्छों पर ताव देकर दावतें उड़ाना—सारी लीला हिन्दू संस्कृति को हास्यास्पद बना देती है। जीवन-मरण रहन-सहन रस्म-रिवाज से ही हमारी संस्कृति का बोध होता है। अन्य धर्म या जातिवाले हमारे दर्शन ग्रन्थों को और उपनिषदों को पढ़ने नहीं जाते। वे तो

हमारे रहन-सहन को ही देखकर हमारे विषय में धारणा बना लेते हैं। शायद शव-दाह की कुमति देखकर ही कब्रों और समाधियों का रिवाज पड़ा होगा। इस समय जो प्रथा प्रचलित है, उसमें सुधार और सुरुचि की बड़ी आवश्यकता है।

मार्च १९३४

हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य—२

अंधविश्वास

हिन्दू समाज में पुजने के लिए केवल एक लंगोटी बाँध लेने और देह में राख मल लेने की जरूरत है। अगर गाँजा और चरस उड़ाने का अभ्यास भी हो जाय तो और भी उत्तम। यह स्वाँग भर लेने बाद फिर बाबा जी देवता बन जाते हैं। मूर्ख हैं, धूर्त हैं, नीच हैं पर इससे कोई प्रयोजन नहीं। वह बाबा हैं। बाबा ने संसार को त्याग दिया, माया पर लात मार दी और क्या चाहिए। अब वह ज्ञान के भंडार हैं, पहुँचे हुए फकीर, हम उनके पागलपन की बातों में मनमानी बारीकियाँ ढूँढते हैं, उनको सिद्धियों का आगार समझते हैं। फिर क्या है, बाबा जी के पास मुराद माँगनेवालों की भीड़ जमा होने लगती है। सेठ साहूकार अपने पैसे बड़े-बड़े घरों की देवियाँ उनके चरणों को धोने लगती हैं। कोई यह नहीं सोचता कि एक मूर्ख दुराचारी लम्पट आदमी क्योंकर लंगोटी लगाने से सिद्ध हो सकता है। सिद्धि क्या इतनी आसान चीज है। हममें मस्तिष्क से काम लेने की मानों शक्ति ही नहीं रही। दिमाग को तकलीफ नहीं देना चाहते। भेड़ों की तरह एक दूसरे के पीछे दौड़े चले जाते हैं, कुएँ में गिरें या खन्दक में इसका गम नहीं। जिस समाज में विचार मंदता का ऐसा प्रकोप हो उसको सँभलते बहुत दिन लगेंगे।

हमारे इस अंधविश्वास से अपना मतलब निकालनेवालों के बड़े-बड़े जत्थे बन गये हैं, ऐसी कई जातियाँ पैदा हो गयी हैं जिनका पेशा ही है, इस तरह स्वार्थ से भोले भाले भक्तों को ठगना। ये लोग रूप भरना खूब जानते हैं। बाबाओं की पेटेंट शैली में बातचीत करने का और नये-नये हथकंडे खेलने का इन्हें खूब अभ्यास होता है। एक सिद्ध बन जाता है, कई उसके चेले बन जाते हैं और किसी उजाड़ स्थान पर डेरा डाल देते हैं, मानों आदमियों के साथ से भी भागना चाहते हैं, भोग विलास में लिप्त मनुष्यों से किसी तरह का संसर्ग नहीं रखना चाहते। किसी तरह यह अफवाह उड़ा दी जाती है कि बाबा जी पौहारी हैं, केवल एक बार तोला भर दूध पी लेते हैं। एक दिन दो दिन यह मण्डली निष्काम भाव से जंगल में आग लगाये पड़ी रहती है। बस भक्तों का आना

शुरू हो जाता है। बाबा जी संसार मिथ्या है का उपदेश देने लगते हैं, उधर भी शक्कर और आटे की झड़ी लग जाती है लकड़ियों के कट्टे गिरने लगते हैं कुछ भक्त लोग इन त्यागियों के लिए कुटी बनाना शुरू कर देते हैं और सब भक्तों से कहीं अधिक संख्या स्त्री भक्तों की होती है। कोई लड़के की मुराद लेकर आती है, कोई अपने पति को किसी सौतिन के रूप फाँस में से छुड़ाने के लिए। जिन सज्जनों को दो आने रोज की मजूरी भी न जमती वे ही हिन्दुओं के इस अंधविश्वास के कारण खूब तर माल उड़ाते हैं खूब नशा पीते हैं और खूब मौज करते हैं और जसते बक्त सौ-पचास रुपये कोई ब्रह्मभोज कराने या भंडारा चलाने के लिए वसूल कर लेते हैं। समाज सेवा का कोई न कोई आधार यह लोग जरूर खड़ा कर लेते हैं। कोई-कोई मंदिर बनवाने का व्रत ठाने बैठा है, कोई तालाब खुदवाने का कोई पाठशाला खोलने का। और कुछ न हुआ तो तीर्थयात्रा तो है ही। इतनी मूर्तियाँ रामेश्वरम् की यात्रा करने जा रही हैं। हिन्दू-मात्र का कर्तव्य है कि उन्हें रामेश्वरम् पहुँचाये। बिना हर्र-फिटकरी के माल चोखा करने का यह व्यवसाय इतना आम हो गया है कि आज हर पचीस आदमियों में एक साधु है। और ऐसे भिक्षुकों की तो गिनती ही नहीं जो दर दर पर जिन्दगी बसर करते हैं। ज्यादा नहीं तो पचीस करोड़ में पाँच करोड़ तो ऐसे लोग होंगे ही। जिस समाज पर इतने मुफ्तखोरों का भार लदा हुआ है वह कैसे पनप सकता है, कैसे जाग सकता है। ये लोग बार-बार यही प्रयत्न करते रहते हैं कि समाज अंधविश्वास के मद में मूर्च्छित पड़ा रहे, चेतने न पावे। हमें खूब पकापक माल खिलाओ स्वर्ग में तुम्हें इससे भी बढ़िया माल मिलेगा इस हाथ दो उस हाथ लो। स्वर्ग का रूप भी कितना मोहक खींच रखा है कि इन लोगों की कल्पना शक्ति के कुरबान जाइये। मर्त्यलोक में जो कुछ दुर्लभ है वह सब वहाँ गली-गली मारा-मारा फिरता है। ऐसे सुख के लिए किसी भिक्षुक को थोड़ा-सा भोजन करा देना या किसी देवता को जल चढ़ा देना या किसी नदी में एक डुबकी लगा देना कौन खुशी से स्वीकार न करेगा। जब इतनी आसानी से मोक्ष मिल सकता है तो किसी साधना की ज्ञान की सद्व्यवहार की जरूरत ?

और आज बड़ी-बड़ी जमींदारियों के मालिक कितने ही महन्त हैं। उनकी सेन देन की कोठियाँ चलती हैं तरह-तरह के व्यवसाय होते हैं और बहुधा उन्हीं दानियों की सन्तानें जिन्होंने जायदाद महन्तों को दान दी थी आज इन्हीं महन्तों से कर्ज लेती हैं। इनका ठाट बिलास और ऐश्वर्य हमारे राजाओं को भी लज्जित कर सकता है। उस जायदाद का उपयोग अब इसके सिवा कुछ नहीं है कि मुस्टंडे खाँय डंड पेलें और व्यभिचार करें। राष्ट्र के उत्थान या आपत्ति में वे भी एक बहुत बड़ी बाधा हैं। अन्ध विश्वासी जनता अब भी उन पर श्रद्धा रखती है। वे उस एक चुटकी राख से स्वर्ग में दाखिल कर सकते हैं। ऐसी विभूति और किसके पास है ? इन महन्तों के दुराचार, ऐयाशी और पैशाचिकताओं की खबरें कभी-कभी प्रकाश में आ जाती हैं तो मालूम होता

है कि इनका जितना पतन हो गया है, लेकिन मूर्तियों को उन पर बड़ी श्रद्धा है। हम इतने अकर्मण्य हो गये हैं इतने पुरुषार्थहीन कि हमें अपने पुरुषार्थ से ज्यादा भरोसा आशीर्वाद पर है एक प्रकार से हमारी विचार-शक्ति लुप्त हो गयी है। हमारे तीर्थस्थान क्या हैं? ठगों के अड्डे और पाखंडियों के अखाड़े। जिधर देखिए धर्म के नाम का बाजार गर्म है। गली-गली मन्दिर गली-गली पुजारी और भिक्षुक पूरे नगर के नगर इन्हीं जीवों से आबाद हैं जिनका इसके सिवा कोई उद्यम नहीं कि धर्म का ढोंग रचकर अहमक भक्तों को ठगें? जब जनता खुद ठगी जाना चाहती है तो ठगनेवाले भी जरूर पैदा होंगे। जरूरत ही तो आविष्कार की माँ है।

क्यों न देश कंगाल हो। जिस समाज पर एक करोड़ कोतल मुफ्त खोरों के भरण-पोषण का भार हो वह न कंगाल रहे तो दूसरा कौन रहे! गरीबों पर भी धर्म का जितना बड़ा टैक्स है उतना शायद सरकार का भी न हो। कोई ग्रहण लगा और जनता तीर्थ स्थानों की ओर दौड़ी। जो कुछ तन-पेट काटकर बचाया था वह सब अन्ध-विश्वास की भेंट चढ़ गया। और आज स्वराज भी मिल जाय और यह भी मान लें कि उस वक्त किसानों से लगान कम लिया जायगा और टक्सों का भार कम हो जायगा फिर भी अन्धविश्वास के सम्मोहन में अचेत जनता इससे ज्यादा सुखी न होगी। तब उसका परलोक प्रेम और भी बढ़ेगा और वह और भी आसानी से पाखंडियों का शिकार हो जायगी। और इस आर्थिक दरिद्रता से बढ़कर इस अन्धविश्वास का फल जनता की बौद्धिक दुर्बलता है जो उसकी सामाजिक उपयोगिता में बाधक होती है। उस नदी में गोता मार लेना या शिवलिंग पर जल चढ़ा देना किसी भाई से सहानुभूति रखने या अपने व्यवहारों में सच्चाई का पालन करने की अपेक्षा ज्यादा फल दायक मालूम होता। उसने असली धर्म को छोड़ कर जिसका मूल तत्व है समाज की उपयोगिता धर्म के ढोंग को धर्म मान लिया है। जब तक वह धर्म का यह असली रूप न ग्रहण करेगा उसके उद्धार की आशा नहीं। शिक्षित समाज के सामने जितनी समस्याएँ हैं उनमें शायद सबसे कठिन यही समस्या है। यहाँ उसे अन्धविश्वास को पोषक प्रबल शक्तियों का सामना करना पड़ेगा जो अनन्तकाल से जनता की विचार शक्ति पर कब्जा जमाये हुए हैं। कितना बीभत्स है वह दृश्य कि एक मोटा-सा जटाधारी जीव धूनी जमाये बैठा हुआ है और एक दर्जन मनुष्य उसके पास बैठे चरस के दम लगाकर अपने जीवन को सफल कर रहे हैं। जनता की मनोवृत्ति जब तक ऐसी है केवल राजनैतिक अधिकारों से उसका कल्याण नहीं हो सकता।

सौभाग्य से अब देश में ऐसे सच्चे सन्यासियों का एक दल निकल आया है जो समाज-सेवा की ओर राष्ट्रीय जागृति को अपना जीवन का ध्येय बनाये हुए हैं लेकिन अभी तक उनसे निकम्मे साधुओं में जागृति उत्पन्न करने के जितने प्रयत्न किये हैं वे सफल नहीं हुए। न जाने कब वह शुभ अवसर आयगा कि हमारा साधु-समाज अपने

जनता को समझ जायगा और यह समझ जायगा कि उसके हाथों में देश को बनाने की कितनी बड़ी शक्ति है।

२६ मार्च १९३४

हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य—३

मंदिरों पर एक दृष्टि

हिन्दू समाज के परम पवित्र तथा माननीय मन्दिरों की ओर दृष्टिपात करने से हृदय कांप उठता है। वहाँ की दशा दयनीय ही नहीं विनाशजनक भी है। जहाँ भक्ति की आग की आत्म-साधन की तथा तपस्या की निर्मल धारा बहाकर लोगों के जीवन को सुन्दर और सुखकर बनाना चाहिए, वहाँ आज दुराचार पापाचार भ्रष्टता तथा कुकर्मों का केन्द्र देखकर आत्मा रो उठती है। उन्हें देखकर एक जोरदार प्रश्न उठता है, कि क्या यही मन्दिर है? क्या यही भगवान् का निवास है?

यह बात अब तक किसी से छिपी नहीं है कि इन मन्दिरों की आड़ में आज बड़े बड़े लज्जा-जनक कृत्य हो रहे हैं। पुजारियों का महन्तों का और धर्म गुरुओं का जीवन भयानक विलासिता से भरा हुआ है। वे मन्दिरों की आड़ में जघन्य से जघन्य कर्म करते नहीं शर्माते। ईश्वर को गाना सुनाकर खुश रखने के लिए उन्हें वेश्याएँ चाहिए। इस बहाने वे अपनी राक्षसी कामना को पूर्ण करते और अपने जीवन को विलास-वासना और पतन के गहरे गड्ढे में डाल देते हैं। तिस पर भी हिन्दू-समाज के लिए वे पूज्य हैं माननीय हैं और देवता-तुल्य हैं, क्योंकि वे पुजारी हैं, महन्त हैं और धर्मगुरु हैं। प्रतिदिन अनेक भोली-भाली तथा धर्मभीरु युवतियाँ पुण्य कमाने के लिए मन्दिरों में पहुँचती हैं और वे उन ईश्वर के प्रतिनिधियों के द्वारा या उनके संकेत-मात्र से गायब कर दी जाती हैं और उनकी काम-वासना की शिकार बन जाती हैं। हिन्दू समाज को यह सब कुछ मालूम है। प्रतिदिन उसकी आँखों के सामने ऐसे दृश्य आते रहते हैं लेकिन वह आँखों पर पट्टी बाँध कर जबान पर ताला लगाकर चुप है क्योंकि आखिर वे लोग धर्म के ठेकेदार हैं।

जहाँ इन पुजारियों तथा धर्मगुरुओं का जीवन सीधा-सादा पवित्र और त्याग तपस्या से पूर्ण रहना चाहिए, वहाँ आज वे इन सब बातों के विपरीत 'सद्गुणों' के भण्डार बने हुए हैं। उनके विषय में क्या कहा जाय। दिखलाने के लिए तो वे बड़े संयमी हैं त्यागी हैं और तप तथा भक्ति के साक्षात् अवतार हैं लेकिन अच्छी तरह देखने पर ही उनका असली रूप प्रकट होता है। उनमें लोभ दम्भ और कपट कूट-कूट

कर मरा हुआ है। यों कहना चाहिए कि उनका चरित्र अद्भुत है। मांस मछली शराब गांजा भंग अफीम आदि चीजों के बिना उनका काम नहीं चल सकता।

अब देश के प्रति उनके व्यवहार पर भी दृष्टिपात कीजिए। वे खद्दर के कपड़ों को स्वप्न में भी देखना पाप समझते हैं। देशी मिलों का बढ़िया कपड़ा उनके कोमल शरीर को चुभता है गड़ता है और उससे उनका शरीर छिल जाता है। उनके लिए तो खास मैंचेस्टर का बना हुआ महीन से महीन मलमल चाहिए। देशी और विदेशी का प्रश्न उनके लिए एक बेवकूफी का प्रश्न है। उनको देशी से क्या मतलब उन्हें देश से क्या सरोकार? वे तो देश के जगद्गुरु हैं महन्त हैं पुजारी हैं। इसलिए वे जन-समाज के लिए पूज्य हैं। उनकी बातों में उनके कामों में किसी को हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार। उनके आनन्द में किसी को विघ्न डालने का बाधा डालने का क्या हक?

और जब देश में कोई अच्छी बात होती है, कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज उठायी जाती है प्रचार किया जाता है, पुरानी और सत्यानाशक रूढ़ियों को मिटा डालने का प्रयत्न किया जाता है, या कोई देश-हितकारी नियम या बिल पास होता है तो ये धर्म के ठेकेदार, समय को न देखते हुए, अपने नीच स्वार्थ-साधन के लिए ऐसे कानून के विरुद्ध अपनी पूरी ताकत लगा देते हैं। जनता-द्वारा दिये हुए रुपयों को जनता के ही विरोधी कार्यों में व्यय करते हैं। रुपयों को पानी की तरह बहाकर वे ऐसे कार्यों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं और देश-हित विरोधी प्रचार करने का प्रयत्न करते हैं। जनता का रुपया जनता के ही विरोध में खर्च करते उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता। संसार के लिए उनका यह काम अनोखा है और कृतघ्नता का एक ज्वलन्त उदाहरण है पर वे अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी देश को सत्पथ पर आने से नहीं रोक सकते क्योंकि उनमें कोई बल नहीं है। शारीरिक मानसिक आत्मिक तथा नैतिक बल के भीषण अभाव ने उन्हें पतन के गहरे गर्त में गिरा दिया है। उनकी बुद्धि को अज्ञान के काले बादलों ने घेर रखा है, इसी कारण वे अपने अहित की बात हित की और हित की बात अहित की समझ रहे हैं। भला सिद्ध हुआ और निःशक्त मनुष्य समय की शक्तिशाली लहर को कैसे रोक सकता है?

मन्दिरों के यह विधातागण नये युग की आवाज को नहीं सुन सकते। नये जमाने की जोरदार लहर के विरुद्ध खड़े होने में उन्हें सुख मिलता है, पर यह निश्चित है कि यदि उन्होंने यही क्रम रखा यदि उनका यही हाल रहा तो वह दिन भी दूर नहीं है जब कि नवीन युग की प्रचण्ड शक्ति उनके अस्तित्व को ही मिटा देगी। यदि उन्हें इस बात पर जरा भी सन्देह हो तो वे अन्य देशों की ओर दृष्टिपात करें। वे यह ध्यान से देखें कि नये जमाने की लहर से दूर रहकर रूस के पुजारियों महन्तों और जगद्गुरुओं

ने क्या फल पाया। यह बात पुरानी नहीं है, कल की है। यह बात उन्हें एक भावी संकट की सूचना दे रही है और उन्हें सावधान कर रही है। तिस पर भी यदि वे नहीं चेते तो जो उनके भाग्य में लिखा है, सो तो होगा ही किन्तु फिर उनके लिए कोई अवसर न रहेगा। सबसे अच्छा तो यह हो कि वे अपने को सुधारें नवीन युग के अनुकूल बनायें। इसी में उनका हित है, कल्याण है। समय की लहर बहुत बलवान होती है। बड़ी से बड़ी शक्ति द्वारा भी नहीं रोकी जा सकती। देश की दशा को भली भाँति देखते हुए, धर्म के आडम्बरों उसकी रूढ़ियों और राक्षसी नियमों से मुक्त करके ही वे अपना अपने धर्म का अपने समाज तथा अपने देश का सबसे बड़ा हित कर सकेंगे और जनता के हृदयों में ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकेंगे।

अप्रैल १९३८

स्वदेशी

स्वदेशी की आड़ में लूट

स्वदेशी वस्तुओं का दिन दूना प्रचार देखकर जहाँ हमें हर्ष होता है वहाँ यह देखकर खेद भी होता है कि ग्राहक के त्याग के भाव का व्यापारी समाज कितना अनुचित लाभ उठा रहा है। कोई स्वदेशी चीज खरीदिये वह उसी दाम की विदेशी चीज से या तो महँगी होगी या अगर एक दाम हुए, तो माल घटिया होगा। नये व्यवसायों के विषय में तो हमें कुछ कहना नहीं लेकिन जो माल आज पचास साल से बनता आता है वह क्यों विदेशी माल से घटिया या महँगा हो। अगर ग्राहक से त्याग की आशा की जाती है तो मिल के करोड़पति मालिकों को क्यों कुछ त्याग करने की प्रेरणा नहीं होती। यह तो सरासर जबरदस्ती है कि गरीब ग्राहक तो एक की जगह सवा खर्च करे और धनवान मिल-ओनर दोनों हाथों से अपना घर भरें। इस बेकारी के जमाने में आदमी को एक-एक पैसे की तंगी है। मजूरी भी सस्ती हो गयी है, कच्चा माल भी सस्ता हो गया है, पर कपड़े का दाम ज्यों का त्यों है। ग्राहक यदि एक का सवा देता है तो यह निश्चित है कि वह अपना कोई दूसरा जरूरी खर्च कम कर देता है। दूसरा खर्च यहाँ पेट के सिवा और है ही क्या। हम पेट काट कर महँगा स्वदेशी माल खरीदते हैं। उधर मिल मालिक उसी तरह शान से जीवन के सुख भोग रहा है। उसके विलास में कोई कमी नहीं की जा सकती। वह तो यही चाहता है कि भारत में और कहीं का माल न आने पाये और वह अपनी चीज के मुँह माँगे दाम खड़े करे लेकिन यह नीति बहुत दिन नहीं चल सकती न जनता को हमेशा मुगालते में रक्खा जा सकता है। अगर मिल मालिकों की लोलुपता यों ही बढ़ती रही तो जनमत की धारा पलट जायगी और फिर परिस्थिति को सँभालना कठिन हो जायगा। 'स्वदेशी' राष्ट्र के प्रति व्रत है और इस व्रत का पालन दोनों ओर से होना चाहिए। मिल-मालिकों का कर्तव्य है कि वे अपने माल को उसी त्याग-भाव से सस्ता बेचने का उद्योग करें, जिस त्याग-भाव से ग्राहक उनका माल खरीदता है।

११ अक्टूबर १९३२

प्रयाग की स्वदेशी प्रदर्शिनी

बुधवार को प्रयाग में स्वदेशी प्रदर्शिनी शुरू हुई। गत वर्ष आनन्द-भवन में प्रदर्शिनी हुई थी। इस वर्ष आनन्द-भवन पर पुलीस का कब्जा है। इसलिए [illegible] की

कोठी में प्रदर्शिनी हो रही है। अबकी करीब दो सौ दूकानें आयी हैं, जिनमें मुर्शीदाबाद बँसोर, पञ्जाब आदि दूर-दूर की दूकानें हैं। दूकानों की रोशनी और सफाई सराहनीय है। हम श्रीयुत मोहनलाल जी नेहरू और उनके सहकारियों को इस सफल उद्योग पर बधाई देते हैं। जिन्दगी में जिन चीजों की साधारणतः हर गृहस्थ को जरूरत पड़ती है, प्रायः सभी यहाँ मिल सकती हैं। अगर हम एक बार स्वदेशी का व्रत ले लें तो हमें बहुत कम चीजों के लिए बाहरवालों का मुँह देखना पड़ेगा। खादी के लिए पृथक् प्रबन्ध किया गया है। हमें एक दूकान पर भिन्न-भिन्न प्रकार की खाद देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आलू के लिए, अन्न के लिए, फूलों के लिए, अलग-अलग खादें तैयार की गयी हैं। किसानों की जरूरत की यह एक चीज हमें नजर पड़ी। इसके सिवा सभी चीजें शिक्षित समाज की ही जरूरतों को पूरा करती हैं। किसी ने कृषि-विषयक कोई चीज नहीं भेजी। शायद असुविधा के कारण ऐसी चीजों का प्रबन्ध न किया जा सका हो। बुधवार को प्रयाग का कोई अभागा ही आदमी होगा जो प्रदर्शिनी में न पहुँचा हो। स्वदेश-प्रेम की यह लहर देखकर किसका हृदय आनन्द और गर्व से न फूल उठेगा। लेकिन जहाँ जनता के हृदय में स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और प्रचार में इतनी लगन है, वहाँ इन चीजों के व्यवसायियों में चीजों को सस्ती बेचने और उनको उत्तम बनाने की लगन नहीं है। कुछ थोड़ी-सी चीजों को छोड़कर और सब चीजों में जनता को त्याग करने की जरूरत है। किन्तु त्याग के आधार पर कोई व्यवसाय बहुत दिनों तक सफल नहीं हो सकता। उसे तो व्यापार के नियमों का पालन करने ही से स्थायित्व प्राप्त होगा।

२१ अक्टूबर १९३२

स्वदेशी पर मालवीय जी

गत २१ अगस्त को कलकत्ता में 'स्वदेशी कमर्शियल म्यूजियम' का उद्घाटन करते हुए पं॰ मदनमोहन मालवीय ने स्वदेशी के सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण उद्गार प्रकट किये थे—

'भारत के समस्त महान् नेता जैसे तिलक, सी॰ आर॰ दास, महात्मा गान्धी स्वदेशी-प्रचार पर बहुत अधिक जोर देते आये हैं। सब प्रथम बंग भंग से इस आन्दोलन को विशेष रूप से उत्तेजना मिली। उसके बाद पचीस वर्ष से हम इसको अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अब यह आन्दोलन बहुत शक्तिशाली हो चुका है तो भी बड़ी लज्जा का विषय है कि अब भी इस सम्बन्ध में बहुत-सा काम करने को शेष है।

'जीवन निर्वाह के लिए कपड़ा एक बड़ा जरूरी वस्तु है। भारतीय मिलें और करघे अभी तक इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सके हैं। यह बड़े ही आश्चर्य का

विषय है कि बाहरवाले भारत के बाजार से रुई खरीदकर उसे जहाज पर लादकर अपने देश में ले जाते हैं और वहाँ से उसका कपड़ा बनाकर फिर इस देश में भेजते हैं फिर भी वह कपड़ा देश की मिलों के कपड़े से सस्ता पड़ता है। जापान की इस समय भारतीय बाजार में प्रधानता है और उसने इस विषय में लंकाशायर को भी मात कर दिया है पर हमारे लिए जापान और लंकाशायर दोनों विदेशी हैं और इसलिए हमको उन दोनों के माल का उपयोग नहीं करना चाहिए। हमको एक-मात्र यह विचार करना चाहिए कि हम भारत में बनी चीजों से किस प्रकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं?

'इंग्लैंड अब तक मुक्त-द्वार वाणिज्य की नीति पर गर्व किया करता था और वाणिज्य नीति का पोषक था। अब उसने मुक्त द्वार वाणिज्य नीति को धता बता दी है और समस्त ग्रेटब्रिटेन में 'अंग्रेजी माल खरीदो' का आन्दोलन बड़े जोर-शोर से हो रहा है। इससे भी सन्तुष्ट न होकर उसने ओटावा में साम्राज्य व्यापी स्वदेशी-आन्दोलन को जन्म दिया है। जब इंग्लैंड-जैसे देश को जो अब तक व्यावसायिक-जगत् में सर्वोच्च स्थान पर अधिष्ठित था अपने देश की बनी चीजों को व्यवहार में लाने का आन्दोलन करना पड़ रहा है तो भारतवर्ष के लिए स्वदेशी प्रचार के आन्दोलन में शक्ति लगाने की कितनी अधिक आवश्यकता है यह समझना कठिन नहीं है।

३१ अक्टूबर १९३२

भारतीय चीनी के कारखानों का अन्याय

स्वदेशी चीजों को प्रोत्साहन देना हरेक हिन्दुस्तानी का धर्म है लेकिन कारखानों के स्वामियों का भी जनता के प्रति कुछ कर्तव्य है इसे वे भूल जाते हैं। एक ही दाम की देशी और विदेशी चीज लीजिए। देशी चीज आपको घटिया मिलेगी। चीनी का भी यही हाल है। विदेशी चीनी का जबसे बहिष्कार हुआ है, यह व्यवसाय बड़ी उन्नति कर रहा है मगर चीनी के कारखानों के मालिक अन्य स्वदेशी व्यापारियों की ही भाँति घटिया से घटिया माल ग्राहकों के हाथ बेचकर अपना उल्लू सीधा करना ही उचित समझते हैं। अभी हाल में चीनी के एक विशेषज्ञ ने भारतीय चीनी के व्यवसाय पर आलोचना करते हुए कहा था कि विदेशी चीनी में बरायनाम मैल रहता है लेकिन भारत की चीनी में बहुत ज्यादा मैल रहता है। हमें आशा है हमारे चीनी के कारखानेदार इस चेतावनी पर विशेष रूप से ध्यान देंगे। विदेशी चीनी पर सरकार ने कर लगाकर देशी चीनी की रक्षा की है लेकिन यदि कारखानेदार इस रक्षा का दुरुपयोग करेंगे तो वे जनता का सहयोग और सहानुभूति खो देंगे और उनकी अर्थ-लोलुपता के हाथों एक बढ़ते हुए व्यवसाय को धक्का पहुँचने की संभावना है। भारतीय कृषकों के हाथ में अब ले-देकर यही

ऊख की खेती रह गयी है। मगर कारखानेदार जनता को मैली चीनी खिलाकर अपनी जेब गर्म करते रहे, तो लोग विवश होकर विदेशी चीनी खाने लगेंगे और चीनी के कारखानों का दिवाला तो हो ही जायगा बेचारे किसान खेत में मारे जायेंगे। मैली चीनी का स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ता है, इसकी खोज तो कोई डाक्टर ही कर सकता है, पर इतना तो सभी जानते हैं कि मैल शरीर के अंदर पहुँचकर कोई लाभ नहीं पहुँचाता।

७ नवम्बर १९३७

असली और नकली स्वदेशी चीजें

कई दिन हुए प्रो० रामदास जी गौड़ ने 'आज' में एक पत्र लिखकर बतलाया था कि आजकल जिन फौंटेनपेनों को हम स्वदेशी कहते हैं वे सर्वथा विदेशी हैं उनमें कोई भाग स्वदेशी नहीं सभी चीजें विदेश से मँगाकर यहाँ जोड़ दी गयी हैं। यही कलमें धड़ल्ले से बाजार में स्वदेशी के नाम से बिक रही हैं और जनता को धोखा दिया जा रहा है। मगर इन कलमों के अतिरिक्त और भी कितनी विदेशी चीजें स्वदेशी के नाम से बिक रही हैं और जनता को धोखा दिया जा रहा है। कितनी ही सुगंध कितनी ही ऊनी और रेशमी चीजें कितने ही शीशे और चीनी के सामान कितने ही तरह के कागज यहाँ स्वदेशी के रूप में बिक रहे हैं हालाँकि लेबेल के सिवा उनमें कुछ भी स्वदेशी नहीं है। ऐसे धोखेबाज व्यापारी इस स्वदेशी की हवा में जितना लूटना चाहें लूट लें मगर एक दिन उनका परदा अवश्य ही खुल जायगा और इस धोखेबाजी का फल उन्हें भोगना पड़ेगा। स्वदेशी मेले के व्यवस्थापकों से हमारा यही अनुरोध है कि वे बिना अच्छी तरह जाँच पड़ताल किये व्यापारियों को स्थान न दिया करें। धोखेबाजों के घुस आने से यही नहीं होता कि विदेशी माल की खपत होती है बल्कि सच्ची स्वदेशी वस्तुओं को उभरने का अवसर ही नहीं मिलता।

१४ नवम्बर १९३७

शक्कर-मिलों की धूम

आजकल शक्कर मिलों की धूम है। जिन इलाकों में ऊख पैदा होती है वहाँ आये दिन नयी मिलें खुलती जा रही हैं। सुनते हैं जावा चीनी पर आयात कर लग जाने के कारण यहाँ के कारखानों को खूब नफा हो रहा है। किसी-किसी मिल को तो साढ़े तीन रुपये मन का नफा हो रहा है। भला ऐसा नफा देख कर व्यापारी समाज की लार क्यों न टपक पड़े। लेकिन व्यापारी-समाज को इन मिलों से फायदा हो जाय किसानों को

बराबर नुकसान ही नुकसान है। मिल के मुकाबले में वह शक्कर तैयार नहीं कर सकते और गुड़ की शक्कर के मुकाबले में खपत नहीं। उनके लिए इसके सिवा और कोई रास्ता ही नहीं रह जाता कि ऊख लाकर मिल में पटक दें और जो कुछ हाथ लगे उसे भाग्य की कसौटी समझ कर अपनी तकदीर ठोंकते हुए घर की राह लें। अभी तो वह अगहन से ही ऊख की पेराई में लगा रहता है और फागुन तक यह क्रम जारी रहता है। इसमें किसी उसे रोज थोड़ा बहुत रस पीने को मिल जाता था कुछ गुड़ या खाँड साल भर खाने को रख लेता था और ऊख के अगोले और जूठन उसके जानवर खाते थे। उसके बदौलत गाँव के गरीबों को भी थोड़ा बहुत रस पीने को मिल जाता था। और यह अगहन पूस माघ फागुन चार महीने जो किसानों के लिए बड़े ठाले के दिन होते हैं रस गुड़ और थोड़े से अनाज के सहारे कट जाते थे। खाँड राब या गुड़ का जब उसके यहाँ साल भर रहता है। यही उसका नाश्ता है यही उसके मेहमानों की खातिरदारी का मान है। गुड़ के बगैर उसका निबाह नहीं हो सकता लेकिन मिल का यह भूत उसका रक्त चूस लेता है, उसी तरह जैसे लंकाशायर के मिलों ने उनके जुलाहा और कोरियों का खून चूस लिया। मिलवाले गिनती में थोड़े हैं। वह जब चाहे आपस में संगठन करके ऊख की दर नहीं कर सकते हैं और वास्तव में ऐसा हो भी रहा है। किसान आपस में संगठित नहीं हो सकते। लाखों करोड़ों का संगठित होना असम्भव-सा ही है। इसलिए वे मिलवालों की दया पर पड़ने के लिए मजबूर हैं। बेचारे अपनी या भाड़े की गाड़ी पर ऊख लाद कर लाते हैं जाड़ पाले में कई-कई दिन मिल के हाते में किसी पेड़ के नीचे पड़े रहते हैं और मिल के दलालों को खासी रिश्वत देकर तब अपनी ऊख तुलवा पाते हैं। और मिलें धनाधन खुल रही हैं। और देश में उन्नति हो रही है। जो धन लाखों करोड़ों के हाथ में जाता था वह अब थोड़े से व्यवसायियों के हाथों में जमा हो रहा है, मगर इसकी दवा किसी के पास नहीं। भारतवाले मिल न खोलेंगे तो अंग्रेज आकर खोलेंगे। किसानों के लिए कहीं शरण नहीं है। उनमें अधिकतर तो मिल वालों से पेशगी रुपये लेकर अपनी गुलामी का पट्टा लिखा लेते हैं। इसका इलाज कुछ नहीं। व्यवसाय का यह युग है और हम चाहें या न चाहें उसके चक्कर से बच नहीं सकते।

२७ मार्च १९३२

स्वदेशी

दासता तथा दरिद्रता से—दोनों ही महान् कष्टदायक तथा अपमानजनक रोगों से रक्षा का एकमात्र उपाय स्वदेशी को अपनाना है। मन से वचन से कर्म से 'स्वदेशी' हो जाना एक कच्चा धागा भी विलायती न खरीदना यही एक महामंत्र है

जिसको जन भर ब्रिटेन ने आधी दुनिया अपने अधिकार में कर ली। अमेरिका स्वर्ग-भूमि बन गया और जापान एशिया का ब्रिटेन बना हुआ है। इसी एक मंत्र का पाठ पहले भारत करता था चीन करता था और दोनों सम्मुख के ऊँचे पद पर बैठे हुए थे। जिस दिन से भारतीय बाज़ारों में विलायती माल भर गया भारत का गौरव लुट गया। जिस दिन से चीन ने जिसने स्वयं कागज बनाने का तरीका दुनिया को सिखलाया था विलायती कागज तक अपनी दूकानों में भर लिया उसी दिन चीन की स्वाधीनता की मरण का घंटा विलायती मिशनरियों में बजने लगा।

स्वदेशी की महानता शब्दों में नहीं समझायी जा सकती। जब हम अपने शरीर पर अपने कमरे में अपने पास एक तिनका भी विलायती रखते हैं जब कि हम उसके स्थान पर देशी तिनका रख सकते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हम उस तिनके के बराबर अपना रक्त स्वयं चूस रहे हैं अपने भाई के सामने की थाली उठाकर दूसरों को दे रहे हैं। स्वदेशी की पूजा सम्राट् से रंक तक करते हैं। ब्रिटिश सम्राट् पंचम जार्ज ने एक बार किसी सरकारी कार्यालय का निरीक्षण किया वहाँ ब्रिटेन के बने टाइपराइटर के बजाय अमेरिकन टाइपराइटर का उपयोग होते देखकर उन्हें बड़ा दुख हुआ। आज भारत में लाखों योरोपियन रहते हैं, आप जरा इनके साथ बाहर चले जाइये। जमन जर्मनी का बना सामान खरीदता है ब्रिटिश ब्रिटेन का बना हुआ। हमारे यहाँ कितने ऐसे देशी नरेश हैं जिनके दफ्तरों में देश की बनी चीजें काम में आती हैं या जो विलायत जाकर यह पूछते हैं कि— 'आपके यहाँ अमुक वस्तु भारत की बनी हुई मिलती है?'

स्वदेशी का न अपनाना एक राष्ट्रीय दुर्गुण है। स्वदेशी सामान महँगा पड़ सकता है पर अपने घर का माल महँगा पड़ने पर भी खरीदा जाता है। स्वदेशी माल खराब हो सकता है पर अपनी भूल के लिए अपने ही मुँह में थप्पड़ कितने आदमी मारते हैं? अपना अपराध सबसे पहले क्षम्य होता है। ठीक यही दशा स्वदेशी की भी है।

स्वदेशी में सबसे पहले कपड़े का स्थान है। विलायती कपड़ा पहनना वास्तव में देश के प्रति अन्याय है। ईश्वर के प्रति अन्याय है। अपना देश जब अपना माल बनाता है तो फिर बाहरी माल क्यों खरीदा जाय। हम 'बहिष्कार' का पाठ नहीं पढ़ा रहे हैं। किसी के प्रति भेद भाव नहीं फैला रहे हैं। अपना देश की सलाह नहीं दे रहे हैं। हम केवल प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना कर्त्तव्य बतला रहे हैं। स्वदेशी एक धर्म है, एक कर्त्तव्य है। भारत में राजनीतिक आन्दोलन का प्रारम्भ होते हुए भी विदेशी माल— विदेशी कपड़ा निर्बाध अधिकता से आ रहा है। इस विषय में 'फ्री प्रेस जनरल' में जो आँकड़े छपे हैं उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। यहाँ पर पाठकों का ध्यान हम उन्हीं आँकड़ों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। पत्र लिखता है—

'स्वदेशी के प्रति ध्यान बढ़ने तथा आर्थिक मन्दी होने पर भी भारत में विलायती कपड़ा का आयात अनुमान से अधिक मात्रा में बढ़ता जा रहा है। बम्बई के मिल मालिक

सन की जो सबसे ताजी विज्ञप्ति प्रकाशित हुई है, उससे पता चलता है कि १९३१-३२ तथा १९३२-३३ के आर्थिक वर्षों (मार्च से मार्च) के विलायती रुई के सूत का आयात उन्चास प्रतिशत् और तैयार थानों का आयात अट्ठावन प्रतिशत् बढ़ गया है। इस वर्ष के पिछले तीन महीने से विलायती कपड़े का आयात—केवल जापानी सस्ता माल ही नहीं—बहुत बढ़ गया है। ब्रिटिश छापी कपड़ा एक वर्ष में ८३.३ प्रतिशत् अधिक आया। जापानी छापी कपड़ा ५२.५ प्रतिशत् अधिक आया। ३१ मार्च १९३३ तक कुल विलायती सूत जो बाहर से आया ४५.१ पौंड था। पिछले साल ३१.६ लाख गज माल आया था। ब्रिटिश सूत का आयात ११.९ लाख गज से बढ़ कर १३.४ लाख गज हो गया जापानी सूत ६.२ लाख से ८.१ लाख गज। पिछले साल ७७१.६ गज विलायती कपड़ा आया था इस साल १,२२५.१ लाख गज! सितम्बर १९३२ के बाद सबसे अधिक माल १९३३ की मार्च में आया। विलायती माल बम्बई मद्रास बंगाल सिंध और बर्मा—सब जगह करीब-करीब बराबर हो आया है।

भारतीयो सावधान! समूची राजनीति एक ओर और स्वदेशी एक ओर! स्वदेशी प्रचारकों को सतर्क हो जाना चाहिए।

१२ जून १९३३

भारतीय कपड़ा और भारतीय रुई

जापानी कपड़ा विदेशी होकर भी भारत की रुई काम में लाता है। भारतीय कपड़ा स्वदेशी होकर भी विदेशी रुई इस्तेमाल करता है। तो क्या भारतीय कपड़ा केवल इसलिए स्वदेशी कहा जाय कि वह भारत में बना है? कपड़े में मुख्य चीज रुई है। मोटा कपड़ा बनाने का खर्च तो पैसे दो पैसे गज से अधिक नहीं। जिस कपड़े में केवल बहुत छोटी-सी रकम भारतीय मजूरों के हाथ लगती है और बड़ी रकम विदेशी रुई की भेंट कर दी जाती है उसे किस दलील से स्वदेशी कहा जाय? तब तो अमेरिका का तम्बाकू भी भारत में सिगरेट बनकर स्वदेशी हो जाता है। जावा का गुड़ भी भारत में चीनी बनकर स्वदेशी शक्कर हो सकती है। इस विदेशी रुई के बने हुए कपड़े से कहीं ज्यादा स्वदेशी तो जापानी कपड़ा है क्योंकि वह भारत की रुई से बनता है। लेकिन जनता से इस विदेशी रुई से बने कपड़े को स्वदेशी समझने की आशा की जाती है और स्वदेशी रुई से बना कपड़ा विदेशी। हमारे मिल-मालिक भारतीय रुई नहीं खरीद सकते। जापान उसी रुई से अच्छे से अच्छे कपड़े बनाकर भारत भेजता है पर यहाँ के मिलों के लिए वही रुई हेय है। उन्हें थोड़ी-सी भारतीय रुई केवल मिलावट के लिए चाहिए। शेष रुई विदेश से ही आवेगी। हमारे मिल-मालिकों में क्यों इतना स्वदेश-

प्रजा तो उनका पेट भरने के लिए मरती ही है। इसी विषय पर भाषण करते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर मि० थाम्पसन ने ग्राहकों के दृष्टिकोण को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'अर्थशास्त्र के ज्ञाताओं का उद्देश्य यही है कि भारत अधिक सम्पन्न हो जाय जिसका आशय है कि जनता के जीवन का ध्येय ऊँचा हो जाय और उसका अर्थ यही है कि लोगों को भोजन और वस्त्र प्रचुर मात्रा में मिले। यदि जापान से सस्ता कपड़ा आता है, तो गरीबों को अधिक वस्त्र मिल जाता है। मोटे तौर पर पिछले वर्ष जापानी कपड़े के आयात से यहाँ कपड़े की खपत लगभग अस्सी लाख परिवारों में दुगनी हो गयी। इस तरह भारत अधिक वस्त्र पाकर धनी हुआ। अब रहा भोजन। जापान ने कपड़े में जितना धन भारत से लिया वह उससे कहीं कम है जो उसने रुई खरीद कर दिया।

६ नवम्बर १६३३

मि० मोदी की उदारता

बम्बई के मिलवालों ने लंकाशायर के साथ जो पाँच फी सदी की रियायत की है, उससे आशा है कि साम्राज्य के सारे बड़े-बड़े बाजारों में बम्बई के माल की धूम मच जायगी और यहाँ के भरे हुए गोदाम चट-पट खाली हो जायेंगे। हिन्दुस्तान के बाजार की गिनती ही क्या है। यहाँ के भुक्खड़ किसान क्या कपड़े खरीदेंगे। शायद बम्बईवाले समझते होंगे भारत में स्वदेशी की भावना इतनी बलवती है कि बम्बई जितना ही महँगा कपड़ा बेचे बाजार उसके हाथ से नहीं जा सकता। मगर उसे अपनी गलती बहुत जल्द मालूम हो जायगी।

१३ नवम्बर १६३३

संरक्षणों की धूम

जिसे देखिए संरक्षण की माँग कर रहा है। वाइसराय से लेकर व्यापारी और जमींदार तक संरक्षण के पीछे पड़े हुए हैं। जिनके हाथ में शक्ति है, वह तो आप ही अपनी मरजी से कानून बनाकर संरक्षण प्राप्त कर लेता है। जिसके हाथ में वह शक्ति नहीं है, वह सरकार से संरक्षण माँगता है। कपड़े को संरक्षण मिल गया। मोजे और बनियाइनवाले रेशमवाले खिलौनेवाले गरज सभी वस्तुओं के व्यवसायी संरक्षण की माँग कर रहे हैं। इसलिए कि बाहर से आनेवाले माल के मुकाबिले में वे ठहर नहीं सकते। जनता की जेब से कैसे ज्यादा से ज्यादा पैसे खींच लिये जायँ यही फ़िक्र सब का

पड़ी हुई है। चीजों को सस्ता बनाकर बाहर के माल को न आने देने का सामर्थ्य किसी में नहीं है और जनता बेबस है। भारतीय व्यवसायियों ने जमा-खर्च न दखाने देने का उसे कोई अधिकार नहीं। व्यवसायी जितनी फजूलखर्ची चाहे करे, जितना कुप्रबन्ध चाहे करे, कोई उससे बोल नहीं सकता। उसे मनमाना नफा करने की भी आजादी है। वह न मेहनत करेगा न किफायत से काम लेगा न सुप्रबन्ध को अपने यहाँ घुसने देगा। उसने तो भारतान रटका पाया है कि हमें संरक्षण चाहिए। बाहर का व्यवसायी जो चीज आठ-आने में देता है, उसी को वह एक रुपये में देगा और जनता मजबूर है। किसानों को तो संरक्षण की जरूरत है, क्योंकि इससे एक बहुसंख्यक समाज का हित होता है। इसलिए भी कि हम जानते हैं किसानों की दशा बहुत ही खराब है लेकिन यहाँ तो उन्हें भी संरक्षण चाहिए जो लाखों उड़ाते हैं और केवल अपनी छोटी-सी जमायत के लिए सारी जनता को महँगी चीज खरीदने के लिए विवश करते हैं। मगर यह व्यवसायियों का युग है। उनके सामने किसकी चलती है।

१२ फरवरी १६३४

आल इंडिया स्वदेशी संघ

गत दिसम्बर में बम्बई आल इंडिया स्वदेशी कार्यकर्त्ताओं की जो सभा हुई थी उसमें स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार के लिए कई प्रस्तावों के साथ एक प्रस्ताव इस आशय का भी स्वीकृत हुआ कि स्वदेशी व्यवसायियों ने संरक्षणों और जनता की स्वदेशी भावनाओं के बल पर राजन चीजें महँगे दामों में बेचकर जनता की जो लूट मचा रखी है, उसकी निन्दा की जाय और व्यवसायियों से अपील की जाय कि वे संरक्षणों के लाभ में ग्राहकों को भी शरीक करें अर्थात् सस्ता माल बेचें। इसके साथ ही मजूरों के साथ उचित व्यवहार करें।

जब तक स्वदेशी संघ के पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है कि वह स्वदेशी व्यवसायियों की आमदनी और खर्च की जाँच कर सके तब तक यह व्यवसायी यों ही अंधेर मचाते रहेंगे। जिसे देखिए संरक्षण का गुल मचा रहा है। इसका आशय कदापि नहीं हो सकता कि हमारे यहाँ मजूरी की दर ज्यादा है या कच्चा माल बेचना है। फिर संरक्षण क्यों।

१० मार्च १६३४

कोढ़ पर खाज

बम्बई और अहमदाबाद के मिल-मालिकों को संरक्षण मिल गया। जापानी कपड़े पर पचहत्तर फी सदी महसूल बढ़ गया। अब उनकी चाँदी है। कपड़े खूब महँगे दामों बेचें और खूब नफा उठायें खूब मोटरें खरीदें खूब विहार करें। व्यापारियों का राज है। खरीददार तो किसी गिनती में नहीं है। उसका जन्म तो इसीलिए हुआ है कि व्यापारियों को मुँह माँगे दाम दे और भूखों मरे। अगर प्रकृति उसकी सहायता करती है, तो व्यापारी फौरन संरक्षण की शरण लेता है। जनता की कौन सुनेगा? समाचारपत्र व्यापारियों के शासन व्यवस्था व्यापारियों की धनमत व्यापारियों के हाथ में प्रोपेगेंडा करने की कला में कौन उनकी बराबरी कर सकता है। विद्या और प्रतिभा सब कुछ तो उनके सामने घुटने टेकने को तैयार है। इस बेकारी और मन्दी में कम से कम इतना था कि कपड़े सस्ते मिल जाते थे पर हमारा करोड़पती मिल-मालिक जनता का इतना आराम भी नहीं देख सकता।

जापान के कपड़े भारत में इतने सस्ते बिकते हैं कि यहाँ के मिल उनका मुकाबला नहीं कर सकते। हम पूछते हैं—आप क्यों उनका मुकाबला नहीं कर सकते? अगर आप में अक्ल नहीं है अगर आप को माल किफायत से बनाना नहीं आता तो जापानियों के चरणों में बैठकर उनसे सीखिये उनकी शागिर्दी कीजिए। आपकी हिमाकत बेवकूफी और फिजूल-खरची का तावान जनता क्यों दे? इंग्लैंडवाले तो यह कह सकते हैं, कि उनके यहाँ मजूरी की दर बढ़ी हुई है और वे अपने मजूरों के जीवन का आदर्श नीचा करना नहीं चाहते लेकिन क्या भारत में भी मजूरों की मजूरी की दर बढ़ी हुई है? क्या व्यापारी लोग यह कह सकते हैं, कि भारत का मजूर जापान के मजूरों से दुखी है? कहने को तो शायद वे यह भी कह दें। धन के मुँह से जो कुछ निकले वह सत्य है, लेकिन उस पर विश्वास भी धनवाले ही करेंगे। हम तो इतना जानते हैं कि जापानी मजूर कितनी ही बुरी दशा में क्यों न हो भारत के मजूरों से अच्छी दशा में है। फिर भी जापान भारत के बाजार में आकर भारत के कपड़े का बाजार बन्द कर देता है और हमारे अकलमन्द मिल-मालिक संरक्षण का रोना रोने लगते हैं। यह तो कोढ़ में खाज काटना है, और कुछ नहीं। निस्सहाय जनता को लूटना है। इसको और कोई नाम ही नहीं दिया जा सकता।

अब कहा जाता है कि जापानियों ने भारतीय रुई के बहिष्कार करने की जो धमकी दी है वह केवल बंदर-घुड़की है। अर्थशास्त्र के बड़े-बड़े व्यापारी पंडित गला फाड़-फाड़ चीख रहे हैं अखबारों में बयान प्रकाशित करा रहे हैं कि जापान भारत की रुई के बगैर निबाह नहीं कर सकता लेकिन हम पूछते हैं कि जब भारत जापान का कपड़ा न लेगा तो जापान उसकी रुई लेकर क्या ईंधन बनायेगा या होली जलायेगा। जापान का कपड़ा भारत में खपता था इसलिए वह यहाँ की सस्ती रुई लेकर

उससे माल तैयार करता था और कम से कम नफ़ा लेकर वही माल उन्हीं गरीब किसानों के हाथ बेच देता था। जब कपड़े का सबसे बड़ा बाज़ार उसके हाथ से निकल गया तो हम नहीं समझते कि वह भारत की रुई लेकर क्या करेगा। अपने देश की ज़रूरत के लिए वह मंचूरिया में काफ़ी रुई पैदा कर सकता है। क्या भारत के मिल-मालिक इस बात का ज़िम्मा लेते हैं, छाती ठोककर यह कहने का साहस रखते हैं कि अगर जापान की बुनकरी बेदर-बुनकी न सिद्ध हुई तो वे भारत की सारी रुई खरीद लेंगे? और उसी दामों जिन दामों जापान खरीदता था? हमने तो मिल-कुबेरों के बयानात बड़े गौर से पढ़े हैं पर किसी ने भी ऐसा कहने का साहस नहीं दिखाया। उन्हें भारत के किसानों से क्या प्रयोजन? भारत का किसान मरे या जिए, उनके कपड़े खरीदे जाएं और उनकी जेब भर दिये जाएं। उनके हाथ में शासन है ही, वे कोई ऐसा कानून भी पास करा सकते हैं कि प्रत्येक भारतवासी को प्रति वर्ष इतने मूल्य का कपड़ा खरीदना होगा। और हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि अंग्रेज़ी सरकार उनके इस प्रस्ताव को बड़े हर्ष से स्वीकार करेगी। उसका इसमें सरासर फायदा है। लंकाशायर का माल कुछ न कुछ ज़्यादा खपने लगेगा। प्रस्ताव होने की देर है।

मगर मिल-मालिकों ने यह भी सोचा है कि उनके महँगे कपड़े लेगा कौन? कृषक ही तो उनके सबसे बड़े खरीदार हैं। कृषक के पास आमदनी का क्या साधन रह गया। गेहूँ जाता नहीं, तेलहन कोई पूछता नहीं, पाट मारा-मारा फिर रहा है, शक्कर का व्यवसाय भी उसके हाथ से निकल गया, वह तो अब ऊख बेचकर रुपये की जगह अठन्नी पाकर अपने भाग्य को ठोंकता हुआ घर चला जाता है। थोड़ा बहुत धन उसे रुई कपास से मिल जाता था, वह साधन भी उसके हाथ से निकल गया, तो वह कहाँ से रुपया लायेगा महँगे कपड़े खरीदने के लिए? उपज तो लगान और पेट को काफ़ी नहीं होती, उस पर अब यह उपज भी उसके हाथ से छीने लेते हैं। वह संगठित नहीं है, कहीं उसकी आवाज़ नहीं है। उस पर चाहे जो आघात कीजिए, पर हम विश्वास है, इस संरक्षण से भारतीय कपड़े की निकासी में ज़रा भी वृद्धि न होगी। जो चीज़ एक रुपये में मिल रही हो उसे डेढ़ रुपये में खरीदने के लिए इस मंदी और बेकारी के समय भारत की जनता तैयार नहीं है।

कहा जाता है, जापान ने अपने येन का दर गिरा दिया है। हम पूछते हैं—उसी येन से तो जापानी व्यापारी भारत में रुई खरीदते हैं या खरीदते वक्त वह कोई दूसरा येन बरत लेते हैं? इसके जापानी दृष्टि-कोण से यह अर्थ है कि रुई महँगी है। यह महँगी रुई लेकर अगर वह सस्ता कपड़ा बेचता है तो यहाँ के मिलवालों का कर्तव्य है कि वे जापान जाकर देखें कि वह किस जादू-मंत्र से इतना सस्ता माल बनाता है। और वे स्वयं इस विषय में उसकी नकल क्यों न करें। यह नहीं कि सब से भारत की दरिद्र जनता पर टैक्स लगाकर अपनी अयोग्यता की कमी पूरी कर लो। सस्ती चीज़ को महँगे दामों

बेचना और सस्ती चीज को बाजार से निकाल डालना टैक्स लगाना नहीं तो और क्या है।

अच्छा तो अगर जापान ने येन की दर गिराकर ही यह सफलता प्राप्त की है और करेंसी की दर गिरा देने से ही सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं तो आप भी क्यों भारतीय करेंसी की दर गिराने के लिए जोर नहीं लगाते ? क्या यहाँ आप की दाल नहीं गलती ? क्यों नहीं गलती ? क्यों आप सरकार पर ऐसा दबाव नहीं डालते कि जो व्यवस्था जापान के लिए रामबाण बन गयी है वह आप को भी मिले ? उसके लिए आन्दोलन कीजिए। या सबसे आसान नटका आपको यही मिला है कि जापानी कपड़े को भारत से निकालकर जनता को अपना महँगा कपड़ा खरीदने के लिए मजबूर किया जाय ? उस व्यवसाय से क्या फायदा जिसके लिए राष्ट्र को मजबूरन अधिक दाम देना पड़े।

हम संरक्षणों से संसार तंग आ गया है। सब यही चाहते हैं कि उसका माल सारी दुनिया खरीदे और वह किसी का माल न खरीदे। सारी दुनिया की दौलत उसकी थैली में आ जाय और उसकी थैली से एक पाई भी बाहर न निकले। और यह असंभव है। संरक्षण जितने ही बढ़ रहे हैं उतना ही व्यापार घट रहा है और अब संसार का व्यापार आज के पाँच साल पहले के व्यापार का केवल एक तिहाई रह गया है। फिर भी 'संरक्षण' का शोर मचा हुआ है। अगर जापान ने भारत को रुई बन्द कर दी (और वह इस धमकी को व्यवहार में लाने के लिए मजबूर है) तो कपड़े की खपत और भी कम हो जायगी। और कपड़े की ही खपत नहीं इसका असर और सभी चीजों पर होगा। अभी जरसें बना लीजिए, मगर बहुत जल्द हाथ मलना पड़ेगा। जनता में संगठन नहीं है, लेकिन तो *संगठन का एक संगठन तो उसकी दिन दूना रात चौगुनी बढ़ती हुई दरिद्रता है।* हम जापानी कपड़े के वकील नहीं हैं पर जनता के वकील अवश्य हैं और हम चाहते हैं कि कृत्रिम साधनों से उसका गला न घोंटा जाय। संरक्षण में सबसे बड़ी बुराई यह है कि व्यापारी को प्रतियोगिता से निश्चिन्त होकर अपने घर की सुव्यवस्था करने के लिए कोई अंकुश नहीं रह जाता। यह वह शीशे की कोठरी है, जिसमें बैठकर आप बहुत दिन शान्त नहीं रह सकते। किसी व्यवसाय की बाल्यावस्था में तो संरक्षण का कोई अर्थ हो सकता है, लेकिन जो जवान अपने पैरों खड़ा नहीं हो सकता उससे हमें कोई आशा नहीं हो सकती।

१६ जून १६३४

शिक्षा-सस्कृति

गुरुकुल काँगड़ी में तीन दिन

पिछले श्रावण में मुझे गुरुकुल काँगड़ी के दर्शनों का अवसर मिला। इच्छा तो बहुत दिनों से थी, मगर यह सोचकर कि उस वेद-वेदांगों के केन्द्र में मुझ-जैसे धर्मशून्य व्यक्ति का कहाँ गुज़र, कभी जाने की हिम्मत न पड़ी। सौभाग्य से साहित्य परिषद् ने उन्हीं दिनों अपना वार्षिक उत्सव करने की ठानी और मुझे न्योता मिला। ऐसा अवसर पाकर भला कैसे चूकता। दिली मुराद पूरी हुई। रात को लखनऊ से चलकर प्रातःकाल हरिद्वार जा पहुँचा। वहाँ दो ब्रह्मचारी मेरी राह देख रहे थे। गुरुकुल की सिद्धान्त-वादिता का कुछ थोड़ा-सा परिचय मुझे स्टेशन पर ही मिला। एक ताँगा करने की ठहरी। ताँगेवाले ने शायद यह समझकर कि दो नये यात्री हैं, कनखल के आठ आने माँगे। इधर से छः आने कहा गया। ताँगेवाले ने शायद कहा आठ आने से कम न होंगे। ब्रह्मचारियों ने वाजिब किराया कह दिया था। ताँगेवाले से झाँय-झाँय करना उनकी शान के खिलाफ़ था। आगे बीस कदम जाकर दूसरा ताँगा उन्हीं दामों पर आ गया। पहला ताँगेवाला उन्हीं दामों पर चलने को तैयार था, अपना अपराध क्षमा कराता था, अपनी भूल स्वीकार करता था, पर ब्रह्मचारियों को उस पर दया न आयी। उसने यात्रियों को ठगना चाहा था, इसका दण्ड उसे देना ज़रूरी था। और नीति की दृष्टि में दया का कोई मूल्य नहीं।

ताँगा आध घण्टे में कनखल जा पहुँचा। हम लोग उतर कर घाट पर पहुँचे। सामने की पहाड़ियाँ हरे-हरे आभूषण पहने खड़ी थीं। नीचे गंगा पहाड़ियों की गोद से निकलकर उछलती-कूदती चली जाती थी। यहाँ कई धाराएँ हैं, जो वर्षाकाल में मिलकर काँगड़ी के नीचे तक चली जाती हैं। मैंने समझा था किसी किश्ती पर नदी पार करनी पड़ेगी, मगर किश्ती का कहीं पता न था। यहाँ पानी का तोड़ इतना तेज़ है, नीचे का पेटा इतना पथरीला कि थोड़ी दूर के बाद किश्ती आगे जा ही नहीं सकती। तमेड़ों पर बैठकर लोग आते-जाते हैं। यह एक प्रकार की चर्नाई है जिसमें मिट्टी के मटकों की जगह टीन के कनस्तर होते हैं। कई कनस्तरों को लम्बे-लम्बे रखकर रस्सी और बाँसों से बाँध देते हैं। तमेड़ा बीच में चौड़ा और दोनों सिरों पर पतला होता है। जिन्हें इस पर पहली बार बैठना पड़े उन्हें मन में कुछ संशय होने लगता है कि यह डोंगा पार लगेगा या बीच ही में ले डूबेगा। मगर थोड़ी ही दूर चलकर यह संशय दूर हो जाता है। यह डोंगी डूब नहीं सकती। पानी का बहाव कितना ही तेज़ हो, भँवर कितने ही भयंकर हों, वायु कितनी ही प्रचण्ड हो, लहरें उछलकर उसके ऊपर ही क्यों न आ जाती

हों पर उसे पराजित नहीं कर सकतीं। आदमी अगर उस पर बड़ा सँभलकर बैठा रहे, तो चाहे मनचाहे तक पहुँच जाय डूब नहीं सकता। इस तुच्छ-सी वस्तु को विराट् और प्रचण्ड जल प्रवाह का इतनी वीरता से सामना करते देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों कोई अकेली आत्मा प्राण-सागर की लहरों को ठुकराती विघ्न-बाधाओं को कुचलती परमधाम की ओर चली जा रही हो।

अभी आध घण्टा भी न गुजरने पाया था कि घटा छा गयी और वर्षा होने लगी। सारे कपड़े भीग गये हवा भी चलने लगी। लहरें उछलती ही न थीं छलांगें मरती थीं। कई बार तमेड़ा नीचे की चट्टान से टकराया और हम गिरते-गिरते बचे। दस बजते-बजते हम कांगड़ी पहुँच गये।

२

गुरुकुल की इमारतें देखकर बेअख्तियार मुँह से निकल गया—नाम बड़े दरशन थोड़े। एक ही इमारत है जिसे इमारत कह सकते हैं, पर साधारण हाई स्कूलों की इमारत भी इससे अच्छी होती है। तीन साल पहले यहाँ कई और इमारतें थीं। पर सन् १९२४ की बाढ़ में कई इमारतें बह गयीं और हरा-भरा बाग बालू से भर गया। गिरे हुए भवनों के खँडहर अभी तक नजर आते हैं। हम लोग एक छोटे-से पक्के घर में ठहरे, जिसे यहाँ पक्का धर्मशाला कहते हैं। यहाँ मैं पंडित पद्मसिंह जी शर्मा भी आ गये थे। हम दोनों इसी कमरे में ठहरे। स्नान किया। इतने में भोजन आ गया। खाने बैठ गये। पेट बहुत स्वादिष्ट थे। अतिथि-सत्कार यहाँ की विशेषता है। मस्तक रोगी भी यहाँ से तृप्त हुए बिना नहीं जा सकता। सबसे बड़ा आनन्द मुझे यहाँ के ब्रह्मचारियों को देखकर हुआ। ऐसे सरल-हृदय तेजस्वी युवक हमारे अंग्रेजी कालेजों में बहुत कम हैं। वह पंडिताई वातावरण जो काशी की किसी संस्कृत पाठशाला में नजर आता है, यहाँ नाम को भी न था। यहाँ विद्यालय का मेहमान प्रत्येक ब्रह्मचारी का मेहमान है वह उसकी चारपाई बिछा देगा उसके लिए पानी भर लायेगा और उसकी धोती भी खुशी से छाँट देगा। यह विद्यालय नहीं किसी ऋषि का आश्रम मालूम होता है। ऐसे उत्साही युवक मैंने नहीं देखे। जो काम करते हैं उसमें तन-मन से लिपट जाते हैं। प्रमाद की मात्रा इनमें बहुत ही कम है। कुछ सीखने के लिए, कुछ जानने के लिए यह लोग सदैव उत्सुक रहते हैं।

साहित्य-परिषद् का उत्सव संध्या समय हुआ। आचार्य जी का व्याख्यान हुआ। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ सुनायीं। कुछ साहित्यिक लेख थे दो-चार गल्पें थीं एक-दो लेख ऐतिहासिक थे। इन रचनाओं को किसी ऊँचे आदर्श से तोलना अन्याय होगा—ये प्रौढ़ लेखकों की कृतियाँ न थीं पर किसी विद्यालय के शिष्यों को उन पर गर्व हो सकता है। हाँ यहाँ जो संगीत सुनने में आया उससे कुछ निराशा हुई। गुरुकुल में संगीत-शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं। शायद संगीत ब्रह्मचर्य के लिए बाधक समझा

जाता हो। मगर मुझे तो ऐसी धार्मिक संकीर्णता यहाँ कहीं न दिखायी दी। सबसे बड़ा आश्चर्य मुझे ब्रह्मचारियों के विचार-स्वातन्त्र्य पर हुआ। उनके राजनैतिक सामाजिक धार्मिक विचारों में मुझे संकीर्णता का कोई चिह्न नहीं मिला।

दूसरे दिन प्रीतिभोज था। भोजनगृह में सभी ब्रह्मचारी और आचार्य फ़र्श पर बैठकर थालियों में भोजन कर रहे थे। हमारे अंग्रेजी विद्यालयों में कुर्सियों और मेज़ों का व्यवहार होता है। यहाँ अभी तक अंगरेजियत की वह हवा नहीं आयी। हमारी जातीय रीति-नीति आचार-विचार की रक्षा अगर हो सकती है तो ऐसी ही संस्थाओं में हो सकती है। मगर शायद अब उसकी रक्षा करने की जरूरत ही नहीं समझी जाती। आजकल यही पक्का आम है, जो चाहे और सभी बातों में विदेशियों का गुलाम हो केवल अन्य धर्मावलम्बियों को गाली देता जाय।

आज सन्ध्या समय एक कवि-सम्मेलन था। पंडित पद्मसिंह जी सभापति थे। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ सुनायीं। अधिकांश कविताएँ हास्यास्पद थीं मगर मैं ब्रह्मचारियों के साहस की तारीफ़ करूँगा कि उन्हें अपनी भद्दी रचनाएँ सुनाने में लेशमात्र भी संकोच न होता था। किसी हद तक तो यह आत्मोचित साहस सराहनीय है। हमने ऐसे बालक भी देखे हैं, जो किसी सभा में खड़े कर दिये जायँ तो उनकी घिग्घी बँध जायगी। उस झिझक के देखते तो यह धृष्टता फिर भी अच्छी है। पर रसिकजनों के सामने ऐसी रचनाएँ न सुनाना ही अच्छा जिन्हें सुनकर हँसी आवे। रचनाओं के समाप्त हो जाने के बाद शर्मा जी ने विचारपूर्ण वक्तृता दी और ब्रह्मचारियों को खूब हँसाया। शर्मा जी जितने विद्वान् हैं उतने ही सरल और उदार हैं। और मेहमाननिवाजी तो उनका जौहर है।

तीसरे दिन हमने मुख्याधिष्ठाता जी के घर भोजन किया। उसका स्वाद अभी तक भूला नहीं। रामदेव जी उन सज्जनों में हैं जिनकी बातों से जी नहीं भरता। ज्यों-ज्यों बातें मालूम होती हैं और मनोरंजन भी होता है। आप अंग्रेजी साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं और भारतीय इतिहास के तो आप पूरे माहिर हैं। ब्रह्मचारियों को उन पर असीम श्रद्धा है। गुरुकुल अगर कुछ न करे तो भी इतने युवकों के सम्मुख सरल जीवन और उच्च विचार का आदर्श रखना ही उसके जीवित रहने के लिए काफ़ी है। अंग्रेजी कालेजों में तो आवश्यकताओं की गुलामी सिखायी जाती है और अध्यापक लोग ही इस विद्या के सबसे बड़े शिक्षक होते हैं। जिन्दगी की दौड़ में वे युवक क्या पेश पा सकते हैं जिनके पैरों में जरूरतों की भारी बेड़ियाँ पड़ी हों। सरकारी विभागों में चाहे वे अच्छे पद पा जायँ पर सरकारी नौकरियों से तो राष्ट्र नहीं बनते। गुरुकुल ने अपने जीवन के थोड़े से सालों में राष्ट्र के जितने सेवक पैदा किये हैं उतने और किसी विद्यालय ने न किये होंगे। डिग्रियाँ लेकर पद प्राप्त करना राष्ट्रीय सेवा नहीं। प्रचार और उद्धार के कामों को सँभालना ही राष्ट्रीय सेवा है। अब तक गुरुकुल से एक सौ इकतालीस स्नातक

निकाले हैं। उनमें सार्वजनिक जीवन में भाग लेनेवालों की संख्या सत्तासी है। यह कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है कि हिन्दी भाषा को जितना प्रोत्साहन गुरुकुल से मिला है, उतना शायद ही और किसी विद्यालय से मिला हो।

गुरुकुल की उपयोगिता के विषय में पहले जनता में बड़ा संदेह फैला हुआ था। पर गुरुकुल से निकले हुए स्नातकों का सांसारिक जीवन देखकर इस विषय की सभी शंकाएँ शान्त हो जाती हैं। एक सौ इकतालीस स्नातकों में उन्तीस तो गुरुकुलों में काम कर रहे हैं, नौ साहित्य-सेवा में लगे हुए हैं, तेईस आर्य-समाज के उपदेशक हैं, पाँच सफल वैद्य हैं, अट्ठारह व्यापार में लगे हुए हैं और सात विदेश में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इनमें से दो उत्तीर्ण होकर लौट आये हैं। डाक्टर प्राणनाथ हाल ही में इंग्लैण्ड से डाक्टर होकर लौटे हैं, एक और महाशय बैरिस्टर हो आये हैं। पिछले साल चार ब्रह्मचारी Senior Cambridge परीक्षा में सम्मिलित हुए और तीन पास हो गये। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मचारियों को अंग्रेजी में भी काफी अभ्यास हो जाता है। महाशय सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार ने हाल ही में ब्रह्मचर्य पर अंग्रेजी में एक ग्रन्थ लिखा है जिसकी शैली और भाषा दोनों ही परिमार्जित हैं। किसी युनिवर्सिटी के विद्यार्थी के लिए ऐसी पुस्तक लिखना गर्व का कारण हो सकता है।

गुरुकुल विद्यालय में एक आयुर्वेद विद्यालय भी है। यहाँ ब्रह्मचारियों को जड़ी बूटियों तथा रसों का भी ज्ञान हो जाता है। शरीर-विज्ञान की शिक्षा भी इन वैद्यों को दी जाती है। हमें आशा है कि यहाँ के पढ़े हुए वैद्यों द्वारा आयुर्वेद का उद्धार होगा। ये केवल पुरानी लकीर के फकीर नहीं होंगे बल्कि मानव-शरीर के तत्त्वों को जानते हैं और शल्य-चिकित्सा में भी दखल रखते हैं।

गुरुकुल की प्राकृतिक शोभा का तो कहना ही क्या। बलवान् चरित्र ऐसे ही जलवायु में विकसित होते हैं। सामने गंगा की जल-क्रीड़ा है, पीछे पर्वतों का मौन संगीत। दाहिने-बायें मीलों तक शीशम और कत्थे के वृक्ष। ऐसी साफ छनी हुई निर्मल वायु में साँस लेना स्वयं आत्मशुद्धि की एक क्रिया है। न शहरों का धूम-धाँ न यहाँ की स्वच्छ वायु। ब्रह्मचारी गंगा माता की गोद में किलोलें करते हैं और बड़ी दूर तक तैरते चले जाते हैं। नगरों की दूषित जलवायु में यह गुण कहाँ। मगर पिछली बाढ़ ने विद्यालय को जो क्षति पहुँचायी है उसको देखते हुए अब विद्यालय का स्थान बदल देने का प्रश्न आवश्यक हो गया है। इसका प्रबन्ध भी हो रहा है।

माधुरी अप्रैल १९२८

बच्चों का स्वाधीन बनाओ

बहुत से लोग यह सीयक देखकर ही चौंक पड़े थे । वाह ! लड़के तो प्राप ही
स्वाधीन होते है । वह तो बचपन ही मे न पूछ पर हाथ रखने देते है न मुँह म लगाम
डालने देते है और जहाँ परा समझ पायी कि सरपट दौड़ना शुरू कर देते है । जरूरत है
कि उन्हें प्राज्ञा पालन सिखाओ बड़ों का प्रदब करना सिखाओ संयम सिखाओ । उन्हें
स्वाधीन बनाना तो ऐसा ही है जैसा प्राग पर तेल छिड़कना ।

यह समय है कि लड़के प्राजकल उससे कहीं ज्यादा स्वाधीन है जितने कि उनके
माता-पिता इस उम्र म लुप दे । इस स्वाधीन प्रवृति का जो नतीजा हो रहा है उसे
देखकर यदि माता-पिता के मन में ऐसी शका पैदा हो तो कोई प्राश्चय नही लेकिन
इसीलिए तो जरूरत है कि लड़कों को स्वाधीन बनने की शिक्षा दी जाय । बालक जितना
ही बलशाली होगा उतना ही स्वाधीन भी होगा लेकिन प्रभी हम उस इसकी शिक्षा
नही देत । प्रगर युवकों को फ़ौज के लिए भरती किया जाय तो उन्हे कवायद सिखान
की जरूरत होती है । प्रगर वे गायक बनना चाहें तो यह सम्भव नही है कि बिना
सिखाये प्राप ही प्राप गाने लग जायें लेकिन यह देखकर भी कि हमारे बालक बच
जितने स्वाधीन प्राज है उतने किसी प्रतीत काल म न थे । हम उन्हे बचपन म इस
समस्या को हल करने की उचित शिक्षा नही दे रहे है ।

थोड़े से शब्दों में बालक को प्रधानत एमा शिक्षा देनी चाहिए कि वह जीवन
में अपनी रक्षा प्राप कर सके ।

यह तो मानी हुई बात है कि प्राज के बालक स्वाधीन है प्रौर प्रब किसी के बस
की बात नही है कि इस धारा को पलट दे । इसके बहुत से कारण है—परिवारों का
देहातों से निकलकर शहरों म प्राबाद होना जहाँ परिचित जनों के दबाव प्रौर स्वभाव
से लोग मुक्त हो जाते है पुराने रीति-व्यवहारों का शिथिल हो जाना जिनका पहले
विद्रोही बालकों पर बहुत दबाव पड़ता था । मोटरकार सिनेमा प्रौर समाचारपत्र सब
स्वाधीनता की प्रवृति को मजबूत करते है ।

लेकिन इस पर प्राँसू बहाने से काम न चलेगा । पुराने जमाने म जब बड़ों का
हुक्म प्रौर प्रदब मानना समाज का सब से मान्य नियम था प्रौर हर एक छोटी जाति
प्रपने से ऊँची जाति के सामने प्रदब से सिर झुकाती थी तब बालकों को बचपन ही मे
प्रदब करना सिखाया जाता था प्रौर उचित भी था लेकिन प्राज किसी बाहरी सत्ता की
प्राज्ञाओं को मानने की शिक्षा देना बालकों की सबसे बड़ी जरूरत की तरफ से प्राँखें
बन्द कर लेना है । युवकों के सामने प्राज जो परिस्थिति है उसमें प्रदब प्रौर नम्रता
का इतना महत्व नही है जितना व्यक्तिगत विचारों प्रौर कामों की स्वाधीनता का ।
इस नयी शिक्षा का प्राशय क्या है ? सामान्यतः हमारे जीवन का एक प्रंग है

॥ बच्चों को स्वाधीन बनाओ ॥

और हमेशा रहेगा। मगर हर एक आदमी अपने मन की करने लगे तो समाज का शीराजा बिखर जायगा। अवश्य हर एक घर में जीवन के इस मौलिक तत्व की रक्षा होनी चाहिए, लेकिन इसके साथ ही माता-पिता की यह कोशिश भी होनी चाहिए, कि उनके बालक उन्हें पत्थर की मूर्ति या पहेली न समझें। चतुर माता-पिता बालकों के प्रति अपने व्यवहार को जितना स्वाभाविक बना सकें उतना बनाना चाहिए क्योंकि बालक के जीवन का उद्देश्य काम-क्षेत्र में आना है, केवल आज्ञा मानना नहीं। वास्तव में जो बालक इस तरह की शिक्षा पाते हैं, उनमें से आत्म-विश्वास का लोप हो जाता है। वे हमेशा किसी की आज्ञा का इन्तजार करते हैं। हम समझते हैं कि आज कोई बाप अपने लड़के को ऐसी आत्मा कुचलनेवाली शिक्षा न देगा।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि माता-पिता को कोई बात खुद न तय करनी चाहिए बल्कि लड़कों पर ही छोड़ देनी चाहिए। एक बादशाह ने अब अपने बालक को एक अध्यापक को सौंपा तो यह सलाह दी—जितनी जल्दी हो सके अपने को बेकार बना लेना। हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम सदा अपने लड़कों से अपनी आज्ञाएँ मनवाते रहें बल्कि उनको इस योग्य बना दें कि वह खुद अपने काम का अपने आप निश्चय कर लें। बालकों में यह प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही सफल उनकी शिक्षा भी समझनी चाहिए।

तीसरा सिद्धान्त यह है कि गृहस्थी को जनतन्त्र के कायदों पर चलाना चाहिए। तजुर्बे से यह बात मालूम होती है कि हम जनतन्त्र पर चाहे कितना ही विश्वास क्यों न रखें हमारे घरों में स्वेच्छाचार ही का राज्य है। घर का मालिक मुसोलिनी या कैसर की तरह डटा हुआ उसे जिस रास्ते चाहता है ले जाता है और कभी इसका उलटा दिखायी देता है। घर में न कोई कायदा है न कोई कानून। जो जिसके जी में आता है, करता है, जैसे चाहता है रहता है कोई किसी की खबर नहीं लेता। लड़के अपनी राह जाते हैं जवान अपनी राह और बूढ़े अपनी राह। दोनों ही तरीके जनतन्त्र से कोसों दूर हैं—पहले तरीके में स्वतन्त्रता का नाम नहीं दूसरे तरीके में जिम्मेदारी का। यह दोनों तरीके लड़कों की शिक्षा की दृष्टि से अनुचित हैं। करना यह चाहिए, कि घर के मामला में शुरू ही से बच्चों की राय ली जाय। छोटा बालक भी—अगर उसको सीधे रास्ते पर लगाया जाय—अपनी जिम्मेदारी को समझने लगता है। जिन लड़कों के साथ माँ-बाप बुरा व्यवहार करते हैं वे भी उनके साथ सच्चा स्नेह रखते हैं मगर माँ-बाप उनकी इस प्रकृति को अपने स्वेच्छाचार से कुचल डालते हैं और उसका बुरा नतीजा हम रोज अपनी आँखों से देखते हैं।

हर एक मामूली आदमी को यह जानकर सब और आनन्द होता है कि घर में उसका भी कोई स्थान है यह भी कुछ समझा जाता है। बालक भी इस भाव से खाली नहीं होता। सफल परिवार का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि वह इस प्रवृत्ति को व्यवहार में

लावे । ऐसा बालक सदैव परिवार के सम्मान की रक्षा करेगा । यहाँ उसे स्वाधीन राय
कायम करने का पाठ मिल रहा है । हो सकता है कि इस विषय में कुछ लोगों का कहना
हो—युवकों ने परिवार के हित की ओर ध्यान न देकर अपने ही अधिकारों पर
ज़ोर दिया हो । अभिमान और विलास उनकी राय में आजकल के युवकों में ज़रूरत से
ज्यादा मौजूद है लेकिन यह बालक का दोष नहीं माँ बाप का दोष है । बालकों को यह
शिक्षा देने के लिए समय धैर्य बुद्धि और सहानुभूति की ज़रूरत है । इसका आशय यह है
कि बच्चा ज्यों ही आने और पैसे में फ़र्क़ समझने लगें उनके हाथ में पैसे दे दिये जायें
उनका वज़ीफ़ा बाँध दिया जाय और कुमारावस्था में ही उन्हें इस योग्य बना दिया जाय कि
वे पैसे का मूल्य समझने लगें और खर्च को आमदनी के अन्दर रखने की आदत सीखें ।

हम इन बातों पर ध्यान नहीं देते । कितने ही माँ-बाप तो अपने लड़कों के विषय
उतने ही बेख़बर होते हैं जितने अपने ताले या कुत्ते के विषय में । बदमाश और शरीफ़
बालकों की पारिवारिक स्थिति की परीक्षा की जाय तो सिद्ध हो जायगा कि चाल-चरित्र
में जो दोष आ जाते हैं उनका कारण घरवालों की लापरवाही है ।

बच्चों में स्वाधीनता के भाव पैदा करने के लिए यह ज़रूरी है कि जितनी जल्दी
हो सके उन्हें कुछ काम करने का अवसर दिया जाय । आम तौर पर यह समझा जाता
है कि अच्छे माता-पिता का कर्तव्य अपनी सन्तानों को कठिनाइयों से दूर रखना है ।
इसका फल यह है कि ऊँचे खानदानों में लड़के क्रियाहीन हो जाते हैं । जब उन्हें बिना
कोई उद्योग किये ही सारी चीज़ें मिल जाती हैं तो फिर वे काम क्यों करें ? हालाँकि
विचार शास्त्र का यह एक मोटा सिद्धान्त है कि लड़कों को अपने हाथ से अपने उद्योग
से कोई काम कर दिखाने में या कोई चीज़ बनाकर खड़ी कर देने में जितना आनन्द
मिलता है उतना और किसी बात में नहीं । लड़का अपनी कागज़ की नाव पानी में
डालकर जितना खुश होता है उतना बड़े-बड़े विशाल जहाज़ों को चलते देखकर
नहीं होता ।

हमारे सुशिक्षित घरानों में अब इस बात को लोग समझने लगे हैं कि लड़कों
का हाथ से कुछ काम कराना अच्छे दर्जे की मानसिक और नैतिक साधना है । हर एक
घर में ऐसा ही होना चाहिए । लड़कों में आत्म-विश्वास उत्पन्न करने का इससे उत्तम
कोई साधन नहीं है ।

सम्पन्न घरों में अपने हाथ से कुछ करना अपमान समझा जाता है । लड़कों के
हर एक काम के लिए नौकर लगे हुए हैं । आने-जाने के लिए मोटरें हैं उन्हें सैर कराने
के लिए खूब साफ़ कपड़े पहिना दिये जाते हैं और ताकीद कर दी जाती है कि कपड़े
मैले न होने पावें । उनके मनोरंजन के लिए सिनेमा हैं चित्रशालाएँ हैं जहाँ उन्हें केवल
आँख से देखने की ज़रूरत है खुद कुछ करना नहीं पड़ता । इससे परतन्त्रता की जो बुरी
आदत पड़ जाती है वह ज़िन्दगी भर साथ नहीं छोड़ती । ऐसे ही विलास में पले हुए

॥ बच्चों को स्वाधीन बनाओ ॥

मुक्त हैं जो अपने स्वार्थ के लिए अपने भाइयों का अहित करते हैं, सरकार की बेजा खुशामद करते हैं।

हम बहुधा लड़कों को कोई नया काम करते देखकर घबड़ा जाते हैं। कहीं छू रहा है, कहीं तोड़ न डाले। लड़के ने हथौड़ा हाथ में लिया और हाँ हाँ हाँ का शोर मचा! ऐसा नहीं होना चाहिए। लड़कों की स्वाभाविक रचनाशीलता को जगाना चाहिए। लड़का खिलौने बनाना चाहे, बेतार का यन्त्र बनाना चाहे, मछली का शिकार करना चाहे, तरकारियाँ पैदा करना चाहे, कपड़े सीना चाहे, बीन बजाना चाहे, नाटकों में अभिनय करना चाहे, या कविता लिखना चाहे, उसे बाधा मत दो। अगर कोई बालक साल के चार हफ्ते भी प्राकृतिक शक्तियों के बीच न रहे, दरिया में किश्ती चलाये मैदान में गाड़ी चलाये या फावड़ा लेकर खेत में काम करे तो उसे आत्म-विश्वास का जो अनुभव होगा वह पुस्तकों और उपदेशों से नहीं हो सकता। आश्चर्य तो यह है कि वह लोग भी जिनकी जवानी कठिनाइयों में गुजरी अपने बालकों को जीवन-संग्राम के उत्साह बढ़ानेवाले कामों से बचाते हैं।

हम यहाँ यह बतला देना चाहते हैं कि स्वाधीनता से हमारा मतलब क्या है? इसका यह मतलब नहीं है कि हम बिना रोक-टोक को कुछ चाहें करें और जो कुछ चाहें न करें। इसका मतलब यह है कि बाहरी दबाव की जगह हम में आत्म-संयम का उदय हो। सच्चा स्वाधीन आदमी वही है जिसका जीवन आत्मा के शासन से सम्मिलित हो जाता है जिसे किसी बाहरी दबाव की जरूरत नहीं पड़ती। बालकों में इतना विवेक होना चाहिए कि वे हर एक काम के गुण-दोष को भीतर की आँखों से देखें।

अप्रैल १६२०

मानसिक पराधीनता

हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं पर मानसिक पराधीनता में अपने-आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं। किसी राष्ट्र या जाति का सबसे बहुमूल्य अंग क्या है? उसकी भाषा उसकी सभ्यता उसके विचार उसका कलचर। यही कलचर हिन्दू को हिन्दू मुसलमान को मुसलमान और ईसाई को ईसाई बनाये हुए हैं। मुसलमान इसी कलचर की रक्षा के लिए हिन्दुओं से अलग रहना चाहता है, उसे भय है कि सम्मिश्रण से कहीं उसके कलचर का रूप ही विकृत न हो जाय। इसी तरह हिन्दू भी अपने कलचर की रक्षा करना चाहता है लेकिन क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों अपने कलचर की रक्षा की दुहाई देते हुए भी उसी कलचर का गला घोंटने पर तुले हुए हैं।

कल्चर (सभ्यता या परिष्कृति) एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक विचार हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धान्त, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार सब हमारे कल्चर के अंग हैं। पर आज हम कितनी बेदर्दी से उसी कल्चर की जड़ काट रहे हैं। पश्चिमवालों को शक्तिशाली देखकर हम इस भ्रम में पड़ गये हैं कि हममें सिर से पाँव तक दोष ही दोष हैं और उनमें सिर से पाँव तक गुण ही गुण। इस अन्धभक्ति में हम उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष। भाषा ही को ले लीजिए। आज अंग्रेजी हमारे सभ्य-समाज की व्यावहारिक भाषा बनी हुई है। सरकारी भाषा तो वह है ही, दफ्तरों में तो हम अंग्रेजी में काम करना ही पड़ता है, पर उस भाषा की सत्ता के हम ऐसे भक्त हो गये हैं कि निजी चिट्ठियों में, घर की बातचीत में भी उसी भाषा का आश्रय लेते हैं। स्त्री पुरुष को अंग्रेजी में पत्र लिखती है, पिता पुत्र को अंग्रेजी में पत्र लिखता है। दो मित्र मिलते हैं, तो अंग्रेजी में वार्तालाप करते हैं, कोई सभा होती है, तो अंग्रेजी में। डायरी अंग्रेजी में लिखी जाती है। वाह! क्या भाषा है! क्या लोच है! कितनी मार्मिकता है, विचारों को व्यंजित करने की कितनी शक्ति, शब्द-भंडार कितना विशाल, साहित्य कितना बहुमूल्य, कितना परिष्कृत, कविता कितनी मर्मस्पर्शिणी, गद्य कितना अर्थबोधक! जिसे देखो अंग्रेजी जबान पर लट्टू, उसके नाम पर कुर्बान है। यहाँ तक कि हमारी योग्यता और विद्वत्ता की यही एक परख हो गयी है कि हम अंग्रेजी बोलने या लिखने में कितने कुशल हैं। पाँचवें क्लास से अंग्रेजी के मुहाविरों को रटना शुरू हो जाता है, पर्यायों के सूक्ष्म अन्तरों पर विचार होने लगता है, अपनी मातृभाषा में अंग्रेजों का ऐक्सेंट और उच्चारण कैसे लायें, इस प्रयत्न में जान खपा दी जाती है। अगर किसी स्वर का उच्चारण अंग्रेजों से उनके मौखिक गठन के दोषों के कारण नहीं होता, तो हम भी अपने में वही बात पैदा करेंगे। आज तक the जैसे साधारण शब्द का भी ठीक उच्चारण—जो अंग्रेजों का भी जैसे—बहुत कम लोग कर सकते हैं और हमारी यह मनोवृत्ति राष्ट्रीय भावों के साथ ही साथ बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि अंग्रेजी ही पठित-समाज की भाषा बन गयी है। अपनी भाषा में बातचीत करते समय कभी-कभी एकाध अंग्रेजी शब्द आ जाने को तो हम मुआफ़ी के काबिल समझते हैं, लेकिन दुःख तो यह है, कि ऐसे सज्जनों की भी कमी नहीं है, जो बहुत थोड़ी-सी अंग्रेजी जानकर भी अंग्रेजी ही में अपनी योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। अंग्रेज स्वप्न में भी किसी अंग्रेज से गैर अंग्रेजी भाषा में न बोलेगा मगर यहाँ हम आपस में ही अंग्रेजी बोलकर अपनी मानसिक दासता का ढिंढोरा पीटते हैं। मैं उस मनोवृत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकता, जो एक ही भाषा-भाषियों को अंग्रेजी में बातें करने की प्रेरणा करती है। किसी मद्रासी, बंगाली या चीनी से तो अंग्रेजी में बातें करने का कोई अर्थ हो सकता है। उनसे बातें करनी जरूरी है और इस वक्त और कोई ऐसी भारतीय भाषा नहीं, जिसका सभी प्रान्तवालों को एक-सा ज्ञान हो

मगर एक ही प्रांत के रहनेवाले एक ही भाषा के बोलनेवाले क्यों आपस में अंग्रेजी बोलें क्यों अंग्रेजी में पत्र लिखें क्यों प्रणाम' या 'नमस्कार' या 'बंदे' या 'नमस्ते' या 'तसलीम' करने के बदले 'मार्निङ्ग-मार्निङ्ग' कहें, यह मेरी समझ में नहीं आता। क्यों हमको ही मुँह से निकले मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता। संसार में ऐसे प्राणियों की कमी नहीं है, जो मैंगनी की चीजों का व्यवहार करके भी सिर उठाकर चलते हैं। उन्हें यही खुशी है, कि लोग मुझे इन चीजों का स्वामी समझते होंगे। अंग्रेजी का व्यवहार करनेवालों की मनोवृत्ति भी कुछ इसी तरह की होती है। या तो उनका अभिप्राय यह होता है, कि देखें हम दोनों में कौन अच्छी अंग्रेजी बोलता है, या यह कि देखो हम कितनी सफाई से अंग्रेजी बोलते हैं तुम में वह सफाई नहीं है। और इसका परिणाम यह होता है कि अच्छी अंग्रेजी लिखनी और बोलनी तो आ जाती है पर अपनी भाषा भूल जाती है या हेय और तुच्छ समझकर भुला दी जाती है। यह हमारे शिक्षित-समुदाय की लज्जाजनक ही नहीं शोकजनक मानसिक दासता है।

फ्रांसीसी कवि फ्रेंच में कविता करता है जर्मन जर्मन में रूसी रशियन में कम से कम जिन रचनाओं पर उसे गर्व होता है, वह अपनी ही भाषा में करता है लेकिन हमारे यहाँ के सारे कवि और सारे लेखक अंग्रेजी में लिखने लगें अगर केवल कोई प्रकाशक उनकी रचनाओं को छापने पर तैयार हो जाय! जिन्हें प्रकाशक मिल जाते हैं वह चूकते भी नहीं चाहे अंग्रेज आलोचक उनका मजाक ही क्यों न उड़ावें मगर वह खुश हैं।

हम मानते हैं कि अंग्रेजी भाषा प्रौढ़ है हरेक प्रकार के भावों को आसानी से जाहिर कर सकती है और भारतीय भाषाओं में अभी वह बात नहीं आयी लेकिन जब वही लोग जिन पर भाषा के निर्माण और विकास का दायित्व है दूसरी भाषा के उपासक हो जायें तो उनकी अपनी भाषा का भविष्य भी तो शून्य हो जाता है। फिर क्या विदेशी साहित्य की नींव पर आप भारतीय राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी करेंगे? यह हिमाकत है। आज हमारा पठित-समाज साधारण जनता से पृथक हो गया है। उसका रहन सहन उसकी बोल-चाल उसकी वेष भूषा सभी उसे साधारण समाज से अलग कर रहे हैं। दाय" वह अपने दिल में फूला नहीं समाता कि हम कितने विशिष्ट हैं। शायद वह जनता को नीच और गँवार समझता है लेकिन वह खुद जनता की नजरों से गिर गया है। जनता उससे प्रभावित नहीं होती उसे 'किरटा' या 'बिगड़ैल' या 'साहब बहादुर' कहकर उसका बहिष्कार करती है और आज सुरा न चाखता वह किसी अंग्रेज के हाथों पिट रहा हो तो लोग उसकी दुर्गति का मजा उठावेंगे कोई उसके पास भी न फटकेगा। जरा इस गुलामी को देखिए, कि हमारे विद्यालयों में हिन्दी या उर्दू भी अंग्रेजी द्वारा पढ़ायी जाती है। अगर बेचारा हिन्दी-प्रोफेसर अंग्रेजी में लेक्चर न दे, तो छात्र उसे नालायक समझते हैं। आदमी के मुख में कलंक लग जाय तो वह शर्माता है, उस कलंक

को छिपाता है, कम से कम उस पर गर्व नहीं करता पर हम अपनी दासता के कलंक को दिखाते फिरते हैं, उसकी नुमाइश करते हैं उस पर अभिमान करते हैं मानो वह नेकनामी का तमगा हो या हमारी कीर्ति की ध्वजा। वाह री भारतीय दासता तेरी बलिहारी है!

भाषा को छोड़िए, वेष-भूषा पर आइए। आप उन साहब बहादुर को देख रहे हैं जो हैट-कोट लगाये अकड़ से इधर-उधर देखते चले आ रहे हैं। यह हमारे हिन्दुस्तानी योरोपियन हैं। रास्ते से हट जाओ, साहब बहादुर आते हैं! साहब को सलाम करो आप पूरे साहब बहादुर हैं! मुझे तो आप सिर से पाँव तक गुलाम नजर आते हैं जो अपनी गुलामी का उसी बेशर्मी से प्रदर्शन कर रहे हैं जैसे कोई वेश्या अपने हाव-भाव का। आपमें आत्मबल अवश्य है बड़े ऊँचे दरजे का आत्मगौरव आप लोक-मत को ठुकरा देते हैं किसी के नाक-भौं सिकोड़ने की परवा नहीं करते जो अपने स्वार्थ के लिए उपयोगी या अपनी मनोतुष्टि के लिए वांछनीय समझते हैं वह अबाध्य रूप से करते हैं। क्यों लोकमत का आदर करें! लोकमत के गुलाम नहीं लेकिन उसी आत्मगौरव के पुतले से कहिए, कि जरा शाम को बिना फेल्टकैप लगाये किसी अँगरेजी-क्लब में चला जाय तो उसके हाथ-पाँव फूल जायँगे खून ठण्डा हो जायगा चेहरा फक हो जायगा। क्यों? इसलिए कि उसका आत्म-गौरव केवल अपने भाइयों पर रोब जमाने के लिए है उसमें सार का नाम नहीं। वह जिस समाज में मिलना चाहता है, उसकी छोटी से छोटी रूढ़िया की भी अवहेलना नहीं कर सकता। जनता को वह समझता है हमारा कर ही क्या लेगी वह खुश रहे तो भला और नाराज रहे तो क्या यह हमारा कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकती। जिससे कुछ बनने-बिगड़ने का भय है उसके सामने वह भीगी बिल्ली बन जाता है। अपने एक मित्र साहब बहादुर से मैंने पूछा—तुम इस ठाठ से क्यों रहते हो तो बड़े दार्शनिक भाव से बोले—इसलिए कि अँगरेजों से मिलने जाता हूँ तो जूते बाहर नहीं उतारने पड़ते। जो लोग अचकन और टोपी पहनकर जाते हैं उन्हें जूते उतार देने पड़ते हैं। मैं कहता हूँ जो स्वार्थ लेकर अंगरेजों से मिलने नहीं जाते वह अचकन नहीं मिर्जई भी पहने हों तो उन्हें जूते उतारने की जरूरत नहीं और जो स्वार्थ लेकर जाते हैं वह किसी रूप में हों उनकी आत्मा दबी रहती है। ऐसे प्राणियों की दशा उस आदमी की सी है, जो अपने कपड़े पर एक दाग को छिपाने के लिए सारा कपड़ा ही काला रँग ले। अगर स्वार्थ मजबूर कर रहा हो तो मेरे विचार में तो जूते उतार देना इससे कहीं अच्छा है, कि हम उस अपमान से बचने के लिए बेहयाई का एक अपराध और अपने सिर पर लें। यह मत समझो कि अंगरेज तुम्हारा कोट-पैंट देखकर तुम्हारा ज्यादा आदर करता है। और अगर ऐसा हो भी तो अपना वेष छोड़कर उस आदर को लेना एक प्याले शोरबे के लिए अपने जन्म-सिद्ध गौरव को बेचना है। एक दूसरे मित्र से यही प्रश्न किया तो बोले—इससे सफर करने में बड़ा सुभीता होता है जनता समझती है यह कोई

-साहब है, मेरे समझ मे नहीं आती। एक और साहब ने कहा—अंग्रेजी कपड़े पहनने से देह मे बड़ी चुस्ती और फुरती आ जाती है। परन्तु लोग तरह-तरह की दलीलों से आपका समाधान कर देंगे। मैं पूछता हूँ—क्यों साहब क्या सारी चुस्ती और फुरती अंग्रेजी कपड़ों म ही है ? क्या यह कोई तिलिस्माती चीज है, कि बदन पर आयी और आपकी देह म स्फूर्ति दौड़ी ! यह दलीलें लचर और लचर है। हाँ इस तर्क में अवश्य सार है, कि जब सारा संसार योरोपीय वेष के पीछे जा रहा है, तो आप उससे अलग कैसे जा सकते हैं। दूसरी दलील यह हो सकती है, कि हमारा कोई जातीय परिधान भी तो नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रांतीय परिधानों की अपेक्षा तो एक सार्वदेशिक योरोपीय परिधान का होना कहीं अच्छा है। बेशक यह टेढ़ा प्रश्न है। यह बात भी विचारणीय है, कि अन्य देशों म अमीर-गरीब सबका पहनावा एक ही है चाहे उसके कपड़े मे कितना ही अन्तर हो। आपके यहाँ किसान मिर्जई या नीमआस्तीन या कुर्ता-धोती पहनता है कहीं तलवार है, कहीं पगड़ी कहीं कंधिया। पहले एक जातीय ठाठ की सृष्टि तो कर लीजिए, फिर विलायती पहनावे पर आक्षेप कीजिएगा। भाषा ही की भाँति एक जातीय पहनावा भी बरसों के बाद कहीं जाकर आविर्भूत होता है किसी संस्था या नीति-द्वारा उसकी सृष्टि नहीं की जा सकती। अभी भारत को एक सार्वदेशिक परिधान के लिए बहुत दिनों तक इन्तजार करना पड़ेगा मगर जब तक वह समय नहीं आता तब तक के लिए हमारे विचार में इस नीति को सामने रखना चाहिए, कि यथासाध्य जनरुचि का सम्मान किया जाय। अगर किसी प्रान्त में जनता कोट पहनती है, तो वहाँ के लिए कोट-पतलून ही उपयुक्त है। इसी भाँति जिन प्रान्तों में साधारण जनता कुरता और धोती पहनती है वहाँ कुरता और धोती को *ही जातीय परिधान के पद पर सम्मानित* करना चाहिए। अभिप्राय केवल यह है, कि शिक्षित-समाज केवल अपनी विशिष्टता या प्रभुत्व जताने के लिए ऐसे वेष-भूषा का व्यवहार न करे जिसम विदेशीपन की झलक आती हो। हो सकता है, कि कुछ लोगों को अंग्रेजी वेष में रहने पर भी जरा अभिमान या स्वार्थ-सिद्धि की भावना न हो पर दुर्भाग्यवश यह विदेशी वेष जनता की आँखों में खटकता है और इसे धारण करनेवाले चाहे देवता ही क्यों न हों वे स्वजाति के द्रोही और शासक जाति के अनन्य भक्त के रूप में नजर आते हैं। संभव है, स्वाधीन हो जाने पर *यही हमारा स्वजातीय वेष हो जाय लेकिन तब इसमें वह कुसंस्कार न रहेंगे* जिन्होंने इस वक्त इसे इतना अवहेलनीय बना रखा है। जरा सोचिए, क्या यह एक पढ़े-लिखे व्यक्ति को शोभा देता है कि वह अपना रहन-सहन ऐसा बना ले कि जनता उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखने के बदले घृणा या भय की दृष्टि से देखे। किसी समय जन रुचि को पद-दलित करने का नतीजा बुरा भी हो सकता है और यह तो स्पष्ट ही है, कि अगर जनता के हाथों में प्रभुत्व होता तो बहुत से अंग्रेजी वेष के प्रेमी यह वेष धारण करने के पहले ज्यादा विचार से काम लेना आवश्यक समझते मगर हमारी यह मनोवृत्ति

भाषा और वेष तक ही रहती तो अधिक चिंता की बात न थी। इसने हमारे चिंतन और सामाजिक विचारों पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया है और अभी से रोक-थाम न की गयी तो एक दिन हमारी जातीय संस्कृति ही का लोप हो जायगा। यह एक साधारण-सी बात है कि पराधीन जाति को अपने में सारी बुराइयाँ और राज्य करनेवाली जाति में भलाइयाँ ही भलाइयाँ नजर आती हैं। हमारी सभ्यता कहती है—अपनी जरूरतों का मत बढ़ाओ ताकि तुम्हारी जात से कुटुम्ब और परिवार का भी कुछ उपकार हो। पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है—अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओ चाहे उसके लिए दूसरों को जेब ही क्यों न काटना पड़े। अपने ही लिए जियो और अपने ही लिए मरो। हमारी सभ्यता कृषि प्रधान थी हम गाँवों में रहते थे जहाँ अपने आत्मीयजनों का संसर्ग बहुत-सी बुराइयों से हमारी रक्षा करता था। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय-प्रधान है और बड़े-बड़े नगरों का निर्माण करती है जहाँ हम सारे बंधनों से मुक्त होकर दुराचरण में पड़ जाते हैं। हमारी सभ्यता में सम्मिलित-कुटुम्ब एक प्रधान अंग था। पश्चिमी सभ्यता में परिवार का अर्थ है—केवल स्त्री और पुरुष। दोनों में बुराइयाँ और भलाइयाँ दोनों ही हैं पर जहाँ एक में सेवा और त्याग प्रधान है वहाँ दूसरे में स्वार्थ और स्वच्छंदता। हमारी सभ्यता में नम्रता का बड़ा महत्व था पश्चिमी सभ्यता में आत्म प्रशंसा को वही स्थान प्राप्त है। अपने को खूब सराहो अपने मुँह खूब मियाँ-मिट्ठू बनो। हमारी सभ्यता में धन का स्थान गौण था विद्या और आचरण से आदर मिलता था। पश्चिमी सभ्यता में धन ही मुख्य वस्तु है। हम भी धन कमाते थे पर दया के साथ। पश्चिम भी धन कमाता है पर दया का नाम नहीं। हमारी सभ्यता का आधार धर्म था पश्चिमी सभ्यता का आधार स्वार्थ है।

लेकिन यहाँ हम अपने सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करने बैठे हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है, कि हमें हरेक पश्चिमी चीज के पीछे आँखें बंद करके चलने की जो प्रवृत्ति हो रही है, वह केवल हमारी मानसिक पराधीनता के कारण। हमारी सभ्यता में भी रोग थे मगर उसकी दवा योरोपीय सभ्यता की अंधभक्ति नहीं है। उसकी दवा हमें अपनी ही संस्कृति में खोजनी थी। योरोपीय सभ्यता की नकल करके हम अपने यहाँ भी उन्हीं दवाओं का व्यवहार करना पड़ेगा जो योरोप कर रहा है। योरोप पथ भ्रष्ट है, उसे अपने रास्ते का ज्ञान नहीं और आज योरोप के विचारवान् लोग कह रहे हैं, कि यह संस्कृति अब विध्वंस के पथ में जानेवाली है। क्या हम भी उन्हीं बुराइयों की नकल करके अपनी संस्कृति को भी विध्वंस के पथ में ढकेलने की तैयारी करें? यह समझ लीजिए, कि यह राजनीतिक परिस्थिति नहीं रहेगी पर इस परिस्थिति में हमने अपने अस्तित्व को खो दिया अपने धर्म की सत्ता खो दी अपनी संस्कृति को गा बैठे तो हमारा अंत हो जायगा।

जनवरी १९३१

राष्ट्रीय कार्यों में गुलामी

हम यह देखकर महान् दुःख होता है कि हमारे राष्ट्रीय कार्यों में अब भी अंग्रेजी का वही प्राधान्य है और महात्मा जी ने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को हिन्दी के विषय में जो उपदेश दिया था उस पर ध्यान नहीं दिया गया। अन्य प्रान्तवाले अगर हमारे प्रान्त में अंग्रेजी का आश्रय लें तो किसी हद तक क्षमा के पात्र हैं मगर दुर्रा तो यह है कि इसी प्रान्त के कांग्रेसी कार्यकर्ता अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार करना अंग्रेजी में रिपोर्ट लिखना अंग्रेजी में नोटिस प्रकाशित करना अपने लिए शान समझते हैं। जब राष्ट्रीय नेताओं के हाथों राष्ट्र भाषा का यह अनादर हो तो किससे शिकायत की जाय। शायद भाषा में लिखना-पढ़ना हमारे कांग्रेसी नेताओं को भी अपनी मर्यादा के विरुद्ध जान पड़ता है। वह अपनी अंग्रेजी योग्यता का प्रदर्शन करके जनता को शायद प्रभावित करना चाहते हैं। अगर उनकी यह मनोवृत्ति है और इसके सिवा हो ही क्या सकती है तो ऐसे सज्जन दया के पात्र हैं क्योंकि वह खुद अपनी मानसिक पराधीनता की डौंडी पीट रहे हैं। इसमें बहुत से अच्छी अंग्रेजी योग्यता रखते हैं। वह दिल में सोचते होंगे अगर हिन्दी में लिखा-पढ़ा तो हमारे अंग्रेजी पढ़ने का क्या फल ? यह भी हो सकता है कि उन्हें हिन्दी में लिखने का शऊर न हो। यदि ऐसा है तो जनता को चाहिए, ऐसे गुलाम तबीयत के लोगों का तिरस्कार करे। कांग्रेस जो कुछ अन्य देशों में प्रचार के लिए करती है, उसका अंग्रेजी में होना तो हमारी समझ में आता है। अन्य प्रान्तों में पत्र-व्यवहार करने के लिए भी अभी कुछ दिन अंग्रेजी का मुँह ताकना पड़ेगा। लेकिन जो बातें इसी प्रान्त तक रह जाती हैं उनके लिए अंग्रेजी के दामन में मुँह छिपाना लज्जास्पद और राष्ट्रीय आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है। कम से कम इस प्रान्त में जो लोग हिन्दी लिपि उतनी सरलता से नहीं लिख सकते जितनी सरलता से वह अंग्रेजी लिख लेते हैं उन्हें अपने ऊपर लज्जित होना चाहिए।

अप्रैल १९३१

अंग्रेज़ी भाषा का रोग

हम 'हंस' के पाठकों का ध्यान इस विषय की ओर पहले भी आकृष्ट कर चुके हैं। हमें यह लिखते दुःख होता है कि हमारे राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी इस रोग में उतने ही ग्रस्त हैं जितने सरकार के कर्मचारी या वकील या कालेजों के अध्यापक। इसमें सन्देह नहीं कि वे खद्दर पहनने लगे हैं पर उनके मनोभावों में भारतमात्र भी संस्कृति नहीं आयी। किसी कमेटी की बैठक में चले जाइए, आप खद्दरधारी महाशयों को फर्राटे से

अंग्रेजी म्यवहार हुए पायेंगे । वह शब्द और वाक्य जो उन्होंने दैनिक पत्रों या अंग्रेजी पत्रों में पढ़े हैं बाहर निकलने के लिए अकुलाते रहते हैं और अवसर पाते ही फूट निकलते हैं । हँसी तो तब आती है जब यह हजरत अंग्रेजी न जाननेवाली महिलाओं के सामने भी अपने साहित्य से बाज नहीं आते । अंग्रेजी भाषा का यह बाहू कब तक हमारे सिर पर रहेगा ? कब तक हम अंग्रेजी के गुलाम बने रहेंगे । इससे तो यही टपकता है कि राष्ट्रीयता अभी हृदय की गहराई तक नहीं पहुँचने पायी । महात्मा गांधी के सिवाय हम किसी नेता को हिन्दी भाषा के प्रचार पर जोर देते नहीं देखते । यह विदित रहे कि जब तक हमारी राष्ट्रभाषा का निर्माण न होगा भारतीय राष्ट्र का निर्माण ख्वाब और खयाल है । जापानी जापानी में अपने भावों का प्रकट करता है चीनी चीनी भाषा में । ईरानी फारसी में लेकिन भारत की शिक्षित जनता अंग्रेजी पढ़ने और बोलने में अपना गौरव समझती है । कितने ही सज्जन तो यह कहने में संकोच नहीं करते कि हिन्दी लिखने या बोलने में उन्हें असुविधा होती है । यह सीधी-सादी मानसिक दासता है । बड़े से बड़ा हिन्दुस्तानी भी एक गोरे से बात करता है तो अंग्रेजी में । वह यह भूलकर भी नहीं सोचता कि अंग्रेज हिन्दुस्तानी में क्यों न बात करे । और अवसरों में अंग्रेजी में बात करने को किसी हद तक क्षम्य भी मान लिया जा सकता है लेकिन आपस में अंग्रेजी में बातचीत करने के लिए तो कोई दलील ही नहीं ।

सितम्बर १९३१

फ़ौजी कालेज की आयोजना

फ़ौजों को भारतीय बनाने के लिए फ़ौजी अफ़सरों की जरूरत है और अफ़सरों की फ़ौजी तालीम के लिए एक कालेज होना चाहिए । वैसे ही एक कालेज बनाने की स्कीम तैयार करने के लिए एक कमेटी बनायी गयी थी जिसके सभापति भारत के फ़ौजी लाट थे । उस कमेटी ने अब अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी है । उसे देखकर हमें निराशा हुई । लाट साहब साठ अफ़सर प्रतिवर्ष उस विद्यालय से निकालना चाहते हैं । कमेटी के गैर-सरकारी सदस्य उस संख्या को एक सौ बीस तक ले जाते हैं । भारत में चार हजार फ़ौजी अफ़सर हैं । इस हिसाब से यदि बीच में कोई अंग्रेज अफ़सर न लिया जाय तो इतने अफ़सरों के तैयार करने में पैंतिस बरस लग जायेंगे । और लाट साहब की संख्या के हिसाब से सत्तर बरस । इससे तो यही साबित होता है कि सरकार अपने फ़ौजी आधिपत्य की अवधि को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहती है । जिन दिनों योरोप में लड़ाई हो रही थी युवकों को चंद हफ्ते कवायद सिखाकर काम पर भेज दिया जाता था और वहाँ वे अफ़सर बड़ी योग्यता से अपना काम करते थे । कम से कम उनके विरुद्ध कोई शिकायत

नहीं सुनी गयी। पर भारत में चार हजार फौजी अफसर तैयार करने में पैंतिस या सत्तर वर्ष लगते हैं ! इससे सरकार की नीयत साफ जाहिर होती है । हम पूछते हैं हमें चार हजार अफसरों की जरूरत ही क्या है ? जब हमारी देश-रक्षा का भार हमारे ऊपर होगा तो हम निश्चय कर लेंगे कि हमें इससे कम अफसरों की जरूरत है या ज्यादा । इतने ही खर्च में हम ऐसे-ऐसे दो विद्यालय खोल सकते हैं और पैंतिस वर्ष में जो काम होगा उसे सत्रह वर्षों में पूरा कर सकते हैं । हमारा तो ख्याल है कि फौजी कालेज के अलग होने की जरूरत नहीं । हमारे विद्यालयों में जैसे साइंस का प्रबन्ध है वैसे ही फौजी तालीम का भी प्रबन्ध हो सकता है । पहाड़ खोदकर चुहिया निकालना हमारी सरकार की पुरानी नीति है । खैर, हमें यही खुशी है कि कई कमीशनों और कमेटियों के बाद यह नौबत तो आयी । अब यह देखना है कि इस रिपोर्ट को कार्य रूप में लाने में कितना समय लगता है । रिपोर्ट में १९३२ से कालेज खोल देने की बात कही गयी है । देखिये ।

सितम्बर १९३१

नवीन और प्राचीन

पूर्व और पश्चिम की प्राचीन संस्कृति में विशेष अन्तर न था । हाँ चूँकि नयी संस्कृति का बड़ा भाग पश्चिम से आया है, इसलिए उसे पश्चिमी की उपाधि मिल गयी है । पश्चिमी संस्कृति हमें बहुत दिनों तक चकाचौंध में डाले रहा । उसकी चटक-मटक देखकर हम ऐसे मतवाले हुए, कि जो कुछ सुन्दर और सरल भी हमारे यहाँ था वह भी हमारी नजरों से गिर गया । वक्त की पाबन्दी ही लीजिए ! हमारे यहाँ पुरानी सभ्यता यह थी कि कोई परिचित या मित्र जिस वक्त चाहे हमारे पास बे रोक टोक आ सकता था । हम उससे बातें करके खुश होते थे । उस वक्त हमें यह विचार कभी न सताता था कि इस मनुष्य के आ जाने से हमारा समय नष्ट हो रहा है । एक मित्र की दिलजोई हमारी निगाह में रुपये से कहीं ज्यादा मूल्यवान थी । लेकिन अब हम हरेक चीज को रुपये के काँटों पर तौलते हैं, इसलिए किसी ऐसे आदमी का आना जिससे हमारा कोई स्वार्थ न सिद्ध होता हो हमें जहर-सा लगता है । एक आदमी आपको अपना हितैषी समझकर अपना दुःख रोने या केवल विनोद के लिए आपके पास आता है और आप उसके पास एक मिनट बैठना भी भार समझते हैं । क्योंकि अब समय का मूल्य रुपये से आँका जाता है । मनुष्यता सहानुभूति दिलजोई किसी से प्रयोजन नहीं है । बस जो कुछ है रुपया है । अब हमारे बड़े आदमियों के द्वार पर भी भीतर और बाहर का नियम लगा रहता है । जिससे स्वार्थ है, उसके लिए भीतर है । जिससे कोई प्रयोजन नहीं उसके लिए बाहर है । और हम इस संस्कृति का बखान करते नहीं थकते ।

पश्चिम आदमियत का गला घोंटकर स्वार्थ की मशीन बन गया है। वही हम यह सिखा रहा है।

पूर्वीय सभ्यता अतिथियों के आगमन से फूल उठती थी इसे अपना अहोभाग्य समझती थी कि कोई मेहमान आया वह आधी रात को आये या पिछली रात को उसकी खातिरदारी में कोई कमी न होती थी। वह घर में सबसे अच्छी जगह पाता था सबसे अच्छा भोजन खाता था और सारा घर उसकी सेवा सत्कार में लगा रहता था। अब पश्चिम की सभ्यता ने हमें रोने-धोने बनना सिखा दिया है। मेहमान आया और हमारे प्राण-पखेरू उड़ गये। कहाँ से कहाँ यह बला सिर पड़ी अब मना रहे हैं कि वह जल्द से जल्द रफा हो जाय! गृह-स्वामी का मुँह उतरा हुआ है स्वामिनी की भवें चढ़ी हुई हैं। मालूम होता है कोई यमराज अपनी अँधेरी छाया डाले हुए है। बाबू साहब अपना कमरा नहीं छोड़ सकते। मेहमान बाहर बरामदे में टिका दिया जाता है। स्वामिनी जमाने भर की लौंडी नहीं है, कि जो चाहे दनदनाता चला आये और वह सब के लिए भोजन बनाने बैठे। उसे तो अपने घरवालों के लिए भोजन बनाना पहाड़ हो रहा है। तब तक यह यमदूत न जाने कहाँ से फट पड़े। और भँवर तो देखो पहले से सूचना भी न दी नहीं कोई बहाना कर देते कि बीमार हैं या कहीं बाहर जा रहे हैं। जिस दिन मेहमान विदा होता है घर में जैसे नया दिन होता है। हम इतने स्वार्थी इतने संकीर्ण हो गये हैं कि निःस्वार्थ-भाव से कोई काम नहीं कर सकते। अगर अतिथि कोई मुकदमा लाया हो या उससे किसी मोटे मरीज के फँसने की आशा हो या उसके जरिये कोई बड़ा आर्डर मिलने की सम्भावना हो तो फिर परिस्थिति बदल जाती है। उस अतिथि की खूब खातिर होती है मालूम होता है, सारा घर उस पर प्राण दे रहा है। यहाँ भी वही रुपया वही हाय! हाय! और जो सज्जन नये रंग में जितने रँगे हैं उनमें यह संकीर्णता उतनी ही अधिक है। देहातियों में मजूरों में गैरों में यह प्रवृत्ति अभी उतनी तीव्र नहीं है जितनी शिक्षित और सभ्य समाज में। अपने लिए, जो कुछ हो अपने लिए, यही उनका जीवन तत्व है। हम यह नहीं कहते कि इस नयी संस्कृति में और उस पुरानी अतिथि-सेवा में सब बुराइयाँ ही बुराइयाँ या खूबियाँ ही खूबियाँ हैं। पुराने आतिथ्य में बहुधा बेफिकर और निकम्मे मेहमान सिर पर सवार हो जाते थे। लेकिन बेफिकर या निकम्मे आदमियों के सत्कार में भी तो कुछ सज्जनता थी कुछ उदारता थी। इस नयी संकीर्णता में तो कोरा स्वार्थ है कोरी खुदगर्जी।

पश्चिम ने हमें सबसे बहुमूल्य जो पाठ पढ़ाया है वह यही खुदगर्जी है। समस्त संसार को स्वार्थ के परों तले रौंदकर वह अब स्वार्थ का पिशाच हो गया है। उसमें न हृदय है न कोमलता है न दर्द है। बस सिर से पैर तक भीतर से बाहर-तक स्वार्थ भरा हुआ है। हँसना-बोलना रोना-गाना एक भी स्वार्थ से खाली नहीं। प्राचीन संस्कृति में चिकित्सक के लिए किसी मरीज से फीस लेना हराम था। वैद्य जी या हकीम साहब

था जिस वक्त किसी मरीज का बुलावा मिल जाय उसी वक्त घर से चल पड़ना अनिवार्य था उसमें कोई रियायत न थी। हकीम भी अक्सर दवा भी मुफ्त ही देते थे या कोई नुस्खा लिखते थे तो उसमें दवा के बहाने फ़ीस वसूल करने की कल्पना तक उनके मन में न आती थी। मरीज की सेवा करना उनका धर्म था। इसी को वह अपना गौरव समझते थे पर आज जो कुछ होता है, वह हम रोज ही देखते हैं। हाँ उस परिपाटी का एक चिह्न अभी बाकी है। कितने ही वैद्य या डाक्टर घर पर मरीज से फ़ीस नहीं लेते। हाँ दवा में कुछ इसकी मजाहत निकाल ली जाती है। यही वह आत्मोन्नति है जो पश्चिम के इन डेढ़ सौ सालों ने हमें दी है। वकील पुराने जमाने में भी होते थे अध्यापकों से भी प्राचीन युग खाली न था पर वकील सरकार से वेतन पाता था और अध्यापक भिक्षा माँगकर विद्या-दान देता था। मनुष्य स्वार्थ का पुतला होकर रह गया है। अगर उसमें प्रतिभा है तो संसार का उससे कोई उपकार नहीं हो सकता। वह वायुयान पैदा करेगा पहाड़ों पर जायगा हवा में उड़ेगा शराबें उड़ायेगा। मुफ्त में क्यों किसी की सेवा करे। उसके पश्चिमी गुरु ने उसे यह नया पाठ पढ़ाया है। अब तो हमारे महात्मा लोग बिना पैसे के आशीर्वाद भी नहीं दे सकते। पहले बुद्धि या सिद्धि की सफलता सेवा और उपकार में थी अब स्वार्थ-सिद्धि में। मरीज के होठों पर प्राण आये हों डाक्टर साहब बिना फ़ीस लिये नहीं जा सकते। यह तो दूनी-चौगुनी फ़ीस वसूल करने का मौका है। ऐसे शिकार क्या रोज फँसते हैं। जब सभी स्वार्थ के उपासक हैं कुएँ में भंग पड़ गयी है तो हमारे अध्यापक ही ने क्या अपराध किया है। वह भी योरोप जायँगे वहाँ से लौटकर लम्बा वेतन लेंगे। 'कैरियर' बनाना ही तो जीवन का उद्देश्य है। वाह रे पश्चिम! तेरी लीला ईश्वर की लीला से भी विचित्र है। क्या वे दिन फिर कभी आवेंगे जब हमारी पुरानी संस्कृति का अभ्युदय होगा! उस संस्कृति का जिसमें गरीबी कलंक न थी। क्या आशा है।

नवम्बर १९३१

संयुक्त प्रान्त के दो कन्वोकेशन

युनिवर्सिटी तो भारत में कोई है नहीं हाँ ग्रेजुएट बनाने के कई कारखाने हैं। इस लिहाज से संयुक्त प्रान्त भारत का लंकाशायर या बम्बई है। यहाँ ऐसे-ऐसे पाँच बड़े-बड़े कारखाने हैं जहाँ युवकों को दुर्व्यसन और फिजूलखर्ची और विलासिता और झूठे अभिमान की शिक्षा दी जाती है। बी० ए० पास होने का अर्थ व्यावहारिक रूप से यही है कि अमुक युवक इन दुर्गुणों में पास हो चुका है। वह सिवा दफ्तर में कलम घिसने के और किसी काम का नहीं। उस गरीब का कोई दोष नहीं। वह तो गुरु इस

मशीन में बना है। आखिर उसने जो कुछ देखा है, जो कुछ सुना है, जो कुछ पढ़ा है वही आदर्श तो उसके सामने है। किसी युनिवर्सिटी में चले जाइए। वहाँ आपको भारतीयता की कहीं गन्ध भी न मिलेगी। वहाँ अंग्रेजी भाषा का, अंग्रेजी वेश का, अंग्रेजी आचार का ही आधिपत्य है। त्याग और प्रेम के आदर्श का एक सिरे से बहिष्कार कर दिया गया है। वहाँ वही विद्वान् है, जो इंग्लैण्ड से कोई बड़ी-सी उपाधि लाया है। वहाँ जो कुछ है, उपाधि है। इन विद्यालयों ने भारत में 'फैशनेबुल' सम्प्रदाय की सृष्टि करने में जो काम कर दिखाया है वह और किसी ने नहीं किया। जो उसकी चार दीवारी के अन्दर रह आया उस पर वहाँ का जादू ऐसा चढ़ा कि उम्र भर नहीं उतरता। भारत की व्यक्तिगत आय अधिक से अधिक तीन रुपया महीना है पर हमारा उपाधिधारी युवक साठ रुपये से कम में गुजर ही नहीं कर सकता। वह अकेला बीस आदमियों का हिस्सा चट कर जाता है और उसके अध्यापक कम से कम दो सौ व्यक्तियों के। भारत जैसे गरीब देश में ही यह अन्धेर हो सकता है कि यहाँ के राजपद-भोगियों का वेतन संसार के धनवान देशों से कई गुना बढ़ा हुआ है। वही अंधेर हमारे विद्यालय में भी है क्योंकि वह भी उसी दफ्तरी शासन का एक अंग है। हमारे वाइसचांसलर साहब को महीने में तीन हजार चाहिए। जिस विद्यालय का मुख्याधिष्ठाता विद्यार्थियों के सामने यह आदर्श रख रहा है उस विद्यालय में छात्र अगर धन के उपासक हो तो क्या आश्चर्य है। कहा जायगा इंग्लैण्ड में भी तो प्रोफेसरों के वेतन कम नहीं हैं लेकिन कहाँ इंग्लैण्ड और कहाँ भारत।

खैर, अब की उपाधि-वितरण के अवसर पर इलाहाबाद के कारखाने में सर रमन का भाषण हुआ और लखनऊ के कारखाने में सर राधाकृष्णन का। सर रमन चोटी के वैज्ञानिक हैं और सर राधाकृष्णन चोटी के फिलासफर पर इन दोनों भाषणों में बड़ा अन्तर है। सर रमन ने तो प्रयाग के कारखाने की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और उसे आदर्श विद्यालय कहा है हालाँकि उसी प्रयाग के कारखाने में जब कुछ किफायत का प्रश्न उठा तो कारखाने की प्रबन्धकर्तृ कमेटी ने यह निश्चय किया कि हॉस्टल के छात्रों की फीस बढ़ा दी जाय क्योंकि अध्यापकों के वेतन में तो किसी तरह कमी हो ही नहीं सकती। यह है उस विभाग का हाल जिस पर हमारा स्वराज्य है। रमन साहब ने तो प्रयाग विश्वविद्यालय की तुलना इंग्लैण्ड से करने में भी संकोच न किया। जिस विद्यालय में हमारे युवकों के चरित्र का निर्माण होता है वहाँ स्वार्थपरता अपने नग्न रूप में खड़ी हो यह हमारे दुर्भाग्य की बात है। और विभागों से तो हम शिकायत नहीं। उनका अस्तित्व बल पर है। वह पशुबल से जितना चाहते हैं हमसे वसूल करते हैं, जैसे चाहते हैं राज करते हैं। हम विवश हैं। लेकिन विद्यालय तो हमारी सभ्यता के आदर्श हैं। सर रमन के शब्दों में—'हम एक महान सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं'—अब वहाँ स्वार्थ का प्रकोप इतना व्याप्त हो रहा है तो हम अपने भविष्य की ओर से निराश हो जाते

है। हम अपने विद्यालयों से यह आशा करते हैं कि इस अनाचार के अवसर पर वह स्वयं अपना काम कम कर देते तब शायद अन्य सरकारी विभागों की आँखें खुलतीं। कम से कम हम अपने विद्यालयों पर गर्व करने का मुँह होता लेकिन इस नीति से काम लेकर उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे भी स्वार्थोपासना में दूसरे विभागों से जौ भर भी कम नहीं हैं। हम ऐसे विद्यालयों को अपनी महान् सभ्यता का उत्तराधिकारी नहीं समझते बल्कि उसके लिए कलंक समझते हैं। हमारे विद्यालयों का आदर्श कुछ और था और वह अब भी कुछ छोटे रूप में गुरुकुलों में देखा जा सकता है। सबसे मार्के की जो बात सर रमन ने कही वह यह थी—

'हिन्दुस्तान के विद्यालयों का यह धर्म नहीं है कि वह इस क्रान्ति और परिवर्तन की गति को और भी तेज बनाएँ बल्कि उनका वास्तविक धर्म है कि वह जातीय विकास को इस द्रुत गति के लिए एक ब्रेक—रुकावट—का काम दें। भारत में इस समय जो क्रान्ति व्याप्त हो रही है उसका तत्त्व हमारी समझ में सर रमन ने नहीं समझा। भारत की क्रान्ति केवल अपनी आत्मा को पा जाने की इच्छा है। हम देख रहे हैं कि योरोप की स्वाधीनता और कृत्रिमता और हृदयहीनता भारत को ग्रस्त करती चली जाती है। हमारे विद्यालयों की स्थापना इसी उद्देश्य से सरकार द्वारा हुई थी और सरकार को अपने उद्योग में पूरी सफलता हुई। हमारी क्रान्ति अपनी खोयी हुई आत्मा को—अपने त्याग और सरलता और भ्रातृभाव को—फिर वापस लाना चाहती है और इस पश्चिमी संघर्ष और स्वार्थवाद को मिटाकर उसकी जगह सहयोग और सहृदयता को आसीन देखने की इच्छुक है। इसकी गति में ब्रेक लगाने का अर्थ यही हो सकता है कि भारत इस पतन को चुपचाप देखता रहे। घर में आग लग जाने पर उसे जल्द से जल्द बुझाना चाहिए क्योंकि विलम्ब से सर्वनाश की ही सम्भावना है।

लखनऊ विश्वविद्यालय में सर राधाकृष्णन का भाषण अपनी निर्भीकता और राष्ट्रीय भावों के प्रचार से इस प्रकार के भाषणों में अद्वितीय है। सर राधाकृष्णन ने अधिकारियों की खुशी या नाखुशी की बिलकुल परवाह न करके सच्ची और बेलाग बातें कह सुनायी हैं। इस आन्दोलन-काल में विद्यालयों का क्या धर्म है और युवक छात्रों से क्या आशाएँ की जानी चाहिए इसका उन्होंने एक सच्चे देशभक्त की भाँति विवेचन किया है। हम हमेशा सुनते आये हैं कि फिलासफरों को अपनी बाल की खाल निकालने के सिवा और किसी बात की चिन्ता ही नहीं होती। फिलासफरों के सम्बन्ध में कितनी ही हास्यास्पद कथाएँ प्रचलित हैं पर सर राधाकृष्णन के इस भाषण ने सिद्ध कर दिया कि वह फिलासफर होते हुए भी राष्ट्र के दुःख से दुःखी हैं और शिक्षित समुदाय का इस समय क्या धर्म है इसे अच्छी तरह समझते हैं। विचारों की प्रौढ़ता और उदारता में हमने किसी कन्वोकेशन में ऐसा भाषण नहीं सुना। उसका एक-एक वाक्य दिल पर असर करनेवाला है। आपने कहा—

'बुद्धिमान आदमी का यह दावा नहीं होता कि हरेक विषय में वह कोई न कोई राय दे सकता है, न वह किसी लेखक का सार एक वाक्य और किसी संस्कृति का तत्व एक शब्द में प्रकट करता है। बुद्धिमान मनुष्य में दृष्टि का विस्तार, विचार की स्वाधीनता और नवीनता और अन्य मनोभावों को समझने की शक्ति होती है। वह हमेशा उन विचारों से सहानुभूति रखने को तैयार रहता है जिनसे उसे मतभेद है।

आगे चलकर आपने इन वाक्यों में विद्यालयों के पुराने आदर्श पर प्रकाश डाला—

'प्राचीनकाल में विद्यालयों के संस्कार की उपमा एक मशाल से दी जाती थी जो एक हाथ से दूसरे हाथ और एक युग से दूसरे युग तक चलती रहती थी। यह मशाल एक भयंकर वस्तु है। इसने कितने ही आन्दोलनों को उठाया है, कितनी ही हलचल मचायी है। यह क्रान्ति भावना की बोधक है, यह आग है जो घास-फूस और गन्दगी को जलाकर साफ कर देती है। अगर हम उन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक आन्दोलनों से भयभीत हो जायें जो इस आग के फलने से पैदा होते हैं तो हम विद्यालयों से दूर ही रहना चाहिए।

आपने आगे चलकर कहा कि विद्यालय में युवावस्था का जोश और सजीवता होनी चाहिए। अगर विद्यालय ऐसे मनुष्य पैदा करता है जो दिल के चोर हैं, जो अपनी जान की खैरियत मनाते हैं, जो ऐश आराम के बन्दे हैं, जो जोखिम से बचते हैं तो वह विद्यालय अपने धर्म का पालन नहीं कर सकता। अगर वह उत्साह और पौरुष से भरे हुए युवकों को लेकर उन्हें थोड़े स्वार्थों और प्रथाओं का गुलाम बना देता है, अगर वह उनके विचारों को कठोर कर देता है और उनकी आगे बढ़ने की शक्ति को निर्जीव कर देता है तो वह अपने धर्म से दूर चला गया है।

यह भाषण आदि से अन्त तक इतना ओजस्वी, इतनी विद्वत्ता से भरा हुआ है कि हममें से हरेक को उसे बार-बार पढ़ना चाहिए।

दिसम्बर १९३१

स्वामी श्रद्धानन्द और भारतीय शिक्षा प्रणाली

यों तो स्वामी जी प्राचीन आर्य आदर्शों के पूर्ण रूप में प्रचारक थे, पर मेरे विचार में राष्ट्रीय शिक्षा के पुनरुत्थान में उन्होंने जो काम किया है उसकी कोई नज़ीर नहीं मिलती। ऐसे युग में जब अन्य बाज़ारी चीज़ों की तरह विद्या बिकती है, यह स्वामी जी ही का दिमाग था जिसने प्राचीन गुरुकुल प्रथा में भारत के उद्धार का तत्व समझा। लड़का जैसी शिक्षा पाता है वैसा ही मनुष्य बनता है। हमारे विद्यालय ही राष्ट्र की

संस्कृति के सबसे बड़े रक्षक हैं। विद्यालय पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहिए, चाहे स्वराज्य हो या परराज्य। राज्य से किसी प्रकार की सहायता लेना मानो शिक्षा का गला घोंटना है। और जब शिक्षा के परों में बेड़ियाँ पड़ गयीं तो उस शिक्षा की गोद में पले हुए आज भी गुलाम मनोवृत्ति के मनुष्य हों तो कोई आश्चर्य नहीं। राज्य-परिवर्तन होते रहते हैं राष्ट्र के आदर्शों में कोई परिवर्तन नहीं होता। अगर उसके आदर्श बदल जायें तो उसकी परम्परा नष्ट हो जाय और वह राष्ट्र अपने व्यक्तित्व को खो बैठे। बौद्धकाल तक गुरुकुल प्रथा जीवित रही। मुसलिम युग में वह प्रथा नष्ट हो गयी और उसके नष्ट होते ही राष्ट्र नौका का लंगर उखड़ गया। जीवन के किसी विभाग पर नियंत्रण न रह सका। वर्ण और आश्रम जो प्राय संस्कृति के स्तम्भ थे अपना असली रूप खोकर जात-पाँत के रूप में आ गये और गेरुए वस्त्रधारी अकर्मण्य पेट के बन्दों ने संन्यास और वानप्रस्थ का स्थान छीन लिया। अंग्रेजी राज्य में नये-नये विद्यालय खुले मगर उनका आदर्श और उद्देश्य कुछ और था। वह दफ्तरी शासन का एक विभाग मात्र था जिसका उद्देश्य सत्य की खोज और संस्कृति का विकास नहीं दफ्तरों के लिए कर्मचारियों का *निर्माण था। वहाँ की पुस्तकों पर शिक्षाविधि पर, अंग्रेजी राज की छाप थी। छात्रों के* आत्मसम्मान को कुचला जाता था। कोई दुकानदारी भी वहाँ पग-पग पर छात्रों से कुछ न कुछ वसूल करने की फिक्र रहती है। जुर्मानों का बाजार गर्म है। हाजिर न हो सको तो जुर्माना दो देर में आओ तो जुर्माना शरारत करो तो जुर्माना सबक याद न हो तो जुर्माना दजनों तरह की फीस—पढ़ाई की फीस पुस्तकालय की फीस साइंस की फीस इम्तहान की फीस रोशनाई की फीस। ऐसी संस्थाओं के छात्रों से यह आशा करना कि वह राष्ट्र की कोई सेवा करें दुराशामात्र है। उनकी तो आत्मा कुचली जा चुकी है।

भारत के प्राचीन आदर्श की इस पश्चिमी आदर्श से जरा तुलना कीजिए। यहाँ हमारे वाइस चांसलर साहब साढ़े तीन हजार रुपया महीना वेतन पाते हैं। कितना शानदार आपका बँगला है कितनी अच्छी-अच्छी मोटरें हैं कितने स्टाइल में रहते हैं! प्रिंसिपल साहब का वेतन भी लगभग दो हजार है। उतना शानदार बँगला तो आपका *नहीं है पर आप सिगार ज्यादा कीमती पीते हैं। सेंडिलों में आपकी ज्यादा पहुँच है।* घुड़दौड़ के शौकीन हैं ही। प्रोफेसर रीडर लक्चरर डेमान्स्ट्रेटर ट्यूटर डिमॉन्स्ट्रेटर गरज ऊपर से नीचे तक वही शान वही नमूना वही ठाट। इस वातावरण में चरित्र का जिक्र ही क्या। किसी पुराने संन्यासी को लाकर बिठायें तो वह भी विलायती फैशन और रैसे का गुलाम हो जाय कोमल-हृदय युवकों का पूछना ही क्या। जीवन के वह तड़कभड़क और स्पर्धा और मिथ्या मोह के दृश्य देख-देखकर युवक भी वही रंग पकड़ता है। सिगार और सेंडेल, बहुसंख्यक सूट और न जाने क्या-क्या बलाएँ उसके पीछे पड़ जाती हैं नहीं बल्कि उसके सिर पर सवार हो जाती हैं। उन व्यसनों को पूरा करने के लिए वह झूठ दम बहानेबाजी सभी कुछ करता है यहाँ तक कि आत्म-सम्मान तक

जो बैठता है। वह संकटों का जरा भी मुकाबला नहीं कर सकता। उसे किसी न किसी के आश्रय की जरूरत है। अपने दम पर तो खड़ा ही नहीं रह सकता। जो एक वक्त चाय न मिलने से बदहवास हो जाय, एक वक्त सिगार न मिले तो पागल हो जाय, वह जीवन-संग्राम का क्या मुकाबला कर सकता है। इस परिस्थिति में भी कभी-कभी रत्न निकल आते हैं। लेकिन वह अपवाद है।

प्राचीन प्रथा की तरफ आँखें उठाइए। कुलपति है, वह ज्ञान की मूर्ति, विद्या का मरहार, जमीन का फर्श-गम बसे हुए और संसार के प्रलोभनों से ऊँचा उठा हुआ। अध्यापक भी उसी रंग में रंगे हुए, कहीं आडम्बर नहीं, कहीं मिथ्याभिमान नहीं। वहाँ शान इसमें नहीं कि कौन कितना धनी है, किसके पास कितने अच्छे सूट हैं, या कौन सिनेमा ज्यादा देखता है, बल्कि इस बात में कि किसमें ज्यादा ज्ञान है, किसमें ज्यादा भक्ति या विद्वत्ता है, कौन ज्यादा स्वावलम्बी है, किसमें सत्य और महात्मा का भाव अधिक है। दोनों आदर्शों में कितना अन्तर है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इसी भारतीय आदर्श को जिन्दा कर दिखाया। समय उनके अनुकूल न था, विरोधियों का पूछना ही क्या, चारों तरफ बाधाएँ ही बाधाएँ। पर जितने आदर्शवादी थे उतने ही हिम्मत के धनी थे। किसी बात की परवाह न करते हुए गुरुकुलों की स्थापना कर दी। यद्यपि जमाने ने गुरुकुल पर भी अपना कुछ न कुछ असर जमाया। गुरुकुल से निकले स्नातकों को जिस दुनिया में आना पड़ा वह एक और ही दुनिया थी और उसमें सम्मानपूर्वक रहने के लिए उन्हें अपने जीवन में कुछ न कुछ रद्दोबदल करनी पड़ी और वह आदर्श सजीव और सुन्दर, अपने प्राचीन गौरव से तेजस्वी बनावट और मिथ्या को ठुकराता नहीं दया को आँखों से देखता हुआ प्रतिकूल परिस्थितियों से कुछ विचलित पड़ा है—अच्छे दिनों के इन्तजार में।

शुद्धि समाचार, श्रद्धानन्द-बलिदान अंक,
जनवरी-फरवरी १९३२

सवाक् फिल्मों के दिन गिने हुए हैं

ऐसा जान पड़ता है कि सवाक् फिल्मों की हवा बहुत जल्द बिगड़ जायगी। मूक फिल्म एक साथ तमाम भूमंडल में प्रदर्शित हो जाती थी। चार्ली के अभिनय का आनंद आस्ट्रेलिया, रूस और चीन सभी उठा सकते थे। सवाक् फिल्मों का क्षेत्र बहुत तंग हो गया है। क्योंकि अंग्रेजी फिल्मों का आनंद वही उठा सकते हैं जो अंग्रेजी के ज्ञाता हों। किसी देश की साधारण जनता विदेशी की भाषाओं में इतनी कुशल नहीं होती कि विदेशी बोल-चाल समझ कर उसका आनंद उठा सके। अतएव सवाक् फिल्म

बनानेवालों को बराबर घाटा हो रहा है और यह अवस्था बहुत दिन नहीं रह सकती। मूक चित्रों के दिन फिर लौटेंगे ऐसी आशा है।

२६ अगस्त १६३२

जाग्रति

जीवन के लिए जागना जितना जरूरी है उतना ही जरूरी सोना है। दोनों क्रियाएँ एक दूसरे के सहारे पर हैं। नींद का न आना भी एक बीमारी है, जिससे अनेक प्रकार की बाधाएँ आ सकती हैं। और जो प्राणी रात-दिन सोता ही रहे, वह तो मरा सा है ही। यदि दोनों क्रियाएँ एक दूसरे की सहायता करती रहें—आदमी जागे कर्म करने के लिए सोये विश्राम करने के लिए—तो जीवन सुखी होता है लेकिन जागना जीवन का मुख्य लक्षण है, सोना अर्थात्—विश्राम तो केवल उसका सहायक है। इस लिए, जाग्रति जीवन और अभ्युदय का चिह्न है और निद्रा पतन तथा ह्रास का। जाग्रति रज-प्रधान क्रिया है निद्रा में तम की प्रधानता होती है। कम से कम सोने के लिये अनेक उपाय और साधन बताये गये हैं। अधिक से अधिक सोने के लिए आजतक किसी ने कोई उपाय नहीं बताया—उसी तरह, जैसे स्वस्थ रहने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न किये जाते हैं पर बीमारी के लिए भी किसी ने कोई प्रयत्न किया है ऐसा कभी सुनने म नहीं आया। वास्तव म स्वास्थ्य का न होना ही बीमारी है—उसी तरह, जैसे प्रकाश का न होना ही अंधकार है। आदमी जितना ही कम सोये उतना ही आवश्यक है, यहाँ तक कि कई विद्वानों का मत है, सोना कोई आवश्यक क्रिया नहीं। संभव है तप-स्वियों के लिए सोना आवश्यक न हो उनकी प्रकृति में रज और सत ही रह जाता हो तम की सवथा हानि हो जाती हो पर साधारण प्राणियों के लिए भी यही नियम लागू है कि मात्रा से अधिक सोने म हानि है अतएव जब हम किसी राष्ट्र के विषय म जाग्रति की कामना करते हैं तो इसका बोध यह होता है कि वह राष्ट्र मात्रा से अधिक तमो-गुणी हो गया और उसम जीवन की मात्रा जरूरत से कम है। हम इसी अवस्था म हैं और उससे निकलने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम इस तत्व को मानते हैं कि हमारे लिए जाग्रति की बहुत बड़ी जरूरत है, लेकिन उस जाग्रति का उस अभ्युदय का रूप क्या हो इस विषय म अभी हमम थोड़ा मतभेद है, अनेक विचारक अनेक सिद्धांत बतलाते हैं। हम जागरण के दो-चार अंको में इसी विषय की विवेचना करना चाहते हैं।

सबसे पहले यह जरूरी है कि हम यह समझ लें—हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है। जब तक हम इसका निश्चय न कर लें हम जाग्रति का रूप स्थिर नहीं कर सकते।

जैसे प्राणियों में प्रकृति भेद होता है और कभी-कभी ऐसा होता है कि जो वस्तु एक आदमी के लिए अमृत है वही दूसरे आदमी के लिए घातक विष है, वसे ही जातियों में भी प्रकृति भेद होता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं—देश की प्राकृतिक अवस्था जलवायु की विभिन्नता परम्परा की विशेषता आदि। यदि हम इन परिस्थितियों को अपना दीपक न बनायेंगे अपना मार्ग ऐसा न बनायेंगे जो इन हालतों के अनुकूल हो तो बहुत संभव है कि हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति के बदले दिन-दिन उससे दूर होते जायें। हमारी संस्कृति जो सनातन से चली आती है उसी के आधार पर हमें चलना होगा क्योंकि संस्कृति केवल इन्हीं परिस्थितियों का समन्वय-मात्र है। यों कहना चाहिए कि संस्कृति का जो कुछ रूप है वह इन्हीं परिस्थितियों का बनाया हुआ है। जब हम उस संस्कृति पर विचार करते हैं तो हमें मालूम होता है वह कर्तव्य-प्रधान धर्म-प्रधान परमार्थ-प्रधान अहिंसा-प्रधान व्रत और नियम प्रधान संस्कृति है। उसमें व्यक्ति और समष्टि के सामंजस्य का ऐसा विधान है कि एक दूसरे का शत्रु न होकर सहायक बनी रहे। व्यक्ति के लिए धन और शौर्य प्राप्त करने की पूरी स्वाधीनता है, पर उसका उपयोग समाज और राष्ट्र के हित के लिए होना चाहिए, भोग-विलास अथवा निबलों पर प्रभुत्व जमाने के लिए नहीं। 'अहिंसा परमोधर्म' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्', यह दो सूत्र हमारी संस्कृति के मूल तत्व हैं और इस अधोवस्था में हम उन्हें अपनाये हुए हैं। यद्यपि अनेक कारणों से उस संस्कृति का रूप विकृत हो गया है, उसमें असंख्य बुराइयाँ घुस गयी हैं, यहाँ तक कि अब उसका रूप पहचाना नहीं जा सकता फिर भी यह तत्व प्रकाश-स्तंभों की भाँति अब भी प्रतिकूल दशाओं का सामना करते हुए खड़े हैं। बहुत कुछ खो चुकने पर भी अब तक हममें जो कुछ रह गया है, वह उन्हीं प्रकाश-स्तंभों का प्रसाद है। अन्यथा अब तक हमारी नौका न जाने कब की भँवर में पड़कर डूब चुकी होती। इस कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारे जीवन का उद्देश्य प्रभुत्व की प्राप्ति नहीं बल्कि परमार्थ सेवा है। हमारे जीवन का आदर्श स्वार्थ की अंधी उपासना नहीं संसार की निधि को समेटकर अपनी थैली में भर लेना नहीं बरन् संसार में इस तरह रहना है कि हमसे किसी की हानि न हो किसी को कष्ट न हो किसी का गला न दबे। हमारे आदर्श चरित्र नेपोलियन जैसे नहीं जो संसार पर अधिकार प्राप्त करना चाहता था न क्लाइव या क्रामवेल जैसे लेनिन या मुसोलिनी जैसे। हमारे आदर्श चरित्र कृष्ण और राम और अशोक जैसे राजा अर्जुन और भीष्म-जैसे योद्धा और गांधी जैसे गृहस्थ हैं। हमारा विश्वास संघर्ष में नहीं सहयोग में है।

कहा जाता है कि सिद्धांत रूप से सभी संस्कृतियाँ एक-सी हैं। पूर्व और पश्चिम में कोई अंतर नहीं। वही अहिंसा और प्रेम और सेवा जो हमारी संस्कृति का मूल तत्व है पश्चिमी संस्कृति का भी मूलाधार है। जो कुछ अंतर है, वह नयी और पुरानी संस्कृति में है। पश्चिम की पुरानी संस्कृति में है। पश्चिम की पुरानी संस्कृति हमारी संस्कृति से

अभिन्न थी। जब से पश्चिम में कर्मों का युग आरम्भ हुआ तभी से वहाँ की संस्कृति में स्वार्थ और संघर्ष की प्रधानता हुई। यद्यपि वह कथन बिलकुल सार-हीन नहीं है फिर भी पश्चिमी संस्कृति का जो उद्गम स्थान है, यानी यूनान और रोम वह सदा प्रधान राष्ट्र था। ईसाई-धर्म जो मूल में बौद्ध धर्म और बहुत अंशों में हिन्दू-धर्म का ही रूपान्तर है, पश्चिम में उस पौधे के समान था जो कहीं विदेश से लाकर आरोपित किया गया हो। कुछ दिनों तक तो उसने अपने भीतर की शक्ति से बाहर की प्रतिकूल शक्तियों का समाना किया फिर वह नष्ट हो गयी। विदेशी पौधा उस प्रतिकूल जलवायु में फल-फूल न सका। आज पश्चिमी ईसाई कहलाते हुए भी ईसामसीह से कोसों दूर हैं। ईसामसीह की दया और अहिंसा का वहाँ कहीं नाम भी नहीं। रोम और यूनान के कवि दार्शनिक योद्धा तो प्रसिद्ध हैं पर कोई त्यागी महात्मा या इसमें संदेह है। वह भोग-प्रधान संस्कृति थी और राष्ट्र के सभी अंग अधिक से अधिक भोगने के लिए लालायित रहते थे जिसका परिणाम आपस के संघर्ष के सिवा और हो ही क्या सकता था। भारत में हम प्राचीनकाल में ऐसे संघर्ष का पता नहीं मिलता। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि यहाँ शक्तिशालियों ने दुर्बलों को इतना कुचल डाला था कि उनमें फरियाद करने की सामर्थ्य न थी या यह कि त्याग और सेवा भाव का इतना प्रसार था कि संघर्ष को पनपने के लिए कोई अवसर ही न मिलता था। देवताओं और असुरों में लड़ाइयों की कथाएँ मिलती हैं, लेकिन वह स्वार्थ का संघर्ष न था बल्कि सिद्धांत था। असुर भोगवादी थे देवता त्यागवादी। देवता जब लड़े आत्मरक्षा के लिए असुरों को परास्त करके उन पर रोब जमाने का भाव कभी उनके मन में न आया। योरोप में इसके प्रतिकूल स्वार्थ का संघर्ष था—गरीबों और अमीरों की शासकों और शासितों की लड़ाई थी। उसी संघर्ष की छाप पश्चिमी संस्कृति के हरेक अंग पर लगी हुई है। ईसाई धर्म ने कई सदियों तक उस स्वाभाविक मनोवृत्ति को दबाये रखा। अंत में वह भी परास्त हो गया अतएव योरोप के जीवन में आज जो स्वार्थ का उन्माद है यह उसकी स्वाभाविक और सनातन मनोवृत्ति है। बार-बार क्रांति का होना उसी स्वार्थमय संघर्ष का परिणाम था।

अगले सप्ताह में हम फिर इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

५ सितम्बर १९३२

जाग्रति

२

पिछले अंक में हमने योरोप के संघर्ष और भारत के अहिंसा और प्रेम की चर्चा की थी। हमारी संस्कृति का मूल तत्व अहिंसा है पश्चिम की संस्कृति का मूल तत्व संघर्ष है। यह बात नहीं है कि पश्चिम में अहिंसा भाव का अस्तित्व नहीं या भारत में

सचमुच कोई अनोखी बात है लेकिन हम यहाँ मतवादों से बहस नहीं । पश्चिमी जीवन की नस-नस में अणु-अणु में संघर्ष भरा हुआ है । उसी तरह भारतीय जीवन के अंग-अंग में अहिंसा और प्रेम बसा हुआ है । संसार की विभूतियों पर अधिकार पाने के लिए और उन्हें भोगने के लिए संघर्ष और संग्राम अनिवार्य है । अहिंसा से तो केवल संतोष और त्याग और निवृत्ति का ही विकास होता है । योरोप का विजेता किसी संग्राम में विजय प्राप्त करने के बाद उस विजय से अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करता है । यहाँ अर्जुन विजय प्राप्त करके ग्लानि और विराग में डूब जाते हैं अशोक प्रभुता के शिखर पर पहुँच कर भिक्षु बन जाता है और धर्म के प्रचार में अपना जीवन सार्थक करता है । संघर्ष में मोलभावी होती है अन्यथा एक वर्ग दूसरे वर्ग को चट कर जाय इसलिए प्रत्येक वर्ग अपना संगठन करता है और अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिए बराबर प्रयत्न करता रहता है । भारत में इस तरह की गुटबंदी का प्रमाण नहीं मिलता । किसी वर्ग को दूसरे वर्ग से इतना भय न था कि वह अपना संगठन करता । प्रत्येक वर्ग का कार्यक्षेत्र नियत था । उस क्षेत्र के अंदर वह अपना जीवन व्यतीत करता था । ब्राह्मण समाज और राष्ट्र का नेता था इसलिए नहीं कि उसमें धन बल था या बाहुबल था इसलिए कि उसमें आत्मबल था । वैश्य धन कमाता था पर उस धन को जनहित में व्यय करता था । मनोवृत्तियाँ कुछ इस तरह की हो गयी थी कि लोग अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्यों का ज्यादा विचार रखते थे । उस वक्त का राजा केवल सिंहासन की शोभा न बढ़ाता था बल्कि उसे रात-दिन प्रजा के हित की चिंता रहती थी । वह नित्य अपने समय का कुछ न कुछ भाग प्रजा का दुख-दर्द सुनने में व्यतीत करता था जिससे प्रजा में उसके प्रति भक्ति और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता था । जमींदार केवल किसान से लगान वसूल करके चैन न करता था बल्कि प्रजा के हित की रक्षा करता था । कुएँ और तालाब खुदवाना अकाल और दुर्भिक्ष के समय प्रजा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देना उसका धर्म था । अवश्य ही लोभी जमींदार भी होंगे लेकिन समाज में वे बदनाम रहते थे और इसलिए उन्हें प्रजा पर अत्याचार करने का साहस न होता था ।

इसके विपरीत पश्चिम में स्वार्थ और लोभ का राज है । कलों के आविष्कार ने व्यावसायिकता की एक हवा-सी फैला दी है । यह व्यावसायिकता पश्चिमी सभ्यता का वर्तक है । संसार का जितना अहित इस "व्यवसायिकता" से हुआ है और आगे होगा वह अभूतपूर्व है । इसी का यह दुष्परिणाम है कि जो लोग अपने घरों में बैठ कर अपना काम करते थे वे सब मिलों में जाकर गुलामी करने पर मजबूर हैं । मिल का स्वामी उनसे अधिक से अधिक काम लेकर कम से कम मजूरी देना चाहता है, और यह संघर्ष यहाँ तक जोर पकड़ गया है कि योरोप के प्रत्येक देश में इसे उखाड़ फेंकने का प्रयत्न जोरों से हो रहा है । रूस ने तो इसे उखाड़ ही दिया पर अन्य देशों में भी कम या ज्यादा संघर्ष छिड़ा हुआ है । मिलों के आने से मजूर बहुत से कारीगरों का काम कर

लेते हैं इसलिए बहुत से लोग बेकार रहते हैं। इस बेकारी को दूर करने के लिए मिलों में ज्यादा माल बनाना पड़ता है और उस माल की खपत के लिए बाजार खोजे जाते हैं। व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद इस तरह एक स्थान पर आकर मिल जाते हैं। व्यापारियों को माल की खपत के लिए ऐसा बाजार चाहिए जहाँ उनका माल बे-रोक टोक बिक सके इसलिए कुछ देशों को अपने अधीन रखना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। उनका स्वार्थ इसी में होता है कि उस देश में वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति न हो अन्यथा उनके माल की बिक्री में बाधा होगी। यों कहना चाहिए कि वर्तमान शासन व्यापारियों के ही हाथ में है। सरकार उन्हीं के बल पर चलती है। उन्हीं की स्वार्थरक्षा के लिए बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखी जाती हैं खून की नदियाँ बहायी जाती हैं। योरोप का महाभारत इसके सिवाय और क्या था। ओटावा-सम्मेलन इसके सिवा और क्या है। इस व्यावसायिक सभ्यता ने बल-प्रधान राष्ट्रों के लिए लाजिम कर दिया है कि उनके अधिकार में पराधीन राष्ट्रों की अधिक से अधिक संख्या हो।

इस संघर्ष का सबसे अच्छा उदाहरण वर्तमान पार्टी गवर्नमेंट है। राष्ट्र कई राजनैतिक दलों में विभाजित हो जाता है और जिस दल के प्रतिनिधि अधिक संख्या में होते हैं उसी के हाथ में शासन आ जाता है। कभी-कभी तो ऐसा हो जाता है कि राष्ट्र की सारी शक्ति उस पार्टी के हाथ में आ जाती है, जिसमें उस राष्ट्र के एक तिहाई चौथाई या इससे भी कम आदमी होते हैं। वहाँ भी संघर्षमय मनोवृत्ति किसी ऐसी शासन विधि की कल्पना ही नहीं कर सकती जिसमें सारा राष्ट्र सम्मिलित हो। कहने को तो बहुमत का शासन होता पर वह बहुमत वास्तव में अल्पमत होता है। अगर किसी राष्ट्र में आठ दल हैं और प्रत्येक दल के प्रतिनिधियों की संख्या पचीस ही तक रह जाय तो जिस दल की संख्या छब्बीस होगी वह अधिकारी होगा। शेष सातों दल उसका विरोध करके उसे उखाड़ फेंकने की चेष्टा करते रहेंगे। मजा यह है कि ये आठों दल अपने भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के आधार पर खड़े होते हैं और अपने ही सिद्धान्तों को देश के कल्याण के लिए उपयोगी समझते हैं। सब के अपने-अपने देश सुधार के प्रोग्राम हैं। एक मरीज के आठ चिकित्सक हैं। चाहिए तो यह था कि आठों आपस में सलाह करके रोगी का इलाज करते लेकिन यहाँ प्रत्येक वैद्य अपने इलाज से रोगी की चिकित्सा करता है। एक वैद्य भी उसे स्वीकार नहीं करता कि उसके सिवा रोगी की चिकित्सा कोई दूसरा कर सकता है। मरीज इस परीक्षा में मरे, या जीएँ, यह उसकी तकदीर है एक दल कहता है—अबैध व्यापार से देश का कल्याण होगा। दूसरा कहता है—बिल्कुल गलत इससे देश रसातल को चला जायगा। बाहर से आनेवाली वस्तुओं पर कर लगाना चाहिए। जाहिर है कि दो मतों में एक अवश्य भ्रम मूलक है। दो परस्पर विरोधी चीजें समान फल नहीं पैदा कर सकतीं लेकिन पार्टी-शासन में वह ताकत है कि व्यर्थ को भी अमूल्य बना देता है। और करने की बात यह है कि जब राष्ट्र पर को

संकट आ पड़ता है तो सभी दलों की अक्ल गुम हो जाती है और थोड़े दिनों के लिये दलबन्दी स्थगित कर दी जाती है। योरोपीय महाभारत के समय इंगलैंड में किसी एक दल का शासन न होकर संयुक्त राष्ट्र का शासन था। उसने लड़ाई जीत ली। आजकल भी किसी एक दल का शासन नहीं राष्ट्र के सभी दलों का सम्मिलित शासन है। इस अवसर पर सम्मिलित शासन को वही सफलता होगी या नहीं कोई नहीं कह सकता। पर, उन महानुभावों के ध्यान में यह बात कभी नहीं आती कि जब सम्मिलित शासन से हम संकटों पर विजय पाने म सफल हो जाते हैं, तो क्या साधारण अवस्थाओं में उससे विशेष उपकार न होगा लेकिन जिन लोगों की प्रकृति ही झगड़ालू हो संयम जिनकी मुट्ठी में पड़ गया हो उन्हें सत्य को स्वीकार करने का साहस कहाँ से आवे!

सितम्बर १९३२

देहली के जामेया मिल्लिया की रिपोर्ट

देहली के जामेया मिल्लिया उन मुसलिम संस्थाओं में है, जिसने राष्ट्र के सम्मुख सच्ची सेवा का आदर्श रक्खा है। पहले यह जामेया (विद्यापीठ) स्व. हकीम अजमलखाँ साहब के उद्योग से अलीगढ़ म स्थापित हुआ था पर उन्नीस सौ बाइस के असहयोग-आन्दोलन के बाद जनता के निरुत्साह से उसे धक्का पहुँचा और उसे अलीगढ़ से उठा कर देहली ले जाना पड़ा। वहाँ कुछ स्थानीय संस्थाओं और कुछ रियासतों और अधिकतर जनता की सहायता से यह अपना काम करता रहा पर इस बार आन्दोलन शुरू होने के बाद रियासतों से मिलने वाली इमदाद बंद हो गई और उसे केवल जनता की सहायता और अपने कर्मचारियों के सहयोग और त्याग का आश्रय रह गया। इस परिस्थिति में भी अध्यापकगण ने कितनी ही लगन और उत्साह से काम किया कि बहुत थोड़े से गुजारे पर रहकर भी बराबर सेवा-कार्य में लगे रहे। इनमें सभी इतने सुयोग्य हैं कि उनके लिये किसी सस्था में स्थान मिल सकता था पर उन्होंने जामेया मिल्लिया का दामन न छोड़ा और हर तरह का कष्ट उठाते हुए प्रसन्नमुख और अदम्य उत्साह से अपने काम में लगे हुए हैं। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी उसके पास अपनी नई इमारतें हैं, पुस्तकालय है और प्रकाशन विभाग है। अब जामेया न देहली से सात मील पर ओखला में दो सौ पचास एकड़ जमीन भी प्राप्त कर ली है, जहाँ विद्यालय की निजी इमारतें बनेंगी। यह है मिशनरी मनस्विता से काम करने की विभूति। मुसलमानों में सरकार का मुँह ताकने की जो एक प्रवृत्ति है उसका यहाँ नाम भी नहीं। यह आत्म विश्वास स्वावलम्बन और राष्ट्र प्रेम की जीती-जागती मिसाल है।

नवम्बर १९३२

सर पी० सी० राय का युवकों को आदेश

सर पी. सी. राय ने लाहौर में विश्व-विद्यालय के छात्रों को उपदेश देते हुए उनकी विलासपूर्ण मनोवृत्ति की कड़े शब्दों में आलोचना की और बताया 'कि वे अपने शौक की चीजों के गुलाम बनकर अपना और राष्ट्र का कितना अहित कर रहे हैं। उन छात्रों को यह उपदेश कड़ुआ तो लगा होगा किन्तु वे विचार करेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि वे जिस रास्ते पर जा रहे हैं वह कल्याण का मार्ग नहीं है। वह जमाना लद गया जब विद्यालय से निकलते ही अवसर उनका स्वागत किया करता था। अब तो यह हाल है कि शायद उस अवसर का आवाहन करने में उन्हें बरसों लग जायें फिर भी उसके दर्शन न हों। अब तो उसी युवक को विजय होगी जो अपनी जरूरतों को कम से कम रख सकता है। अभी तुम्हारे माता-पिता तुम्हारा दुलार कर रहे हैं लेकिन वह समय भी आवेगा जब वे तुमसे कुछ सेवा की आशा रखेंगे जब तुम्हारे ऊपर गृहस्थी का बोझ पड़ेगा। अगर तुम यों ही अपनी इंद्रियों के गुलाम बने रहे तो उस वक्त तुम्हें कितना कष्ट होगा। हम मानते हैं यह तुम्हारे खाने-पहनने और खेलने के दिन हैं लेकिन इसके साथ तुम्हें भी यह मानना पड़ेगा कि यही समय आने वाले संग्राम की तैयारियों का है। अगर तुमने किफायत की आदतें पैदा कर ली हैं अगर तुम अपने हाथ से अपना काम करने में संकोच नहीं करते अगर तुम सिगरेट और सुगन्ध और टाई-कालर और प्लेसेस के गुलाम नहीं हो तो भगवान तुम्हारे हाथ रहेगा। तुम थोड़े में भी सुखी रहोगे और अपनी उन्नति के लिये यत्न करते रहोगे लेकिन अगर तुमने खर्चीली आदतें पैदा कर ली हैं तो निस्सन्देह तुम्हारा जीवन सङ्कटमय हो जायगा। तुम जीवन के सच्चे सुख का अनुभव न कर सकोगे। मुश्किल तो यह है कि हमारे विश्व-विद्यालयों में छात्रों के सामने जो आदर्श होते हैं उनसे किफायती आदतों को प्रोत्साहन नहीं मिलता। अध्यापकों ही पर छात्रों की दृष्टि रहती है। वे उन्हीं महानुभावों के आचार-विचार, रीति-व्यवहार की नकल करते हैं और हमारे अध्यापक महानुभाव एक से एक बढ़कर साहब बने रहते हैं। उनके सूट-बूट देखकर देखते ही रह जाइए। मानो उनमें होड़ लगी हुई है कि देखें फैशनेबुलपन में कौन बाजी ले जाता है। वे सोचते होंगे हमने बड़ी-बड़ी उपाधियाँ किस लिये प्राप्त कीं? अगर मोटा-झोटा खाना पहनना था तो सिर खपाने और परिश्रम करने की क्या जरूरत थी। आखिर वह किसी से कुछ माँगने तो नहीं जाते। अपना कमाते हैं और शान से रहते हैं। इसका उन्हें पूरा अधिकार है।

किसी को उनकी निजी बातों में दखल देने का कोई हक नहीं। उन्होंने बीज बोया तो फल क्यों न खायें? बिलकुल दुरुस्त। इसमें किसी काफिर को ही कलाम हो सकता है। युवकों के लिये और कहीं ठिकाना है ही नहीं। व झक मारकर विद्यालय में जावेंगे झक मारकर फीस देंगे और झक मारकर पढ़ेंगे। उनके हमले-मार्गे में जो

रखना पड़ने की संभावना नहीं। फिर क्या है मौज किए जाइये और लेक्चर दिए जाइये। छात्रों पर आपकी फैशन-परस्ती का क्या असर पड़ता है, इसकी चिन्ता किए बिना भी आप आनन्द से रह सकते हैं।

नवम्बर १६३२

इलाहाबाद युनिवर्सिटी के नए वाइस चांसलर

हमें विश्वास है समस्त प्रान्त श्री पंडित इकबालनारायण गुर्टू के सब सम्मति से वाइस चांसलर चुने जाने पर हर्ष प्रकट करेगा। वोटरों ने वही किया जिसकी उनसे आशा की जाती थी। हम काशी वालों को पंडितजी की कार्य पटुता से उस नाजुक मौके पर वंचित होना पड़ रहा है जब काशी म्युनिसिपैलिटी का जीवन ही संकट में है। आपने इन थोड़े ही दिनों में म्युनिसिपैलिटी पर अपने दृढ़ व्यक्तित्व की छाप लगा दी थी और आशा थी कि यदि आप साल-दो-साल यहाँ रह जाते तो म्युनिसिपलिटी का बहुत कुछ सुधार हो जाता। हमें आपसे पृथक होने का खेद है पर इसके साथ यह संतोष भी है कि आप उसी क्षेत्र में काम करने जा रहे हैं जिसपर आपने अपना जीवन ही अर्पित कर दिया है, और जहाँ इस समय इसलाह की कुछ कम जरूरत नहीं है। अब तक हमारी युनिवर्सिटियों ने अपना जो आदर्श रक्खा था वह अब समय के अनुकूल नहीं रहा। युनिवर्सिटी केवल ग्रेजुएट बनाने की मशीन नहीं है और न जनता का धन केवल सुम वहिलों के पुरस्कार और अध्यापकों के वेतन के लिये है। राष्ट्र अब युनिवर्सिटियों से ऊँचे आदर्श की आशा रखता है, जहाँ स्टाई अपनी सीमा के अंदर रहे और छात्रों का चरित्र निर्माण उसका ध्येय बने।

नवम्बर १६३२

स्कूलों में स्वास्थ्य-परीक्षा

हमारे स्कूलों में कई साल से लड़कों की डाक्टरी परीक्षा होती है। महीने में एक दिन डाक्टर साहब हवा के घोड़े पर सवार आते हैं क्लास के लड़के मैदान में एक कतार में खड़े कर दिये जाते हैं और डाक्टर पाँच मिनट में सबका मुआइना कर डालते हैं। आध घंटे में स्कूल भर की परीक्षा समाप्त हो जाती है। डाक्टर साहब किसी को दाँतों की किसी को आँखों की बीमारी बता कर अपनी राह लेते हैं। ऐसे मुआइनों से लड़कों को फायदा तो कुछ नहीं होता हाँ एक जाब्ते की खानापुरी हो जाती है। इधर कुछ दिनों से नई प्रथा निकली है, लड़कों के अभिभावकों को नेवता देकर बुलाया जाता

है और डाक्टर साहब चन्द एक छोटा सा व्याख्यान देकर विदा करते हैं। इस सम्मेलन की रिपोर्ट दूसरे दिन दैनिक पत्रों में छप जाती है। मंशा पूरी हो जाती है। यह केवल प्रोपेगेंडा है। इसमें कोई तत्व नहीं। हमारी समझ में लड़कों के स्वास्थ्य की परीक्षा वही कर सकता है जिस पर लड़कों को विश्वास हो जिससे वे अपनी बीमारियाँ निस्संकोच होकर कह सकें। ट्रेनिंग कालेजों में जहाँ और बहुत से विषय पढ़ाये जाते हैं, वहाँ शरीर विज्ञान भी एक प्रधान विषय होना चाहिए। प्रोग्रेस रिपोर्ट और लड़कों के नोट यह सब केवल तमाशे हैं जिनका कोई मूल्य नहीं। मुख्य चीज है लड़कों का स्वास्थ्य मानसिक भी और शारीरिक भी। इसके लिये महीनों में एक सेकेंड की परीक्षा प्रहसन मात्र है। इस पर सचेत ध्यान रखना चाहिए और यह अध्यापक ही कर सकता है।

दिसम्बर १६३२

गोरखपुर में शिक्षा सम्मेलन

गोरखपुर में गवर्नमेंटेड अध्यापक सभा के अधिवेशन में मि० डी० एन० मुकरजी ने सभापति के आसन से बहुत विचारपूर्ण भाषण दिया। आपने वर्तमान परीक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए बताया कि इंग्लैंड में इस सम्बन्ध की एक शिक्षा कमेटी ने सिफ़ारिश की है, कि परीक्षाएँ जहाँ तक हो सकें कम ली जाया करें और प्राइमरी कोर्स में केवल अंग्रेजी और हिसाब की परीक्षा ली जाया करे। कमेटी की राय में इन दो विषयों की परीक्षा से लड़कों की मानसिक उन्नति का पता लग जायगा। अभी तो यह हाल है कि लड़कों की सारी मेहनत परीक्षाओं की ओर लगी रहती है। स्काउटिंग कसरत खेल-कूद वाद-विवाद क्ने मार्चिंग आदि विषय जिनसे लड़कों का दैहिक और मानसिक विकास विशेष रूप से होता है, इम्तहान की वेदी पर चढ़ा दिये जाते हैं। लड़कों का मुख्य उद्देश्य इम्तहान पास करना है और अध्यापक का परम कर्तव्य इम्तहान पास कराना है। और सब कुछ गौण है। यह परीक्षा मनोवृत्ति शिक्षा का सत्यानाश कर रही है और इस कथन में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है, कि शिक्षित समाज की शारीरिक दुर्बलताओं का यही मुख्य कारण है। हमारे शिक्षक पुरानी लकीर पीटते चले आ रहे हैं। छात्रों पर उनकी इस अदूरदर्शिता का क्या असर हो रहा है, उनकी बीनाई कितनी कमजोर हो रही है उनमें रक्तहीनता का कितना प्रकोप है, यह सब आँखों से देखकर भी वे नहीं देखते। लड़कों के मनोरंजन और विनोद के लिये जो विषय चुने जाते हैं उनकी परीक्षा भी ली जाती है और इस तरह परीक्षाओं की संख्या बढ़ती जाती है। एक तो अंग्रेजी भाषा उस पर परीक्षाओं का यह आतंक। इन दोनों चक्की के पाटों के

बीच में छात्रों का सत्यनाश हुआ जा रहा। हर्ष की बात है कि अब शिक्षक समुदाय का ध्यान इन बुराइयों की ओर आकर्षित हुआ है और संभव है, कि शिक्षा प्रणाली में कुछ सुधार कर सकें मगर हमारे शिक्षक स्वयम् इतने कूप-मण्डूक हैं कि वह ऐसे विषय में अग्रसर होंगे इसकी आशा नहीं होती। अंग्रेजी का भूत उनके सिर पर भी सवार है। यही भाषण अंग्रेजी में दिया गया। प्रो डी एन मुकर्जी बंगाली हैं लेकिन उनके श्रोता सब बंगाली न थे। वह हिन्दी में अपना भाषण दे सकते थे और यदि हमारे शिक्षकों में इतनी योग्यता नहीं है, कि वे जनता की भाषा में अपने विचार प्रकट कर सकें तो उनको शिक्षक बनने का नैतिक अधिकार नहीं है।

जनवरी १९३३

सम्पादक-सम्मेलन

गत २६ २७ २८ फरवरी से इन्दौर में बड़े समारोह के साथ सम्पादक-सम्मेलन का अधिवेशन सम्पादन-कला के अनुभवी स्वामी श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की अध्यक्षता से मनाया जायेगा। अभी तक इस दिशा में जो कुछ काम हुआ है वह निरर्थक-सा ही प्रमाणित होता रहा है। केवल सम्मेलन हुआ भाषण हुआ और कुछ नहीं। पर फल कुछ न निकला। आज हिन्दी के सम्पादकों बेकार सम्पादकों लेखकों पत्रकारों की जो दुर्दशा है, वह वर्णनातीत है। प्रकाशकों या पत्र-मालिकों के लिये तो सम्पादक किराये का टट्टू है। जिसे जब जी में आया कान पकड़कर निकाला जा सकता है। एक सम्पादक स्वयं दूसरे सम्पादक की कद्र नहीं करता। एक लेखक दूसरे लेखक का अपमान करना अपना गौरव समझता है। पुरस्कार के नाम पर मनमानित मात्रा में कुछ रुपये पाकर लेख लिखनेवाले या हाड़-मांस एक कर बड़े घाटे से पत्र चलानेवाले सम्पादक-संचालक दोनों की दशा दयनीय है। इससे अधिक अच्छा अवसर नहीं हो सकता जब कि सम्पादक-सम्मेलन इन समस्याओं पर विचार करे।

फरवरी १९३३

संयुक्त प्रान्त में शिक्षा का प्रचार

१९३१ ई में जो मर्दुमशुमारी हुई थी उसकी रिपोर्ट में शिक्षा-संबंधी जो आँकड़े दिए गए हैं उनसे पता चलता है कि सन् १९११ में साक्षर मनुष्यों का औसत चौंतिस प्रति दस मील था १९२१ में सैंतिस प्रति दस मील और १९३१ में सैंतालिस प्रति दस मील।

संख्या लीजिए तो सन् १९११ में साक्षर मनुष्य सोलह लाख बीस हजार सन् १९२१ में सोलह लाख अठासी हजार और सन् १९३१ में बाइस लाख साठ हजार। अर्थात् पाँच आदमी फी सैकड़ा पढ़े हुए हैं।

अब लिंग-भेद के हिसाब से देखिए तो—

१९११ में साक्षर	पुरुष १५ ५९४५ या ६१	प्रति वर्ग मील	थे।
	स्त्रियाँ ११२५९ या ५		थीं।
१९२१ में	पुरुष १५९६६२६-या ६५		थे।
	स्त्रियाँ १६२२४६ या ६		थीं।
१९३१ में	पुरुष २ ०३४१ या ८		थे।
	स्त्रियाँ २१६२२८ या ९		थीं।

यद्यपि गत शताब्दी में उन्नति अच्छी हुई है, फिर भी अन्य राष्ट्रों की तुलना में बहुत ही कम है।

भिन्न प्रान्तों की साक्षर संख्या का औसत प्रति वर्ग मील यह है—

बनारस	१९२	नैनीताल	१५९	कानपुर	१३९
देहरादून	१९	जालौन	१४५	झांसी	१३७
गढ़वाल	१७३	आगरा	१४३	फतहपुर	११८
अलमोड़ा	१६७	मथुरा	१४	अलीगढ़	११५
लखनऊ	१२३	प्रयाग	११८	मेरठ	१ ९
बलिया	१२४।				

स्त्री-शिक्षा की दृष्टि से देहरादून का प्रथम स्थान है, अर्थात्—५४।

इसके बाद क्रमशः लखनऊ आगरा बनारस नैनीताल इलाहाबाद मेरठ मथुरा फर्रुखाबाद झांसी बिजनौर है।

इन आँकड़ों से पता चलता है कि साक्षर पुरुषों का औसत काशी में सबसे ऊँचा है और साक्षर स्त्रियों का देहरादून म।

अब मतों की दृष्टि से देखिए—

	पुरुष		स्त्री	
धर्म	१९२१	१९३१	१९२१	१९३१
आर्य	२९३	३३७	६३	८४
हिंदू (सनातन)	७४	९४	७	१४
जैन	५६८	५९	७७	१२८

सिक्ख	१२७	१७५	५९	३७
मुसलिम	७४	६७	८	१६
ईसाई	११८	१२७	२६	११४

सबसे साक्षर जैन मत-वाले हैं उसके बाद पारसी और तब ईसाई हैं। हिन्दू और मुसलमान सबसे पीछे हैं। स्त्रियों में ईसाई सबसे साक्षर हैं और पारसी इसके बाद। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही नगण्य हैं।

मई १९३३

दक्षिण का शान्ति-निकेतन

कवीन्द्र रवीन्द्र के परिश्रम तथा दान के कारण उत्तर भारत में 'शान्ति-निकेतन' एक आदर्श शिक्षण-संस्था मानी जाती है। उसे यह पद व्यर्थ ही नहीं प्राप्त हुआ है। निस्संदेह वह सरकारी पाठशालाओं तथा विश्व-विद्यालयों से कहीं अच्छी तरह नियमित-परिचालित संस्था है। शान्ति-निकेतन काशी विद्यापीठ प्रेम महाविद्यालय ऐसी स्वतन्त्र शिक्षण संस्थायें उत्तर भारत के लिये नयी वस्तु हैं पर दक्षिण भारत में ऐसी संस्थाओं का नितान्त अभाव था। हर्ष का विषय है कि शान्ति-निकेतन के ही आधार पर दक्षिण में भी एक महान् संस्था काम करने लगी है। बीस वर्ष पूर्व प्रसिद्ध शिक्षा-प्रेमी मि० अर्नेस्ट उड ने मदनपल्ले में 'मदनपल्ले विद्यालय' की स्थापना की थी। इसके बाद वे विलायत चले गये थे। इस बीच में यह संस्था मद्रास विश्वविद्यालय के आधार पर शिक्षा देती रही। किन्तु अब मि० उड पुनः भारत आ गये हैं। उन्होंने सपत्नीक अपना शेष जीवन इस विद्यालय की सेवा में बिताने का निश्चय किया है। उनके अतिरिक्त प्रसिद्ध शिक्षक विश्व-पर्यटक तथा साधन-पूर्ण डा० जे० एच० कजिन्स ने इस विद्यालय के लिये अपना तन-मन-धन अर्पण करने का निश्चय कर लिया है। नये उत्साह से काम प्रारम्भ हो गया है। नये मन्त्र से दीक्षा दी जायगी। विद्यालय का उद्देश्य होगा—'प्रकृति-सहचार के भाव का प्रचार करते हुए सर्व व्यापी शिक्षा देना।' पहली कक्षा से चौथी तक संगीत की शिक्षा अनिवार्य होगी खेल-कूद तथा व्यायाम की शिक्षा एक विशारद के हाथ में है। दोनों ही विषय अनिवार्य हैं। जो बिना डाक्टरी सार्टीफिकेट के खेल-कूद या व्यायाम में गैर हाजिर रहेगा उसकी स्कूल की हाजिरी काट दी जायगी।

विद्यालय तथा पाठशाला-भवन साठ हजार स्क्वायर फीट में बना हुआ है और पचहत्तर एकड़ भूमि में फैला हुआ है। मदनपल्ले नगर से इसे बहुत नहीं पृथक् करती है। खेल के लिये अनेक अच्छे मैदान हैं। छात्रावास में एक सौ अस्सी छात्रों के रहने के लिये स्थान है। कन्याओं के लिये अलग छात्रावास बना हुआ है।

विद्यामय तीन जुलाई से खुलेगा पाठशाला चौदह जून से खुल गयी। हम इस प्रयत्न का इस संस्था का स्वागत करते हैं तथा मि उस और कांग्रेस की सफलता की शुभ कामना प्रकट करते हैं।

जून १९३२

फ़ेल होने वाले लड़के

कुछ प्रतीत दिखती है कि हमारे स्कूलों और कालिजों में जब कोई लड़का फेल हो जाता है, तो उसे इसकी यह सजा दी जाती है कि स्कूल से निकाल दिया जाता है, और जब अपने स्कूल ने निर्दयता से निकाल दिया तो ऐसे निकाले हुए लड़कों को दूसरा स्कूल क्यों लेने लगा। इस प्रकार लड़के के लिये शिक्षा के द्वार चारों ओर से बन्द हो जाते हैं। कितनी दयनीय परिस्थिति है। मगर इधर दूसरी समस्या यह है कि यदि इन लड़कों को रहने दिया जाय तो नये आने वालों को कहाँ से जगह मिले। नये लड़कों को भी तो आखिर अवसर मिलना ही चाहिए। बात यह है कि यह तैतीस लड़कों वाली कैद ही निरर्थक है। या तो हमें इतने स्कूल चाहिए, कि सभी लड़के पढ़ सकें या मौजूदा स्कूलों से इस कैद को उठाकर और जमातें निकालनी चाहिए, या फिर सबसे उत्तम है कि इम्तहानों को और सरल कर दिया जाय जिसमें अधिक-से-अधिक लड़के पास हो सकें। जब स्कूल या कालेज की सनद नौकरी के लिये बेकार हो गई है, तो क्यों लड़कों पर इतनी कैद लगायी जावें। फिर क्या लड़के के फेल हो जाने में केवल लड़के ही की खता है? स्कूल के अध्यापकों पर उसकी कोई जिम्मेवारी नहीं आती? माना अध्यापक बोझ कर पिला नहीं सकता लेकिन यह निर्विवाद है कि लड़कों की सफलता या असफलता बहुत कुछ अध्यापक के व्यक्तित्व अध्यवसाय प्रोत्साहन पर निर्भर है। फिर किस मुँह से फैल होने वाले लड़कों को निकाल दिया जाता है।

जुलाई १९३२

काशी में शिक्षा मंत्री का शुभागमन

शिक्षा-मंत्री के आगमन से काशी में दो तीन दिन खासी चहल-पहल रही। ऐसा मालूम होता था कि स्वयं गवर्नर साहब या वाइसराय साहब पधारे हैं। क्योंकि उन्हीं महानुभावों के शुभागमन के अवसर पर सड़कों पर पुलीस की लाइन खड़ी की जाती है।

अब मिनिस्टर साहबों को भी शायद यह महान् सम्मान प्राप्त हो गया। देखिए नए स्वराज्य विधान के आगे-आगे और क्या-क्या खातिरदारियाँ होती हैं।

अगस्त १९३३

लखनऊ विश्वविद्यालय

इस साल लखनऊ विश्वविद्यालय ने कानून के विद्यार्थियों की सालाना फीस में पचीस रुपया की वृद्धि कर दी है। कानूनी क्लास से पहले भी काफी बचत हो जाती थी पर वह बचत काफी नहीं समझी गई। मगर एक तरह से उस विद्यालय ने अच्छा ही किया। कानून में अब नए वकीलों की जगह नहीं है। कुछ तो इस बात को रोकने लिये करना ही चाहिए। हमारी राय में यदि सौ रुपया साल की वृद्धि कर दी जाती तो कुछ नतीजा निकलता। पचीस रुपया तो विद्यार्थी कहीं न कहीं से लाकर दे ही देंगे। और सब चीजें मन्दी हो रही हैं। कोई चीज तो तेज रहे। शिक्षा को तेज कर देना बड़ी सुगम नीति है। लखनऊ विश्वविद्यालय को चाहिए कि सभी विभागों में फीस दुगनी कर दे। इससे उसकी आमदनी बहुत कुछ बढ़ जायगी। सरकार भी तो खर्च कम न करके बढ़ाने के फिक्र में रहती है। विद्यालय उसी सरकार का एक अंग तो है।

अगस्त १९३३

भारत में लाल-साहित्य

भारत सरकार यह नहीं चाहती कि भारत में लाल पन्नों का लाल-साहित्य का अर्थात् सशस्त्र क्रान्ति की सीख देने वाले बमबाजी साहित्य का संक्षेप में रूसी बोलशेवी साहित्य का प्रचार हो। लाल-क्रान्ति को हम भी नहीं चाहते पर लाल-साहित्य किसे कहते हैं तथा किसे पढ़ने से हमारा दिमाग फिर सकता है यह हम नहीं जानते। यही बात भारत के प्रमुख पुस्तक-विक्रेता डी॰ एस॰ बी॰ तारापोरवाला एण्ड सन्स भी नहीं जानते। इसीलिए उन्होंने भारत सरकार को एक पत्र लिखकर पूछा था कि वह कौन सी पुस्तकों को "लाल" समझती है ताकि वे उन पुस्तकों की सूचना समाचार-पत्रों द्वारा हमें—जनता को दे सकें पर भारत सरकार की ओर से जो उत्तर दिया गया है उससे तो यही स्पष्ट है कि वह स्वयं इस विषय में कोई निश्चय नहीं कर सकी है। उसे स्वयं कोई नीति निर्धारित करने में कठिनाई है। भारत सरकार तो यह कहकर उत्तर दे सकती है पर भारत के पत्रकार तथा पुस्तक विक्रेता क्या करें। वह नये कानून के अनुसार हरेक पग से किसी ऐसी पुस्तक का अंश छापने के लिये जो अभी तक बाजार में

मिल रही थी तथा सब लोग पढ़ रहे थे जमानत तलब कर सकती है। यह उस अंश को उस पुस्तक को ही गरकानूनी या उत्तेजक समझ सकती है। पुस्तक विक्रेता भी उत्तेजक साहित्य रखने का अपराधी हो सकता है। यह बड़ी विषम समस्या है, जिसके विषय में सरकार को अपनी नीति स्पष्ट कर देनी चाहिये।

अगस्त १९३२

फ़िल्म संसार में एक नई योजना

फ़िल्म हमारे जीवन में आगे चलकर चाहे कितना उपयोगी हो और शिक्षा तथा आरोग्य उसके द्वारा कितना ही सुलभ बनाया जा सके पर उसकी वर्तमान प्रगति तो किसी तरह भी आशाजनक नहीं कही जा सकती। हाँ अगर युवकों और युवतियों के निर्लज्ज चुम्बन और आलिंगन और हत्या तथा अपराध के दृश्यों पर ही समाज की जागृति और उन्नति का दारोमदार है, तो निस्सन्देह हम आँधी की चाल से उन्नति की ओर बढ़े जा रहे हैं। योरोप का विकास तो अपनी सारी बुराइयों के साथ आ डटा पर योरप का अध्यवसाय और साहस और उत्सग और अन्य हजारों खूबियाँ जो उस विलासिता का परदा ढाँकती हैं, यहाँ कहीं नजर नहीं आतीं। कहा जाता है, एक बड़ा भारी उद्योग आरोपित हो गया है जिसकी संभावनाओं का कहीं अन्त नहीं है। बेशक उसने उस धन को बाहर जाने से रोक दिया है जो बाहर के फ़िल्म मँगाने में हमें देना पड़ता था पर खेद यही है कि वह ऐसे पूँजीपतियों के हाथों मे है जो बड़ी निर्दयता से जनता को सामाजिक अनाचार की ओर लिए जा रहे हैं। उन्हें अपने नफे से मतलब है, देश दोजख में जाय या बहिश्त में। हम सिनेमा के विरोधी नहीं। उसका जो दुरुपयोग किया जा रहा है उसके विरोधी अवश्य हैं। जनता का मनोरंजन होना आवश्यक है यद्यपि ऐसे दरिद्र देश में मनोरंजन से कहीं जरूरी भोजन है। लेकिन मनोरंजन का अर्थ यह तो नहीं कि हमारी कुत्सित भावनाओं को और चाबुक लगाया जाय। सच्चा मनोरंजन तो हमें सद्भावनाओं की ओर ले जाता है। इसलिये हमें यह मालूम करके खुशी हुई कि मद्रास के फ़िल्म सेंसर बोर्ड ने इस बात की जाँच करने के लिये एक कमेटी बनाई है कि फ़िल्मों का लड़कों के मन पर क्या असर पड़ता है। इस कमेटी ने एक प्रश्नावली बनाकर माता-पिताओं से अनुरोध किया है कि वे अपनी इच्छानुसार उनके जवाब लिखकर कमेटी के पास भेज दें और जो कुछ सलाह देना चाहें वह भी दे दें। उनमें से कुछ प्रश्न ये हैं—

क्या लड़कों के सिनेमा में जाने से उनकी पढ़ाई में कोई बाधा पड़ती है? लड़कों को अक्सर सिनेमा देखना चाहिए या कभी-कभी? लड़के सिनेमाघरों से क्या मनोभाव

लेकर घर जाते हैं? घर पर वे उनका कैसे ज़िक्र करते हैं? क्या वे सिनेमा में देखे हुए दृश्यों और वाक्यों को दुहराते हैं? क्या वे किसी खास ऐक्टर या ऐक्ट्रेस की प्रशंसा करते हैं? क्या वे उनकी प्रशंसा करते हैं या वैसे ही जीवन बिताने की इच्छा प्रकट करते हैं? लड़के और युवक सिनेमा के अच्छे प्रभाव ग्रहण करते हैं या बुरे? सिनेमा का चरित्र-गठन की शिक्षा—कर्तव्यज्ञान दायित्व—पर क्या असर होता है? क्या सिनेमा से चरित्रपतन के कारणों की शंका हो सकती है जो जीवन का विकृत रूप लड़कों के सामने रखता हो अथवा दुराचरण की ओर उत्तेजित करता हो? इसके प्रमाण में उदाहरण दीजिए। आप लड़कों के लिये किस तरह के फ़िल्मों को अनुकूल समझते हैं—ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकीय हास्यजनक या शिक्षोपयोगी? लड़के अपनी अवस्था के अनुसार किस तरह के फ़िल्म ज़्यादा पसन्द करते हैं?

हमें आशा है कमेटी इस विषय में उत्तरों का विचार करने पर अपनी सम्मति प्रकट करेगी जिसकी हम बड़ी उत्कंठा से प्रतीक्षा करेंगे।

सितम्बर १९३२

ब्राडकास्टिंग देहातों में

इंगलैंड से एक महाशय यहाँ इस बात की जाँच करने आए हैं, कि यहाँ ब्राड-कास्टिंग के लिये कैसे मैदान तैयार किया जा सकता है। सब की निगाह देहातों पर है। गाँव-गाँव ब्राडकास्टिंग का प्रचार हो जाय बस करोड़ों का वारा-न्यारा है। ब्राडकास्टिंग से प्रजा का बहुत कुछ उपकार हो सकता है इसमें सन्देह नहीं। यही एक साधन है जिससे उन्हें संसार की जानकारी से मिलाया जा सकता है। बड़े-बड़े विद्वानों के भाषण बड़े-बड़े संगीताचार्यों के गाने सभी कुछ मिनटों में देहातियों तक पहुँचाए जा सकते हैं। लेकिन यह कम्पनी कोई परोपकारी संस्था तो नहीं है जो अपने प्रोग्राम प्रजा के हित को सामने रख कर बनाएगी। उसका उद्देश्य तो अपना जेब भरना होगा और इस व्यवसाय के युग में जैसे और हजारों चीजें फ़ायदे की जगह नुकसान पहुँचानेवाली सिद्ध हो रही हैं उसी तरह इसका भी दुरुपयोग किया जाय तो क्या ताज्जुब है।

सितम्बर १९३३

प्रयाग में रामलीला

हमें यह जानकर खुशी हुई कि प्रयाग में तेरह साल के बाद इस साल फिर रामलीला का उत्सव बिना किसी रोक-टोक के मनाया जायगा। प्रयाग के हाकिम जिला

में इस तत्व को स्वीकार करके अपनी न्यायपरता का परिचय दिया है कि प्रत्येक समाज को अपने धर्मोत्सव मनाने का अधिकार है।

सितम्बर १६३३

एक उचित परामर्श

सहयोगी 'लीडर' के कल के अंक में एक सज्जन ने शिक्षाध्यक्ष मि० मैकेंजी से दरख्वास्त की है, कि हरेक स्कूल में शनिवार का आधा दिन पाठ्यक्रम के बाहर के विषयों के लिये सरकारी तौर पर अलग कर दिया जाना चाहिए। वाद-विवाद, ड्रामा स्काउटिंग तत्काल चिकित्सा आदि विषयों को स्कूलों के कर्मचारी उतना महत्व नहीं देते जितना देना चाहिए। चूंकि अध्यापकों की कारगुजारी लड़कों के पास होने पर मुनहसर है, इसलिये लाजिमी तौर पर अध्यापकगण इन विषयों को फालतू समझते हैं क्योंकि इनसे लड़कों की परीक्षा पर कोई असर नहीं पड़ता। शिक्षा-विभाग यह तो चाहता है कि वे उपयोगी विषय लड़कों को सिखाए जायें पर वह इसे हेडमास्टरों की स्वेच्छा पर छोड़ देता है। नतीजा यह होता है कि जहाँ हेडमास्टरों को इन विषयों से दिलचस्पी होती है, वहाँ तो इन पर कुछ ध्यान दिया जाता है पर जहाँ हेडमास्टर पुराने ढंग का हुआ वहाँ इन विषयों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। यदि शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष की ओर से इस आशय का कोई हुक्म निकल जाय कि स्कूलों के कर्मचारियों को कम से कम एक सप्ताह में एक दिन इन उपयोगी बातों में लगाना चाहिए, तो यह प्रश्न व्यक्तिगत न रह जाय। यह कहने की जरूरत नहीं कि लड़कों के मानसिक विकास में इन विषयों का जो स्थान है वह किसी तरह गणित या भूगोल से कम नहीं। बल्कि कई अंशों में कुछ ज्यादा ही है। एक रुकावट यह अवश्य है, कि अभी इन विषयों के अच्छे शिक्षक नहीं मिलते और यह काम ऐसे अध्यापकों को सौंपा जाता है, जिन्हें इससे कोई परिचय नहीं होता। यह भी उनकी उदासीनता का एक कारण है। हम जिस काम में अभ्यस्त होते हैं उसी को दिल लगाकर करते हैं। जब अध्यापक में ही उत्साह नहीं है तो लड़कों को उन विषय में रुचि क्यों होने लगी। जहाँ कहीं इन विषयों पर ध्यान भी दिया जाता है, वहाँ भी केवल बेगार की जाती है और बेगार के काम में लड़कों को उत्साह नहीं हो सकता। शिक्षा-विभाग ने अभी तक इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया है। अगर शिक्षा-विभाग के अधिकारी मुआयनों में बाहरी बातों को भी कुछ वेट दिया करें और उन्हें भी अध्यापकों की कारगुजारी में शामिल कर लें और उनके साथ उसका समय भी निश्चित कर दें तो हमें विश्वास है यह उपयोगी शिक्षा इतनी उपेक्षित न रहे।

सितम्बर १६३३

शिक्षा का नया आदर्श

अब तक संसार के सामने शिक्षा का जो आदर्श था वह परम्परागत समाज-व्यवस्था की ही पूर्ति करता था। समाज पर अब तक व्यक्तिवाद की प्रमुखता रही है और हमारी शिक्षा-प्रणाली भी व्यक्ति का ही समर्थन करती थी। बचपन ही से व्यक्ति का विकास होने लगता है और परिस्थितियों में आकर पूरा हो जाता है। उस साँचे में ढलकर युवक आत्मसेवी और स्वार्थी मित्रता में भी स्वार्थ की रक्षा करनेवाला पक्का उपयोगितावादी और घमंडी होकर रह जाता है। हमारी शिक्षा हमारी सामाजिक चेतना को नहीं जगाती उसका उद्देश्य अपने फायदे के लिए समाज से काम निकालना है। समाज केवल इसलिए है कि उसे बढ़ने और संचय करने का अवसर दे। वही मनुष्य सफल समझा जाता है जो समाज को खूब अच्छी तरह एक्सप्लाइट कर सके। व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि व्यक्ति को मजबूर होकर उसी लीक पर चलना पड़ता है, दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

लेकिन समाज-व्यवस्था में बड़े वेग से क्रान्ति हो रही है। कम्युनिज्म का प्रचार हो या न हो पर समाज का आदर्श बदल गया है। भारत जैसे ऋषियों के गुलाम देश दस-बीस साल और परलोक-चिन्तन में पड़े रहें लेकिन संसार समष्टि की ओर जा रहा है और सच पूछो तो समष्टिवाद की अनिवार्यता जो हर आदमी के लिए समान अवसर की व्यवस्था करती है, जो किसी का जन्मसिद्ध या परम्परागत विशेष अधिकार नहीं मानती ईश्वरता के कहीं निकट है। एकात्मवाद का प्रकट रूप इसके सिवा और क्या हो सकता है। मानवी सभ्यता का और धर्म का सबसे ऊँचा आदर्श संसार-व्यापी भाईचारा रहा है। आदि से हम उसी ओर जाने की चेष्टा कर रहे हैं और वही हमारा लक्ष्य है लेकिन या तो इसलिए कि हमें इतने महान् तत्त्व की यथार्थता पर कभी विश्वास नहीं हुआ या इसलिए कि इसे धर्म की आखिरी सीढ़ी समझकर हमने सोच लिया कि इसके आगे और कुछ हो ही नहीं सकता हम आज भी इस आदर्श से उतने ही दूर हैं जितने कई हजार साल पहले थे। लेकिन समाज के सामने इससे ऊँचे आदर्श की सृष्टि नहीं हुई और आज भी मनुष्यता की आत्मा उसी अनन्त भविष्य की ओर आँखें उठाए देख रही है और अब धीरे-धीरे विचारवालों का मतैक्य होता जाता है कि इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए हमें एक नई सृष्टि रचनी पड़ेगी अर्थात्—बालक के लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा को एक सिरे से बदलना पड़ेगा जिससे समाज में संघर्ष की जगह सहयोग की प्रवृत्ति जागे लोग एक-दूसरे से सशंकित रहने के बदले विश्वास करें और शक्ति का संचय इसलिए न करें कि उससे दूसरों पर आतंक जमाएँगे बल्कि इसलिए कि दूसरों की सहायता करेंगे। संसार में इस समय जिस शिक्षा-प्रणाली का व्यवहार हो रहा है वह मनुष्य में ईर्ष्या भय घृणा स्वार्थ अनुदारता और कायरता आदि दुर्गुणों

ही को पुष्ट करती है और यह क्रिया शैशव की अवस्था से ही शुरू हो जाती है। सम्पन्न माता-पिता अपने बालक का ज़रूरत से ज़्यादा लाड़-प्यार करके और बड़े होने पर उसको दूसरे लड़कों से अच्छी दशा में रखने की चेष्टा करके उसे इतना निकम्मा बना देते हैं और उसकी बुद्धि को इतना परिवर्तित कर देते हैं कि वह समाज का खून चूसने के सिवा और किसी काम का रह ही नहीं जाता। इस लिहाज़ से हमारे गुरुकुल प्राक्-काल के ईटन या हैरो या राजकुमार कालेजों से कहीं उत्तम थे जहाँ सभी छात्र समान थे। इससे उनमें सामाजिकता का भाव पैदा होता था। अब पश्चिम के विचारकों को भी यह दिखायी देने लगा है कि जिस शिक्षा-प्रणाली को वे सदियों से गले लगाए हुए हैं वह चरित्र को दुर्बल बना देती है और मनुष्य की असामाजिक भावनाओं को प्रबल करके समाज में असमता और पृथकता का बीज बोती है। यह साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद और राष्ट्रों में संघर्ष इसी कुशिक्षा के फल हैं जिसने व्यक्ति को प्रधानता देकर उसे समाज का हिंसक जन्तु बना दिया है।

शिक्षा के आदर्शों में जो सबसे बड़ी क्रान्ति हो रही है वह यह है कि शिशु के पहले पाँच-सात साल मनुष्य को जैसा बना देते हैं वैसा ही वह बन जाता है। इस शैशवावस्था में उसका चरित्र जैसा बन जाता है वह बाद को फिर किसी तरह नहीं बदला जा सकता। साधारणतः अब तक हम बाल्यावस्था को ज़्यादा महत्व नहीं देते थे पर इसी अवस्था में हम अपने अज्ञान के कारण बालकों का भविष्य सदा के लिए बिगाड़ देते हैं। इसी उम्र में बच्चे हमारे अज्ञान के कारण झूठ बोलना, झूठे बहाने करना और चोरी करना सीखते हैं। इसी उम्र में आलस्य की और आरोग्य के सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण करने की आदत पड़ती है। इसी उम्र में वे ज़िद्दी, स्वार्थी और कायर होते हैं। और इस लिहाज़ से माँ-बाप पर बालक के चरित्र के विषय में पहले से कहीं बड़ी ज़िम्मेदारी आ पड़ती है। कितने ही विचारवानों का तो यह कहना है कि बच्चा पहले ही साल में बहुत-सी अच्छी या बुरी आदतें सीख लेता है। और चूँकि इस उम्र में कोई बच्चा शाला नहीं भेजा जा सकता इसलिए माँ-बाप का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे माँ-बाप बनने के पहले शिशु-पालन के सिद्धान्तों से अच्छी तरह परिचित हो जायें। यह स्वीकार किया जाने लगा है कि अधिकांश बालकों में एक-सी प्रवृत्तियाँ होती हैं और उन प्रवृत्तियों का सदुपयोग या दुरुपयोग उन्हें अच्छा या बुरा बना देता है।

सितम्बर १९३३

भारत में प्रेस

'भारत में समाचार-पत्रों की दशा' पर व्याख्यान देते हुए सर सी० पी० रामन ने बहुत ठीक कहा कि पत्रों का सम्पादन एक तनी हुई रस्सी पर चलने के समान है और

सम्पादक को सदैव सचेत रहना पड़ता है, वरना जरा भी उसका बैलेंस इधर या उधर हुआ तो एक ओर वह 'प्रेस ऐक्ट' के गढ़े में गिर पड़ता है, दूसरी ओर हतक के इलजाम के मुँह में। आपने फ़रमाया कि ऐसे व्यवसाय में भी जहाँ हर वक्त सिर पर तलवार लटकती रहती है आर्थिक कठिनाइयों के कारण दशा और भी खराब हो जाती है और इसका कारण केवल यही है कि यहाँ लोग दाम देकर पत्र पढ़ना नहीं चाहते। किसी ट्रेन में सफर करते वक्त जब एक सज्जन कोई अखबार मोल लेते हैं तो कितनी उत्सुक आँखें लालसा से भरी हुई पत्र की ओर लग जाती हैं और कितनी निलज्जता से लोग अखबार माँगने लगते हैं यह हम रोज आँखों देखते हैं। मजदूरों से या खेती करने वाले किसानों से कोई आशा नहीं करता कि वे अखबार पढ़ेंगे। गरीबी का यहाँ प्रश्न नहीं है। मगर जब पढ़े-लिखे आदमी जो रोज दस-पाँच आने पान-सिगरेट में उड़ा देते हैं मँगनी माँगकर पत्र पढ़ने की साध मिटा लेते हैं तो समाचार पत्र कैसे चलें और देश में उनका कैसे-वह प्रभाव हो जो अन्य देशों में पत्रों का है। अधिकांश पत्र विज्ञापनों के बल पर चलते हैं और सभी तरह के विज्ञापन छापने के लिये उनके कालम खुले रहते हैं। जिन विदेशी चीजों के बहिष्कार के लिये सम्पादक कालम के कालम काले करता है उन्हीं विदेशी चीजों की तारीफ़ों के पुल वह विज्ञापनों में बाँधता है। मगर वह मजबूर है। अगर ऐसा न करे तो उसका पत्र एक दिन न चले। अन्य देशों में हजारों सुशिक्षित युवक समाचार-पत्रों में काम करके नाम और यश दोनों कमाते हैं। यहाँ कोई गुंजाइश नहीं।

अक्तूबर १९३३

प्रयाग की रामलीला बन्द

पिछले अंक में हमने इस बात पर अपनी खुशी जाहिर की थी कि नौ साल के बाद इस साल फिर रामलीला हो रही है और हाकिम जिला ने बिना किसी शर्त के रामलीला का जुलूस निकालने की अनुमति दे दी है, पर जिस वक्त मि० डिवाइन ने यह हुक्म दिया था प्रयाग के पुलीसाध्यक्ष नैनीताल गये थे। बाद को वह आये और तुरन्त रामलीला की सारी कमेटियों को सूचना दे दी कि शाम होने के पहले सब जुलूसों को रामलीला के मैदान में पहुँच जाना पड़ेगा। स्पष्ट रूप से तो यह नहीं कहा गया है पर इस सूचना का अभिप्राय यही है कि शाम की नमाज के पहले जुलूस निकल जाय वरना शांति भंग हो जाने की जिम्मेदारी वह नहीं ले सकते। रामलीला कमेटियों ने इस शर्त को नहीं स्वीकार किया और रामलीला फिर स्थगित हो गई। हम नहीं कह सकते कि पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने प्रयाग के मुसलमानों से इस विषय में सलाह करके यह नतीजा निकाला या उन्हें शांति भंग होने का स्वयं विचार उत्पन्न हो गया। जहाँ हमें मालूम है

॥ प्रयाग की रामलीला बन्द ॥

में हँसेगा दुख में रोयेगा मौका पड़ने पर झूठ भी बोलेगा बेईमानी भी करेगा और चूँकि वह ईश्वर-मनुष्य है, इसलिये उसकी सारी मानवी क्रियायें ईश्वरत्व के रंग में रंगी हुई, अधिक महान्, अधिक व्यापक होंगी। आप पाव-आध सेर म संतुष्ट हो जाते हैं तो ईश्वर क्या मन-दो-मन भी न खाये आप दो चार आदमियों को जीत सकते हैं तो क्या ईश्वर दो चार अक्षौहिणियों को न जीते आप एक दो शादियों से संतुष्ट हो जाते हैं तो क्या ईश्वर दो चार हजार स्त्रियों से भोग न करे, आपकी ईश्वर-कल्पना ही दूषित है, बल्कि यों कहना चाहिये कि आपने ईश्वर की सृष्टि करके ही यह सारी बुराइयाँ पैदा कर दी।

और फिर आज पाप और पुण्य धर्म और अधर्म श्लील और अश्लील म भेद ही कहाँ रहा? जब आज के बड़े-बड़े विद्वान काम-शिक्षा के प्रचार पर जोर दे रहे हैं जब विवाह सस्था ही अमानुषीय कही जा रही है, जब यह माना जा रहा है, कि हम जिसे पाप और अधर्म कह रहे हैं वह केवल सामाजिक अन्याय का ही फल है और समाज का जैसा संगठन है, उसम उसके सिवा कोई दूसरा फल हो ही नहीं सकता तो फिर धर्म और अधर्म का पचड़ा क्यों आइए। साहित्य जीवन से तो अलग हो नहीं सकता फिर आप कवियों से क्यों यह आशा रखते हैं कि वे पवित्रता और परमार्थ में गोते लगाएं। जब हम गंगा नहाकर पापों से मुक्त हो जाते हैं, तो कवि क्यों न पतित-पावनी गंगा की महिमा गाए। वह जो कुछ लिखता है मनुष्यों के लिये लिखता है खुद भी उसी संस्कार में पला है, उससे आप कैसे यह आशा रखते हैं कि वह अपने संस्कारों से ऊपर उठ जाय।

मगर नहीं आज हिन्दी-कवि उन भावनाओं से ऊपर उठ रहा है। उसके लिये गोपियों के हाव-विलास में श्याम की रास लीला और माखन चोरी में कोई आकर्षण नहीं रहा। वह गंगा की स्तुति भी नहीं करता और स्वर्ग की अप्सराओं और मधुसागरों की महिमा नहीं गाता। वह नयनों के कटाक्ष और चित्त की चोरी और नूपुर संगीत और रति-रहस्य जैसे कामोद्दीपक प्रसंगों से अपनी कविता को अलंकृत नहीं करता। उसका विषय मनुष्य का हृदय और उसकी भावनाएँ हैं और वह प्रकृति के सौंदय का ही उपासक है। उसके यहाँ कामिनियों का चुम्बन नहीं भक्त की श्रद्धा और उल्लास है, वह साकार का उपासक नहीं अनन्त और अनादि की धुन में मस्त है। उसके लिये फूल की पंखड़ी उषा की लाली पपिहा का गान अनाथ के आँसू किसी बाला का रूप लालित्य या किसी गरीब किसान की कुटिया या जंगल में भटकता हुआ पथिक सभी समान रूप से सुन्दर, नवीन और आकर्षक हैं वह समस्त भूमण्डल को सौन्दर्य का आगार समझता है, पग-पग पर उसके लिये मस्ती के सामान बिखरे पड़े हुए हैं वह फूल की प्याली में प्रेम की एक बूँद पीकर मस्ती में चूर हो जाता है, वह साहित्य में एक नया सन्देश नया जीवन नई भावनाएं लेकर आया है जिसमें वासना का अधम रूप नहीं कवि की

सच्ची अभिलाषा और सच्चा प्रेम झलक रहा है। वह समाज की पवित्रता और मानवता की ओर ले जा रहा है, क्योंकि उसने साकार ईश्वर के पथ से अपना नाता जुड़ा लिया है।

१३ नवम्बर १९३३

कारमाइकेल लाइब्रेरी की हीरक जयन्ती

कारमाइकेल लाइब्रेरी की स्थापना सन् १८७२ में हुई थी। इस प्रकार इसकी स्थापना हुए साठ बरस से ऊपर हो गये। इसकी हीरक जयन्ती मनाने की तैयारी हो रही है। संयुक्त-प्रान्त के शिक्षा मन्त्री माननीय श्री जे० पी० श्रीवास्तव ने पुस्तकालय के इस महोत्सव का सभापति होना स्वीकार कर लिया है। यह पुस्तकालय इस प्रान्त के पुराने पुस्तकालयों में नहीं बल्कि बड़े पुस्तकालयों में भी है। स्वर्गीय राय मथुरा प्रसाद व इस नगर के प्रमुख नागरिकों के सहयोग से इस पुस्तकालय की स्थापना तथा इसका संगठन किया था। नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों की सहायता से पुस्तकालय की धीरे-धीरे उन्नति होती रही। पहले यह पुस्तकालय ठठेरी बाजार के पास चौक से गोदौलिया जाने वाली सड़क पर था। पीछे इसका अपना वर्तमान भवन बना और सन् १८७६ में इसी में जुटने लगा। गत वर्ष के विवरण से इसकी वर्तमान दशा का कुछ परिचय मिल सकता है। पुस्तकालय के हाल में जो इस समय बानबे फुट लम्बा और इक्कीस फुट चौड़ा है पाठकों के पढ़ने के लिए १२६ सामयिक पत्र रखे जाते थे इनमें २१ दैनिक-पत्र और ४१ मासिक-पत्र थे। पुस्तकों की कुल संख्या १७५४९ थी जिनमें अंग्रेजी की ७ ९११ हिन्दी की १ ५९५, उर्दू की २ ८८१ संस्कृत की २ १८३ बंगला की ६११ गुजराती की १७८ और मराठी की ७६ रही। सदस्यों की संख्या २१८ थी। आय १ ९७२ रु० और व्यय ११ ८ ७ रु० था। इस विवरण से इस पुस्तकालय का महत्व प्रकट हो जाता है। बनारस म्युनिसिपलिटी के भूत-पूर्व एक्जिक्यूटिव अफसर राय बहादुर जगन्नाथप्रसाद मेहता के पिता प्रारंभिक वर्षों में पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष थे इसलिये मेहता जी उनकी स्मृति में दो हजार रुपया लगाकर पुस्तकालय के लिए कमरा बनवा रहे हैं। आशा है कि शिक्षा-प्रेमी इस पुस्तकालय के सम्बन्ध में अधिक दिलचस्पी लेंगे इसकी यथाशक्ति सहायता करेंगे तथा इसके प्रबन्ध में सुधार करेंगे जिससे इसके द्वारा और अधिक शिक्षा प्रचार हो सके। पुस्तकालय के द्वारा वास्तविक सेवा तभी हो सकती है जब उसमें उत्तम पुस्तकों के संग्रह का बराबर प्रबन्ध हो तथा पुस्तकों की सुव्यवस्थित सूची हो। इसके साथ ही हमें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि पुस्तकालय की पुस्तकों से अधिक से अधिक सज्जन लाभ उठावें। जिस

पुस्तकालय में चुनी हुई नई और पुरानी पुस्तकों का अच्छा संग्रह है, तथा उन्हें पढ़ने वालों की संख्या बहुत अधिक है यही बहुत बड़ा पुस्तकालय है।

२० नवम्बर, १६३३

सिनेमा और युवक

सिनेमा-चित्रों में प्रायः जिस तरह के दृश्य दिखाए जाते हैं उनका युवकों के चरित्र पर बुरा परिणाम देखकर यूरोप में कई देशों ने १६ वर्ष से कम उम्र के कुमारों को सिनेमा देखने का कानूनी निषेध कर दिया है। हत्या और डाके के जो कांड इतने सजीव रूप से दिखाए जाते हैं उनका किसी के चरित्र पर भी अच्छा असर नहीं पड़ सकता। कुमारों के कोमल हृदय पर तो उसका असर इतना खराब होता है कि कितनों ही ने उसे काम रूप में लाने की चेष्टा की है और आज जेलखानों में चक्की पीस रहे हैं। शिक्षोपयोगी चित्रों से अलबत्ता युवकों का बहुत-कुछ उपकार होने की आशा की जाती है। भूगोल, इतिहास, आरोग्य आदि विषयों की शिक्षा चित्रों द्वारा बहुत ही सरल और मनोरंजक हो गई है, पर शिक्षा-सिद्धांत के मर्मज्ञों को ये शिक्षा-विषयक चित्र-पट भी दोष से खाली नहीं दीखते। इनका असर इतना खराब तो नहीं होता कि दुश्चरित्रता की ओर ले जाय पर बौद्धिक विकास में इससे बड़ी बाधा पड़ती है। लड़कों में जो जिज्ञासा-वृत्ति होती है उसे शान्त करने का यहाँ कोई साधन नहीं। वे केवल आँखों से देखते हैं बुद्धि और तुलना शक्ति से काम लेने का उन्हें कोई अवसर नहीं मिलता। इस तरह उनका मन विलास-प्रिय हो जाता है और उनमें विचार की शक्ति शिथिल हो जाती है। यहाँ तक कि उनका कहना है कि बहुतेरे बालकों की मानसिक शिथिलता इतनी बढ़ गई है कि वे जो दृश्य देखते हैं, उनकी बारीकियों को याद नहीं रख सकते। बालकों में जो क्रियात्मक और नई-नई बातें खोज निकालने की प्रवृत्ति है वह यहाँ बिल्कुल दब जाती है। मगर सिनेमा का प्रचार दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, और अच्छे फिल्म खोजने से भी नहीं मिलते। जब तक यह व्यवसाय सुशिक्षित और विचारशील तथा चरित्रवान व्यक्तियों के हाथ में न आयगा इसके सुधरने की कोई आशा नहीं।

११ दिसम्बर, १६३३

सर पी० सी० राय का दीक्षान्त भाषण

सर पी० सी० राय ने काशी-विश्व-विद्यालय के दीक्षान्त भाषण में कई बड़े महत्व के प्रश्न उठाए जिन पर गंभीरता से मनन करने की जरूरत है। सबसे पहले आपके विचार से विश्व-विद्यालय में लेक्चरों का होना आवश्यक न होना चाहिए, बल्कि छात्रों

मेंस्वय पुस्तकावलोकन की लगन पैदा होनी चाहिए। विद्यालय छात्रों को पाठ्य क्रम के झमेलों में फँसाकर उनकी बौद्धिक मौलिकता को नष्ट कर देता है। इसमें संदेह नहीं कि परीक्षाओं और नम्बरों का बन्धन छात्रों के स्वाध्याय में बाधक होता है और आज भी ऐसे ही कितने ही महान् पुरुष मौजूद हैं जिन्होंने किसी विद्यालय का मुँह नहीं देखा मगर हमारे क्लास में बी ए तक के छात्रों को विश्व-विद्यालय का छात्र समझा ही क्यों न जाय। हमारे यहाँ जो सेकेंडरी शिक्षा कहलाती है, वह मैट्रिकुलेशन तक समाप्त हो जाती है पर उस वक्त अधिकांश छात्रों की उम्र पन्द्रह से अठारह वर्ष की होती है और उनमें प्रौढ़ विचार का विकास नहीं हुआ रहता। वास्तव में बी ए तक उसी प्रौढ़ शिक्षा की कमी पूरी होती है। इसके ऊपर तीन साल का समय विश्व-विद्यालय का होना चाहिए, जिसमें छात्रों को लेक्चरों का सुनना लाजमी न हो और न स्वाध्याय और खोज में अभ्यस्त हो सकें। बी ए तक की शिक्षा तो जहाँ तक सस्ती हो सके अधिक से अधिक छात्रों को मिलनी चाहिए। मगर आश्चर्य यही है कि इस मन्दी के जमाने में जहाँ लोगों की आमदनियाँ घट गई हैं विद्यालय का खर्च बढ़ गया है। वही हुकूमत जो अन्य विभागों में राज्य कर रही है विद्यालय पर भी शासन जमाए हुए है। वही लम्बी-लम्बी तनख्वाहें हैं वही परीक्षा की फीस है, वही दफ्तरी की धुन है। हमारा साधारण अध्यापक किसी तालुकेदार या डिप्टी मैजिस्ट्रेट से कम रोब नहीं जमाता। खैर यह तो विवादग्रस्त विषय है। इसके पक्ष और विपक्ष दोनों ही के समर्थक मिल जायँगे मगर मातृभाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा का जो आदर्श आपने दिया उसमें तो शायद किसी को आपत्ति हो ही नहीं सकती। हैदराबाद में उर्दू द्वारा ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जा रही है। जो बात उर्दू द्वारा हो सकती है वह अन्य भाषाओं द्वारा भी हो सकती है मगर यहाँ कठिनाई यह पड़ती है कि हरेक प्रान्त की भाषा अलग है। अलग भाषाओं की संख्या भी एक दर्जन से कम न होगी। अगर हरेक प्रान्त में प्रान्तीय भाषा ही शिक्षा का माध्यम बना दी गई तो राष्ट्रीयता को कितना बड़ा धक्का पहुँचेगा। उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। हमारे छात्र कूप-मंडूक होकर रह जायेंगे। इसलिये जरूरत यह है कि मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम न बनाकर राष्ट्र भाषा को माध्यम बनाया जाय। और यह तय हो चुका है कि हिन्दी के सिवा कोई दूसरी भाषा राष्ट्र भाषा बनने लायक नहीं है। यदि बंगाल इस प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो हमारा विश्वास है कि अन्य प्रान्त वाले भी अवश्य स्वीकार कर लेंगे। यदि राष्ट्र भाषा द्वारा शिक्षा मिलने लगे तो इंटरमीडिएट का कोर्स सरलता से मैट्रिकुलेशन में पूरा किया जा सकता है। और तब आशा है छात्रों में वह अभिमान भी न पैदा हो जो अपनी डिग्री के साथ उनमें आ जाता है और उन्हें कृषि या व्यापार के अयोग्य बना देता है। मगर एक पश्चिमी भाषा की जरूरत तो हर हालत में रहेगी। उसके बिना गुजारा नहीं हो सकता। संसार की प्रगति से मिले रहने के लिये इसकी जरूरत है। १८ दिसम्बर, १९३३

॥ सर सी वी रामन का दीक्षान्त भाषण ॥

सर तेज बहादुर सप्रू का भाषण

इलाहाबाद युनिवर्सिटी के दीक्षान्त भाषण में सर तेजबहादुर ने पाठ्य-क्रम में ऐसा परिवर्तन करने के लिए आग्रह किया जिससे छात्रों की रोटी का सवाल हल हो सके क्योंकि रोटी का सवाल संस्कृति के सवाल से कहीं आवश्यक है। आपने बहुत बार फरमाया कि हजारों युवक अपने कानून और आर्ट और विज्ञान का डिप्लोमा लिए मारे मारे घूम रहे हैं। आपने व्यवसायिक और औद्योगिक शिक्षा पर जोर दिया। मगर हम पूछते हैं कि औद्योगिक डिप्लोमा वालों के लिए भी कहाँ स्थान है? रुड़की और अन्य टेकनिकल स्कूलों को जाने दीजिए चमारों लोहारों और बढ़इयों के लिए भी तो काम की इफरात नहीं है। अगर उनकी संख्या और बढ़ जाय तो उनमें भी बेकारी बढ़ जायगी। फिर कौन-सा उद्योग सीखें जहाँ रोटी का सवाल हल हो सके।

मगर यहाँ तो सिर्फ रोटी ही का सवाल नहीं है। सम्मान का सवाल है, बँगले का सवाल है कार का सवाल है, फस्ट क्लास में सफर करने का सवाल है। औरों में जो महत्वाकांक्षा है क्या युवकों में उसका होना वर्जित है? बढ़ई या चमार को किसी ने शान से बँगले में रहते नहीं देखा। वह बहुत सफल हुआ तो अपनी बीवी के लिए कुछ गहने बनवा देगा या अपने कच्चे मकान को पक्का करवा लेगा। शान से यही लोग जीवन का निर्वाह कर रहे हैं जिन्होंने कानून पढ़ा है जिन्होंने आर्ट और विज्ञान की डिग्रियाँ ली हैं। उसी रास्ते पर हमारा युवक भी चल रहा है। उसे किसी तरह सन्तोष नहीं होता कि उसे प्रकृति ने केवल जूते गाँठने के लिए पैदा किया है, और ऊँची शिक्षा उसके लिए हानिकर होगी। वह अपने समीप जो कुछ देखता है उसी का रंग उस पर असर करता है। जो लोग उसे पढ़ाते हैं जो लोग उसे उपदेश देते हैं, जो लोग उसकी ज्ञान वृद्धि करते हैं जो जीवन के सच्चे आदर्श बनकर उसके सम्मुख खड़े होते हैं कैसे मुमकिन है कि इनका प्रभाव उस पर न पड़े। ऐसे लोग जब उससे औद्योगिक शिक्षा का अनुरोध करते हैं तो वह अपने अन्दर-ही-अन्दर मुस्कराता है और सोचता है कि आप लोग तो जिन्दगी के मजे उड़ा रहे हैं हम मजदूरी करने का उपदेश देते हैं। यही कारण है कि आज हजारों युवक निराश होने पर भी विद्यालयों की ओर दौड़े चले जाते हैं। क्या हरज है चोटी के दो छात्रों के लिए ही कुछ आशा है शेष के लिए कोई आशा नहीं। कौन जाने उसी की तकदीर लड़ जाय और वह उन दो आदमियों में एक हो। कुछ भी हो वह पहले से ही हिम्मत हार कर न बैठेगा। एक या तीन बार अपनी किस्मत आजमाएगा अपनी आँखें खोकर, स्वास्थ्य खोकर, घर को बरबाद कर वह यह परीक्षा करेगा और जब असफल हो जायगा तो उसे यह मालूम हो जायगा कि उसने यथा-शक्ति उद्योग कर लिया। अत्र से भाग कर अपने को अयोग्य समझ लेने पर उसका युवक और मनस्वी आत्मा कभी तैयार नहीं होता।

बात यह है कि समाज का जैसा कुछ संगठन है, उसमें ऐसी स्थिति का पैदा होना अनिवार्य था और वह हुई। जब तक थोड़े से आदमी मस्तिष्क के बल से अपने स्वार्थों को उन्नति करते रहेंगे जब तक गिने-गिनाए आदमियों को भी ऐसे अवसर मिलते रहेंगे कि वे डिप्लोमा का पास-पोर्ट लेकर सम्मान और ऐश्वर्य के प्रदेश में विचर सकें उस वक्त तक विद्यालयों में छात्रों का यों ही रेलपेल रहेगा चाहे विद्यालय उनकी आकांक्षाओं की समाधि ही क्यों न बनता रहे। यह स्थिति कुछ भारत में ही नहीं हुई है। अमेरिका योरप के उन्नत देशों में भी जहाँ कहीं व्यक्ति की प्रधानता है, यही दशा हो रही है। जब तक राष्ट्र समष्टि का रूप धारण न करेगा जब तक थोड़े से चतुर व्यक्ति लक्ष्मी के कृपा पात्र बनते रहेंगे जब तक हरेक को अपनी-अपनी पड़ी रहेगी जब तक राष्ट्र इस उत्तरदायित्व को स्वीकार न करेगा कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से जीवित रहने और उन्नति करने का अधिकार है, उस वक्त तक पढ़े लिखों की यह भयंकर बेकारी दिन-दिन बढ़ती जायगी। यह सत्य है कि आज बड़े-बड़े राष्ट्रों के विधाता वे लोग हैं जिन्होंने विद्यालयों का मुँह तक नहीं देखा। लेकिन मुसोलिनी हिटलर और स्टालिन समाज की लीक पर चलकर इस पद पर नहीं पहुँचे हैं, वे क्रान्ति-मार्ग से अपने उच्चस्थान पर पहुँचे हैं। और क्रान्ति बच्चों का खेल नहीं है। हम अपने युवकों के मस्तिष्क में यह ख्याल नहीं जमने देना चाहते कि उन्नति के द्वार उनके लिए बन्द हैं और समाज और राष्ट्र से विद्रोह करके ही वे अपने लिए स्थान निकाल सकते हैं। देश के लिए वह बुरा दिन होगा अगर युवकों के दिल में यह बात बैठ गई। उसके लिए यह परमावश्यक है कि राष्ट्र इस सिद्धान्त को स्वीकार कर ले कि डिप्लोमा सम्पत्ति और अधिकार के खजाने की कुन्जी नहीं है तभी शिक्षा का वास्तविक महत्व प्रकट होगा। अभी तो शिक्षा भी एक व्यवसाय है और जो अधिक-से-अधिक धन खर्च कर सकता है वह बड़ी-से-बड़ी डिग्रियाँ ले सकता है, बशर्ते कि वह निरा कोढ़-मग्ज न हो। राष्ट्र के भावी कल्याण के लिए यह जरूरी हो गया है कि समाज और राष्ट्र की वह व्यवस्था जिसमें थोड़े से व्यक्ति संसार की विभूतियों पर आधिपत्य जमाएँ असन्तोष और संघर्ष की ज्वाला फैला रहे हैं, बदल दी जाय और हमारी महानता की कसौटी हमारी शान और विलासिता न हो बल्कि हमारी सेवा और त्यागमय जीवन ही उसकी कसौटी हो।

२४ दिसम्बर, १९३३

डाक्टर टैगोर बम्बई में

पब्लिक से चन्दा वसूल करना भी एक कला है और इसके कलाविद् भारत में दो हैं। एक महात्मा मालवीयजी दूसरे महात्मा गाँधी। कौन प्रधान है कौन दोयम इसका

फैसला करना मुश्किल है। दोनों महानुभावों को एक ही ब्रैकेट में रखना चाहिए। मालवीयजी ने ठेठी के दिनों में लाखों वसूल किए। महात्माजी इस मन्दी और बेकारी के दिनों में केवल दो प्रान्तों में ढाई तीन लाख रुपये वसूल कर चुके। सुना है मालवीयजी भी निकलने वाले हैं। तो बात यह है कि ये महानुभाव इस कला में सिद्धहस्त हो गए। पचास-पचास साल से अभ्यास जो कर रहे हैं। डाक्टर रवीन्द्रनाथ विश्व-कवि हैं और बहुत बड़े कलाकार हैं लेकिन भिक्षा-कला में उन्हें दोनों पूज्य भिक्षुकों से कुछ सीखने की जरूरत है। अभी हाल में इस क्षेत्र में आये हैं। मालवीयजी अतीत गौरव दान और अपने वाणी चमत्कार से लेते हैं। महात्माजी चन्दा भी लेते हैं और डाँटते भी हैं उनकी कला में यही विशेषता है। डाक्टर टैगोर ने टिकट लगाकर शांति-निकेतन के बालकों बालिकाओं से अभिनय कराया खुद भी पार्ट किया लेकिन सुनते हैं अच्छी रकम हाथ न लगी। बात यह है कि जिस संस्था के लिये चन्दा माँगा जाय उस संस्था से जनता में रुचि और उत्साह हुए बिना चन्दा कैसे मिले। शांति-निकेतन ने अभी जनता के दिल में घर नहीं किया। जब तक वह सेवा और त्याग का रेकार्ड जनता के सामने न रखे उस दस-पाँच बड़े-बड़े लोग चाहे केवल बड़ी रकम दान दे दें जनता से मिलना मुश्किल है। मगर हम तो डाक्टर टैगोर जैसे महान ऋषि का पाट कुछ गौरवपूर्ण न जान पड़ा। यदि शान्ति निकेतन से ऐसे छात्र निकलें जो जीवन-संग्राम में कुछ कर दिखाएँ तो देश आज उसको भी उसी तरह प्यार करेगा जैसे गुरुकुलों को।

जनवरी, १९३४

साम्प्रदायिकता और संस्कृति

साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिये वह गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़ कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था संस्कृति का खोल ओढ़ कर आती है। हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं यह भूल गए हैं, कि अब न कहीं मुस्लिम-संस्कृति है, न कहीं हिन्दू-संस्कृति न कोई अन्य संस्कृति अब संसार में केवल एक संस्कृति है और वह है आर्थिक संस्कृति मगर हम आज भी हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का रोना रोए चले जाते हैं। हालाँकि संस्कृति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। आर्य संस्कृति है ईरानी संस्कृति है अरब संस्कृति है लेकिन ईसाई संस्कृति और मुस्लिम या हिन्दू संस्कृति नाम की कोई चीज नहीं है। हिन्दू मूर्ति पूजक है, तो क्या मुसलमान कब्र-पूजक और स्थान पूजक नहीं हैं ताजिए को शरबत और शीरीनी कौन चढ़ाता है मसजिद को खुदा का घर कौन समझता है। अगर मुसलमानों में

एक सम्प्रदाय ऐसा है, जो बड़े-से-बड़े पैगम्बरों के सामने सिर झुकाना भी कुफ्र समझता है, तो हिन्दुओं में भी एक सम्प्रदाय ऐसा है जो देवताओं को पत्थर के टुकड़े और नदियों को पानी की धारा और धर्म ग्रन्थों को गपोड़े समझता है। यहाँ तो हम दोनों संस्कृतियों में कोई अन्तर नहीं दीखता।

तो क्या भाषा का अन्तर है? बिलकुल नहीं। मुसलमान उर्दू को अपनी मिल्की भाषा कह लें मगर मदरासी मुसलमान के लिए उर्दू वैसी ही अपरिचित वस्तु है जैसे मदरासी हिन्दू के लिए संस्कृत। हिन्दू या मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं सर्व-साधारण की भाषा बोलते हैं चाहे वह उर्दू हो या हिन्दी बंगला हो या मराठी। बंगाली मुसलमान उसी तरह उर्दू नहीं बोल सकता और न समझ सकता है जिस तरह बंगाली हिन्दू। दोनों एक ही भाषा बोलते हैं। सीमा प्रान्त का हिन्दू उसी तरह पश्तो बोलता है जैसे वहाँ का मुसलमान।

फिर क्या पहनावे में अन्तर है? सीमाप्रान्त के हिन्दू और मुसलमान पारने सामने खड़े कर दिए जायें कोई तमीज नहीं। हिन्दू स्त्री-पुरुष भी मुसलमानों के-से शलवार पहनते हैं हिन्दू-स्त्रियाँ मुसलमान स्त्रियों की ही तरह कुरता और ओढ़नी पहनती-ओढ़ती हैं। हिन्दू पुरुष भी मुसलमानों की तरह कुलाह और पगड़ी बाँधता है। अक्सर दोनों ही दाढ़ी भी रखते हैं। बंगाल में आइए वहाँ हिन्दू और मुसलमान स्त्रियाँ दोनों ही साड़ी पहनती हैं हिन्दू और मुसलमान-पुरुष दोनों ही कुरता और धोती पहनते हैं। तहमद की प्रथा बहुत हाल में चली है जब से साम्प्रदायिकता ने ज़ोर पकड़ा है।

खान-पान को लीजिए। अगर मुसलमान माँस खाते हैं तो हिन्दू भी अस्सी फी सदी माँस खाते हैं। ऊँचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं ऊँचे दरजे के मुसलमान भी। नीच दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं नीचे दरजे का मुसलमान भी। मध्यवर्ग के हिन्दू या तो बहुत कम शराब पीते हैं या भंग के गोले चढ़ाते हैं जिसका नेता हमारा पंडा पुजारी समाज है। मध्यवर्ग के मुसलमान भी बहुत कम शराब पीते हैं, हाँ कुछ लोग अफीम की पीनक अवश्य लेते हैं मगर इस पीनकबाजी में हिन्दू भाई मुसलमानों से पीछे नहीं हैं। हाँ मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं और उनका माँस खाते हैं लेकिन हिन्दुओं में भी ऐसी जातियाँ मौजूद हैं जो गाय का माँस खाती हैं यहाँ तक कि मृतक माँस भी नहीं छोड़ती हालाँकि वधिक और मृतक माँस में विशेष अन्तर नहीं है। मगर संसार में हिन्दू ही एक ऐसी जाति है जो गो-माँस को अग्राह्य या अपवित्र समझती है। तो क्या इसलिये हिन्दुओं को समस्त संसार से [illegible] देना चाहिए?

संगीत और चित्र-कला भी संस्कृति का एक अंग है लेकिन यहाँ भी हम कोई सांस्कृतिक भेद नहीं पाते। वही राग-रागिनियाँ दोनों गाते हैं और मुगल काल की चित्र

कला से भी हम परिचित हैं। भले यह कला पहले मुसलमानों में न रही हो लेकिन आज इस सीगे में भी हम मुसलमानों को उसी तरह पाते हैं जैसे हिन्दुओं को।

फिर हमारी समझ में नहीं आता कि वह कौन-सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिये साम्प्रदायिकता इतना ज़ोर बाँध रही है। वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखंड। और इसके जन्मदाता भी वही लोग हैं जो साम्प्रदायिकता की शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं। यह सीधे-सादे आदमियों को साम्प्रदायिकता की ओर घसीट लाने का केवल एक मंत्र है और कुछ नहीं। हिन्दू और मुसलिम संस्कृति के रक्षक वही महानुभाव और वही समुदाय हैं जिनको अपने ऊपर, अपने देशवासियों के ऊपर और सत्य के ऊपर कोई भरोसा नहीं, इसलिये अनन्त तक एक ऐसी शक्ति की ज़रूरत समझते हैं, जो उनके झगड़ों में सरपंच का काम करती रहे। इन संस्थाओं को जनता के सुख-दुख से कोई मतलब नहीं उनके पास ऐसा कोई सामाजिक या राजनैतिक कार्य-क्रम नहीं है, जिसे राष्ट्र के सामने रख सकें। उनका काम केवल एक-दूसरे का विरोध करके सरकार के सामने फरियाद करना और इस तरह विदेशी शासन को स्थायी बनाना है। उन्हें किसी हिन्दू या किसी मुसलिम शासन की अपेक्षा विदेशी शासन कहीं सह्य है। वे ओहदों और रियायतों के लिए एक दूसरे से चढ़ा ऊपरी करके जनता पर शासन करने में शासक के सहायक बनने के सिवा और कुछ नहीं करते। मुसलमान अगर शासकों का दामन पकड़कर कुछ रियायतें पा गया है, तो हिन्दू क्यों न सरकार का दामन पकड़े और क्यों न मुसलमानों ही की भाँति सुखरू बन जाय। यही उनकी मनोवृत्ति है। कोई ऐसा काम सोच निकालना जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों एक होकर राष्ट्र का उद्धार कर सकें उनकी विचार शक्ति से बाहर है। दोनों ही साम्प्रदायिक संस्थायें मध्यवर्ग के धनिकों, ज़मींदारों, ओहदेदारों और पद-लोलुपों की हैं। उनका काम लोग अपने समुदाय के लिये ऐसे अवसर प्राप्त करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें जनता पर आर्थिक और व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें। साधारण जनता के सुख-दुख से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। अगर सरकार की किसी नीति से जनता को कुछ लाभ होने की आशा है और इन समुदायों को कुछ क्षति पहुँचने का भय है, तो वे तुरन्त उसका विरोध करने को तैयार हो जायँगी। अगर और ज़्यादा गहराई तक जाँय तो हम इन संस्थाओं में अधिकांश ऐसे सज्जन मिलेंगे जिनका कोई-न-कोई निजी हित लगा हुआ है। और कुछ न सही तो हुक्काम के बंगलों पर उनकी रसाई ही सरल हो जाती है। एक विचित्र बात है कि इन सज्जनों की अफ़सरों की निगाह में बड़ी इज़्ज़त है, उनकी वे बड़ी ख़ातिर करते हैं। इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे समझते हैं ऐसों पर ही उनका प्रभुत्व टिका हुआ है। आपस में खूब लड़े जाओ, खूब एक दूसरे को नुक़सान पहुँचाओ। उनके पास फरियाद ले जाओ फिर उन्हें किस बात का ग़म है वे अमर हैं। मज़ा यह है कि बाज़ों ने यह पाखण्ड फैलाना भी शुरू कर दिया है कि हिन्दू अपना खून बह

स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इतिहास में इसके उदाहरण भी दिए जाते हैं। इस तरह की गलत फहमियाँ फैलाकर इसके सिवा कि मुसलमानों में और ज्यादा बदगुमानी फैले और कोई नतीजा नहीं निकल सकता। अगर कोई जमाना था जब मुसलमानों के राज काल में हिन्दुओं ने स्वाधीनता पाई थी तो कोई ऐसा काल भी था जब हिन्दुओं के जमाने में मुसलमानों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था। उन जमानों को भूल जाइये। वह मुबारक दिन होगा जब हमारी शालाओं से इतिहास उठा दिया जायगा। यह जमाना साम्प्रदायिक अभ्युदय का नहीं है। यह आर्थिक युग है और आज वही नीति सफल होगी जिससे जनता अपनी आर्थिक समस्याओं को हल कर सके जिससे यह अंध विश्वास यह धर्म के नाम पर किया गया पाखंड यह नीति के नाम पर गरीबों को दुहने की कृपा मिटाई जा सके। जनता को आज संस्कृतियों की रक्षा करने का न अवकाश है न जरूरत। 'संस्कृति' अमीरों का पेटभरों का बेफिक्रों का व्यसन है। दरिद्रों के लिये प्राण-रक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है। उस संस्कृति में था ही क्या जिसकी वे रक्षा करें। जब जनता मूर्छित थी तब उस पर धर्म और संस्कृति का मोह छाया हुआ था। ज्यों-ज्यों उसकी चेतना जागृत होती जाती है वह देखने लगी है कि यह संस्कृति केवल लुटेरों की संस्कृति थी जो राजा बनकर विद्वान बनकर जगत सेठ बनकर जनता को लूटती थी। उसे आज अपने जीवन की रक्षा की ज्यादा चिन्ता है जो संस्कृति की रक्षा से कहीं आवश्यक है। उस पुरानी संस्कृति में उसके लिए मोह का कोई कारण नहीं है। और साम्प्रदायिकता उसकी आर्थिक समस्याओं की तरफ से आँखें बंद किए हुए ऐसे कार्य क्रम पर चल रही है जिससे उसकी पराधीनता चिरस्थायी बनी रहेगी।

१५ जनवरी, १९३४

हवा का रुख

किसी पत्र के इंगलैंड के एक संवाददाता ने लिखा है कि पचीस साल पहले कैम्ब्रिज में साहित्य और कविता ही छात्रों के विचार-विनिमय का विषय था राजनीति से किसी को जरा भी दिलचस्पी न थी। उसी कैम्ब्रिज में आज कम्युनिज्म का सबसे ज्यादा असर है। मगर वह महाशय यह भूल गये हैं कि पचीस वर्ष पहले कम्युनिज्म की सूरत ही किसने देखी थी। विज्ञान ने सजीव यन्त्र और बेतार बनाए, तो क्या राजनीति ज्यों-की-त्यों बैठी रहती। उदार और परम्परावादी दलों में मजदूरों के आदर्शवाद के लिये क्या आकर्षण हो सकता है। कम्युनिज्म अर्थात् साम्यवाद का विरोध वही तो करता है जो दूसरों से ज्यादा सुख भोगना चाहता है जो दूसरों को अपने अधीन रखना चाहता है। जो अपने को भी दूसरों के बराबर ही समझता है जो अपने में कोई सुरखाब का

पर लगा हुआ नहीं देखता जो समदर्शी है उसे साम्यवाद से क्यों विरोध होने लगा। फिर युवक तो मार्क्सवादी होते ही हैं। भारत में ही देखिये। बाप तो साम्प्रदायिकता के उपासक हैं, और बेटे उसके कट्टर विरोधी। युवक क्या नहीं देखते कि वर्तमान सामाजिक और राजनैतिक संगठन ही उनकी उदार, ऊँची और पवित्र भावनाओं को कुचल कर उन्हें स्वार्थी और संकीर्ण और हृदयशून्य बना देती है। फिर वे क्यों न उस व्यवस्था के दुश्मन हो जायें जो उनकी मानवता को पीछे डाल रही है और उनमें प्रेम की जगह सबल के साथ जगा रही है। उसी सम्वाददाता के शब्दों में 'एसा मुश्किल से कोई समझदार आदमी मिलेगा जिसमें जरा भी विचार शक्ति है, जो वर्तमान परिस्थिति का साम्यवादी विश्लेषण न स्वीकार करता हो।

२६ जनवरी, १९३४

जर्मनी में नाच पर बंदिश

हिटलर की सरकार ने हाल में ऐसा फरमान जारी किया है कि अठारह वर्ष से कम उम्र के किशोर युवक-युवतियाँ के नंगे नाच में न जायें। हाँ अगर उनके साथ कोई जवाबदार आदमी हो तो जा सकते हैं। जर्मनी के रसिक और मनचले युवकों ने इस फरमान का विरोध किया है लेकिन जर्मन सरकार एसे विरोध की परवाह नहीं करती। यूरोप में नग्न विलासिता जोरों से बढ़ रही है, और वही लोग जो स्त्रियो के आदर का धूम मचाते हैं नायिकाओं को नग्न वेष में देखकर अपनी आँखों को तृप्त करते हैं। हम तो उन युवकों से कहेंगे कि इस हुक्म का विरोध न करने के बदले उसका स्वागत करो और वही समय जो तुम नंगा नाच देखने में नष्ट करते थे मरदाना खेल खेलने में लगाओ।

१२ फरवरी, १९३४

स्वामी-सत्यदेव पाठशाला

पाठकों को यह जान कर हर्ष होगा कि हिन्दी के विख्यात लेखक और राष्ट्रीय कार्यकर्ता स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक ने काशी को अपने कार्यक्षेत्र का केन्द्र बनाया है और अब यहीं निवास करेंगे। आप अरसे से हिन्दी की सेवा तो करते ही रहेंगे अब आपने एक पाठशाला भी स्थापित कर दी है। काशी एसे विद्यालय के लिये उपयुक्त स्थान है क्योंकि यह हमेशा से विद्या का केन्द्र रहा है। इस विद्यालय में वह भी विषय पढ़ाये जायँगे जो मनुष्य को स्वावलम्बी स्वतंत्र-विचार कर्मयोगी उदार और विचार-

शोरा बनाते हैं। स्वामीजी ने दुनियाँ देखी है और राष्ट्रों के उत्थान और पतन का अध्ययन किया है। वह झूठे वैराग्य के उपासक नहीं हैं जो जीवन को अनित्य और असार को दुःख का मूल समझता है। उन्होंने संसार के मुख्य धर्मों का तुलनात्मक विवेचन किया है। अतएव आपकी अध्यक्षता में किस ढंग की शिक्षा मिलेगी इसका अनुमान किया जा सकता है। यहाँ यूरोप का इतिहास पाश्चात्य शिक्षा के विकास का इतिहास पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का विचारपूर्ण अध्ययन आदि विषयों पर व्याख्यान दिए जायेंगे। काशी में यह पाठशाला अपने ढंग की अद्वितीय होगी जिसमें पूर्व और पश्चिम की सभी अच्छी-अच्छी बातों का सामंजस्य होगा। हम नहीं कह सकते काशी जैसे कट्टर पंथी स्थान में ऐसी पाठशाला कहाँ तक सफल होगी पर काशी जहाँ प्राचीन है वहाँ उसने सदैव नए प्रयास का स्वागत किया है और हम आशा करते हैं कि स्वामी जी अपने शुभ-उद्देश्य में सफल होंगे।

१६ फरवरी, १९३४

भारतीय कला की आत्मा

हिज एक्सेलेन्सी सर मालकम हैली ने लखनऊ स्कूल आफ-आर्ट की वार्षिक प्रदर्शनी के अवसर पर भारतीय कला की बड़ी सुन्दर विवेचना की। आपने फरमाया कि प्राचीन भारतीय कला कुछ धार्मिक पौराणिक और दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति थी जो विशेष रूप से भारतीय थे। आपके विचार में यही भारत की जातीय-कला की आत्मा थी। बेशक थी। मगर उस धर्मान्धता के युग में संसार की किस जाति की कला इससे भिन्न थी? फिर अब संसार में वही कला का यह नया रूप न था तो भारत में क्यों होता। यहाँ भी कलाकारों ने अपनी बुद्धि कृष्ण की रास लीलाओं और देवताओं के पौराणिक गाथाओं के चित्रित करने में लगाई उसी तरह जैसे बौद्ध कलाकारों ने कई सदियों पहले बुद्ध जीवन को चित्रित करने में लगायी थी या जैसे बाद को इटली के महान् चित्रकारों और मूर्तिकारों ने ईसा और अन्य धर्म सम्बन्धी विषयों में रुचि की। भारत की आत्मा ही कलाकार की आत्मा है और वह अब सदियों की धार्मिक और साम्प्रदायिक गुलामी से मुक्त होकर व्यापक स्वाधीन क्षेत्र में आना चाहती है और वही कलाकार आज का राष्ट्रीय कलाकार होगा जो इस भावना को रंगों और पत्थरों में दर्शाए। देवी-देवता और राजा-रानी के चित्र अब केवल प्रशंसा के लिए रह गए हैं राष्ट्रीय भावना को उनसे कोई आशा नहीं मिलता। आज भी हमारे यहाँ ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है, जो कृष्ण की रूप लीला के चित्र देखकर गदगद हो जाते हैं और उनकी प्रशंसा में पोथियाँ निर्माण कर डालते हैं। लेकिन उन चित्रों में गौरव या आनन्द का

अनुभव करने वाले वही सुखी और सुप्त जीव हैं जो आज के वास्तविक जीवन में नहीं पड़े और न परिस्थितियों के कारण पड़ सकते हैं।

२६ फरवरी १९३४

पत्रकारों के लिये संतोष की बात

भारत के पत्रकारों की आज जो दशा है, वह किसी से छिपी नहीं। इससे कहीं ज्यादा मेहनत सिर्फ गुजारा लेकर शायद ही कोई करता हो। बहुतों को तो गुजारा भी नहीं मिलता। जायदाद है तो उसे बेचते हैं नहीं ट्यूशन करके पेट पालते हैं और पत्र निकालते हैं। जिसे हाथ पाँव जोड़कर विदेशियों से कुछ विज्ञापन और कचहरियों से कुछ नोटिस मिल गए वह तो चाहे शाम को रोटी दाल खा लेता हो पर जो इतने भाग्यवान नहीं हैं वह तो बिल्कुल दरमोर हैं। क्या सितम है कि बेचारे स्वदेशी-स्वदेशी चिल्ला करके कालम-के-कालम काले करते हैं मगर उन्हीं विदेशियों के विज्ञापन छाप कर अपनी रोटियाँ चलाते हैं। किसी-न-किसी तरह मशाल को अपना पत्र तो चलाना ही है। इसलिए पत्रकारों को यह सुनकर खुशी होगी कि कम-से-कम एक बात में वह दूसरों से बाजी मारे हुए हैं यानी व पागल कम होते हैं। बम्बई प्रान्त के पागलखानों की रिपोर्ट से पता चलता है कि पिछले साल वहाँ पाँच हजार आदमी पागल हुए, वहाँ उनमें सिर्फ एक पत्रकार था। मगर हमारा तो ख्याल है कि पत्रकार अव्वल से आखिर तक सभी पागल होते हैं। जिसके पास होश-हवास है ही नहीं वह क्या पागल होगा। जिसके पास कुरता ही नहीं है वह दामन कहाँ से लाये। यह पागलपन नहीं तो और क्या है कि भूखों मर रहे हैं। बाल-बच्चे उसके नाम को रो रहे हैं और वह हजरत पत्र निकाल रहे हैं। बच्चे की मीठी-मीठी तोतली बातें सुनने की उसे फुरसत नहीं। वह सर हेली या सर हैम या सर मिलर का असेम्बली वाला भाषण पढ़ता और उस पर विचार करने में मग्न है। पूछिए, दक्खिन अफ्रीका के हिन्दुस्तानी कुली वहाँ से निकाले गए तो तुम क्यों पाजामे से बाहर हुए जा रहे हो। और तो कोई नहीं बोलता। वकील है वह इतमीनान से बहस कर रहा है। महाजन है, वह इतमीनान से बैठा रुपए की पर्चियाँ बना रहा है। जमींदार है वह इतमीनान से असामियों से नजराने वसूल कर रहा है और हमारा यह पागल सम्पादक उन अभागे कुलियों के दुख में खून के आँसू बहा रहा है। हिटलर ने या मुसोलिनी ने या चर्चिल ने या रूजवेल्ट ने एक बात कह दी बस यहाँ पत्रकार साहब को मालालूलिया हो गया। कहीं डाका पड़ गया और उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि कोई इनके अंगड़-खंगड़ उठा ले गया कहीं पुलिस ने गोली चला दी और इनके सीने में

होली भग गई । यह सब पागलपन नहीं तो और क्या है ? पागल क्या पागल होगा ? हमारा तो खयाल है यह सिफलगा ही पागलपन है दीवानगी है जुनून है ।

२० अप्रैल, १९२४

त्याहारों में दंगे

देश की दशा कुछ ऐसी बिगड़ गई है कि कोई ऐसा त्योहार नहीं आता जिसमें दस पाँच जगह दंगे-फसाद न हों और कुछ लोगों की जानें न जायें । मुहर्रम हो या ईद होली हो या दशहरा दंगे हो ही जाते हैं । इन त्योहारों के नाम से आनन्द की जगह एक चिन्ता और भय का सामना होता है और अगर त्योहार खैरियत से बीत जाय तो हम खुशी का साँस लेते हैं । नौबत यहाँ तक पहुँच गई है कि त्योहारों में दंगा का होना अचरज की बात नहीं न होना अचरज की बात है । और दंगे होते हैं ऐसी-ऐसी बे बुनियाद बातों पर कि देखकर हँसी आती है, मानों त्योहारों के आते ही लोगों के सिर पर कोई भूत सवार हो जाता हो । कहीं इसलिए लड़ाई हो जाती है कि एक हिन्दू लड़के की पिचकारी से किसी मुसलमान के कपड़ों पर छींटें पड़ गए और उसके दीन में दाग लग गए । कहीं इसलिए कि ताजिया एक खास रास्ते से जायगा या फलाँ ताजिये से पहले जायगा । ऐसी-ऐसी बातों पर लाठियाँ छुरियाँ चल जाती हैं और दीन की झूठी हिमायत में बेगुनाहों का खून बहा दिया जाता है और मुद्दतों से जो भाईचारा चला आ रहा है उसका गला घोंट दिया जाता है और आगे के लिए दुश्मनी का बीज बो दिया जाता है । मजा यह है कि ऐसे अवसरों पर पढ़े-लिखे लोग नेतागिरी करने के लिये निकल आते हैं । चाहे जिन्दगी में एक बार भी नमाज न पढ़ी हो या मन्दिर में न गए हों, न अपने स्वजातियों से कोई हमदर्दी की हो मगर ऐसे मौके पर शहादत का यश लूटने के लिए वे कूद पड़ते हैं । इससे तो कहीं अच्छा होगा कि त्योहार बन्द ही हो जायें त्योहार आते हैं इसलिए कि लोग एक-दो दिन खुशी मनाकर रोज आने वाली मुसीबतों को भूल जायें और आपस में प्रेम से गले मिलें । यहाँ त्योहारों में खून बहाया जाता है । न जाने कब तक देश की यह दशा रहेगी । जब तक छूत-छात और भेद भाव और धार्मिक पाखंड चल रहा है दशा के सुधरने का कोई मौका नहीं ।

३० अप्रैल १९३४

भारत में गुरु-प्रथा

यों तो संसार-भर में गुरु-प्रथा भिन्न-भिन्न नामों से प्रचलित है मगर भारत की ही उसने अपना अड्डा ही बना लिया है । इस विषय पर हाल में लखनऊ विश्वविद्यालय

के वाइस चान्सलर डॉ परांजपे ने एक अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक भाषण दिया। आपने प्रन्थ भक्ति और बुद्धि की तुलना करते हुए बतलाया कि प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में गुरु की महिमा इतने मुबालगे के साथ बयान की गई है कि गुरु को ईश्वर से भी दो हाथ ऊँचा उठा दिया गया है। गुरु जो कुछ कहे उसे आँख बन्द करके शिरोधार्य करना होगा। कहीं-कहीं तो यह पक्ष इतना जोर पकड़ गया है कि जब कोई नव विवाहित वधू आती है, तो सबसे पहिले गुरु जी के चरणों में अर्पित की जाती है। गुरु जी एकान्त में उसे क्या आशीर्वाद देते हैं वह स्त्री के सिवा कोई नहीं जानता या जानता भी है तो वह गुरु जी की सम्पूर्णता नहीं उनकी कृपादृष्टि समझी जाती है। गुरु बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह त्यागी हो बहुत से गुरु तो राजसी ठाट-बाट से रहते हैं लेकिन यदि गुरु त्यागी हो समाज और शिष्टता के बन्धनों को तोड़कर फेंक चुका हो और केवल एक-दो अंगुल की लँगोटी लगाए घूमता हो तो उसका जादू लोगों पर बहुत जल्द असर कर जाता है। यह गुरु जी माया को अपने पास नहीं फटकने देते पैसे को हाथ से नहीं छूते पैरों से ठुकरा देते हैं। और उनके ऊपर माया की वर्षा होने लगती है। फिर वह चाहे दोनों हाथों से समेटें लेकिन हाँ त्याग का ढोंग बनाये रखते हैं मानों वह केवल अपने शिष्यों की खातिर से उनकी भेंट स्वीकार कर रहे हैं, उन्हें तो माया से बैर है। यह गुरु जी चटपट एक नए पन्थ की रचना कर डालते हैं जिसके द्वारा भक्त लोग सीधे स्वर्ग पहुँच कर आवागमन से मुक्त हो जाते हैं जो भारतीय के जीवन का मुख्य उद्देश्य है। उस पन्थ के लिए एक नए किस्म का तिलक एक नए ढंग की उपासना खोज निकाली जाती है, जिसका भावार्थ इतना ऊँचा होता है कि केवल ढोंग बनकर रह जाता है। इस पन्थ में वह सब कुछ स्तुत्य बन जाता है जिस पर साधारण दशा में आदमी को घृणा आती है। गुरुओं के अधिकार कभी-कभी इतने बढ़ जाते हैं कि शिष्यों को अपनी आमदनी का एक भाग नियमित रूप से गुरु जी को चढ़ाना पड़ता है। गुरु जी के किसी काम की आलोचना नहीं की जा सकती। और मजा यह है कि इन पन्थों में केवल मूर्ख ही नहीं आते बड़े-बड़े विद्वान अक्ल को ताक पर रखकर विचार को दरिया में डालकर पन्थ की गुप्त क्रियाओं को सम्पूर्ण अन्ध श्रद्धा से करते हैं और उनका विश्वास होता है कि उन्हें आत्मा का वो सुख मिल रहा है, उससे अन्य सभी अभागे प्राणी वंचित हैं। सैकड़ों ही बार इन गुरुओं का भंडाफोड़ हो चुका है रोज ही किसी-न-किसी गुरु की कलई खुलती है पर जनता पर कोई असर नहीं होता और वह नए गुरु जी का उसी अन्ध श्रद्धा से स्वागत करने को तैयार रहती है। गुरु जी पहेलियों में बातें करते हैं जिसके मनमाने अर्थ लगाए जा सकते हैं। अगर उनकी बात सच निकल गई तो पूछना ही क्या! उनकी चमत्कार शक्ति की धूम मच जाती है। मिथ्या हो गई तो वह भी उतनी ही आसानी से सत्य मान ली जाती है। गुरु जी में कुछ-न-कुछ मनोरंजन होना परमावश्यक है। अगर वह केवल दूध पीकर या केले खाकर या राख फाँककर रह गये

तो समझ लो कि वह देवता हो गए। कहीं-कहीं पर पौहारी गुरु भी पाये जाते हैं जो केवल हवा पीकर रहते हैं। और अगर गुरु जी अंग्रेजी बोल सकते हैं और कुछ मनचले भी हैं, तो वह योरोप और अमेरिका जाकर और भी धन और यश कमा सकते हैं। मालूम नहीं ऐसे गुरुओं का कभी अन्त भी होगा या नहीं।

अक्टूबर १९३४

स्वास्थ्य और शिक्षा

यों तो हमारा शिक्षा क्रम दोषों से भरा हुआ है लेकिन हमारे विचार में इसमें सबसे बड़ा दोष जो है वह इसकी स्वास्थ्य की ओर से उदासीनता है। आदमी के लिए दुनिया में जिन्दा रहने और काम करने के लिए जियामेट्री और इतिहास और सैकड़ों अन्यान्य विषयों की इतनी ज़रूरत नहीं जितनी इस बात की कि हम कैसे स्वस्थ रह सकें। नतीजा यह हो रहा है कि हम अपने मस्तिष्क का कोष तो भर लेते हैं लेकिन स्वास्थ्य की ओर से दीवालिए हो जाते हैं। हमारे अधिकतर शिक्षित लोग चलते-फिरते रोग हैं। किसी को अजीर्ण का रोग है, किसी को यक्ष्मा का। और डायबिटीज तो इतना व्यापक हो गया है कि कुछ न पूछिए। इसका कारण यही है कि बचपन से हमको स्वास्थ्य का महत्व नहीं समझाया गया और हममें ऐसी आदतें डालने की चेष्टा नहीं की गई कि हम अपनी सेहत की रक्षा कर सकते। और जवान या अधेड़ होने पर जब सेहत और तन्दुरुस्ती का महत्व समझ में आया तो सूखे धान में पानी डालने से क्या हो सकता है। अब लाख ओवल्टीन खाइए या पीजिए, लाख विटामिनों के पीछे दौड़िए, सेहत हाथ नहीं आती। हमारे बचपन में मिडिल स्कूलों में 'तरीक़ तन्दुरुस्ती' नाम की एक किताब पढ़ाई जाती थी जिसमें हवा पानी रोशनी आदि पर छोटे-छोटे पाठ दिए गए थे और आज भी हमारी प्राइमरी रीडरों में सेहत सम्बन्धी पाठ दिए जाते हैं, लेकिन बच्चों को वह सबक उसी तरह पढ़ाए जाते हैं जैसे व्याकरण या इतिहास। बल्कि व्याकरण और इतिहास पर ज्यादा जोर दिया जाता है; क्योंकि इन विषयों में फेल हो जाने से लड़के फेल हो जाते हैं। सेहत के पाठ केवल भाषा की दृष्टि से पढ़ाए जाते हैं और उनका जो मुख्य उद्देश्य है उसकी परवाह नहीं की जाती। कुछ तो परीक्षाओं का सिलसिला इतना घातक है कि छात्रों को दम मारने की फ़ुरसत नहीं मिलती। और कुछ हमारी उदासीनता है, जिसके कारण जनता में इस आन्दोलन को ज़ोरों से उठाने की सूझती ही नहीं। हमारा लड़का एम० ए० की डिग्री लाए, फिर चाहे वह आँखों की ज्योति क्यों न खो बैठे और मन्दाग्नि का रोग क्यों न पाल ले। यह हमारी मनोवृत्ति है।

यह विचार आम तौर पर फैला हुआ है कि शरीर और सेहत को बलवान बनाने

के लिए भी दूध मक्खन और मेवे का होना लाजमी है। हमारे कितने ही युवक अपनी आर्थिक कठिनाइयों से इतने निराश और उत्साहहीन हो जाते हैं कि किसी प्रकार व्यायाम से उन्हें रुचि नहीं रहती। कसरत से क्या फायदा जब पुष्टिकारक भोजन न मिलता? कसरत तो तब करें जब प्रातःकाल बादाम का हलुआ और दूध मिले और मेवे मिलें खाने में भी मलाई और मांस भरपूर मिले। लेकिन उन्हें खबर नहीं कि दिन-दिन विज्ञान द्वारा यह साबित होता जा रहा है कि मामूली सादे खाने में और मामूली साग भाजी में शरीर के पोषण करने की शक्ति किसी तरह भी घी दूध मेवों से कम नहीं है। हाँ अगर हम उनका ठीक तौर से व्यवहार करना जानें। अब हम अज्ञानवश इन पदार्थों का मुफीद हिस्सा फेंक दें तो यह हमारा दोष है, उन चीज का दोष नहीं। खुशी तो यह देखकर होती है कि विज्ञान भी हमें उसी तरफ ले जा रहा है जिधर हम पहले से चल रहे हैं। हमने नई शिक्षा पाकर गोरी जातियों की नकल में उन चीजों का व्यवहार करना छोड़ दिया जो हमारी भोजन सामग्री को पुष्टिकर बनाती थी और नई-नई सामग्रियों के फेर में पड़ गए थे जिन्हें योरप के व्यापारी लम्बे-चौड़े विज्ञापन दे-देकर हमारे सामने लाते थे यह ओवल्टीन है, यह शक्कर भोट यह माल्टेड मिल्क है। बस सारी दुनिया की पौष्टिक शक्ति इनमें भरी हुई है। जिस युवक को देखिए इन्हीं इश्तिहारी चीजों के फेर में पड़ा हुआ है, लेकिन अब सिद्ध हो रहा है कि हमारे मूली-गाजर और पालक-बथुए में जो पौष्टिक पदार्थ मौजूद हैं वह इन बहु प्रशंसित सामग्रियों में हो ही नहीं सकते। कुछ अमीरी का अभिमान और अपनी रुचि की नफासत भी हमें पथभ्रष्ट करती है। हम गुड़ नहीं खा सकते जिसमें पुष्टिकर तत्व भरे पड़े हैं। हमें तो शक्कर चाहिए जितनी साफ हो उतनी ही अच्छी। यह भ्रम फैला दिया गया है कि गुड़ या खाँड़ खाने से फोड़े निकलते हैं। अपना चावल भी हम नहीं खाते। हम उसे जितना ही पुराना करके खाएं उतना ही हमारी कल्पना प्रसन्न होती है। वह ऐसा निखरा हुआ होना चाहिए जैसे बेले का फूल। यह हम भूल जाते हैं कि वह जितना ही पुराना होता जाता है और जितना ही उसका पालिश किया जाता है उतना ही निस्सत्व होता जाता है। गेहूँ के विषय में भी हमें कुछ ऐसा ही भ्रम है। हम महीन से महीन मैदा खाना अमीरी की शान समझते हैं मोटा आटा खाना गँवारपन है और उसका चोकर तो कोई पचा ही नहीं सकता। भला चोकर भी खाने की चीज है! लेकिन अब विज्ञान से सिद्ध हो रहा है कि गेहूँ का सबसे बहुमूल्य भाग उसका चोकर है, जो हम फेंक देते हैं। दातून की बुरुश और टूथपेस्ट पर बहुत पहले चोट हो चुकी है मगर हम अभी तक इस भ्रम में पड़े हुए हैं कि इनसे हमारे दाँत मजबूत होते हैं।

मगर सबसे बड़ा अनर्थ तो उस अज्ञान से होता है जो हम अपनी इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यवहार के विषय में है। किशोरावस्था में जब यौवन का विकास होने लगता है, हमारे कितने ही बालक अज्ञान के कारण अपनी इन्द्रियों का दुरुपयोग करके अपनी

सेहत और देह दोनों ही का सत्यानाश कर बैठते हैं। उन्हें बिल्कुल खबर नहीं होती कि वह दुर्व्यसनों में पड़कर अपने जीवन की किस निम्नता से जा चोर रहे हैं। हमारी सभी कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विशेष काम के लिए बनी हैं। अगर मुँह का काम हाथ से लिया जाय और हाथ का काम पाँव से तो जिन्दा रहना कठिन हो जाय। मगर यही अन्धकार है जिस पर प्रकाश डालने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। अगर हमारे हाई स्कूलों और यूनिवर्सिटियों में योग्य विशेषज्ञों से इस विषय पर भाषण कराए जायें तो निश्चय हमारे विद्यालयों में जो गुप्त रूप से दुराचरण होता है वह बहुत कुछ कम हो जाय। जरूरत है कि कोई शरीर शास्त्र का विद्वान इस विषय पर सचना के लिए सच्चो विद्या से भरी हुई पुस्तक लिखकर सच्चता का महत्व समझाए। उन्हें बतलाए कि तुम अज्ञान के कारण अपने साथ कितना अत्याचार कर रहे हो। अगर माता-पिता स्वयं अपने बालकों को यह ज्ञान दे सकें तो और भी अच्छा होता लेकिन समाज जिन रूढ़ियों में बंधा हुआ है उनको तोड़ डालना आसान नहीं है और बहुत से लोग इच्छा होने पर इस झूठे संकोच को नहीं तोड़ सकते। हमारे यहाँ काम-शास्त्र सम्बन्धी जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वह इस दृष्टि से नहीं लिखी गई हैं उनके प्रकाशकों ने समाज हित के लिए नहीं धन कमाने के लिए उन्हें प्रकाशित किया है और ऐसी प्राय सभी पुस्तकों में सीधी राह दिखाने की उतनी चेष्टा नहीं की गई है जितनी युवकों को गुप्त भावनाओं में गद-गुदी पैदा कर देने की। यह काम कवियों और साहित्यिकों का नहीं डाक्टरों और ब्रह्मचारियों का है। इधर कुछ योरोप के विद्वानों ने इस महान् गम्भीर विषय के साथ "खेलवाड़" करना शुरू किया है और तरह-तरह की अनर्गल भ्रष्ट और गुमराह करने वाली धारणाओं का प्रचार करने लगे हैं। इसलिए और भी जरूरत है कि इस विषय पर शिक्षित पवित्र साहित्य छापा जाय। इसके साथ ही विद्यालयों का भी यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे अपने बालकों के मस्तिष्क का पाटना ही कर्तव्य की इतिश्री न समझें उनकी आत्मा उनके स्वास्थ्य और उनके जीवन का कल्याण भी अपना कर्तव्य समझें।

मार्च १९३५

महात्मा जी की जयन्ती

यह हमारे लिए परम सौभाग्य की बात है, कि हम राष्ट्र-साहित्य के क्षेत्र में उस शुभ अवसर पर आ रहे हैं जब सम्पूर्ण देश में राष्ट्रात्मा महात्मा गांधी की पुण्य जयन्ती मनाई जा रही है। हम भी इस अभिनन्दन में अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं। राष्ट्र के विचारों में महात्मा जी के व्यक्तित्व ने जो जागृति पैदा कर दी है, उसे हम अंकित कर सकते हैं और जीवन का सच्चा आदर्श जैसा आपने राष्ट्र के सामने रखा उसमें दो

॥ महात्मा जी की जयन्ती ॥

मानवता को देवत्व से भी ऊँचा उठा दिया जो हमारी भारतीय मानवता की सर्वोच्च कल्पना है। और साहित्य हमारी जागृति के स्पन्दन के सिवा और क्या है। अगर हम गौर से देखें तो हमें गांधी-युग के पहले और उसके बाद के साहित्य में स्पष्ट अन्तर दिखायी देगा। गांधी-युग ने जिस साहित्य की सृष्टि की है उसमें कर्मण्यता है विचारों की स्वतन्त्रता है, जीवन की सरलता है निर्भीकता है और सिद्धांतों और आदर्शों के लिए बलिदान का उत्साह है। 'कला कला के लिये' की जो अनर्गल चर्चा चल रही थी और आज भी चल रही है, और जो कला की उपयोगिता को हास्यास्पद समझती है, उसकी जबान पर संयम की मुहर लग गयी। महात्मा जी ने साहित्य और कला में उपयोगिता के आदर्श पर जोर देकर उसे भावुकता के गर्त से निकाल लिया। हमारा तो खयाल है, कि किसी वस्तु का सुन्दर होना ही उसकी उपयोगिता की दलील है, अगर वह उपयोगी न होती तो सुन्दर न होती और इसीलिए सत्य भी न होती। हिन्दी भाषा को राष्ट्र भाषा के स्थान पर पहुँचाकर आपने जिस राजनैतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया है, वह आप ही के योग्य है। आज हम भारतीय साहित्य के एकीकरण का जो स्वप्न देख रहे हैं। यह भी आप ही के पुण्य आदेश की बरकत है। इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं कि हिन्दुस्तानी भाषा को आपके शुभ उद्योग से जो जीवन जो प्रगति जो गौरव प्राप्त हुआ है वह अभूतपूर्व है। आपने राष्ट्र को भाषा देकर गूँगे को जबान दे दी है और यदि हमने आपके इस महादान का सदुपयोग किया तो वह दिन दूर नहीं जब भारत की राष्ट्रीयता साहित्यिक और सांस्कृतिक सामंजस्य द्वारा एकप्राण हो जायगी।

अक्टूबर १९३५

प्रयाग महिला-विद्यापीठ की साहित्यिक प्रगति

प्रयाग महिला-विद्यापीठ ने अपने जीवन के इन थोड़े दिनों में जो उन्नति की है, उसे हम बहुत संतोषजनक कह सकते हैं। अब उसने अपनी जमीन खरीद ली है, अपना भवन बनवाना शुरू कर दिया है और कुछ बनवा भी लिया है। उसका सालाना खर्च बत्तीस हजार के ऊपर है और संस्थापक महोदय की किफायतशारी की बदौलत इस खर्च का बड़ा भाग केवल छात्राओं की फीस से ही पूरा हो जाता है, म्युनिसिपैलिटी या गवर्नमेंट के सामने हाथ फैलाने की जरूरत नहीं पड़ती। जो कुछ कमी पड़ती है, वह चन्दे से पूरी हो जाती है। और जब हम देखते हैं कि छात्राओं से केवल आठ रुपया माहवार लिया जाता है और उसी में उनके खाने-पीने रहने-सहने का इंतजाम हो जाता है, बल्कि कुछ ऐसी बालिकाओं की परवरिश भी हो जाती है जो फीस देने में असमर्थ

है, तो हमें महादेवी वर्मा जी की प्रबन्ध-कला का कायल होना पड़ता है। विद्यापीठ ने कम से कम खर्च में अच्छी से अच्छी शिक्षा देने का आदर्श अपने सामने रखा है। वह बालिकाओं को केवल तीन साल में मैट्रिक्यूलेशन फाइनल की परीक्षा के लिए तैयार कर देता है। इसके साथ ही पाक-कला संगीत व्यायाम का भी प्रबन्ध कर लिया गया है। हमें यह देखकर हर्ष हुआ कि यहाँ आसाम मद्रास आदि प्रान्तों की कई बालिकाएँ भी शिक्षा पा रही हैं। इससे ज्यादा खुशी हमें इस बात से हुई कि यहाँ की विदुषियाँ तितलियाँ बनकर नहीं गृहदेवियाँ बनकर निकलती हैं जो जीवन के किसी क्षेत्र में अपने गृह-विज्ञान कौशल से अपने लिए स्थान बना सकती हैं दूसरों पर भार न होकर उनका उपकार कर सकती हैं। जब से श्रीमती महादेवी वर्मा ने इस संस्था का संचालन भार ले लिया है उसकी प्रगति और भी तेज हो गयी है और विद्यालय की मसर्रफियत में साहित्य का प्रवाह भी होने लगा है। हिन्दी में पहला महिला-गल्प-सम्मेलन २१ जनवरी को विद्यापीठ में ही हुआ। श्रीमती शिवरानी देवी उसकी सभानेत्री थीं। पत्र-पत्रिकाओं में महिलाओं की कहानियाँ अक्सर निकलती रहती हैं यहाँ भी महिलाओं ने कई अच्छी अच्छी कहानियाँ पढ़ीं जिनमें श्रीमती कमला चौधरी और कमला देवी शर्मा की कहानियाँ बहुत सुन्दर थीं। चौधरानी की शैली गम्भीर है। कमला शर्मा की रचना आत्मकथात्मक थी और उसका एक-एक शब्द आलोचित विनोद में डूबा हुआ था। ऐसे सम्मेलनों में बहुत गम्भीर साहित्यिक कहानियाँ पसन्द नहीं की जातीं। यहाँ तो भाषा और भाव और शैली ऐसी होनी चाहिए, जिसमें कुछ चुहल हो कुछ प्रफुल्लता हो और उसके साथ ही पढ़ने का ढंग भी आकर्षक होना चाहिए यानी उसमें रामायण का-सा प्रवाह और भाव भंगी होना जरूरी है। सभानेत्री जी के भाषण पर हम अपने अंक में विचार करेंगे।

फरवरी १९३६

प्रयाग महिला-विद्यापीठ की नई योजनाएँ

पिछले महीने में हमने प्रयाग महिला-विद्यापीठ की एक अपील प्रकाशित की थी। हमें आशा है सहृदय सज्जनों ने उस पर ध्यान दिया होगा। ऐसी संस्था जो महिलाओं और बालिकाओं की शिक्षा के प्रश्न को परिस्थितियों के अनुकूल ढंग से हल कर रही है, पैसों के लिए मुहताज हो तो लज्जा की बात है। कई कारणों से अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों की प्रणाली हमारी बालिकाओं के लिए स्वास्थ्यकर नहीं साबित हो रही है और हितकर हो भी तो वह इतनी महँगी है कि साधारण गृहस्थ उससे लाभ नहीं उठा सकता। वह तो सम्पन्न लोगों की ही चीज है। महिला विद्यापीठ बहुत थोड़े खर्च में बालिकाओं को ऐसी शिक्षा देता है जिससे उनमें केवल जागृति नहीं आ जाती वे घर

के काम-धंधे में भी होशियार हो जाती हैं। इस मास उसने एक ऐसी योजना निकाली है, जिससे हिन्दी मिडिल-पास लड़कियाँ केवल तीन साल में एडमिशन की परीक्षा पास कर लेंगी और नामल ट्रेनिंग विदुषी तथा विशारद परीक्षा-पास लड़कियाँ केवल दो साल में। विद्यापीठ का सदैव से यह उद्देश्य रहा है कि स्त्रियों और कन्याओं को कम से कम समय में अधिक से अधिक ज्ञान मिले और यह दोनों योजनायें इसी उद्देश्य को पूरा कर रही हैं। इस वक्त एडमिशन पास करने में लड़कियों को विशारद या मिडिल पास करने के बाद पाँच साल लगते हैं। पाँच साल का काम जो विद्यालय दो ही साल में कर दे वह लड़कियों की शिक्षा को कितना सरल और सुसाध्य बना रहा है, यह स्पष्ट है। और माहवार खर्च कुल पन्द्रह रुपये जिसमें पढ़ाई होस्टल भोजन आदि सब शामिल है। अभी सिर्फ १५ १५ लड़कियों के लिए यह खास इन्तजाम किया गया है। जो माता-पिता इस अवसर से लाभ उठाना चाहते हों वह विद्यापीठ के रजिस्ट्रार से पत्र-व्यवहार करके अपनी लड़कियों के लिए जगह रिजर्व करा लें।

अप्रैल १९३६

महिला-जगत्

मिस्टर हरविलास शारदा का नया कानून

सामाजिक प्रश्नों में हम सरकारी हस्तक्षेप के पक्षपाती नहीं और हमारे विचार में विवाह की अवस्था का कानून जारी करके हमने वह काम कानून से किया जो जनता के विचारों के सुधार से ही हो सकता है मगर विधवाओं को अपने स्वर्गारोही पति की जायदाद पर अधिकार दिलाने का जो बिल मि० शारदा पेश करने जा रहे हैं उससे एक बड़े भारी सामाजिक अन्याय का परिशोध होगा। हिन्दू समाज ने अपनी देवियों के साथ बहुत दिनों जुल्म किया और अब उसे इस जुल्म की जड़ खोदने में विलम्ब न करना चाहिए। हम आशा है, मि० शारदा के इस बिल का देश स्वागत करेगा।

जनवरी।।१९२९

नारी-जाति के अधिकार

यों तो भारतीय नारी सदैव कुलदेवी समझी गयी है और उसे समाज में पुरुषों से ऊँचा पद प्राप्त है किन्तु अन्यान्य कारणों से जिनकी विवेचना करने का यह अवसर नहीं है उसका स्थान नीचा हो गया था। यह मन्दबुद्धिता जिसने एक ओर पराधीनता की बेड़ी पाँव में डाली दूसरी ओर नारी जाति पर मनमाने अत्याचार कराती गयी। ऊँच-नीच का ऐसा संक्रामक रोग फैला कि उसने समाज को ही छिन्न-भिन्न कर दिया। बल्कि स्त्री-पुरुष में भी भेद डाल दिया। पुरुषों ने नारी जाति के स्वत्वों का अपहरण करना शुरू किया लेकिन राष्ट्रीयता और सद्बुद्धि की जो लहर इस समय आयी हुई है वह इन समस्त भेदों को मिटा डालेगी और एक बार फिर हमारी माताएँ उसी ऊँचे पद पर आरूढ़ होंगी जो उनका हक है। भारत अपनी माताओं का सदैव भक्त रहा है। मातृ पूजा उसके धर्म का एक मुख्य अंग है। क्या आज अपनी माताओं द्वारा विजयी होकर वह नारी-जाति के स्वत्वों को स्वीकार न करेगा? भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में जब पुरुषों को अपने ही ऊपर विश्वास न था वह स्त्रियों पर क्या विश्वास करते पर इस एक वर्ष के सत्याग्रह-संग्राम ने सिद्ध कर दिया कि भारत की देवियाँ अब भी धर्म और कर्त्तव्य की वेदी पर अपने को होम कर सकती हैं। यदि पुरुषों को अब भी उन पर शासन करने का घमण्ड हो तो उसे शीघ्र से शीघ्र दूर कर देना चाहिए, क्योंकि वह चाहे दें या न दें देवियाँ अपने स्वत्वों को लेकर ही रहेंगी। उन्हें हर एक विषय में पुरुषों के समान

अधिकार होना चाहिए और इसका निर्णय देवियों ही पर छोड़ देना चाहिए कि वे अपने हिसाब जो स्वत्व चाहें ले लें। हमारे विचार में निम्नलिखित विषयों पर नारियों को असंतोष है और इस असंतोष को देवियों के इच्छानुसार ही शमन करना पड़ेगा—

१—एक विवाह का नियम स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान रूप से लागू हो। कोई पुरुष पत्नी के जीवन-काल में दूसरा विवाह न कर सके।

२—पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो। वह उसे रहन-बय जो कुछ चाहे कर सके।

३—पिता की सम्पत्ति पर पुत्रों और पुत्रियों का समान अधिकार हो।

४—तलाक का कानून जारी किया जाय और वह स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान हो।

५—तलाक के समय स्त्री पुरुष की आधी सम्पत्ति पावे और यदि मौरूसी जायदाद हो तो उसका एक अंश।

फरवरी १९३१

तलाकों की संख्या क्यों बढ़ती जाती है ?

यारोप के एक विद्वान ने तलाकों की मीमांसा करते हुए एक बड़े पते की बात कही है। वह कहता है कि ज्यों-ज्यों कृत्रिम उपायों से सन्तान निग्रह की प्रथा बढ़ती जा रही है, तलाकों का रिवाज भी बढ़ता जाता है। सन्तान के लालन-पालन में माता-पिता के बीच में स्नेह की एक कड़ी बनी रहती थी। विलासिता की ओर उनकी रुचि अधिक न होती थी। अपनी सन्तान के लिये दोनों यथाशक्ति से अधिक संयम और त्याग करते थे। सन्तानों का निरोध करके अब स्त्री पुरुष दोनों ही विलासिता में डूबे जा रहे हैं और विलासिता सहिष्णु नहीं होती। हृदय की कठोरता उसके लिये अनिवार्य है। दुनिया चूल्हे में जाय हमारी तो चैन से कटती है जब तक यह मनोभाव न हो आदमी विलास में रत हो ही नहीं सकता। फिर मातृत्व में माता की शारीरिक और मानसिक शक्ति का बड़ा भाग खर्च हो जाता था। पुरुष को भी बाध्य होकर इस उत्तरदायित्व का कुछ न कुछ भार लेना ही पड़ता था। अब तो स्त्री-पुरुष दोनों इस चिन्ता से मुक्त होकर विलास में डूब गए हैं। विलासिता का पोषण नवीनता ही से होता है यह मानी हुई बात है। ऐसी दशा में तलाकों की संख्या न बढ़े तो मजा हो।

अगस्त १९३२

सिनेमा स्टारों के अर्धनग्न चित्र

इंगलैंड के एक अंग्रेजी पत्र ने एक दूसरे अंग्रेजी पत्र को इसलिये ज़ोर की फटकार बताई है कि उसने एक 'सिनेमा-स्टार' से उसके जीवन का अनुभव लिखवाकर प्रकाशित किया है और इसे "सनसनीखेज़" कहा है। भारत में भी अंग्रेजी पत्रों की देखा-देखी इस तरह की मनोवृत्ति बढ़ती जाती है जिन स्त्रियों का जीवन इतना घृणास्पद है कि कोई भला आदमी अपनी लड़की को उनके साथ एक मिनट के लिये भी छोड़ना पसन्द न करेगा वही स्त्री सिनेमा में एक्ट्रेस बनते ही देवी बना दी जाती है और हरेक पत्र में उसके चित्र छपते हैं उनकी प्रशंसा की जाती है और यदि वह अपने जीवन के सनसनी पैदा करने वाले वृत्तांत लिखे तो उसे बड़े रूप से प्रकाशित किया जाता है। हमारे विचार में समाचार-पत्रों का कर्तव्य केवल जनता में सनसनी पैदा करना और उनकी मनोवृत्तियों को विषाक्त करना नहीं बल्कि उनमें स्वस्थ निष्कलंक सुरुचि उत्पन्न करना है। इसमें संदेह नहीं कि हम गुण का आदर करना चाहिए, चाहे वह कबीर के शब्दों में कितने ही 'अपावन ठौर' में क्यों न मिले लेकिन अपावन स्त्रियों का निर्लज्जता पूर्ण चित्र खींच कर जनता में कुत्सित भावनाओं को उत्तेजित करना अथवा उनके सनसनीखेज़ चरित्र बखान करके पाठकों में कुवासना को जगाना भारतीय आदर्श के विरुद्ध है।

अगस्त १९३२

गाजीपुर के को-आपरेटिव सम्मेलन मे संतान निग्रह

अभी गत सत्रह मार्च को गाजीपुर में प्रान्तीय को-आपरेटिव-सम्मेलन हुआ था। उसकी रिपोर्ट हाल में प्रकाशित हुई है। स्वीकृत प्रस्तावों में एक संतान-निग्रह के विषय में भी था। को-आपरेशन में इस विषय भी शामिल है यह एक नई बात है। शायद इस प्रस्ताव का मंशा यह हो कि देश की समृद्धि के लिये ब्रह्मचर्य-पालन करना आवश्यक है पर प्रस्तावक महोदय को शायद मालूम नहीं कि संतान निग्रह और ब्रह्मचर्य-पालन दो भिन्न चीजें हैं। ब्रह्मचर्य उचित बहुत भारी साधना है, पर संतान-निग्रह कृत्रिम उपायों से गर्भोत्पत्ति को रोकना है। इस कृत्रिम संतान-निग्रह से केवल भोगलिप्सा ही की वृद्धि होती है। यूरोप में संतान निग्रह का खूब प्रचार हो रहा है लेकिन उसका फल विलासिता की वृद्धि के सिवा और कुछ नहीं है। संतान वृद्धि और वह भी दरिद्र देश में विडम्बना है लेकिन उसके नियन्त्रण के लिये कृत्रिम साधनों का प्रचार और भी बड़ी विडम्बना है। उसका सर्वोत्तम उपाय केवल ब्रह्मचर्य है।

अक्टूबर १९३२

महिला-सभाओं में संतान-निग्रह का प्रस्ताव

'संतान-निग्रह' का अर्थ है कृत्रिम साधनों से संतान की उत्पत्ति को रोकना। इसके स्वाभाविक साधन भी हैं, पर यह शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जाता। अभी साल-दो-साल पहले यह केवल एक दार्शनिक प्रश्न था पर इतने ही दिनों में इसने एक सार्वजनिक समस्या का रूप धारण कर लिया है। और चूँकि संतान का पालन-पोषण महिलाओं ही को करना पड़ता है और सन्तानोत्पत्ति की दुस्सह वेदनाएँ महिलाओं ही के हिस्से पड़ती हैं इसलिए इसके प्रचार की अपील प्राय हरेक महिला-सम्मेलन में उपस्थित होने लगी है। अगर हम भूल नहीं रहे हैं तो हाल में होने वाले कराची और पंजाब महिला-सम्मेलनों में यह प्रस्ताव पेश होकर स्वीकृत हुआ है। इसके पहले सेकेंडरी अध्यापक सम्मेलनों में भी यह प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका है। एक समय था जब संतान को संसार की सबसे बड़ी विभूति समझा जाता था। संतान के लिये नाना साधनाएँ की जाती थीं और आज संतान मानवीय जीवन की विपत्ति समझी जा रही है। इसका कारण है, वर्तमान आर्थिक संग्राम। जो परिवार कुछ दिन पहले पचास रु० में सुख का अनुभव करता था उसके लिये अब दो सौ रु० की जरूरत है। अब हम यह दयनीय दृश्य नहीं देख सकते कि चाहे हम एक बच्चे का पालन पोषण अच्छी तरह नहीं कर सकें पर दूसरे के लिये देवी-देवताओं की मनौतियाँ करते रहें। स्त्री चाहे अपनी जान से मर रही हो पर बच्चों से अपना रक्त चुसाती रहे। यह सब तो ठीक है। लेकिन इस निग्रह की आड़ में अगर निद्वन्द विषय भोग की प्यास छिपी हुई है तो समाज के लिये निकृष्ट उससे और हानिकर हो जायगा। जहाँ संतान-निग्रह का बहुत प्रचार है वहाँ तलाकों की भी भरमार है और समाज-शास्त्र के पंडितों का मत है कि दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। अगर इस निग्रह का फल यह होता है कि हम अवैध रूप से विषय-भोग में पड़ जावें तो यह समाज के लिये आशीर्वाद की जगह शाप सिद्ध होगा।

नवम्बर १९३२

मिस मेयो की आत्मा एक पारसी महिला के वेष में

मिस कार्नेलिया सोहराबजी बार-ऐट-ला एक पारसी महिला हैं जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने *मिस मेयो की कर्लकित रचना 'मदर इंडिया' के लिये सामग्री* देकर भारतमाता की सेवा की थी। अब हम यह कहते हुए शर्म आती है कि उन्हीं मिस सोहराबजी ने इंगलैंड में भारतीय महिलाओं के विरुद्ध प्रोपेगैंडा शुरू कर दिया है। पिछले दिनों संघम के एक आम जलसे में आपने भारतीय महिलाओं का इतने लज्जास्पद

सम्नों में मजाक उड़ाया कि कदाचित् मिस मेयो को भी इतना साहस न होता। मिस सोहराबजी ऊँचे दरजे की शिक्षा-प्राप्त महिला हैं, हम यह मानते हैं लेकिन शायद उन्हें भारतीय स्त्रियों से मेल-जोल का कभी अवसर नहीं मिला और उनका ज्ञान सुनी-सुनाई बातों पर है। संभव है उनके विदेशी रहन-सहन और आचार-विचार के कारण ही भारतीय घरों में उनका प्रवेश न हुआ हो। या हुआ भी हो तो उन्हीं लोगों म जो स्वयं भारत के लिये कलंक-स्वरूप है। लेकिन अगर मान भी लिया जाय कि उनके कथनानुसार भारत की स्त्रियां में बुराइयां भरी हुई हैं तो उनका धर्म था कि वह भारत में आकर अपनी बहनों का सुधार करतीं पर आपको जहर उगलने ही म मजा आता है। मगर वहाँ भी ऐसी सच्ची आत्माएँ मौजूद थीं जिनसे यह उपहास न सुना गया और दो चार महिलाओं न वहीं खड़े होकर मिस सोहराबजी को ऐसी खरी-खरी बातें सुनाई कि शायद उन्हें अब किसी समाज की निन्दा करने का साहस न हो। बड़प्पन निन्दा करने मे नहीं है। इससे न निन्दा का मान ही होता है न आदर हो। जिनको प्रसन्न करने के लिये मिस सोहराबजी यह कीचड़ उछाल रही थीं उन्हीं ने आसन में बैठकर उनके इस व्यवहार की आलोचना का होगी। भारत को पश्चिमी जीवन और सभ्यता का अब थोड़ा बहुत अनुभव हो गया है और अब वह किसी ऐसे स्त्री या पुरुष का नेतृत्व स्वीकार नहीं कर सकता जिसने पश्चिमी सभ्यता अख्तियार कर ली हो और समझता हो कि अब उसे सारे जमाने को शिक्षा सम्मान का अधिकार है।

नवम्बर १६३२

भारतीय महिलाओं में नवीन जाग्रति

भारतीय महिलाओं ने अपने आचरण स सिद्ध कर दिया है कि वे समाज के क्षेत्र में पुरुषों के बिछाये नियम मानने पर राजी नहीं हैं। विशेष कर जिन बंधनों से पुरुषों ने उन्हें जकड़ रखा था और उन पर शासन करते थ उन बेड़ियों को तोड़ फेंकने के लिये वह बहुत बेचैन हो रही हैं। शारदा-बिल से मुसलमानों की एक बड़ी संख्या का तो आपत्ति है ही हिन्दुओं में भी कुछ ऐसे पुरुष हैं जो उसका विरोध करते हैं पर स्त्रियों ने जिनमें मुसलमान स्त्रियां भी शामिल हैं एक स्वर से इस बिल का स्वागत किया है। तलाक का बिल अभी कानून का रूप नहीं धारण कर सका और हिन्दू पुरुषों में अभी इस समस्या पर बहुत मतभेद है पर हिन्दू महिलाएँ उस पर हर एक महिला-सम्मेलन म जोर देती हैं। राजनैतिक क्षेत्र में भी महिलाओं ने अपना परिष्कृत सद्विचार का परिचय दिया है। वे साम्प्रदायिक निर्वाचनाधिकार चाहती हैं नामदान या शिक्षा की कोई कैद उन्हें पसन्द नहीं और राष्ट्रीय एकता का जो जिनने कारीं मे स्त्रियों ने हरेक अवसर पर समर्थन

किया है, उस पर बहुमत से हिन्दू और असम्मान पुरुषों को लज्जित होना पड़ेगा। जिन महानुभावों को हमारी देवियों की विचारशीलता पर संदेह था उन्हें अब अपने विचारों में तरमीम करनी पड़ेगी। भारतीय महिलाओं ने घर की चारदीवारी के अन्दर जिस तरह अपनी दक्षता प्रमाणित की है उसी तरह राष्ट्र के विस्तृत क्षेत्र में वे पुरुषों से आगे रहेंगी।

दिसम्बर १९३०

बालिकाओं का सुकार्य

गत ग्यारह दिसम्बर रविवार को स्थानीय दयानन्द हाई स्कूल में आर्य-कन्या व्यायाम मन्दिर बड़ौदा की कन्याओं का गदा, लाठी, फिरकी, तलवार, छुरे, आसन तथा अन्य व्यायाम देखकर हम बड़ी प्रसन्नता हुई। बालिकायें सभी पूर्णतया शिक्षित तथा दक्ष थीं। उनके चेहरे से पवित्रता, सच्चरित्रता तथा लगन प्रकट हो रहा था। उनका पहला भाग संस्कृत में कथनोपकथन जो लड़कियों का व्याख्यान उनकी शिक्षा को व्यक्त करता था। इससे यह साफ मालूम होता है कि उन्हें व्यायाम के साथ मानसिक शिक्षा भी काफी दी जाती है। पाँच वर्ष की उम्र की लड़की कालेज में भर्ती की जाती है और वह सोलह वर्ष की उम्र में विदुषी, स्वस्थ तथा आत्म-रक्षा के योग्य होकर कालेज से निकलती है। व्यय भी कुछ नहीं केवल बारह आना मासिक पड़ता है। समाज का एक अंग बहुत ही दुर्बल होने के कारण ही हम इतनी हीन दशा में हैं। हमारे यहाँ की लड़कियाँ अपने स्वास्थ्य की रक्षा नहीं कर सकतीं, उनकी सन्तान भी कापुरुष और दुर्बल पैदा होती है। इस बहुत बड़ी कमी को यह विद्यालय पूरा कर रहा है। और इसी उद्देश्य के प्रचारार्थ कुछ लड़कियाँ को लेकर वे भारत भ्रमण के लिये निकले हैं। हम इस मण्डल के सदुद्योग में पूर्ण सफलता की कामना करते हैं।

दिसम्बर १९३२

इंगलैंड का नैतिक पतन

श्रीमती विनय फोडन ने 'भारत में इंगलैंड' में जिस सामाजिक दशा का चित्र खींचा है उसे देखकर हम अवाक् रह जाते हैं। अब तक हरेक बात में इंगलैंड हमारा आदर्श था और अब भी है। हम अपनी रीति-नीति में उसी का अनुसरण कर रहे हैं। हमारी राजनैतिक और सामाजिक संस्थाएँ इंगलैंड की संस्थाओं के नमूने पर ही निर्मित

की जा रही है। और बातों में चाहे हममें मतभेद हो लेकिन चरित्र के विषय में हम इंग्लैंड के पूरी तरह कायल हैं। लेकिन उक्त महिला ने जो चित्र खींचा है वह बड़ा ही रोमांचकारी है और हम चेतावनी देता है कि पाश्चात्य की नकल करने में हमें बहुत विवेक से काम लेना होगा। आप लिखती हैं—

'आजकल होटलों और विश्राम गृहों में हत्या करने की बेईमानी और धोखेबाजी देखी जाती है। रोज ही ऐसी खबरें आती हैं कि आज फलाँ होटल के मैनेजर को धरका दिया गया कल उस होटल के मालिक को। अक्सर धोखेबाज होटलों में आते हैं कई दिन ठहरते हैं और नकली चेक देकर भाग जाते हैं।

वहाँ के दरिद्रों की दशा का वर्णन बड़ा ही करुणाजनक है। आप लिखती हैं— 'लेकिन क्षुधा पीड़ितों की दशा। मैंने उन गरीबों का जो इंतजार करते-करते अधमरे हो गए थे प्रदर्शन देखा था जो इंग्लैंड के हर एक भाग से सम्मिलित होने आये थे इन भुखमरों के जुलूस को देखने के लिये कितनी ही महिलाएँ मोटरों पर बैठ कर आई थीं। उन्हें उनकी दशा पर आश्चर्य था पर दया न थी। वे इसे तमाशा समझती थीं। वे इन दरिद्रों को अपना सम्पत्ति-वैभव दिखा कर उनकी आँखों में चकाचौंध डालने के लिए ही शायद अपनी भड़कीली मोटरों पर चढ़कर तितलियों की तरह इधर-उधर घूम रही थीं। ओह! ये अमीर कहलाने वाले विलास-प्रिय लोग कितने क्रूर हो सकते हैं। मनुष्य का मनुष्य के प्रति यह व्यवहार कल्पना में भी नहीं आ सकता।

ऐसी दशा में अगर अमीरों के प्रति द्वेष की आग जले तो क्या आश्चर्य है।

दिसम्बर १९३२

कायस्थ कान्फ्रेंस

अबकी प्रयाग में कायस्थ कान्फ्रेंस हुई। कुछ लोग इधर-उधर से आ गए, कुछ व्याख्यान हुए, कुछ प्रस्ताव पास किए गए और कान्फ्रेंस का काम समाप्त हो गया। कायस्थों को इस तरह जलसे करते लगभग चालीस साल हो गया लेकिन कायस्थ समाज आज भी वहीं है जहाँ चालीस साल पहले था बल्कि उसकी दशा और भी खराब हो गई है दहेज या कलदार की बुराई सब करते हैं मगर वही सज्जन जो सभा में सबसे ज्यादा चिल्लाते हैं सबसे ज्यादा कलदार करते हैं और सबसे लम्बी रकम ऐंठते हैं। ऐसे आत्महीन सत्त्वहीन व्यक्तियों का समाज पर कोई असर नहीं पड़ सकता। अगर आपकी इस साल अपनी लड़की की शादी करनी है तो आप सभा में शरीक होकर कलदार का रोना रोयेंगे लेकिन कल अगर आपके बेटे के विवाह का अवसर आएगा तो आप कलदार के अवतार बन जायेंगे। ऐसा हृदय-हीन समाज जिसमें कर्म और वचन

में कोई मेल नहीं जो स्वार्थ पर अपनी आत्मा बेच डालना भी पाप नहीं समझता कभी नहीं उठ सकता। उसका दिन-दिन अधःपतन होता जायगा और एक दिन कोई उसका नाम भी न लेगा। करारदाद को रोकने के लिये जो विधान सोचे गए जैसे बहिष्कार पिकेटिंग या लड़कों की ओर से विवाह से इंकार, इनमें से एक भी सफल न होगा। अगर युवकों में इतना आत्म-सम्मान होता तो रोना काहे का था। यहाँ तो वर अपने बाप से भी दो कदम आगे हैं। मोटर का तकाजा वही करता है इंगलैण्ड जाने के लिये खर्च की माँग वर ही करता है। जिस समाज में ऐसे निलज्ज पुरुषार्थहीन युवक हों वह बहुत दिन जीवित नहीं रह सकता। हमें तो आज कायस्थ समाज में एक भी उदाहरण नहीं मिला जहाँ लेन-देन का घृणित व्यापार न हुआ हो। कहीं राह खर्च के रूप में कहीं शिक्षा के खर्च के रूप में कहीं मर्यादा-रक्षा के बहाने से रुपये ऐंठे जाते हैं। बेचारा वर का पिता अपने संबंधियों के दबाव से मजबूर हो जाता है। उसकी बिलकुल चलती नहीं। वह तो खुद करारदाद से नफरत करता है, लेकिन मजबूर है! उसके बहनोई और फूफा और मामा नहीं मानते! आखिर वह ऐसे निकटवालों की उपेक्षा कैसे करे! जिस समाज में ऐसे-ऐसे भूत हैं उसका रसातल के सिवा और कहीं ठिकाना नहीं है और वह बड़े वेग से उस ओर जा रहा है। पहले चार-पाँच सौ रुपये औसत दरजे का दहेज था। अब वह चार-पाँच हजार तक पहुँचा है। जिस घर में दो-तीन कन्याएँ आ गई हैं बस समझ लो उसका सत्यानाश हो गया। माता-पिता के लिये अब इसके सिवा और कोई चारा नहीं है कि वे अपना पेट काटें तन काटें जालसाजी से रुपए लावें। उनका सारा जीवन नारकीय हो जाता है। मगर समाज के मुखिया रस्में बनाकर चले जाते हैं और कभी-कभी सभा में आकर रोते-गाते हैं। अब तो इस अनीति की कोई दवा है तो यही कि बालिकाएँ स्वयं अपना भाग्य अपने हाथ में लें और विवाह के बन्धन में उस वक्त तक न पड़ें जब तक कोई ऐसा वर न मिले जो प्रेम-भाव से उनके सामने माथा न टेके। जब बालिकाओं में यह आत्म-सम्मान उदय होगा तभी इस जाति का उद्धार होगा। लड़कों और सज्जनों के वादों को हमने बहुत देखा और उनसे आशा करना छोड़ दिया।

जनवरी १९३३

एक उपयोगी प्रस्ताव

पढ़ी-लिखी जातियों में अग्रगण्य होते हुए भी कायस्थ जाति बहुत ही पिछड़ी हुई है। इस जाति के लगभग सत्तर प्रतिशत लोग नौकरी-पेशा और कलम की सेवा करके पेट पालते हैं। इसी कारण जातिमात्र दरिद्र और औरों के नौकरी के उम्मीदवारों के द्वेष का कारण बनी हुई है। ऐसी हालत में शायद ही किसी जाति को औद्योगिक शिक्षा तथा

उद्योग-धंधों होने की इतनी ज़रूरत है जितनी कायस्थों को। पुश्त दर पुश्त नौकरी-पेशा होने के कारण इनकी नसों में गुलामी बस गयी है, इसलिये आज बेकारी के ज़माने में भी नौकरी के लिये ये मारे-मारे फिरते हैं। इस पर भी तुर्रा यह कि जो लोग व्यापारी हैं जो कायस्थ व्यापार की ओर लग गये हैं उन्हें नीची निगाह से देखा जाता है।

कायस्थों के संगठन की एक ही रचनात्मक संस्था है—कायस्थ पाठशाला। वह भी केवल नौकरी के उम्मीदवार ग्रेजुएट ही तैयार करती जाती है। यद्यपि इधर तीन वर्ष से मुंशी हरनन्दन प्रसाद इसके चेयरमैन हुए हैं औद्योगिक-शिक्षा का बहुत प्रबन्ध हुआ है, पाठशाला ने काफी उन्नति की है फिर भी अभी निरी बाल-अवस्था में है। इस स्थिति में हमें एक मेमोरेण्डम प्राप्त हुआ है। इसके लेखक हैं बिलासपुर (मध्य प्रान्त) के सम्मानित नागरिक एवं व्यापारिक मुंशी रामचरणलाल वर्मा। उनका प्रस्ताव है, कि यदि भारत के दो सौ पचहत्तर लाख कायस्थ केवल एक रुपया एक बार चन्दा भी दे दें तो दो सौ पचहत्तर लाख रुपया हो जावे और इस रुपये से इतने अधिक कारखाने खोले जा सकते हैं, कि दो सौ पचहत्तर लाख कायस्थ कुल नौकरियाँ छोड़ कर अपना पेट भर सकते हैं। वे स्वावलम्बी ही नहीं किन्तु बहुत ही उन्नत हो जायेंगे। इस प्रयत्न को प्रारम्भ करने के लिये वे अपनी जेब से ढाई हज़ार रुपया देने के लिये तैयार हैं। प्रस्ताव बड़ा उपयोगी है तथा विचार करने योग्य है। आशा है लोग इसको अपनायेंगे और प्रस्तावक को सहायता देंगे।

जनवरी १९३३

सर हरिसिंह गौड़ का तलाक-बिल

अभी बहुत दिन नहीं हुए कि तलाक का नाम सुनकर हिन्दू समाज के कान खड़े हो जाते थे और उसे योरोप की सभ्यता समझकर तिरस्कृत कर दिया जाता था। पर इन कई वर्षों में बहुत बड़ा सामाजिक परिवर्तन हो गया है और समाज की न्याय-चेतना बहुत कुछ जागृत हो गई है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि स्त्री और पुरुष दोनों के अधिकार समान होने चाहिए। अभी तो यह हाल है कि पुरुष में चाहे जितने ही दोष हों चाहे वह कितना ही लम्पट हो, उसका भाव कितना ही अत्याचार करे औरत के लिए कहीं शरण नहीं। वह उसको ठोकर देकर छोड़ दे, अपनी दूसरी शादी कर ले, किन्तु स्त्री पर उसका अधिकार ज्यों का त्यों बना रहता है। स्त्री में रूप न हो, वह फूहड़ हो, उसके संतान न होती हो या किसी कारण-वश उससे असंतुष्ट हो, तो उसके लिये रास्ता साफ है। लेकिन पुरुष के कितनी ही दुराचारी हो स्त्री के लिये कहीं शरण नहीं। यह पक्षपाती नीति बहुत दिन चली लेकिन अब नहीं चल सकती। अब तो न्याय का

-रखाया है कि स्त्री को भी वही अधिकार प्राप्त हों। सर हरिसिंह ने तलाक के लिये तीन कारणों का निर्देश किया है—

१—जबकि पुरुष अव्यवस्थित चित्त हो।

२—जबकि पुरुष को कोढ़ की बीमारी हो।

३—जबकि वह नपुंसक हो।

स्त्री पुरुष में मनोमालिन्य के और बहुत से कारण हो सकते हैं। उनका इस बिल में कोई जिक्र नहीं है। हम नहीं समझते वर्तमान रूप में किसी को उससे क्या आपत्ति हो सकती है। हिन्दू-विवाह का आदर्श बहुत ऊँचा है। हिन्दू-विवाह और तलाक दो परस्पर विरुद्ध बातें हैं लेकिन इस आदर्श का मूल्य बहुत कम हो जाता है, जब उसके पालन का भार केवल स्त्रियों पर रख दिया जाता है। विशेषकर जब हिन्दू देवियाँ खुद इस बिल की माँग पेश कर रही हैं तो पुरुषों को उसे स्वीकार करने के सिवा और कोई मार्ग नहीं रह जाता। जब तक देवियाँ चुपचाप बिना किसी तरह का असन्तोष प्रकट किए अपने कष्टों को सहन करती जाती थीं पुरुषों के पास अपने को धोखा देने का एक बहाना था। वह कह सकते थे—हमारी देवियाँ पतिव्रत पर इतनी जान देने वाली हैं कि चाहे पुरुष कितना ही जुल्म करे उनके मन में कोई दुर्भावना आ ही नहीं सकती। अब भी हमारी अधिकांश बहनों की यही मनोवृत्ति है लेकिन ज्यों-ज्यों उनमें शिक्षा का प्रचार हो रहा है उनमें अपनी वर्तमान अवस्था से विद्रोह उत्पन्न हो रहा है और तलाक की माँग उसी विद्रोह का सूचक है। पुरुषों को अब उनसे समझौता करना होगा। उनकी शिकायतों की अवहेलना करके अब वे अपने पुरुषत्व को कलंक से नहीं बचा सकते। यह सत्य है कि तलाक प्रथा का दुरुपयोग किया जा सकता है। पश्चिमीय देशों में उसकी जो छीछालेदर हो रही है वह हम नित्य अखबारों में देखते हैं। भारत में भी तलाक के मुकदमें अधिकांश ईसाई और ऐंग्लोइंडियन दम्पतियों की ओर से ही दायर किये जाते हैं लेकिन वर्तमान हिन्दू विवाह में तो ऐसी बुराइयाँ आ गई हैं नहीं तलाक बिल की जरूरत ही क्या थी।

हाँ इस बिल के साथ इस बात का भी विचार करना आवश्यक है कि पुरुष की जायदाद में स्त्रियों का कुछ अधिकार रहे। अन्यथा ऐसा हो सकता है कि नित नए फूलों का रस लेनेवाली मनोवृत्तियाँ तलाक को एक बहाना बना लें।

कुछ लोगों का यह कहना है कि पढ़े लिखे समाज का एक अल्प भाग ही इस बिल के पक्ष में है। इसलिए वर्तमान प्रथा में अगर सौ में दो-चार शादियाँ दुखमय होती हैं तो उन दो-चार के लिये सारे समाज को क्यों भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हो। यहीं हमारा यही उत्तर है कि यह बिल उन्हीं दुखमय दम्पतियों के लिये बनाया जा रहा है। सुखी दम्पतियों के लिये उस बिल का होना न होना दोनों बराबर है। विधवा-विवाह का बिल पास हो जाने से सभी विधवाएँ विवाह तो नहीं करने लगीं। शारदा कानून न भी

तो बाल विवाह नहीं बन्द कर दिया हाँ उसमें कुछ रुकावट अवश्य डाल दी। सबसे बड़ा कानून जन-मत है। लेकिन फिर भी ऐसे कानूनों का हमें स्वागत करना चाहिए जिनका उद्देश्य सामाजिक अत्याचारों को दूर करना हो।

मार्च १९३३

लखनऊ की वेश्याओं मे नई जाग्रति

आखिर फ़िल्म एक्ट्रेसों की दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्की देखकर वेश्याओं की आँखें भी खुल ही गयीं। ये बेचारी दस-दस साल तक रियाज़ करें फिर भी समाज में इनका कहीं स्थान नहीं। शहरों से निकाली जाती हैं। कोई भला आदमी बिना अपनी इज्ज़त में बट्टा लगाये उनसे बोल नहीं सकता। लोग उनके साय से भी बचते हैं। कुछ ज़मींदार, तअल्लुकेदार ज़रूर उनके कदरदानों मे थे और अक्सर सेठ साहूकारों की महफ़िलों मे मंगलामुखियों का आदर होता था पर इस मन्दी ने दोनों ही का काफ़िया तंग कर दिया है। अब इन गरीबों का भार कौन सँभाले। सरकारी नौकरों में तो इतनी जान ही नहीं रहती। हाँ थानेदार और डिप्टी मजिस्ट्रेट ज़रूर उन्हें सरफ़राज़ किया करते हैं मगर ये लोग सबसे बेगार में काम लेते हैं। वेश्याओं को उनसे क्या फ़ैज़ पहुँच सकता है। उधर फ़िल्म की एक्ट्रेसें हैं कि गाने मे थोड़ा सुर-ताल आ गया बस स्टार बन बैठीं। पत्रिकाओं में उनके चित्र निकलने लगे। पोस्टरों में उनके चित्रों पर लोगों की आँखें जमने लगीं। अच्छे-अच्छे समाचार पत्रों में उनकी एक्टिंग की तारीफ़ों के पुल बाँधे जाने लगे। यों समझो कि अछूत मानों ईसाई हो गया। अब उसे कौन अछूत कह सकता है। अब वह साहब है और लोग उसे साहब कहते हैं। तो अब मंगलामुखियों ने सिनेमा पर धावा बोल देने का निश्चय किया है। और रसिकों के शहर लखनऊ की वेश्याओं ने एक संस्था की सृष्टि भी कर डाली है जिसका काम होगा कि वह वेश्याओं को सिनेमा क्षेत्र में लावे। जब सभी जातियों में जागृति फैल रही है तो वेश्याओं में क्यों न फैलती? और लखनऊ की वेश्याओं में जो वर्तमान युग में वेश्याओं का कैपिटल है। एक बार वह सिनेमा में घुस जायें फिर वही लोग जो उनके कोठों की ओर ताकना ऐब समझते हैं तब उन्हें निमंत्रित कर अपने को धन्य समझेंगे। उनकी तसवीरें दीवान खानों की शोभा बढ़ायेंगी। जहाँ थोड़े से रसिकों तक ही उनकी कीर्ति सीमित रहती थी वहाँ एक ही वक़्त लाखों आदमी उनके कला कौशल पर मुग्ध होंगे।

अप्रैल १९३३

मजबूरी है। इसलिए मेहरबानी करके कोई ऐसा लड़का जो तालीमयाफ्ता तन्दुरुस्त हो और जिसके मां बाप के विचार अच्छे हों मुझे बताइये।

यह लाला साहब रिटायर्ड डिप्टी कमिश्नर के पास गये थे। क्यों? इसलिये कि वह भी ताकत और दौलत देखते हैं। ऐसों के पास तो [illegible] भी न जाइए। ऐसे लड़कों को लीजिए जिनके मां बाप गिरफ्तार हुए हैं। उनका [illegible] कराइए और दो-चार हजार जो आप दे सकें कन्या के नाम से बैंक में जमा करके [illegible] को पास बुक दे दीजिये। इन [illegible] के [illegible] भी न जाइए। छोड़ दीजिए कन्या का सम्मान और सम्मानित कुल के विचार को भी [illegible]। [illegible] कभी सुखी नहीं रहती। विद्यार्थियों में बहुत से ऐसे युवक मिलेंगे जो चरित्रवान हैं, विचारशील हैं, महत्वाकांक्षी हैं पर कोई उनका सहारा देने वाला नहीं है। उन युवकों में छांट लीजिए और उनके साथ कन्या का पाणिग्रहण कर दीजिए।

अप्रैल १९३३

औरतों का क्रय विक्रय

सहयोगी 'मैसेंजर' [illegible] की [illegible] के [illegible] पकड़े जाने की खबर दी है जो औरतों का व्यापार करता है। इस दल में कई औरतें भी मिलीं। यह लोग आस पास के जिलों से औरतों को बहकाकर या उठाकर लाते हैं और मुरादाबाद, शाहजहांपुर आदि जिलों में बेच देते हैं। इस दल में सभी [illegible] के आदमी हैं लेकिन न मालूम कब से यह घृणित व्यापार इतनी होशियारी से करते चले आते हैं कि किसी को खबर न हुई। यह सब हमारे चरित्र पतन के लक्षण हैं। हम स्वयं लिख चुके हैं कि [illegible] के [illegible] तरीके निकालते रहते हैं, यहाँ तक कि अपनी बहनों और बेटियों के बेचने में भी संकोच नहीं करते। इस तरह की घटनाओं का मूल कारण आर्थिक कष्ट ही है। बेकारी दिन-दिन बढ़ती जाती है। मजदूरों को मजदूरी नहीं। किसान तबाह हुए जा रहे हैं पर नित्य आदमी [illegible] रहे हैं [illegible] का निवाला निकला जा रहा है। फिर क्यों न [illegible] हों और क्यों न [illegible]। पतियों का दुर्व्यवहार भी बहुधा स्त्रियों के पतन का कारण हुआ करता है। बल्कि अक्सर तो औरतों का सर्वनाश [illegible] उनके घर के [illegible] होने से जो [illegible] उनको व्यभिचार का साधन बनाते हैं और पैसे के [illegible] के भय से उनको घर से निकाल देते हैं और वह अभागिनी इन्हीं दुष्टों के हाथों पड़ जाती हैं। दरिद्रता और मूर्खता की बलिहारी है।

मई १९३३

एक दुखी बाप

एक सज्जन जिनका नाम बताना हम मुनासिब नहीं समझते हमारे पास एक पत्र लिखा है, जिससे विदित होता है कि आजकल अपनी कन्याओं का विवाह करने में पिताओं को कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। उक्त सज्जन ने हमसे उस मुसीबत का इलाज पूछा है। हम इस विषय में उतने ही निस्सहाय हैं, जितने स्वयं वह हैं। हम तो इसका एक ही इलाज नजर आता है और वह यह है कि लड़कियों को अच्छी शिक्षा दी जाय और उन्हें संसार में अपना रास्ता आप बनाने के लिये छोड़ दिया जाय उसी तरह जैसे हम अपने लड़कों को छोड़ देते हैं। उनको विवाहित देखने का मोह हम छोड़ देना चाहिये और जैसे युवकों के विषय में हम उनके पथ भ्रष्ट हो जाने की परवाह नहीं करते उसी प्रकार हम लड़कियों पर भी विश्वास करना चाहिये। तब यदि वह गृहिणी-जीवन बसर करना चाहेंगी तो अपनी इच्छानुसार अपना विवाह कर लेंगी अन्यथा अविवाहित रहेंगी। और सच पूछो तो यही मुनासिब भी है। हमें कोई अधिकार नहीं है कि लड़कियों की इच्छा के विरुद्ध केवल रूढ़ियों के गुलाम बनकर केवल इस भय से कि खानदान की नाक न कट जाये लड़कियों को किसी न किसी के गले मढ़ दें। हम विश्वास रखना चाहिये कि लड़के अपनी रक्षा कर सकते हैं तो लड़कियाँ भी अपनी रक्षा कर लेंगी।

उस पत्र का एक अंश हम देते हैं और यद्यपि हम विश्वास नहीं कि उसे पढ़कर किसी को कुछ असर होगी लेकिन कम से कम वह संतोष तो हो जायगा जो अपना दुख दूसरों को सुनाकर होता है—

मैं आजकल एक फिकर में मुबतिला हूँ। मेरा खयाल है कि इलाज आप के द्वारा हो सकता है। मुझे अपनी सुयोग्य कन्या की शादी की फिक्र है। जहाँ कहीं भी बातचीत करता हूँ वहीं से रुपयों की बड़ी तादाद की माँग होती है। आपके शहर में ही एक प्रसिद्ध रईस बाबू—रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर हैं उन्होंने मुझसे पाँच हजार नकद अलावा सामान-दहेज के माँगे। आप विचार करें कि नकद पाँच हजार के ऊपर लगभग चार हजार का सामान और रुपया ही ऊपर चाहिये। अगर किसी घर में तीन लड़कियाँ हुई तो आधे लाख रुपये उनके विवाह के लिये रख लेना जरूरी है। आप विचार कीजिये कि कायस्थों के पास जो नौकरी करके गुजर करते हैं इतने रुपये कहाँ से आ सकते हैं और फिर ईमानदारी के साथ काम करके कोई भी नौकरी करके इतने रुपये पैदा नहीं कर सकता। मैं कारदाद के सख्त खिलाफ हूँ। मैंने अपने लड़के की शादी में कारदाद मुतलक नहीं किया जिसे हर शख्स जानता है। अगर करारदाद करता तो मुझे भी काफी रुपये मिल सकते थे लेकिन लड़की की शादी में करारदाद करने को तैयार हूँ क्योंकि

मजबूरी है। इसलिये मेहरबानी करके कोई ऐसा लड़का जो तालीमयाफ्ता तन्दुरुस्त हो और जिसके माँ बाप के विचार अच्छे हों मुझे बताइये।

यह लाला साहब रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर के पास गये तो क्यों? इसलिये कि वह भी शोहरत और दौलत देखते हैं। ऐसों के पास तो भूल कर भी न जाइए। ऐसे लड़कों को लीजिए जिनके माँ बाप स्वर्गवास कर चुके हैं। उनका [illegible] देकर [illegible] और दो-चार हजार जो आप दे सकें कन्या के नाम से बैंक में जमा करके लड़की को पास बुक दे दीजिये। इन आजकल वालों के दरवाजे पर कदम भी न जाइये। छोड़ दीजिए कन्या को सम्पन्न और सम्मानित कुल में बिठाने के मोह को। ऐसे कुलों में लड़कियाँ कभी सुखी नहीं रहतीं। बिरादरी में बहुत से ऐसे युवक मिलेंगे जो बुद्धिमान् हैं, विचारशील हैं, सहृदय हैं पर कोई उनको महत्व नहीं देता है। ऐसे युवकों में छाँट लीजिए और उनके साथ कन्या का पाणिग्रहण कर दीजिए।

अगस्त १९३३

औरतों का क्रय विक्रय

सहयोगी 'मिलाप' लाहौर ने हमारे कानपुर के सहयोगी [illegible] में एक ऐसे दल के पकड़े जाने की खबर दी है जो औरतों का व्यापार करता है। इस दल में कई औरतें भी मिलीं। यह लोग आस-पास के जिलों से औरतों को बहकाकर या उठाकर लाते हैं और मुरादाबाद शाहजहाँपुर आदि जिलों में बेच देते हैं। इस दल में सभी तीस-चालीस के आदमी हैं लेकिन न जाने कब से यह पुलिस बराबर इतनी होशियारी से करते चले आते हैं कि किसी को खबर न हुई। यह सब हमारे चरित्र पतन के लक्षण हैं। हम इतने गिर गये हैं कि धनोपार्जन के सब तरह के तरीके निकालते रहते हैं यहाँ तक कि अपनी बहनों और बेटियों के बेचने में भी संकोच नहीं करते। इस तरह की दुर्घटना का असर कारण आर्थिक कष्ट ही है। बेकारी दिन-दिन बढ़ती जाती है। मजूरों की मजूरी घटती, किसान तबाह हुए जा रहे हैं, पढ़े-लिखे आदमी भूखों मर रहे हैं, व्यापारियों का दिवाला निकला जा रहा है। फिर ऐसी वारदातें क्यों न हों और क्यों न कदम आगे बढ़ें। घरवालों का दुर्व्यवहार भी बहुधा स्त्रियों के पतन का कारण हुआ करता है। बल्कि अक्सर तो औरतों का भगाया जाना उनके घर के आदमी होते हैं या पहले तो उनको दुराचार का साधन बनाते हैं और पीछे से बदनामी के डर से उनको घर से निकाल देते हैं और वह अबलाएँ ऐसी दुष्टों के हाथों पड़ जाती हैं। दरिद्रता और मूर्खता की बलिहारी है।

मई १९३३

वेश्यावृत्ति

मि॰ ई॰ अहमदशाह युक्त प्रान्तीय कौंसिल के उन बदनाम मेम्बरों में से हैं जो सदैव प्रजा-पक्ष की विरोध ही करते रहे हैं। कौंसिल के विगत अधिवेशन के अवसर पर वे श्वेत-पत्र के 'खम्भे' समझते थे। इसी कारण उनके किसी भी कार्य में जनता को यह आशंका रहती है कि वह वास्तव में प्रजा के हित में है या विरोध में पर यह आवश्यक नहीं है कि मि॰ शाह जो कुछ करते हैं वह जनता के विरोध में ही होता है। उदाहरणार्थ वेश्या-वृत्ति-निवारण तथा स्त्रियों की खरीद-बिक्री रोकने के लिये जो बिल उन्होंने पेश किया है तथा इसी नैनीताल के अधिवेशन में जो 'सिलेक्ट कमेटी' के सुपुर्द भी हो गया हो वास्तव में बड़ा उपयोगी और आवश्यक बिल है। राज्य-परिषद् ने भी 'ट्रैफिक इन विमेन' सम्बन्धी इसी प्रकार के नियम बनाये हैं पर न जाने क्यों मि॰ चिन्तामणि ऐसे व्यक्ति भी इस बिल का विरोध कर रहे हैं। इस विरोध में कोरी दलबन्दी तो नहीं है? मि॰ चिन्तामणि ने इस बिल के विरोध में जो व्याख्यान दिया था वह तथ्यहीन था उसमें केवल नये होममेम्बर की प्रशंसा थी (जिस प्रशंसा को होममेम्बर ने सहृप 'लौटाया' था) और थी मि॰ शाह की खिल्ली। हमारी समझ में मि॰ चिन्तामणि आदि का विरोध केवल दलबन्दी का फल है और यदि यह बिल न पास हो सका तो इसमें दोष उनका तथा उनके समर्थकों का होगा।

जुलाई १६३३

अभागिनी विधवा

कई दिन हुए देहली में एक हिन्दू विधवा ने रेल की लाइन पर लेट कर जान देना चाहा। संयोग से ड्राइवर ने देख लिया और इंजिन को रोक दिया। जब औरत को इंजिन के नीचे से निकाला गया तो उसने यह करुणा में डूबे हुए शब्द कहे— 'मैं बाल विधवा हूँ। मैं अपनी जिन्दगी से तंग आ चुकी हूँ। इस दुनिया में नहीं रहना चाहती। तुम लोग मुझे क्यों तंग करते हो मुझे मर जाने दो।

और उस विधवा पर अब आत्म हत्या के अपराध में अभियोग चल रहा है!

जुलाई १६३३

महिला विद्यालयों में बिहारी-सतसई

पंजाब के पत्रों में कुछ दिनों से यह बहस छिड़ी हुई है कि बिहारी सतसई को महिला विद्यालयों से क्यों न उठा दिया जाय। जिन पुस्तकों में शृंगार का नग्न और

निम्नरूप रूप दिखाया गया हो उन्हें लड़कियों से ही क्यों लड़कों से भी उठा देना चाहिए। हमारे पुराने ब्रजभाषा के अमर कवि जिनकी शायरी का उद्देश्य ही अपने आश्रयदाताओं की लोलुप-विलासिता और कामुकता को उत्तेजना और उभारना था शृंगार जैसे पवित्र विषय को इतना गंदा और घिनौना बना गए हैं कि आज उन कवियों पर दया आती है, जो अपनी सुरुचि की हत्या करने के लिये मजबूर थे। हम यह नहीं कहते कि बिहारी को स्कूलों से बिलकुल उठा दिया जाय। बिहारी ने कविता के आकाश में ऐसी ऊँची उड़ान की है और ऐसे-ऐसे अछूते और नाजुक खयाल पैदा किये हैं कि उनसे वंचित रहना साहित्य के एक बड़े आनन्द से वंचित रहना है लेकिन स्कूलों के लिये बिहारी का एक शुद्ध एडीशन होना चाहिए जिसमें से कुरुचिपूर्ण दोहे निकाल दिए जायें चाहे कवि ने उनकी रचना में कलम ही क्यों न तोड़ दी हो। देव और मतिराम और पद्माकर आदि की रचनाओं के भी स्कूली एडीशन निकलने चाहिए। हम नहीं समझते कोई अध्यापक या अध्यापिका युवकों या युवतियों के सामने उन दोहों या कवित्तों की व्याख्या कैसे कर सकती है जिनमें कूट-कूट कर रति रहस्य भरा हुआ है। इंगलैंड में कुछ दार्शनिकों का प्रस्ताव है कि युवकों और युवतियों के लिये रति शिक्षक स्कूल खोले जायें। इन शृंगारी कवियों को ऐसे स्कूलों में विशेष रूप से स्थान मिलना चाहिए!

सितम्बर १९३१

प्रयाग में महिला व्यायाम मन्दिर

प्रयाग महिला विद्यापीठ ने महिला व्यायाम मन्दिर खोलकर बड़ा सामाजिक उपकार किया है। हमारे गिरते हुए स्वास्थ्य की रोक-थाम जितना महिलाएँ कर सकती हैं और कोई शक्ति नहीं कर सकती। इस व्यायाम मन्दिर से यह आशा तो नहीं की जा सकती कि प्रयाग-महिलाओं की कोई बड़ी संख्या इससे लाभ उठा सकेगी। इसका काम तो केवल महिलाओं के सामने एक नमूना रख देना और कभी-कभी प्रदर्शन करके उनके मन्द होने वाले उत्साह को उभारना होगा। महिलाओं के दिल में अगर यह बात बिठाई जा सके कि अपने परिवार के लिये पुष्टिकर भोजन की व्यवस्था करना आभूषणों से कहीं ज्यादा महत्व की बात है और अपने बच्चों में व्यायाम की आदत डालकर वे उनके साथ सबसे बड़ा उपकार कर सकती हैं तो राष्ट्र के लिये बड़े मंगल की बात हो।

सितम्बर १९३२

विधवाओं के गुजारे का बिल

श्री हरबिलास शारदा ने अपनी सामाजिक सेवा से भारत के इतिहास में अमर पद प्राप्त कर लिया है। अब उन्होंने हिन्दू-विधवाओं के गुजारे का बिल असेम्बली में पेश करके समाज की जो सेवा की है उसके लिये समाज को उनका कृतज्ञ होना चाहिये। हिन्दू समाज के पतन का मुख्य कारण अगर जाति भेद है तो विधवाओं की दुरवस्था भी उसका खास सबब है। वही स्त्री जो पति के जीवन-काल में घर की स्वामिनी थी और जिसने उस गृहस्थी के निर्माण में पति के साथ सारी कठिनाइयाँ झेलीं, पति के मरते ही अनाथ हो जाती है। उसी की कोख के लड़के उससे आँखें फेर लेते हैं और उसकी जो दुर्गति होती है वह हम नित्य अपनी आँखों देखते हैं। उसे केवल अपने लड़कों या पति के बन्धुओं की दया का अवलम्बन रह जाता है। पति की छोड़ी हुई सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता। अगर सम्मिलित परिवार है तब तो उसकी दशा और भी शोचनीय हो जाती है। वह स्वामिनी से लौंडी हो जाती है और सारे घर की सेवा करके अपने जीवन के दिन काटती है। इस दशा में कितनी ही घर से निकल जाती हैं कितनी अपमान और कठिनाइयों से तंग आकर पतिता हो जाती हैं। यह बिल विधवाओं को अपने पति की सम्पत्ति में कानूनी अधिकार देने के लिये बनाया गया है। आज हमारी समझ में ऐसा शायद ही कोई शिक्षित व्यक्ति हो जो इस बिल का विरोध करे, लेकिन कट्टर सम्प्रदाय के महानुभावों से हम शंका है जिनकी संख्या असेम्बली में कम नहीं है, वरना अछूतों का मन्दिर प्रवेश बिल अब तक कब का पास हो चुका होता। शायद उनकी ओर से इस आधार पर विरोध किया जाय कि विधवा सम्पत्ति पाकर उसे अपने मैकेवालों को दे देगी या कोई उसमें पैदा की जा सकती है पर इन महानुभावों से हमारा यही निवेदन है कि यदि आप हिन्दू समाज के हितचिन्तक हैं तो इस बिल में रोड़े न अटकाइए। अगर पुरुष अपनी सम्पत्ति का जिस तरह चाहे उपयोग कर सकता है, तो स्त्री को क्यों उस अधिकार से वंचित किया जाय। जब सम्पत्ति पर उसका कानूनी अधिकार हो जायगा तो उसके लड़के अथवा बन्धु सभी उसका आदर करेंगे और किसी को उसकी मर्जी के खिलाफ कोई काम करने का साहस न होगा। औरत मैके की ओर तब भागती है, जब ससुराल में कोई बात नहीं पूछता। जब ससुराल में उसे आदर और रक्षा मिलेगी तो वह मैके क्यों जाने लगी। जो कुछ भी हो इस समय हमारा सामाजिक धर्म यह है कि शास्त्रों और स्मृतियों की शरण लेकर इस बिल को रद्द कराने की चेष्टा न करें। विधवाओं के साथ समाज ने बड़ा अन्याय किया है और अन्याय को पालकर कोई समाज सशक्त नहीं हो सकता।

अक्तूबर १९३२

महिला-सम्मेलन मे सन्तान निग्रह

अभी हाल में प्रयाग में प्रान्तीय महिला-सम्मेलन हुआ। उसमें और कई महत्व के प्रस्तावों के साथ सन्तान-निग्रह का प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ और म्युनिसिपैलिटियों और सरकारों से इसकी विधि सिखाने का प्रबन्ध करने का आदेश किया गया। यूजेनिक्स शास्त्र यह कहता है कि देश में अयोग्य स्त्री-पुरुषों को नपुंसक कर देना चाहिये अर्थात् उन्हें जनन शक्ति से वंचित कर देना चाहिए और देश में सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार ऐसे प्राणियों को मिलना चाहिए, जो दिल दिमाग और तन दोनों में सबल हों और इसके साथ ही सुसम्पन्न भी हों। मजदूरों और अल्पशिक्षित स्त्री-पुरुषों को सन्तानोत्पत्ति का अधिकार न होना चाहिए। अतएव देश में जो विद्वान, प्रतिभाशाली तेजस्वी स्त्री-पुरुष हैं उन्हीं पर देश में योग्य सन्तान पैदा करने की जिम्मेदारी आती है। अतएव इस सम्मेलन की विदुषी, मनस्वी, स्वाभिमानी देवियों का यही यह प्रचार करना भी जरूरी है कि अयोग्य स्त्री-पुरुष सन्तान उत्पन्न न करें, वहीं अपनी योग्य बहनों को सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करने की प्रेरणा करनी चाहिए। पढ़ी-लिखी विचारशील स्त्रियाँ और उन्नत विचार वाले पुरुष संतान-निग्रह नहीं कर सकते और न करें, वह इस जिम्मेदारी से इनकार कर सकते हैं। उन्हें तो सन्तान उत्पन्न करके उसका पालन करना ही पड़ेगा, अन्यथा देश में अयोग्य सन्तान भर जायगी। देश में अयोग्यों का [illegible] आपको पढ़ाना-लिखाना और आपको इस पद पर पहुँचाना। आपकी शान में इन का क्या असर पड़ेगा।

इधर बड़े-बड़े विज्ञानशास्त्री इस यत्न में हैं कि प्रयोगशाला में जिस तरह का सन्तान चाहें पैदा कर सकें। एक विद्वान ने तो यहाँ तक भविष्यवाणी की है कि सन् दो हजार तैंतीस तक इस विषय में बहुत खोज-बीन हो चुकी होगी और सम्भव ही नहीं निश्चित है कि दो हजार एक सौ तैंतीस तक विज्ञान द्वारा उत्पन्न स्त्री-पुरुष समाज में हलचल मचा रहे होंगे। इसलिये हमारे उन्नत समाज को यह झगड़ा थोड़े ही दिनों तक उठानी पड़ेगी। फिर विज्ञान उन्हें इस जिम्मेदारी से मुक्त कर देगा। तब तक भोजन की समस्या भी हल हो चुकी होगी। एक गोली खाकर हमारी सन्तान उतना ही पोषण प्राप्त कर सकेगी जितना आजकल दूध घी मांस-मछली तरकारी खाकर भी नहीं मिल सकता। बस सारे दिन सैर और गाना और विहार होगा। अफसोस उस जमाने में हम न होंगे।

नवम्बर १९३३

कुमारी शिक्षा का आदर्श

शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष मि० मेकेंजी ने मुरादाबाद की एक कन्या पाठशाला में कुमारियों की शिक्षा का जो आदर्श उपस्थित किया उस पर हमारी देवियाँ उनसे खुश होंगी या नाराज यह हम नहीं जानते। आपके विचार में कुमारों और कुमारियों की शिक्षा में वही अन्तर होना चाहिए, जो उनके जीवन में है। समीकरण और वायुविज्ञान से उनके जीवन का कोई उपकार नहीं होता। वर्तमान शिक्षा प्रणाली उन्हें माता और गृहिणी बनने के योग्य नहीं बनाती। मुश्किल तो यह है कि पुरुषों ने महिलाओं को इतना सताया है कि अब वे माताएँ और गृहिणी न बनकर अपनी आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने पर तुली हुई हैं। अगर पुरुष बच्चे पालना और भोजन पकाना नहीं जानते तो स्त्री क्यों सीखे। जो विद्या पढ़कर पुरुष रोटी कमाता है और इसलिए औरतों को अपनी लौंडी समझता है वही विद्या स्त्रियाँ भी सीखना चाहती हैं। वह खाना क्यों पकायें वकालत क्यों न करें, अध्यापिका क्यों न बनें? इसका फैसला हमारी देवियों को ही करना चाहिए कि उनकी कन्याएँ कैसी शिक्षा पाएँ, स्वार्थी पुरुषों का फैसला वह क्यों मंजूर करने लगीं!

जनवरी १९३४

महिलाओं की शिक्षा पर पं० जवाहरलाल नेहरू

किसी पिछली संख्या में हमने मि० मेकेंजी के स्त्री शिक्षा-संबंधी विचार की आलोचना की थी। मि० मेकेंजी महिलाओं को माता और गृहिणी बनने की शिक्षा देना चाहते हैं, और अनावश्यक विषयों को उनके दिमाग में ठूँसकर वही गलती नहीं करना चाहते जो लड़कों की शिक्षा में की गई। लड़कों को दफ्तरों के लिए क्लर्क बनाना अभीष्ट था। लड़कियों के सामने वह यह आदर्श नहीं रखना चाहते। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने महिला विद्यापीठ के दीक्षान्त भाषण में इसके विपरीत मत प्रकट किया। आपका खयाल है कि महिलाओं को केवल वैवाहिक जीवन के लिये क्यों तैयार किया जाय। उन्हें जब तक आर्थिक स्वतन्त्रता न प्राप्त होगी उस वक्त तक पति-पत्नी में साम्यवाद न उत्पन्न होगा। अगर साम्य का एक मात्र आधार आर्थिक ही हो जाय तब भी कमी-बेशी का झंझट रहेगा ही। अगर देवी जी एक सौ रुपया लाती हैं, और देवता जी एक सौ बीस रुपया तो अवश्य ही कुछ थोड़ी सी असमता आ जायगी। उसी तरह देवी जी ज्यादा कमाती हैं, तब भी असमता पैदा होगी। दोनों बराबर लायें तभी मीजान ठीक बैठेगी। इसका अर्थ यह होगा कि मुश्किल से सौ में पाँच दम्पति सुखी होंगे। बात यह

है कि देवताओं में प्रधानता की जो भावना उत्पन्न हो गई है वह केवल उनकी मूढ़ता के कारण। वह समझते हैं वे बाहर से धन कमाकर लाते हैं, इसलिए उनका महत्व अधिक है। उन्हें यह भूल जाता है कि स्त्री घर में जो काम करती है, वह उनकी कमाई से कई गुना ज्यादा महत्व की चीज है। जहाँ पुरुष बिलकुल अंधे नहीं हैं वहाँ पराधीनता और स्वाधीनता की गंध तक नहीं है। दोनों ही एक दूसरे के समान रूप से पराधीन हैं। पुरुषों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाने से यह सारा विकार मिट सकता है, और पारिवारिक विच्छेद के लज्जास्पद दृश्यों से समाज की रक्षा हो सकती है।

जनवरी १९३४

रूस का नैतिक उत्थान

रूस को बदनाम करने वाले अंग्रेजी अखबारों में बराबर यही लिखा जाता है कि रूस में विवाह प्रथा प्रायः उठ सी गई है, पारिवारिक संगठन नष्ट हो गया है, स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से सहवास करते रहते हैं आदि। लेकिन इधर दो-एक भारतीय सज्जनों ने वहाँ का जो आँखों देखा वृत्तांत लिखा है उससे तो मालूम होता है कि रूस ने और किसी विभाग में चाहे प्रगति की हो या नहीं लेकिन नैतिक दृष्टि से तो वह पश्चिम की अन्य सभी उन्नत जातियों से आगे निकल गया है। वहाँ बाजारों में वेश्याएँ अपने शिकार की तलाश में चक्कर लगाती नहीं नजर आतीं न होटलों और कहवा-खानों में औरतों के नंगे चित्र ही लटकते नजर आते हैं जैसा योरोप और अमेरिका के प्रायः सभी देशों में देखा जाता है। यही नहीं सुजाक और उपदंश आदि बीमारियाँ जो योरोप में दिन-दिन बढ़ रही हैं, रूस में बहुत कम हो गई हैं और वहाँ के डाक्टरों को आशा है कि कुछ दिनों में यह फिरंगी बीमारियाँ नेस्त-नाबूद हो जायेंगी। वेश्यावृत्ति का मूल कारण आर्थिक संकट है, जो बाद को मानसिक दुर्बलता का रूप धारण कर लेता है। जहाँ धन थोड़े से आदमियों के हाथ में है वहाँ लाजिमी है कि धनवान लोग अपनी विलासिता को तृप्त करने के लिये अभागिनों से काम लें। उसी से बीमारियाँ भी फैलती हैं। जब किसी के पास इतना धन ही न रहे कि वह उसे विलासिता में उड़ा सके तो वेश्यावृत्ति आप ही आप लुप्त हो जायगी। फिर जब स्त्रियों के लिये जीवन के किसी विभाग में कोई रुकावट नहीं तो वे क्यों इस लज्जास्पद वृत्ति का आश्रय लें। धन के लिए रूप को बेचना कोई पसन्द नहीं करती। वह तो प्रेम के लिये ही आत्म-समर्पण करना चाहती है। यदि वह परिश्रम से अपने जीवन को सुखी बना सकती है तो वह यह घृणित आश्रय कभी न लेगी।

फरवरी १९३४

वैवाहिक लेन-देन और कानून

'चाँद' के अप्रैल के अंक में श्री केशवानन्द वर्मा ने दहेज, कन्या-विक्रय आदि कुप्रथाओं को कानून द्वारा बन्द कराने का प्रस्ताव किया है। ऐसी प्रथाओं को कानून द्वारा तो क्या यमराज द्वारा भी बन्द कराया जा सके तो हमें आपत्ति नहीं लेकिन हमें भय है कि यहाँ कानून हमारी कुछ सहायता नहीं कर सकता। जो बात अभी खुल्लम-खुल्ला होती है वह गुप्त रूप से होगी और किसी को खबर तक न होगी। जो आदमी विवाह का इच्छुक है वह अपना सब कुछ बेचकर लड़की खरीदेगा। उसे आप किसी तरह नहीं रोक सकते। इसी तरह लड़की का बाप भी वर को खरीदने के लिए अपना घर तक बेच देता है। कानून तो तब बीच में आ सकता है कि कोई फरियाद करे? हाँ विवाह के बाद खबर निकाली जा सकती है और लेनेवालों को दण्ड भी दिलाया जा सकता है। लेकिन तब तो वही घरवाले दुश्मन हो जाते हैं। कौन अपनी पत्नी के प्यारे पिता या प्यारे दामाद पर मुकदमा चलायेगा? नहीं मालूम यह बस मुँह चलने की नहीं। हाँ सरकारी कानून अगर इतना कर दे कि वर-वधू के मोल बना दे और जबरदस्ती या रजामन्दी से उनका विवाह करा दे तब शायद कुछ उपकार हो सके। मगर तब वह रकम वर या कन्या के पिता की जेब में न जाकर पुलिस की जेब में जायगी। शायद उससे ज्यादा। समस्या टेढ़ी है। जब तक लेन-देन समाज में घृणा की दृष्टि से न देखा जायगा और जनमत उसे कलंक न समझने लगेगा तब तक यही दशा रहेगी। हमें अपनी सारी शक्ति यह जनमत तैयार करने में लगानी होगी। मुश्किल यह है कि वही आदमी जो आज कन्या के विवाह में रिफार्मर बनता है और दहेज को लानत करता है कल पुत्र के विवाह में लंबी रकम डकार जाता है। कैसे काम चले।

अप्रैल १९३४

क्या स्त्रियों का पाजामा पहनना जुर्म है?

यों तो काले-गोरे का भेद इस संसार में सभी जगह मौजूद है यहाँ तक कि इंग्लैंड और फ्रांस तक में भी कालों का अपमान होता रहता है लेकिन यह मरज दक्षिण अफ्रीका में बड़े जोरों पर है और शायद बढ़ता जा रहा है। खबर है कि किसी हिन्दुस्तानी स्त्री को गोरी औरतों की देखा-देखी पाजामा पहनने का शौक चर्राया लेकिन काली औरत गोरी औरतों की नकल करने का साहस करे—यह बात वहाँ के मजिस्ट्रेट साहब को नागवार गुजरी। इस स्त्री पर मुकदमा चलाया गया और उसे जुर्माने की सजा दी गई। यहाँ देहातों के ठाकुर बेचारे किसी शूद्र को कुर्ता टोपी पहने देखकर

जामे से बाहर हो जाते हैं और उसकी अच्छी तरह मरम्मत करते हैं । मगर ये बेचारे ठाकुर मूक हैं । वहाँ शिक्षित मजिस्ट्रेट एक महिला का मेमों की नकल करने के जुर्म में सजा देता है । क्या यह भी उतना ही उजड्ड नहीं है ? हम तो उस बालो देवी को कुर्सी पर देखना चाहते हैं जो साड़ी ऐसी शोभदार पोशाक को छोड़कर पाजामा पहनने चली । जबसे हिटलर के जर्मनी में प्रभुत्व की और अपनी संस्कृति की विशुद्ध रखने की जो नई नीति निकाली है, तब से इसमें गोरे का तेज शायद और भयंकर हो गया है ।

मई १९३४

सन्तान निग्रह और प्राकृतिक नियम

ब्रह्मचर्य के महत्व को हिन्दू शास्त्रकारों ने जितना समझा था उतना शायद और कहीं न समझा गया हो लेकिन इसका उद्देश्य सन्तान-निग्रह नहीं बल्कि मनुष्य के बल बुद्धि की रक्षा करना था । उत्तम सन्तान के लिए भी बल-बुद्धि की रक्षा आवश्यक थी लेकिन हम उस आदर्श से गिरते-गिरते यहाँ तक गिरे कि बाल-विवाह की भरमार होने लगी और उसे रोकने के लिए कानून बनाना पड़ा । प्राचीन भारत हृष्ट-पुष्ट सन्तानों से भरा पूरा घर था । उस युग में आबादी को जरूरत थी और रोटी का प्रश्न इतना कठिन न था । अब जमाना बदल रहा है और संसार में जरूरत से ज्यादा आदमी हो गये हैं । इसके साथ ही बच्चों के पालन-पोषण का भार भी बढ़ गया है । हम अपने बालकों को पुष्टिकारक भोजन और अच्छी शिक्षा देना चाहते हैं और बहुत से बच्चों का बोझ सिर पर लादकर अपनी जिन्दगी नहीं तल्ख करना चाहते । साधारण वित्त के आदमी को अगर सात-आठ लड़कों लड़कियों का खर्च उठाना पड़े तो समझ लो कि उसकी और उसके बच्चों की शामत है । अपनी भी सांसत और बच्चों की भी सांसत । इसी जरूरत ने सन्तान-निग्रह के विचार को जन्म दिया । इसमें तो किसी को आपत्ति नहीं है कि संतान-निग्रह आवश्यक वस्तु है । मतभेद इसी में है कि यह उद्देश्य ब्रह्मचर्य द्वारा पूरा किया जाय या कृत्रिम उपायों से । अगर ब्रह्मचर्य द्वारा हो सके तो सबसे उत्तम लेकिन यह न हो सके तो हम कृत्रिम साधनों को भी बुरा नहीं नहीं समझते । कुछ विद्वानों का कथन है कि हम प्राकृतिक विधान में बाधक न होना चाहिए क्योंकि इसका परिणाम भीषण होता है । मगर मानव संस्कृति तो प्राकृतिक विधान से विरोध का ही नाम है । अगर हम प्रकृति-मार्ग पर ही चलते तो आज भी कन्दराओं में रहते और शिकार पर जिन्दगी बसर करते होते । प्रकृति पर विजय पाना तो मानवी सभ्यता का सदा ध्येय रहा है । हाँ संतान-निग्रह के विरुद्ध जो सबसे विचारने योग्य बात कही जाती है वह यह है कि इससे स्त्री पुरुष की भोग लालसा बढ़ जाती है और विलास प्रवृत्ति अंकुश रहने के लिए जिस

त्याग और बलिदान की जरूरत है, उसके शिथिल हो जाने के कारण स्त्री-पुरुष में प्रेम बन्धन ढीला हो जाता है और वह गृह कलह और असन्तोष के रूप में प्रकट होता है। इसके सिवा कुछ बीमारियाँ पैदा हो जाने की शंका भी रहती है, अतएव हमारे विचार में दम्पत्ति को अपनी जरूरत स्थिति स्वास्थ्य आदि का विचार करके ही इस विषय में निश्चय करना चाहिए। इसके लिए कोई व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता।

मई १९३४

नारियों के साथ अन्याय क्यों

अब तक समस्त संसार में यह कायदा था कि नारी को एक ही काम के लिए पुरुषों से कम मजूरी मिलती थी। पुरुष चार आने पाता है तो नारी को तीन आने ही दिए जाते हैं। शायद यह धारणा हो कि नारी पुरुष के बराबर काम नहीं कर सकती। या यह कि पुरुष को एक परिवार का पालन करना पड़ता है और नारी जो कुछ पाती है, सब अपने ही ऊपर खर्च करती है। लेकिन समय बदल रहा है या बदल गया है और अब नारियों ने सिद्ध कर दिया है कि बहुत से कामों में वह पुरुषों के बराबर ही नहीं पुरुषों से ज्यादा काम करती हैं। रहा परिवार का सवाल। तो अब यह जरूरी नहीं रह गया है कि नारी परिवारहीन हो। इस बेकारी के जमाने में कितने ही पुरुष अपनी पत्नियों की कमाई पर गुजर-बसर करते हैं। और अब तो अविवाहित स्त्री भी पिचकारियों द्वारा संतानवती हो सकती है, फिर किस कायदे से उसको कम वेतन दिया जाय? हाँ नारियों से हमारा नम्र निवेदन है कि अब वे एकान्तभोग की बान छोड़ें और अपने बेकार पुरुषों की उसी तरह नाजबरदारी करें जैसे—पुरुष अब तक अपनी बेकार स्त्रियों की करता रहा है।

मई १९३४

राष्ट्रभाषा

भारत की राष्ट्र भाषा

'अंग्रेजी बोलो' सभा में भाषण देते हुए भारत के भूतपूर्व वायसराय लार्ड रीडिंग ने इस बात पर बड़ा सन्तोष, हर्ष तथा गर्व प्रकट किया कि गोलमेज में आये हुए प्रतिनिधियों में कुछ तो बड़े ही काबिल हैं क्योंकि वे बड़ी अच्छी अंग्रेजी बोलते हैं। जब लार्ड महोदय भारत में थे उन्हें यह देखकर बड़ा हर्ष हुआ कि यहाँ पर अंग्रेजी भाषा का बड़ा प्रचार हुआ। आप कहते हैं—"अंग्रेजी भारत की राष्ट्र भाषा है। अंग्रेजी भाषा शान्ति और व्यवस्था की भाषा है। भारतीय राष्ट्र भाषा क्या है यह अभी तक बड़े दिग्गज भी नहीं तय कर पाये हैं। बहुत सोच-समझकर 'हिन्दुस्तानी' को ही यहाँ की राष्ट्रभाषा निर्धारित किया है। बहुत बड़े अंग्रेजीदाँ भी कभी अंग्रेजी को यहाँ कि राष्ट्रभाषा नहीं मानते। हमारी समझ में लार्ड महोदय ने बड़ी जल्दी यहाँ की राष्ट्र भाषा तय कर दी। यह भया सदस्यों की योग्यता का सबूत। यह तो हरेक गुलाम देश अपने स्वामी की भाषा को अपनी भाषा बना ही लेता है। यदि बंगाली कोई तोता पालता है तो उसकी राष्ट्र भाषा बँगला होती है। उसी तोते की सन्तान किसी हिन्दी बोलनेवाले के यहाँ पलकर हिन्दी को ही अपनी मादरी-जबान बना लेता है। बाद तोते तो अपनी असली भाषा यहाँ तक भूल जाते हैं कि 'टें-टें' भी कभी नहीं कहते। ठीक इसी प्रकार कुछ नव रंग के भारतीय हिन्दी इतनी भूल जाते हैं कि अपने माँ-बाप को भी वे अंग्रेजी में ही खत लिखा करते हैं। विलायत से लौटकर 'तुम' की जगह 'टुम' कहना मामूली बात है। हम भारतीय भाषा के विचार में भी अंग्रेजों के इतने दास हो गये हैं कि अन्य अति धनी तथा सुन्दर भाषाओं का हमें कभी ध्यान नहीं आता। उदाहरणार्थ यह तो सत्य ही है कि फ्रेंच अंग्रेजी से कहीं अधिक प्रिय मधुर तथा व्यापक भाषा है। योरोप में ही नहीं दुनिया के अधिकांश भागों में इसका अधिक प्रचार है। इसका पता हमें तब लगता है जब हम इंग्लैंड छोड़कर और कहीं जाते हैं और वहाँ अंग्रेजी जानने के कारण हमें बेवकूफ बनना पड़ता है। अंग्रेजी बड़ी धनी भाषा है पर जितना तथा जिस दृष्टि से हम इसे आदर देते हैं वह हमारे लिए गर्व की बात नहीं है।

यह भया शान्ति तथा व्यवस्था की भाषा। इसका सबूत तो हम आये दिन पाते हैं। विलायती समाचार-पत्र डेली टेलीग्राफ या डेली मिरर या डेली न्यूज (तीनों ही लन्दन के हैं तथा अनुदारदल के प्रमुखपत्र हैं) जो अंग्रेजी में ही छपते हैं पर इंग्लैंड

की राजनीति के अधिकांश सूत्र प्रायः इन्हीं के हाथ में है और इनकी भाषा प्रायः सबसे अधिक कटु, दुष्ट जहरीली और निन्द्य होती है।

५ दिसम्बर १९३

बड़ौदा राज्य में हिन्दी

बड़ौदा हिन्दुस्तान की उन रियासतों में है जिसे बहुत ही उन्नत तथा सुशासित कहा जा सकता है। कुछ समय तो बड़ौदा देसी रियासतों का ही नहीं किन्तु समूचे ब्रिटिश भारत का भी सामाजिक सुधारों में अगुआ रहा है। शिक्षा अनिवार्य कर देना शिक्षा निःशुल्क कर देना तथा बाल विवाह निषेध उसके अनेक सुधारों में से है। बड़ौदा का सबसे नया सुधार था अपने राज्य भर के मन्दिरों में अछूतों का प्रवेश अनिवार्य कर देना। इस सुधार से कुछ सामाजिक-कीटाणु तो बेहद दुखी है। इसका प्रभाव सुदूरवर्ती और हितकर है। अब इस रियासत का ताजा महान् कार्य है हिन्दी को राज्यभाषा स्वीकार कर लेना। ब्रिटिश प्रान्तों में सबसे पहले यह सुधार मध्य प्रान्त में ही हुआ था कि हिन्दी को ही अदालती भाषा स्वीकार किया गया था। इसके बाद शायद बड़ौदा ही पहला इतना बड़ा स्थान है जहाँ हिन्दी का अब साम्राज्य होगा। बड़ौदा एक मराठा राज्य है, जिसके अधिकांश निवासी गुजराती हैं। इसलिए इस राज्य के इस सुधार का और भी महत्व है। क्या हम आशा करें कि अलवर, बीकानेर, जयपुर ऐसी गैर-मराठा रियासतें भी उर्दू के स्थान पर हिन्दी को सर्वोच्च आसन देंगी।

बड़ौदा सरकार ने इधर कई भूलें भी की है जिनमें सबसे बड़ी भूल थी अब्बास तहैयब जी की पेंशन बन्द करना था। भारतीय सिविल सर्विस के रिटायर्ड पेंशनवाले कर्मचारी भारत के खिलाफ आन्दोलन में निर्भय होकर भाग ले सकते हैं, पर भारत की सेवा करनेवाला एक भारतीय रियासत से पेन्शन न पावे यह कहाँ की बुद्धिमानी है।

५ दिसम्बर १९३२

हिन्दू-विश्व विद्यालय में हिन्दी वाद-विवाद

गत रविवार को काशी विश्व विद्यालय में हिन्दी वाद-विवाद हुआ। स्थानीय विद्यालयों के अतिरिक्त कई छात्र जबलपुर, पटना गुरुकुल कांगड़ी आदि से भी आये थे। विषय था—हिन्दी भाषा ही राष्ट्र निर्माण का एक मात्र साधन है। प्रान्तीय कौंसिल के सभापति सर सीताराम मुख्य विचारक थे। स्थानीय कालेजों की चार बाधाएं

भी सम्मिलित हुई थीं। उपस्थिति अच्छी थी। लगभग पचीस छात्रों ने भाग लिया। अधिकांश छात्रों के कथन से यही सिद्ध होता था कि वे केवल अपनी कोई रचना सुना रहे हैं। उत्तर और प्रत्युत्तर में जिस व्यंग-विनोद और आलोचना की आवश्यकता है और जिसके कारण ही वाद-विवाद में आकर्षण होता है, उधर गिने-गिनाये छात्रों ही न ध्यान दिया। राष्ट्रीयता के उपादानों में जाति धर्म और राजनैतिक तथा भौगोलिक परिस्थिति संस्कृति और भाषा इन पाँचों ही अंगों का होना आवश्यक है, लेकिन हमारे विचार में एक भाषा का होना मुख्य है। राष्ट्र भाषा के बिना राष्ट्र का बोध हो ही नहीं सकता। जहाँ राष्ट्र है, वहाँ राष्ट्र भाषा का होना लाजिमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना है तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा का प्रचार असम्भव है। इसे हम राष्ट्रभाषा का पद नहीं दे सकते। भाषा ही राष्ट्र साहित्य और संस्कृति का निर्माण करती है, प्रान्तों की सृष्टि करती है। नदियों और पहाड़ों ने राष्ट्रीयता के विकास में जो बाधा पड़ती थी उसे रेल और हवाई जहाजों ने मिटाना शुरू कर दिया है। अगर एक संस्कृति रहते हुए भी एक राष्ट्र भाषा का आधार न रखें तो ऐसा राष्ट्र स्थायी नहीं हो सकता। एक भाषा बोलनेवालों में कभी-कभी विरोध उत्पन्न हो जाते हैं और उनके पृथक् राष्ट्र बन जाते हैं। संयुक्त अमरीका इसका उदाहरण है। किन्तु इसकी केवल एक मिसाल है। इसके प्रतिकूल एक नस्ल एक संस्कृति और एक धर्म के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के अनेक उदाहरण हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि राष्ट्र-निर्माण में भाषा का स्थान सबसे महत्व का है। जमन फ़िलासोफ़र फ़िचे ने भी भाषा ही को मुख्य स्थान दिया है। इस विवाद में गुरुकुल कांगड़ी के दोनों छात्रों के कथन सब से अच्छे रहे और ट्राफ़ी उन्हें प्रदान की गयी। हम उन छात्रा और छात्राओं को जिन्हें पदक मिले उनको सफलता पर बधाई देते हैं।

२६ दिसम्बर १९३२

हिन्दी द्वारा उच्च शिक्षा

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय ने काशी विश्वविद्यालय में उपाधि वितरण के शुभ अवसर पर हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा का समर्थन किया और कहा कि शीघ्र ही विद्यालय में इंटरमीडिएट कक्षा तक हिन्दी द्वारा शिक्षा दी जायगी। हिन्दू विश्वविद्यालय को इस विषय में अग्रसर होना चाहिए था और हमें हर्ष है कि उसमें जो आशा की जाती थी वह पूरी हुई। अंग्रेजी द्वारा शिक्षा लेकर हमारे विद्यालयों में छात्रों का कितना समय नष्ट होता है इसका थोड़ा बहुत अनुभव हम सभी को है। छात्रों को मजबूर होकर इतिहास और भूगोल तक रटना पड़ता है और उनकी सारी शक्ति भाषा तक ही रह

जाती है विषय की ओर ध्यान देने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। हिन्दी माध्यम से यह दोष मिट जायगा। संभव है, इस सुधार से छात्रों का अंग्रेजी पर उतना अधिकार न रह सके वे उतनी अच्छी अंग्रेजी लिख या बोल न सकें। हमारे रईसों में कितने ही तो अंग्रेजी के इतने बड़े भक्त हैं कि वे अपने लड़कों को अंग्रेजों के स्कूलों में पढ़ाते हैं। इन लोगों को शायद यह सुधार अच्छा न लगे लेकिन जब यह सिद्ध होता जा रहा है कि अब शिक्षा का आर्थिक महत्व बहुत कम रह गया है, तो केवल भाषा के पीछे क्यों छात्रों की जिन्दगी बरबाद की जाय। फिर जरमनी फ्रांस जापान आदि देशों में राष्ट्र भाषा में ही शिक्षा दी जाती है। तो क्या वहाँ अंग्रेजी बोलने और समझनेवाले लोग नहीं निकलते?

२६ दिसम्बर १९१२

पुरानी उर्दू

इंशा की 'केतकी कॅंवर कहानी' से तो हिन्दी-संसार परिचित ही है। इंशा अठारहवीं शताब्दी में हुए। उर्दू की बुनियाद उनसे बहुत पहले पड़ चुकी थी। सबसे पहली उर्दू रचना दक्खिन के कुतुबशाह के समय में हुई, जो सत्रहवीं सदी के आदिकाल में गोलकुंडा का बादशाह था। यह विचित्र बात है कि उर्दू का जन्म चाहे उत्तरी भारत में हुआ हो लेकिन सबसे प्राचीन उर्दू रचना दक्खिन में हुई। उस समय की उर्दू का एक नमूना देखिए—

शहंशाह मजालिस किये एक रात
बहारों के फरज़न्द ते सब सँघात।
हरेक खूबसूरत हरेक ख़ुश था
सो हर एक दिलकश हरेक दिलरुबा।
सुराही पियाले ले हातों उमने
नदीमाँ ते महबूब बातों मने।
जो मुतरिब जो सहरा में इस धात गाय
तो फिर उनको इस शौक़ ते हाल आय।
लगे मुत्रिबाँ गाने यों साज़ सों
कि बरती हिले मस्त आवाज़ सों।
जो गावन वह शह को कमाते मने
सो रावाँ परताँ जमाते मने।
शराब हौर सुराही मुकल हौर जाम

हुए मस्त मजलिस के लोगाँ तमाम ।*

कुतुबशाह के पहले मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने (१५८१ १६११) में उर्दू में एक मसनवी लिखी थी। यह शायद पहला आदमी है, जिसने उर्दू में पद्य-रचना की। उसका भी एक नमूना देखिए—

नबी सांवली पर किया है नजर,
खबर सब गँवाकर हुआ बेखबर।
केरा क्रूर तदी निकस बन मुंद सों
ऊमिन कोल मुंबको ज्यिम ज्यौं झमर।
चंद-जगुराई मा-ले दिमन-दिखाई देना।
गजब गाज हौं ज्यों थमे दल हुए,
कमेज पहाड़ों के फुट नल हुए।
एक एक जान एक कौह ना गुर्ज ज्यों
ले हाथों में फिरने मरे गुर्ज ज्यों।
फिरे झम्द लड़ने को सो वीर थे
उमामा हुआ तल उपर मीर थे।
हुआ गुम जिबर का कबर मार-मार,
क्यामत जमीं पर हुआ आशकार।

भावार्थ—जब सेनाएँ क्रोध में आयीं तो पहाड़ों के कमने फट कर पानी हो गए। एक-एक पहलवान एक-एक पहाड़ के समान था जो हाथों में बालक गदा लिये हुए था। जब वे वीर लड़ने चले तो संसार पैरों के नीचे आ गया और सिर ऊपर थे।

जो दरिया सहू का उबलने लगा
गगन उस पै किश्ती हो चलने लगा।

उस समय गगन भी उर्दू में प्रयुक्त था।

दिसम्बर १६१२

दक्षिण में हिन्दी प्रचार

मद्रास और आन्ध्र प्रान्त में हिन्दी प्रचार का काम जितने संगठित और सुचारू रूप से हो रहा है वह सचमुच प्रशंसनीय है। वहाँ इस समय करीब तीन सौ हिन्दी प्रचारक भिन्न-भिन्न केन्द्रों में स्थायी रूप से काम कर रहे हैं। प्रचारक-मण्डल से 'हिन्दी प्रचारक' नाम का एक उपयोगी मासिक पत्र निकलता है प्रतिमास उसका 'प्रचारक

* लै—से हातों मने—हाथ में बातों मने—बात में बात—तरह, थदे—थे हीर—वीर।

सम्मेलन' होता है और सम्मेलन द्वारा 'प्राथमिक' 'मध्यमा' और 'राष्ट्रभाषा' तीन परीक्षाएँ होती हैं जिनकी सर्वप्रियता का अनुमान परीक्षार्थियों की संख्या से किया जा सकता है। इस वर्ष प्राथमिक में दो हजार पाँच सौ चार उम्मेदवार थे जिनमें दो हजार एक सौ उनसठ परीक्षा में बैठे और एक हजार आठ सौ सोलह पास हुए। मध्यमा में एक हजार एक सौ उन्चास बैठे और सात सौ इक्तालीस पास हुए। राष्ट्रभाषा परीक्षा में पाँच सौ उन्यासी बैठे और तीन सौ बयालिस पास हुए। उम्मेदवारों की कुल संख्या चार हजार से ऊपर थी। परीक्षा-केन्द्रों की संख्या दो सौ इक्यासी थी जिनमें एक सौ पचहत्तर केवल आन्ध्र प्रान्त में थे उन्नीस तामिलनाड में बावन केरल में चौंतीस कर्नाटक में और एक बम्बई में। प्रचार की प्रगति का अन्दाजा इससे किया जा सकता है कि गत अक्टूबर के उम्मेदवारों की संख्या उसके एक साल पहले की संख्या से दुगुनी थी। और इस उद्योग में प्रान्त के प्रभावशाली गण्यमान्य सज्जन भी शरीक हैं। जनम सर सी पी रामस्वामी दीवान बहादुर श्री एस सुब्रह्मण्यम ऐयर, जस्टिस ए वैकटराव आदि हैं। 'हिन्दी-प्रेमी-मण्डल' के कार्यक्रम की जो व्यवस्था तैयार की गयी है, उसे देखने से मालूम होता है कि उसके उद्देश्य कितने ऊँचे और क्षेत्र कितना विस्तृत है—

१—सभाएँ और जलसों का आयोजन।

२—हिन्दी कक्षाओं की शिक्षा।

३—प्रचार सभा की परीक्षाओं के लिए विद्यार्थी तैयार करना।

४—स्थानीय स्कूलों और कालेजों में हिन्दी का प्रचार करना।

५—हिन्दी द्वारा बोलकर जनता में हिन्दी के प्रति प्रेम बढ़ाना।

हम मद्रास के हिन्दी-प्रेमियों को उनके उत्साह और लगन पर हृदय से बधाई देते हैं। भारत की राष्ट्रीयता एक राष्ट्रभाषा पर निर्भर है और दक्षिण के हिन्दी-प्रेमी राष्ट्रभाषा का प्रचार करके राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का बोध हो ही नहीं सकता। जहाँ राष्ट्र है, वहाँ राष्ट्रभाषा का होना लाजिमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना है, तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा का व्यवहार अपवाद है इस हम राष्ट्रभाषा का पद नहीं दे सकते। भाषा ही राष्ट्र साहित्य और संस्कृति का निर्माण करती है, आदर्शों की सृष्टि करती है। संस्कृति में एकरूपता होते हुए भी एक राष्ट्रभाषा का आधार न रहे, तो राष्ट्र स्थायी नहीं हो सकता।

दिसम्बर १९३२

तृतीय दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचारक सम्मेलन

राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा चाहे सबसे महत्त्वपूर्ण अंग न हो पर महत्त्वपूर्ण अवश्य है, और यह भी निश्चित है कि हिन्दी के सिवा और कोई प्रान्तीय भाषा भारत की राष्ट्रभाषा बनने का दावा नहीं कर सकती। अतएव दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का काम राष्ट्र-संगठन के लिहाज से बहुत बड़ा काम है। हिन्दी-प्रचार-सभा का अपना विद्यालय है, अपनी पत्रिका है, वह हिन्दी की कई परीक्षाओं की व्यवस्था करती है और पास होनेवाले विद्यार्थियों को उपाधि देती है। उसका वार्षिक सम्मेलन भी होता है और अबकी उसका तृतीय सम्मेलन था जिसके सभापति थे—श्री देवदास गांधी। आपने इस अवसर पर जो भाषण दिया वह बहुत ही विचारणीय उत्साहवर्द्धक और सारगर्भित है। आपने सभा के काम का सिंहावलोकन करते हुए कहा—

'इन चौदह वर्षों में आपको जो सफलता मिली है, उसके लिए मैं आपको बधाई दिये बिना नहीं रह सकता। इस प्रान्त में आप पचपन लाख जनता के पास पहुँच सके हैं जिनमें से चार लाख आदमियों ने हिन्दी का काम चलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया है और तैंतीस हजार आदमी आपकी परीक्षाओं में बैठे हैं। दूसरी बड़े मार्के की बात यह देख रहा हूँ कि आपका काम शहरों तक ही सीमित नहीं है बल्कि देहातों में भी फैला हुआ है। गत अक्तूबर की परीक्षाओं के दो सौ पचासी केन्द्रों में दो सौ से अधिक ग्राम हैं।

देवदास जी का यह प्रस्ताव सर्वथा समर्थनीय है कि दक्षिण भारत के हिन्दी-प्रेमी स्त्री-पुरुष उत्तर भारत का दौरा किया करें। इस प्रान्त में दो-तीन मास रह जाने से केवल आपस में प्रेम और घनिष्ठता ही नहीं बढ़ेगी बल्कि हिन्दी भाषा का वह अभ्यास हो जायगा जो बरसों हिन्दी-पुस्तकें पढ़ने से नहीं प्राप्त हो सकता। अन्य प्रान्त के मजूर मास-दो महीने कलकत्ते में रहकर फर-फर बँगला बोलने लगते हैं। अंग्रेजी बोलने का जैसा अभ्यास इंगलैंड में हो जाता है, वैसा भारत में नहीं हो सकता। हम तो चाहते हैं कि दक्षिण की हिन्दी-प्रचार सभा के इस काम में प्रयाग का साहित्य-सम्मेलन या नागरी-प्रचारिणी सभा भी हाथ बटावें और हर साल अपनी तरफ से दस-बीस हिन्दी प्रेमियों को दक्षिण भेजें।

हुकूमत से हिन्दी प्रचार के विषय में किसी प्रकार की आशा रखना उस पर जरूरत से ज्यादा भरोसा करना है लेकिन खेद है कि प्रान्तीय विद्वान और नेताओं ने अब तक इस विषय में उदासीनता से काम लिया है। हम यह दावा नहीं करते कि हिन्दी भाषा सम्पन्न है। उसका प्राचीन साहित्य तो किसी भी प्राचीन प्रान्तीय साहित्य से बराबरी का दावा कर सकता है, लेकिन नवीन साहित्य में अभी हिन्दी कई प्रान्तीय भाषाओं से पीछे है। लेकिन हिन्दी का दावा उसके साहित्य के बल पर नहीं उसकी

व्यापकता और मुबोधता के बल पर है। और इस बात में कोई भी प्रान्तीय भाषा उसका सामना नहीं कर सकती। अगर अन्य प्रान्तों में भी उसे वही प्रोत्साहन मिला होता जो दक्षिण भारत में मिला है, तो अब तक हिन्दी का बहुत ज्यादा व्यवहार हो गया होता। यदि अन्य प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार स्कूलों में अनिवार्य रूप से होने लगे तो राष्ट्रभाषा की समस्या आसानी से हल हो जाय।

हिन्दी भाषा का भविष्य कितना उज्ज्वल है और उसके प्रचार से राष्ट्र-भावना कितनी बलवान हो जायगी इसकी चर्चा आपने इन बहुमूल्य शब्दों में किया—

हिन्दी से भारतवर्ष के हर प्रकार के शत्रु को सच्चा भय है। जिसको सन्देह हो वह दक्षिण भारत के हिन्दी काम का निरीक्षण करके अपना सन्देह मिटा सकता है। जहाँ-जहाँ हिन्दी की अब जाया है वहाँ-वहाँ ब्राह्मण अब्राह्मण शिक्षित अशिक्षित नागरिक ग्रामीण छोटे-बड़े के भेद टूट पड़े हैं। भाषा के प्रचार के साथ ही साथ एकदम सच्चा ऐक्य स्थापित होने लगा है। आश्चर्य तो यह है कि एक भाषा का आंदोलन इतनी देर लगाकर क्यों शुरू किया गया। किन्तु भगवान् भूतकाल पर अफसोस नहीं करता। उसका तो वर्तमान से ही सम्बन्ध है। आप विश्वास रखें भविष्य उज्ज्वल है।

जनवरी १९३३

हिन्दी ज्ञान यात्री मण्डल की हिन्दी भाषियों से अपील

हम इस अपील को बड़े हर्ष से प्रकाशित करते हैं और हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध करते हैं कि वे हिन्दी ज्ञान यात्री मंडल को प्रोत्साहन दें—

'लगभग पन्द्रह वर्ष हुए, दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन का श्री गणेश हुआ था। इस समय कोई चार सौ हिन्दी-केन्द्र हैं जिनमें अब तक डेढ़ लाख से भी अधिक स्त्री-पुरुष हिन्दी का अध्ययन कर चुके हैं। इस आन्दोलन की सफलता का सारा श्रेय पूज्य महात्मा जी को है। सम्भव है, यह काम प्रारम्भिक प्रचार की दृष्टि से सन्तोषजनक प्रतीत हो परन्तु राष्ट्र-भाषा को यथार्थ में राष्ट्र जीवन का प्राण समझनेवाले हिन्दी-प्रेमीगण शायद ही इससे तृप्त होंगे। कहा जाता है, कि हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन के प्रधान दो पहलू हैं—राष्ट्रीय और साहित्यिक। दक्षिण में इस समय जो हिन्दी-प्रचार हो रहा है वह राष्ट्रीय दृष्टि से सराहनीय है। साहित्यिक पहलू पर अब तक कोई ध्यान नहीं दिया गया है। यही कारण है, इस पन्द्रह वर्ष की लम्बी अवधि में दक्षिण-भारतीयों की हिन्दी ओज-पूर्ण प्रवाहमय या मुहावरेदार नहीं बन सकी। साहित्यिक पहलू पर ध्यान देने के लिए यहाँ तदनुकूल संस्था या व्यक्तियों का नितान्त अभाव है। इस समय दक्षिण भारत

में हिन्दी की सेवा करनेवाले तीन सौ प्रचारकों में उत्तर भारतीयों की संख्या दस-बारह से अधिक नहीं और शेष प्रचारकों में हिन्दी की उच्च योग्यता रखनेवालों की संख्या भी अंगुलियों पर गिनने योग्य है। सबसे बड़े खेद की बात यह है कि न उत्तर भारत के शिक्षित एवं उत्साही नवयुवकों ने इस ओर ध्यान दिया और न ज्ञानवर्धक साहित्य सेवियों ने ही दक्षिणियों पर कृपा दृष्टि रक्खी। हिन्दी भाषियों को राष्ट्र-भाषा के प्रचार की अभिलाषा से ही नहीं अपितु अपनी 'मातृ-भाषा' की मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के विचार से भी दक्षिणियों का साथ देना आवश्यक है। क्रान्ति के इस युग में उन्हें तटस्थ रहकर अपनी मातृ भाषा को सम्भाव्य भविष्यत् की गति-विधि पर क्रियात्मक विचार न करना देश के लिए बड़ा हानिकारक है।

'अभ्यारम्भ' लेकर —इस धारणा के अनुसार न्यूनता को यथाशक्ति दूर करने की दृढ़ प्रतिज्ञा से यहाँ १९३१ ई० को 'हिन्दी-ग्राम-यात्री-मण्डल' नामक आगामियों की एक संस्था स्थापित की गयी। हिन्दी प्रचारक विद्यालय मद्रास के प्रिंसिपल पं० हृषीकेश शर्मा जी महोदय इस संस्था के अध्यक्ष चुने गये जो यद्यपि उस स्थान की शोभा बढ़ा रहे हैं। आप दक्षिण में हिन्दी साहित्य के बड़े पक्षपाती हैं और आपके कृपा पूर्ण प्रोत्साहन से ही प्रति वर्ष कुछ हिन्दी-प्रेमी हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाएँ दे रहे हैं। आपके द्वारा मण्डल को बहुत से हिन्दी-साहित्य-सेवियों की प्रशंसनीय उदारता का परिचय मिला है। पूज्य आचार्य द्विवेदी जी महाराज ने हमारी इस आयोजना को बड़ी ही रमणीय एवं समयोचित बतलाने की कृपा की है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग तथा इसी प्रकार अन्य हिन्दी संस्थाएँ भी हमें यथोचित सहायता देनेवाली हैं। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने अधीन कुछ दक्षिणीय विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ाने का विचार किया है। इसके अतिरिक्त श्री बाबू श्यामसुन्दरदास जी बाबू प्रेमचंद जी श्रीनाथसिंह जी पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय जी पण्डित रामनरेश त्रिपाठी जी प्रोफेसर रामदास जी गौड़ पण्डित हरिशंकर जी शर्मा प्रोफेसर इन्द्र जी श्री मोहनलाल 'महतो वियोगी' पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी आदि महानुभावों ने मंडल के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक बनने का वचन दिया है। विशेष हर्ष की बात यह है कि बाबू संगम लाल जी अग्रवाल एम ए बी एल की कृपा से 'प्रयाग-महिला-विद्यापीठ' में दक्षिण भारत की सेवियों के लिए कुछ विशेष छात्रवृत्तियाँ प्राप्त हुई हैं। हम उक्त महानुभावों तथा संस्थाओं के संचालकों को उनकी समयोचित उदारता के लिए अपना हार्दिक धन्यवाद अर्पण करते हैं। हम प्रतिवर्ष कम से कम दो मद्रासी युवकों को निःशुल्क शिक्षण भोजन या निवास के रूप में आश्रय देनेवाले हिन्दी भक्तों तथा हिन्दी संस्थाओं की अत्यधिक आवश्यकता है। क्योंकि इस समय यहाँ सैकड़ों होनहार किन्तु निर्धन हिन्दी प्रेमी हैं जो कुछ दिनों से उत्तर भारत में ही रह कर हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। हिन्दी प्रचार-आन्दोलन का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है और उसकी सफलता के लिए किसी

ज्ञान से काम करनेवालों की संख्या भी काफी है, परन्तु इन सच्चे राष्ट्र-सेवकों को ज्ञान दान देनेवालों की संख्या अभी सन्तोषजनक नहीं है। अतः शिक्षित हिन्दी-भाषियों से हमारा अनुरोध है कि आप लोग दक्षिण में हिन्दी-भाषा के 'साहित्यिक प्रचार' को आगे बढ़ानेवाले इस आन्दोलन की सहायता करें।

९ अप्रैल १९३३

हिंदुस्तानी एकाडेमी

हमारी संस्थाओं में जहाँ रुपये-पैसे की बात आ जाती है, वहीं काम-कर्त्ताओं में धक्का-मुक्की और खींचतान होने लगती है। एक दल चाहता है कि यह सारे रुपये हमारे मित्रों और सहयोगियों को मिल जाएँ। दूसरा दल अपनी तरफ खींचता है। जिस दल की हार हो जाती है वह गुल गपाड़ा मचाना शुरू करता है और उस संस्था में और उसके जिम्मेदार कार्यकर्त्ताओं में नाना प्रकार के यथार्थ और काल्पनिक दोष निकालने लगता है। अगर वह खुद विजयी होता और जरा भी कान-पूँछ न हिलाता। तब संस्था पूर्णतः निर्दोष होती। मगर चूँकि रेवड़ियाँ बाँटने का अधिकार उसके हाथ में नहीं है, इसलिए उसे उस संस्था में ऐब ही ऐब नजर आने लगते हैं। हिन्दुस्तानी एकाडमी भी उसी तरह की संस्था है। जो काम आज तक कोई न कर सका और जो हरेक को खुश रखता है, वह एकाडेमी करना भी चाहे, तो नहीं कर सकती। हमने इस विषय का राय साहब श्यामसुन्दरदास का पत्र और श्रीयुत ताराचन्द जी द्वारा दिया गया जवाब दोनों ध्यान से पढ़े और हमें यही जान पड़ा कि राय साहब की आलोचना कुछ उसी तरह है जैसी हरेक संस्था के विषय में की जा सकती है। जिस संस्था के राय साहब खुद कर्त्ता-धर्त्ता हैं और जिसे वह आदर्श संस्था समझते होंगे उसके विषय में इससे कड़ी कड़ी आलोचना की जा सकती है। हाँ यदि रायसाहब ने ऐसे उदाहरण दिये होते कि एकाडेमी की कार्यकारिणी कमेटी ने साहित्य-कमेटी की सम्मति के विरुद्ध अमुक लेख को पुरस्कार दिया अमुक वाहियात किताब छपवायी अमुक व्यक्ति का व्याख्यान दिलवाया तो एक बात होती पर उनकी आलोचना में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। रही यह बात कि एकाडेमी सर्वप्रिय नहीं है, उसकी पुस्तकों की और पत्रिकाओं की अच्छी बिक्री नहीं होती यह जरूर बेजा शिकायत है। यद्यपि एक सरकारी या अर्ध सरकारी संस्था होने के नाते एकाडेमी को यह सर्वप्रियता तो प्राप्त नहीं हो सकती जो दूसरी साहित्यिक संस्थाओं को प्राप्त है, फिर भी हमारा यह ख्याल है कि एकाडमी अगर उद्योग करे और अपने आफिशल पब्लिसिटी के काम से तो उसकी प्रकाशित वस्तुओं की खपत ज्यादा हो सकती है। मगर गंभीर विषय की पुस्तकें कहाँ गरम जलेबियों की तरह बिकती हैं और कौन-सी गंभीर पत्रिका

नफ़े पर जमती है? अगर नफ़े का ख़याल किया जाय तो आज सौ में अस्सी पत्रिकाएँ बन्द कर देनी पड़ेंगी। और एकाडमी कोई दूकान नहीं है।

१० अप्रैल १९३२

तिमाही या त्रैमासिक

गत रविवार को हिन्दुस्तानी एकेडेमी के जलसे में 'तिमाही' शब्द पर बड़ी मनोरंजक बहस हुई। बाबू श्यामसुन्दरदास का पक्ष था 'तिमाही पत्रिका' भद्दा और मज़ाक़ का बोधक है। एक मुसलमान साहब 'तिमाही' शब्द को ही टकसाल बाहर बतला रहे थे और इसकी जगह 'सिहमाही' रखना चाहते थे। इन महानुभावों को अभी तक यह नहीं मालूम कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी हिन्दी या उर्दू एकेडेमी नहीं है। उसका नाम ही बतला रहा है कि उसे संस्कृत या फ़ारसी से विशेष प्रेम नहीं है। उसका एक उद्देश्य राष्ट्र-भाषा का निर्माण है और यह तभी हो सकता है, जब हम हिन्दी और फ़ारसी का मोह छोड़कर खुले मन से हरएक भाषा के प्रचलित शब्दों को अपनावें। हिन्दी के लिए नागरी-प्रचारिणी सभा और उर्दू के लिए अंजुमन-तरक़्क़िए उर्दू है। 'तड़ित समाचार' और 'वाष्पयान' पंडितों को मुबारक हो। जनता को तो अपना 'तार' और रेलगाड़ी ही पसन्द है।

१२ नवम्बर १९३२

एक हिन्दी-साहित्य विद्यालय की ज़रूरत

जब से मद्रास-प्रान्त में हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा है, वहाँ से सैकड़ों युवक हिन्दी साहित्य का ज्ञान बढ़ाने के लिए इलाहाबाद और काशी में आने लगे हैं, लेकिन यहाँ ऐसी कोई संस्था नहीं है, जो उन्हें आश्रय दे सके। काशी में दीन-साहित्य-विद्यालय है, पर किसी तरफ़ से कोई सहायता न पाने के कारण उसकी दशा सुव्यवस्थित नहीं है। उसके संचालक यथावकाश अपना कुछ समय देते हैं और जो कुछ करते हैं वह भी ग़नीमत है। हिन्दी प्रचार का ठीका कुछ उन्होंने तो लिया नहीं है कि सारा दायित्व उन्हीं पर रख दिया जाय। इलाहाबाद का हिन्दी विद्यापीठ भी कुछ इसी दशा में है। यूनिवर्सिटियों में साहित्य-शिक्षा का प्रबन्ध है, पर उससे ऐसे विद्यार्थी क्या लाभ उठा सकते हैं। वह तो यूनिवर्सिटी के छात्रों ही के लिए है। ज़रूरत एक विद्यालय की है, जिसमें नियमित रूप से शिक्षा दी जाय, हिन्दी के विद्वान अध्यापक हों और छात्रों के रहने का भी प्रबन्ध हो। दस-पाँच छात्र-वृत्तियाँ भी हों तो और भी अच्छा। हमारे यहाँ आए दिन हाई स्कूल खुलते रहते हैं, जिनकी अब न कोई ज़रूरत है न कोई उपयोगिता। क्या ही

अच्छा हो कि किसी विद्यादानी का ध्यान इधर आकृष्ट हो जाय। अगर देहली-साहित्य सम्मेलन में यह प्रश्न उठाया जाय और ऐसे विद्यालयों की जरूरत दिखायी जाय तो संभव है धनिकों को ध्यान हो। अगर इस तरह का कोई विद्यालय हिन्दू-विश्व-विद्यालय में खोला जाय तो एक बहुत बड़ी कमी पूरी हो जाय। क्या यह लज्जा की बात नहीं कि हिन्दी के प्रधान केन्द्र में एक भी ऐसा हिन्दी विद्यालय न हो जहाँ हिन्दी-साहित्य की ऊँची पढ़ाई हो सके? और हिन्दी को हम राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं। अन्य प्रान्तों में हिन्दी से जो रुचि पैदा हो गयी है, यदि हमारी अकर्मण्यता से वह ठंडी पड़ गयी तो फिर राष्ट्र भाषा का स्वप्न बहुत दिनों के लिए भंग हो जायगा।

२५ दिसम्बर १९३३

लेडी अब्दुल कादिर का राष्ट्र-भाषा प्रेम

खुदा भला करे लेडी अब्दुल कादिर का जिन्होंने कलकत्ता में महिला सम्मेलन का निमन्त्रण करते हुए इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत में राष्ट्र-भाषा का प्रचार होना चाहिए। हम आपके इस कथन से पूरी तरह सहमत हैं कि हरेक प्रांत में राष्ट्र-भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी भी पाठ्य-क्रम में आवश्यक बना दी जाय। आपने अपना भाषण उर्दू में लिखा था पर वहाँ उर्दू समझनेवाली बहुत कम महिलाएँ थीं इसीलिए आपको उसका अनुवाद करना पड़ा। भारत के अधिकांश भागों में हिन्दुस्तानी बोली और समझी जाती है, उर्दू में लिखी जाय या हिन्दी में। मद्रास में उसका प्रचार हो रहा है। मैसूर में भी शुरू हो गया है। बंगाल अभी तक पुट्ठे पर हाथ नहीं फेरने देता हालाँकि बंगाल के कई विद्वान हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान और लेखक हैं। 'भाषा' नाम की पत्रिका के सम्पादक बंगाली सज्जन हैं। कई बंगाली देवियाँ भी हिन्दी की कुशल लेखिकाएँ हैं उनमें श्रीमती अन्ना मित्र का नाम उल्लेखनीय है। उनके गल्प छोटी की पत्रिकाओं की शोभा बढ़ाते हैं। जब तक एक राष्ट्र-भाषा नहीं बन जाती तब तक एक राष्ट्र कैसे बने।

१ जनवरी १९३४

काश्मीर की एसेम्बली में उर्दू

काश्मीर में नयी व्यवस्थापिका की जो योजना प्रकाशित हुई है, उसमें जमींदारों और महाजनों के लिए विशेष निर्वाचन नहीं रखा गया है और यहाँ अंग्रेजी सरकार जमींदारों की रक्षा के लिए एक द्वितीय सभा आवश्यक समझ रही है। यह कौन नहीं जानता कि निर्वाचन में अधिकतर जमींदार और धनवान ही कामयाब होते हैं, इसलिए

इन समुदायों के लिए विशेष निर्वाचन की व्यवस्था वास्तव में उन्हें दोहरा निर्वाचन देना है। इसके साथ ही काश्मीर-सरकार ने बहुमत का आदर करके वहाँ की व्यवस्थापिका सभा की सारी कार्रवाई उर्दू में करने का निश्चय किया है। एसेम्बली के मेम्बरों के लिए उर्दू का ज्ञान आवश्यक रखा गया है। उर्दू काश्मीर के मुसलमानों की भाषा हो या न हो, लेकिन उन्हें उर्दू से प्रेम है। अतएव सरकार ने उनके भावों का आदर करके वही किया है, जो उसे करना चाहिए था। हमारी व्यवस्थापिका सभाओं में क्यों बहुमत की भाषा का प्रचार नहीं किया जाता? यहाँ क्यों सारी कार्रवाई अँग्रेजी में की जाती है?

२९ जनवरी १९३४

तेईसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन पर एक दृष्टिपात

उत्थान-पतन की राजधानी दिल्ली नगर का बहुप्रतीक्षित सम्मेलन प्रतिवर्ष के समान आखिर समाप्त हो गया। एक आतुर और पैनी दृष्टिवाला दर्शक सम्मेलन के चार दिनों की कार्यवाही को देखकर सहसा यह कहना चाहता कि 'निराकार परमात्मा जब साकार होते हैं तब शायद संसार के ईश्वरवादियों को ऐसी ही निराशा हुआ करती है।' सम्मेलन पर सन्तोष दृष्टि से इस टिप्पणी में इतना लिख देना ठीक होगा। आगे की पंक्तियाँ उसकी प्रकाशित कार्यवाही की चरितार्थता पर लिखी जायेंगी क्योंकि सम्मेलन के लिए हिन्दी-संसार के हृदय में पहले ही से बहुतेरी धारणाएँ थीं या वों तो हास्यास्पद मालूम होती थीं परन्तु आज जब पाटौदी-हाउस प्रतिनिधियों की हाहा-हीही से शून्य और धीरे धीरे रिक्त हो रहा है, तब बिक्रीवाली प्रदर्शिनी की पुस्तकों से उनकी वे आशंकाएँ बोझ-सी प्रतीत हो रही हैं। जो कुछ भी हो सम्मेलन हो गया बहुतेरे प्रस्ताव स्वीकृत कर लिये गये परिषदें हो गयीं—मानो विघ्न समाप्त भये। इतना तो अवश्य है कि इस बार सम्मेलन की आत्मा की भूख नायक-नायिकाओं के रूप की भूख न थी उसकी क्षुधा थी मदमस्त कर उठते हुए राष्ट्र को जाग्रत करती हुई आशा की। सम्मेलन का प्रत्येक प्रतिनिधि जो इस युग में रहता है, चाहता था कि जल्दी से जल्दी हिन्दी सारे भारत की भाषा बन जाय। सम्मेलन ने चार दिन तक मेला लगाकर, धूम मचाकर और अपरम्पार धन-आदर हमें यह सुझाने की चेष्टा की कि शीघ्र से शीघ्र हिन्दी की उन्नति कर ले प्रत्येक भारतवासी के हृदय मन-मस्तिष्क की अभिव्यंजना का प्रभावशाली माध्यम बन जाय। अस्तु, सम्मेलन के प्रति दिवस के विस्तृत वर्णन समाचार पत्रों में प्रकाशित हो रहे हैं परन्तु 'भारत' के पाठकों को आँखों देखा इतिवृत्त—थोड़ा सा भी शान्ति से लिखा हुआ—अधिक रुचेगा।

८ अप्रैल, १९३४

प्रथम दिवस

थके हुए प्रतिनिधियों और गण्यमान्य सज्जनों के साथ सूचनानुसार जुलूस निकला। जैसा कि प्रधान मन्त्री श्री पत्तूलाल जी का कथन था जुलूस का उद्देश्य नगर की मुख्य-मुख्य सड़कों पर घूम-घाम कर प्रदर्शिनी के उद्घाटन समारोह को समारोहपूर्ण बनाना था। कविवर अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध' ने प्रदर्शिनी का उद्घाटन किया। उद्घाटन के पूर्व उनके भाषण ने जहाँ मनोरंजन किया वहाँ एक तरह से लोगों के मन में 'धार्मिक उपदेश' की भावनाएँ भी पैदा कर दीं। प्रदर्शिनी न तो बुकसेलर का बुक-स्टाल ही थी न हिन्दी पुस्तक एजेन्सी की दुकान हो। वह एक छोटा-मोटा संग्रहालय-सा था जिसने अच्छे हिन्दी संसार की आँखें उतनी न खोलीं जितना उसने पुस्तक प्रकाशकों का विज्ञापन और लेखकों के मन की गौरवपूर्ण प्रशंसा का आगरण किया। भोजनोत्तर, विषय निर्वाचिनी की बैठक हुई। इस बैठक में वह जोश दिखता था जो भोजनोपरान्त किसी प्रस्ताव को बनाने में प्रकट होता है। प्रस्तावों के निर्माण और उनकी स्वीकृति के बाद मुख्य सम्मेलन का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। कैसे संभव है कि केसरिये रंग से रंगी हुई साड़ियाँ पहने हुए बालिकाओं का मंगल गान उन स्वयंसेवकों को न मोह सका हो जो पास देखने में उतना ही उत्साह दिखा रहे थे जितना उत्साह एक सार्जेन्ट पारष्ट दिखाने में प्रकट करता है। पण्डाल में लगी हुई विगत सभापतियों की तसवीरें मोटे-मोटे अक्षरों में लिखे हुए भावुक वाक्य और प्रतिनिधियों विशिष्ट व्यक्तियों के कुर्तों-कोटों पर लगे हुए लाल-आसमानी फूल सब कोई मानों पुष्प-सा हो उठे। एक निराशावादी दर्शक को उपस्थित देखकर यह भले ही प्रतीत हो कि मुख्य अधिवेशन प्रान्तीय अधिवेशनों से भी गया-बीता दीखता था परन्तु सभापति स्वागताध्यक्ष आदि के सन्देशवाहक भाषण यह बता रहे थे कि सम्मेलन भारत की एक लम्बी और युगातीत इच्छा को प्रकट कर रहा है। श्रीमान् बड़ौदा नरेश का एक लिपि के प्रयोग का निर्देश श्रीमान् घनश्यामदास बिड़ला का हिन्दी को व्यापक बनाने का आदेश परीक्षा-विभाग की भी वृद्धि के साथ-साथ सम्मेलन की काया वृद्धि के समाचार ध्यान देने योग्य थे। शाम को भी दोपहर की भाँति विषय निर्वाचिनी की बैठक हुई। रात के ग्यारह बजे तक प्रस्तावों का निर्माण होता और उनकी स्वीकृति होती रही।

२ अप्रैल १९३४

दूसरा दिन

प्रातःकाल डेढ़ घंटा देरकर साहित्य-परिषद् का अधिवेशन हुआ। सभापति श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी के भाषण ने साहित्य और राष्ट्रीय जीवन के अन्योन्य उत्तरदायित्व

को बताते हुए साहित्य की वास्तविक शक्ति को सामने रखा। उनके भाषण की कुछ पंक्तियाँ वर्तमान साहित्य के लिए प्रेरणा का काम करती हैं। इसके बाद प्रेमचंद जी नवीन जी आदि के भाषण हुए। इन भाषणों में साहित्य को जनता के जीवन के साथ साथ चलता हुआ बताया और हिन्दी साहित्य में व्यापकता एवं राष्ट्रीयता को लाने के लिए आवश्यकता बतायी। मध्याह्न को विषय-निर्वाचनी की बैठक हुई और चार बजे से मुख्य सम्मेलन का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। श्रीयुत जयचंद विद्यालंकार को विधि-पूर्वक मंगलाप्रसाद पारितोषिक देने की घोषणा की गयी। रात्रि को इतिहास परिषद् की बैठक हुई जिसमें महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा श्रीयुत जयचंद विद्यालंकार आदि के भाषण हुए।

१ अप्रैल १९३४

तीसरा दिन

प्रातःकाल श्रीयुत गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के सभापतित्व में दर्शन परिषद् की बैठक हुई। आपके लम्बे सारगर्भित भाषण के बाद अन्य विद्वानों ने भाषण दिये। दर्शन परिषद् ने एक स्वर से दर्शन शास्त्र के अध्ययन की सिफारिश करते हुए यह निर्धारित किया कि साहित्य-सम्मेलन दर्शन शास्त्र पर पुस्तकें लिखवाये और प्रकाशित करे। मध्याह्न को विषय-निर्वाचनी की बैठक हुई और शाम को चार बजे मुख्य अधिवेशन प्रारंभ हुआ। विद्यार्थियों को उपाधि-पत्र दिये गये प्रस्ताव पास किये गये जिसमें भाषा के व्याकरण की त्रुटियों पर विवेचना करते हुए टंडन जी ने भाषा-सुधार पर जोर दिया। रात्रि को विज्ञान परिषद् की बैठक हुई जिसमें सभापति श्री रामदास जी गौड़ के सुन्दर मार्मिक भाषण के उपरान्त डा॰ गोरखप्रसाद जी श्रीयुत दीनानाथ चुर्टम आदि विद्वानों के "देशकाल नियम' आदि विषयों पर भाषण हुए।

२ अप्रैल १९३४

चौथा दिन

प्रातःकाल नारी सम्मेलन और सम्पादक-सम्मेलन की बैठक हुई। सम्पादक-सम्मेलन में कई एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए। नारी सम्मेलन में श्रीमती कमला बाई किबे ने सभानेत्री की हैसियत से बहुत ही मनोरंजक अनुभव-पूर्ण भाषण दिया। प्रेमचंद जी श्रीनाथसिंह, जैनेन्द्र कुमार, माखनलाल चतुर्वेदी आदि के भाषण भी हुए।

॥ चौथा दिन ॥

गान सम्मेलन में श्रीमती रत्नकुमारी देवी का 'संदेश' नामक गान के अतिरिक्त ऐसा मालूम होता था कि साहित्यिक पहलवानों को खासी पछाड़ मिल गया हो। मध्याह्न को समयानुसार विषय-निर्वाचिनी की बैठक हुई। शाम को मुख्य अधिवेशन में प्रस्तावों की स्वीकृति के साथ-साथ शुकदेव बिहारी मिश्र चतुरसेन शास्त्री आदि के शास्त्रीय और सजीव भाषण हुए। पाँच लाख के फंड की योजना का महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और इंदौर का आमंत्रण भी स्वीकार किया गया। रात्रि को श्रीमहादेवी जी वर्मा एम ए के सभानेतृत्व में कवि-सम्मेलन हुआ। कवि-सम्मेलन में अनेक कवि थे और प्रायः तीन चार हजार जनता उपस्थित थी। श्रीयुत बच्चन माखनप्रसाद सेठी (इन्दौर) राजकुमारी चौहान आदि की कविताएँ सुन्दर थीं। बाकी जो कवि थे जनता के द्वारा अच्छी तरह 'हूट' किये गये। रात के डेढ़ बजे तक कवि-सम्मेलन होता रहा।

इस प्रकार सम्मेलन सानन्द समाप्त हुआ। स्वागत-कारिणी के प्रबंध कर्त्ताओं का प्रबंध प्रशंसायुक्त था। सम्मेलन की तैयारियाँ भी ठीक थीं। यह बात दूसरी है, कि पास ही के रायल सिनेमा में अधिक भीड़ रहती थी। हिन्दी-प्रेमी-यात्री दल की उपस्थिति से किसी सम्मेलन के आधिपत्य की महत्ता घटती नहीं, वरन् बहुत बढ़ जाती है।

२ अप्रैल १९३४

बे-राष्ट्र-भाषा का राष्ट्र

कोई समय था जब धर्म की एकता ही मनुष्यों के एकीकरण का मुख्य साधन थी और एक धर्म के माननेवाले बहुधा सामाजिक और सांस्कृतिक बातों में भी एक ही जाते थे। समाज और संस्कृति जीवन और दृष्टिकोण सभी का उद्गम धर्म था। लेकिन नयी जागृति ने धर्म को उस ऊँचे स्थान से हटा दिया और उसकी जगह पर जिन व्यवस्थाओं को बिठाया उनमें भाषा अगर मुख्य नहीं है, तो किसी से पीछे भी नहीं है। आज हरेक कौम की अपनी एक भाषा है। अमेरिका की कौमी जबान रखने पर भी दो कौमें हैं। दक्खिन अमेरिका में कई कौम स्पेनी और पुर्तगाली भाषा बोलती हैं फिर भी वे अलग-अलग राष्ट्र हैं। राष्ट्रों के निर्माण में भौगोलिक परिस्थितियाँ ही मुख्य हो गयी हैं मगर भाषा भी उन्हीं भौगोलिक परिस्थितियों से बनती है। एक खास इलाके के रहने वाले एक खास जबान बना लेते हैं या यों कहो कि कुछ प्राकृतिक शक्तियाँ आप ही आप उनकी एक आम जबान बना देती हैं। इस सिद्धान्त से कभी कभी दस-दस पाँच-पाँच कोस में बोली बदल जाती है लेकिन थोड़ा बहुत अन्तर होते हुए भी इन बोलियों में कुछ समानता रहती है और वही समानता एक ऐसी भाषा के रूप में संगठित हो जाती है जिसमें साहित्य की रचना होने लगती है और वही समय पाकर उस प्रान्त या देश की कौमी

ज़बान बन जाती है। आज बिहार, संयुक्त प्रदेश, पंजाब, अल्मोड़ा, सी० पी०, राजपूताना आदि प्रान्तों की बोलियों में काफ़ी अन्तर होते हुए भी हिन्दी अपनी सामर्थ्य के कारण इन प्रान्तों की माध्यम बनी हुई है। हम अपने खास इलाके के बाहर वालों से बातचीत या पत्र व्यवहार करने में हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं। अगर उर्दू को भी हिन्दी में मिला लिया जाय—क्योंकि जहाँ तक बोली का सम्बन्ध है इन दोनों भाषाओं में कोई अन्तर नहीं—तो हिन्दी बोलनेवालों की संख्या पन्द्रह करोड़ से कम नहीं है और समझनेवालों की संख्या तो इससे कहीं ज़्यादा है। आश्चर्य है कि अभी तक यह क्यों क़ौमी ज़बान नहीं बन गयी। कुछ दिन पहले तक तो अन्य प्रान्तीय भाषाएँ अपने उन्नत साहित्य के बल पर यह स्थान लेने का दावा करती थीं लेकिन अनुभव ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी ही में यह क्षमता है कि वह क़ौमी ज़बान बन सके। बात यह है कि अभी तक हमने इस विषय की ओर ध्यान नहीं दिया। दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम ज़ोरों से हो रहा है। अगर और प्रान्तों में भी प्रचार किया जा सकता तो अब तक मंज़िल हमारी आँखों के सामने होती लेकिन अब तक हमारी कोशिश परीक्षाओं तक ही बन्द रही। इस क्षेत्र में जो संस्थाएँ काम कर रही हैं उन्होंने साहित्य-निर्माण का काम हाथ में ले लिया जिसमें उन्हें बिलकुल सफलता नहीं हुई क्योंकि वे साहित्य-संस्थाएँ नहीं बनाया करतीं या पुराने कवियों के ग्रन्थों के खोजने में समय और शक्ति का दुरुपयोग किया क्योंकि जिस तरह का साहित्य वे कर्मों में निकाल सके वह आजकल की ज़रूरतों को पूरा नहीं करता। हिन्दी उर्दू का व्यर्थ का झगड़ा मसला खड़ा कर दिया गया। ज़रूरत थी कि जिस तरह दक्षिण में हिन्दी प्रचार का काम हो रहा है, उसी तरह अन्य प्रान्तों में भी होता। और सबसे बड़ी ज़रूरत इस बात की थी कि हमारा राष्ट्रभाषा परिषद् होता जिसकी हरेक प्रान्त में शाख होती। उस परिषद् में हम प्रत्येक प्रान्त के साहित्यिक मासिकपत्रिका का निर्माण कर सकते और साहित्य का निर्माण भी कर सकते और उनकी सलाह और सहयोग से राष्ट्रभाषा का प्रचार ही न बढ़ाते बल्कि राष्ट्र साहित्य का निर्माण भी कर सकते। राष्ट्र के लिए राष्ट्र भाषा जितनी ज़रूरी है, उतना ही ज़रूरी राष्ट्र-साहित्य भी है। और साहित्य संस्कृति का एक प्रधान अंग है। पहले इस तरह के परिषद् की ज़रूरत न समझी जा रही हो लेकिन आज लोगों को यह ख़याल पैदा होने लगा है। हमारी समझ में यह बात आ गई है कि जब तक हम अन्य भाषाओं के लेखकों को हिन्दी में लाने का निमंत्रण न दें और हमारे यहाँ ऐसे सम्मेलन न होंगे जिनमें सभी भाषाओं के लेखक और विद्वान हों और अपने अनुभव और प्रतिभा से एक दूसरे को प्रभावित करें, हम राष्ट्र का निर्माण न कर सकेंगे। अभी तक हमारे यहाँ जो कुछ है वह प्रान्तीय है, उस पर राष्ट्र की छाप नहीं है। इस दोष को दूर करने के लिए हमें शीघ्र ही ऐसा आयोजन करना चाहिए जो भारत की साहित्यिक प्रतिभा को एकत्रित कर सकें। हमें विश्वास

साहित्यकार खुशी से हमसे सहयोग करेंगे क्योंकि राष्ट्रभाषा में लिखकर वे अपने विचार क्षेत्र को कहीं ज्यादा फैला सकेंगे। जब हमारी राष्ट्र भाषा होगी हमारा राष्ट्र-साहित्य होगा तभी अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं की मजलिस में हमें स्थान मिल सकेगा। मद्रास के मासिक पत्र 'त्रिवेणी' में एक बंगाली विद्वान् ने इसी विषय पर अपने विचारों को प्रकट करते हुए कहा है—

प्रान्तीय भाषाएँ अपनी-अपनी विशेष रचना शैली पर चलती हैं। इसमें कोई हानि भी नहीं। लेकिन हम कभी सच्ची राष्ट्र-संस्कृति न उत्पन्न कर सकेंगे जो प्रान्तीय संस्कृति से भिन्न हो जब तक हम देश के चुने हुए साहित्यिक रचयिताओं की सलाह, दामिन्य और प्रकाशन न मिले। यही लोग कला के ऊँचे आदर्श हमारे सामने रख सकते हैं।

महाराजा साहब बड़ौदा ने अपने भाषण में आदि से अन्त तक इसी बात पर जोर दिया कि हिन्दी को क्यों और कैसे राष्ट्र भाषा बनना चाहिए। महाराजा साहब ने हिन्दी को अपने राज्य की सरकारी भाषा का स्थान दिया है इसलिए उनका कथन और भी महत्व रखता है। लेकिन हम आप के इस खयाल से सहमत नहीं हैं कि हिन्दी केवल सामान्य भाषा के रूप में ही राष्ट्र भाषा हो सकती है। विद्वान् लेखक अपनी प्रान्तीय भाषा को छोड़कर हिन्दी में लिखना न पसन्द करेंगे। लेकिन जिसमें लिखने की प्रतिभा है, उसके लिए भाषा कोई रुकावट नहीं हो सकती। हिन्दी जैसी सरल भाषा को अपना लेना विद्वानों के लिए केवल दिनों की बात है। जब उन्हें हिन्दी द्वारा विस्तीर्ण क्षेत्र मिलेगा तो वे प्रान्तीय भाषाओं में लिखने पर भी अपनी अच्छी से अच्छी रचनाएँ हिन्दी में भी करेंगे। जिस तरह योरोप में प्रवेश पाने के लिए किसी रचना का अंग्रेजी या फ्रेंच में आना आवश्यक है, उसी तरह भारत की जनता के सामने आने के लिए उन हिन्दी में लिखना आवश्यक हो जायगा लेकिन अगर थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि साहित्यकारों को अपनी भाषा का मोह हिन्दी में न लिखने देगा तो भी उन विद्वानों के सत्संग और परामर्श से लाभ तो उठाया ही जा सकता है। ऐसे सम्मेलनों से प्रत्यक्ष लाभ जितना होता है, उससे कहीं ज्यादा अप्रत्यक्ष लाभ होता है, जिससे विचारों में प्रगति आ जाती है, दृष्टिकोण बदल जाता है, और ऐसे संबंध पैदा हो जाते हैं, जिनके सामने प्रांतीय दुर्भावनाएँ आप ही आप मिट जाती हैं।

शायद संसार में भारत ही एक ऐसा देश है, जिसकी अपनी कौमी जबान नहीं है। आज एक बलवान केन्द्रीय शासन के सिवा हमें एकता में बाँधनेवाली क्या चीज है? भ्रम में शक्ति नहीं वह चीज राष्ट्र भाषा ही हो सकती है।

६ अप्रैल १९५४

हिन्दी का दावा

किसी राष्ट्र को बनाने के लिए संस्कृति की समानता जरूरी होती है। भाषा और साहित्य संस्कृति का मुख्य अंग है। जब तक एक भाषा और एक साहित्य न हो एक राष्ट्र की कल्पना नहीं हो सकती। जब तक कौम में अपने विचारों के फैलाने की कोई एक भाषा न हो वह कौम नहीं कहला सकती। भारत में कई सम्पन्न प्रान्तीय भाषाओं के होते हुए हम जो हिन्दी को राष्ट्र भाषा का स्थान देना चाहते हैं वह इस लिए कि वह भारत में अधिकतर समझी जाती है और किसी प्रान्त में उसको आसानी से सिखाया जा सकता है। बंगला बहुत सम्पन्न भाषा है, लेकिन बंगाल के बाहर उसे कोई समझ नहीं सकता। यही हाल मराठी गुजराती और अन्य भाषाओं का है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो सारे भारत में फैली हुई है। दक्षिण में बेशक उसकी पहुँच नहीं थी लेकिन अब हिन्दी प्रचार आन्दोलन ने वहाँ भी उसके समझने और बोलनेवाले लाखों की तादाद में पैदा कर लिये हैं। इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्र भाषा हिन्दी हमारी इस प्रान्तीय हिन्दी के रूप से बहुत कुछ भिन्न होगी। उसमें सभी प्रान्तीय भाषाओं के शब्द और मुहावरे मिले होंगे और वह हिन्दी व्याकरण के नियमों को भी कभी-कभी तोड़ दिया करेगी। उस दशा में उसका रूप कुछ-कुछ मेरठ और दिल्ली की प्रचलित भाषा से मिलता होगा। उसे हिन्दी कहो या उर्दू, अन्तर बोलने में बहुत कम केवल लिखने में होगा। इस विषय में सहयोगी अर्जुन कहता है—

उसके विषय में इतना कह देना काफी है कि उर्दू और हिन्दी भाषा के रूप लग लग समान हैं लिपि का भेद अवश्य है, परन्तु लिपि का निर्णय तो सीखनेवाले की सहूलियत से ही होगा। जो लिपि भारत के अधिकतर प्रान्तों में आसानी से सीखी जा सकेगी वही राष्ट्र लिपि बन जायगी। कुछ समय के लिए दोनों ही लिपियाँ साथ-साथ भी रह सकती हैं। यही कारण है कि हिन्दी के हिमायती कभी यह माँग पेश नहीं करते कि किसी स्थान से उर्दू को निर्वासित करके हिन्दी को स्थान दिया जाय। वह तो यही चाहते हैं कि जहाँ अभी हिन्दी को स्थान नहीं मिला वहाँ उसका मार्ग खोल दिया जाय।

२२ अप्रैल १९३४

उपभाषाओं का उद्धार

हमें यह देखकर आश्चर्य भी हुआ और खेद भी कि कहीं-कहीं प्रान्तों की उप-भाषाओं में जान डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। अवधी ब्रजभाषा बुन्देलखण्डी और भोजपुरी यही प्रायः हिन्दी में शामिल समझी जाती हैं और इन भाषाओं के पास अपना ना साहित्य मौजूद है। अवधी और ब्रजभाषाओं का तो क्या कहना। हिन्दी साहित्य

॥ उपभाषाओं का [illegible] ॥

में जो कुछ है वह इन्हीं दोनों उपभाषाओं में है। तो क्या यह मंशा है कि बोलियों को साहित्य का रूप दिया जाय? बोलियों में जो कुछ साहित्य है, वह ग्राम गीतों में सुरक्षित है और ग्राम गीत एकत्र करने से अगर उन बोलियों की रक्षा हो सकती है तो हम इस आन्दोलन के साथ हैं। लेकिन यह ख्याल कि भोजपुरी, तिरहुती और प्रान्त की एक-एक बोलियों में साहित्य की रचना की जाय और उसके पत्र निकलें, शक्ति के अपव्यय के सिवा कुछ नहीं है। पन्द्रह करोड़ आदमी जिस भाषा को बोलते समझते और लिखते हैं, वह तो अभी साहित्य नहीं बना सकी, उपभाषाएँ यह चमत्कार कैसे कर दिखायेंगी जिनके बोलने और समझनेवाले लाखों ही तक रह जाते हैं।

२२ अप्रैल १९३४

हिन्दी उर्दू और हिन्दोस्तानी

ऊपर दिये हुए नाम से प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने स्व० पं० पद्मसिंह जी शर्मा का वह भाषण पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया है, जो उन्होंने मार्च ३२ में एकेडेमी में दिया था। शर्मा जी हिन्दी और संस्कृत के ही नहीं फारसी और उर्दू के भी प्रकांड पंडित थे और उनका भाषण जितने खोज और परिश्रम से लिखा गया है उतना ही मनोरंजक भी है। आपने पहले भाग में यह दिखाया है कि हमारी भाषा का पुराना नाम हिन्दी था और अमीरखुसरो के वक्त तक 'उर्दू' का प्रयोग ही न हुआ था। अमीरखुसरो ने 'खालिक बारी' में बार-बार 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग किया है। कवि 'मीर' के ज़माने में 'रेख़्ता' शब्द का व्यवहार शुरू हुआ। 'उर्दू' शब्द का व्यवहार अठारहवीं सदी से पहले कहीं नहीं पाया जाता। शायद इसका कारण यह है कि उस वक्त हिन्दी में फारसी और अरबी के शब्द इतनी कसरत से न आये थे। जब फारसी और अरबी शब्दों की खूब भरमार हो गयी तो हिन्दी के दो भिन्न-भिन्न रूप हो गये और अब तक वही नाम चला जाता है। हिन्दुस्तानी शब्द का व्यवहार अंग्रेजी राजकाल में शुरू हुआ है और अब यह उस मिली-जुली भाषा का पर्याय है, जो जन साधारण की भाषा है और जिसमें फारसी-अरबी के वह सभी शब्द धड़ल्ले से प्रयुक्त हो जाते हैं जो आम तौर पर बोले जाते हैं। उसका सबसे नया नाम राष्ट्र-भाषा हो गया है।

फारसी लिपि का प्रचार तो उसी वक्त से हो गया जब मुसलमानों का भारत पर अधिकार हुआ। शाही फर्मान, पत्र-व्यवहार आदि और सारा अदालती काम फारसी लिपि में होता था। पढ़े-लिखे हिन्दुओं को भी फारसी सीखनी पड़ती थी और जिस तरह आज भी अंग्रेजी पढ़े लोग बहुधा अंग्रेजी में ही निजी पत्र-व्यवहार करते हैं क्योंकि अंग्रेजी लिखना उन्हें हिन्दी लिखने से आसान मालूम होता है, उसी तरह उस वक्त भी निज के कामों में फारसी लिपि का व्यवहार होने लगा।

उर्दू और हिन्दी व्याकरण में धीरे-धीरे भेद बढ़ता जा रहा है। मौलवी लोग व्याकरण को फ़ारसी की तरफ़ खींचते हैं और पण्डितवृन्द संस्कृत की ओर। शर्मा जी ने राजा शिवप्रसाद और मौलवी अब्दुलहक़ के लेखों से प्रमाण देकर यह दिखाया है कि उर्दू हिन्दी के व्याकरण में जो भेद है वह उन दोनों को अलग-अलग रास्तों पर चलने के लिए मजबूर कर रहा है। मौलवी अब्दुलहक़ साहब फरमाते हैं—

'हमारे यहाँ अब तक जो पुस्तकें व्याकरण की प्रचलित हैं उनमें अरबी व्याकरण का अनुसरण किया गया है। उर्दू ख़ालिस हिन्दी ज़बान है और इसका सम्बन्ध सीधा आर्य-भाषाओं से। इसके विरुद्ध अरबी भाषा का ताल्लुक़ सेमिटिक भाषाओं के परिवार से है, इसलिए उर्दू का व्याकरण लिखने में अरबी ज़बान का अनुकरण किसी तरह जायज़ नहीं। दोनों ज़बानों की विशेषताएँ पृथक्-पृथक् हैं जो विचारने से स्पष्ट प्रतीत हो जायेंगी।

इस उद्धरण से मालूम होता है कि मुसलमान विद्वान् हिन्दी-उर्दू के व्याकरण भेद को कितना दूषित समझते हैं और किस तरह इस भेद को मिटाना चाहते हैं। एक दूसरे मुसलमान मौलाना वहीदुद्दीन सलीम का कथन भी विचार करने योग्य है—

'हमारे बाज़ दोस्त उर्दू ज़बान के ग़ैर आरियाई होने का सबूत अजीब तरह देते हैं। वह उर्दू ज़बान की किसी किताब को उठाकर उसमें से थोड़ी-सी इबारत कहीं से इंतख़ाब कर लेते हैं और उस इबारत में अलफ़ाज़ गिन कर बताते हैं कि देखो इसमें अरबी के अलफ़ाज़ बमुक़ाबला फ़ारसी और हिन्दी के ज़्यादा हैं।

मगर 'फरहंग आसफ़िया' से पता चलता है कि हमारी ज़बान में हिन्दी के अलफ़ाज़ तमाम ज़बानों से ज़्यादा हैं। और जो हज़रात हमारी ज़बान को खींच तानकर अरबी की तरफ़ ले जाना चाहते हैं वह एक ऐसी ग़लती करते हैं जिससे इस ज़बान की प्रकृति बिगड़ जायगी।

लिपि-भेद आजकल हमारी एक बड़ी जटिल समस्या है। हम हमने धार्मिक और राजनैतिक महत्त्व दे रखा है। यह तो कुछ-कुछ सम्भव जान पड़ता है, कि फ़ारसी-अरबी के और संस्कृत के शब्दों का व्यवहार कम हो जाय और हिन्दुस्तानी भाषा आम तौर पर व्यवहार में आने लगे लेकिन लिपिभेद के मिटने की सम्भावना दूर भविष्य में भी नज़र नहीं आती। फ़ारसी लिपि में अगर भ्रामकता और अशुद्धता का दोष है तो एक बड़ा गुण भी है और वह उसकी गति है। फ़ारसी लिपि एक तरह का शार्टहैंड है और उसमें समय और स्थान की बचत होती है और हमारे ख़्याल में उसकी यह ख़ूबी ही उसकी रक्षा कर रही है। मगर समाज में जहाँ कहीं सेमिटिक भाषाओं का व्यवहार है, वहाँ उसके सुधार की योजना की जा रही है। उर्दू में भी कई विद्वानों ने लिपि का सरल बनाने की ओर ध्यान दिया है और वे नये-नये चिह्न बनाकर उन स्वरों को लिखना चाहते हैं जिनके लिए फ़ारसी लिपि में कोई चिह्न ही नहीं है मगर यह तदबीर शायद

हो कारगर हो सके। दक्षिण में मलाबार, मद्रास और मैसूर आदि प्रान्तों के मुसलमान वहाँ की भाषा का व्यवहार करते हैं। सिंध गुजरात महाराष्ट्र तथा बंगाल के मुसलमान भी वहाँ की प्रान्तीय लिपि ही का व्यवहार करते हैं। बिहार में भी साधारण मुसलमान कैथी लिपि ही काम में लाते हैं। फारसी लिपि का व्यवहार उत्तर भारत और पंजाब के मुसलमान ही करते हैं। अगर हमारे मदरसा में हरेक छात्र के लिए उर्दू और हिन्दी दोनों ही भाषाओं का लिखना-पढ़ना दसवें दरजे तक लाजिमी कर दिया जाय तो हमारे ख्याल में कुछ दिनों के बाद शिक्षित समाज दोनों ही लिपियों में अभ्यस्त हो जायगा और उसे जो लिपि अधिक परिष्कृत और सुगम और सुबोध जान पड़ेगी उसका व्यवहार करेगा।

इस प्रश्न पर दो मुसलमान विद्वानों ने विचार किये जा चुके हैं। अन्य कई विद्वानों ने भी कुछ इसी से मिलती-जुलती सम्मतियाँ लिखी हैं। उनमें जो विचारशील हैं वे उर्दू व्याकरण शैली पिंगल आदि भेदों को मिटाने के पक्ष में हैं और प्राय सभी चाहते हैं कि उर्दू में फारसी और अरबी के शब्द इतनी कसरत से न लाये जायें। एक साहब का तो कथन है कि—

'उर्दू पर अधिकार हासिल करने के लिए सिर्फ दिल्ली या लखनऊ की जबान का अनुकरण काफी नहीं है, यह भी जरूरी है कि अरबी और फारसी में औसत दरजे की लियाकत और हिन्दी भाषा की अच्छी योग्यता प्राप्त की जाय। उर्दू जबान की बुनियाद जैसा कि मालूम है, हिन्दी भाषा पर रक्खी गयी है। उसके क्रियापद कारक-चिह्न और सर्वनाम हिन्दी से लिये गये हैं। पस उर्दू जबान का शायर जो हिन्दी भाषा को मुतलक नहीं जानता और महज अरबी-फारसी का माहिर बनता है वह मानो अपनी गाड़ी को दो पहियों के ठिकाने तक पहुँचाना चाहता है।

इसी से मिलती-जुलती राय मौलाना सलीम पानीपती की है। उन्होंने उर्दू जबान को तरक्की देने और सही मानों में हिन्दुस्तानी बनाने की तरकीब यह बयान की है—

'कि हिन्दू मजहब हिन्दू वेदान्त हिन्दू इतिहास और हिन्दू-साहित्य के दृष्टान्त का इजाफा करें, तो इससे हमारे मजहब और अमल पर कोई असर नहीं पड़ सकता और न कोई चीज हमें मजबूर करती है कि इन चीजों के असर पर हम यकीन करें बल्कि इस इजाफे से हमें निम्नलिखित लाभ होंगे—

(१) हम भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों को प्रकट करने में ज्यादा समर्थ हो जायेंगे।

(२) यह इलजाम हम पर से दूर हो जायगा कि हम केवल धार्मिक घृणा के कारण हिन्दू-साहित्य से दूर भागते हैं।

(३) हिन्दू हमारे साहित्य से ज्यादा परिचित हो जायेंगे।

(४) हमारी जबान सही मानों में हिन्दुस्तानी जबान कहलाने के योग्य होगी।

(५) हिन्दू मुसलमानों के ऐक्य की बुनियाद मजबूत होगी।

आगे चलकर शर्मा जी ने हिन्दी के प्रति पुराने मुसलमानों के अनुराग का वर्णन किया है। आप कहते हैं—

'उर्दू के ही नहीं, बल्कि पहले फारसी के बड़े-बड़े मुसलमान कवियों ने हिन्दी में कविता की है। हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली के आदिम कवि अमीर खुसरो माने जाते हैं। बाद के भी अनेक मुसलमान विद्वानों ने जिनमें मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम मुख्य हैं, हिन्दी में कविता की है। मीर गुलामअली आज़ाद हिन्दी कविता के अच्छे पारखी थे। मीर रसूलुल्लाह भी अच्छे काव्य-मर्मज्ञ थे। सय्यद गुलामनबी 'रसलीन' ने नायिका-भेद पर एक पुस्तक उर्दू अक्षरों में लिखी है। 'रसलीन' के अतिरिक्त मधुनायक, रसखान, कोकी, जलील, मुबारक आदि नामी कवि हुए हैं। उर्दू के मौजूदा शायर हज़रत 'हसरत' मुहानी ने भी पूर्वी हिन्दी में पद बनाये हैं जिनका एक नमूना यह है—

कहाँ गए मोहे बावरी बनाइके ?
बावरी बनाइके अचरजियाँ दिखाइके कहाँ गए।
मन मोहन श्याम सुनैन नाम
जिन बिन सूनत रही हम ग्राम।
विरह की रैन जियत अँधियारी
रोवत जोवत कटत जाय जाग।
प्रेम का रोग लगाइ के हसरत
राम रंग सब दीन्ह त्याग।

अन्त में शर्मा जी ने हिन्दू-मुसलमान दोनों ही से अपील की है—

'हिन्दी उर्दू का भण्डार दोनों जातियों के परिश्रम का फल है। अपनी-अपनी जगह भाषा की इन दोनों शाखाओं का विशेष महत्त्व है। दोनों ही ने अपने अपने तौर पर यथेष्ट उन्नति की है। दोनों ही के साहित्य-भण्डार में बहुमूल्य रत्न संचित हो गए हैं और हो रहे हैं। हिन्दीवाले उर्दू-साहित्य से बहुत कुछ सीख सकते हैं। इसी तरह उर्दू वाले हिन्दी के खजाने से फायदा उठा सकते हैं। यदि दोनों पक्ष एक दूसरे के निकट पहुँच जायँ और भेद-बुद्धि को छोड़कर यदि भाई-भाई की तरह आपस में मिल जायँ तो यह तमाम फ़सादियाँ अपने आप ही दूर हो जायँ जो एक को दूसरे से दूर किए हुए हैं। ऐसा होना कोई मुश्किल बात नहीं है। सिर्फ मजबूत इरादे और हिम्मत की जरूरत है। बिना एकता के भाषा और जाति का कल्याण नहीं।'

अप्रैल १९३४

दक्षिण भारत में हमारी हिन्दी प्रचार यात्रा

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा की कृपा से हमें अबकी वहाँ के हिन्दी के उपासकों से मिलने और उनके प्रचार की सफलता को अपनी आँखों से देखने का अवसर मिला। सभा ने इस बार हमें पदवी-दान के अवसर पर दीक्षान्त भाषण करने का नेवता दिया और हम २७ दिसम्बर को बम्बई से चलकर २८ की शाम को मद्रास जा पहुँचे। हमारे साथ हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय के मालिक श्री नाथूराम जी प्रेमी और बम्बई-हिन्दी-प्रचार-सभा के प्रमुख कार्यकर्ता श्री भार शंकरन् थे। तीसरे दरजे का सफर था मगर रास्ते में कोई खास तकलीफ नहीं हुई। प्रेमी जी अपने साथ मक्खन के लड्डू और पूरियाँ रख लाये थे। बीमारी के बाद से खाने-पीने के विषय में वे बहुत सतर्क रहते हैं रास्ते में हमने खूब लड्डू खाये। पूरियाँ इधर बहुत कम स्टेशनों पर मिलती हैं। एक-दो स्टेशनों पर मिलती भी हैं तो बहुत खराब। एक स्टेशन पर हमने पहली बार इडली खायी। यह चावल और उड़द के दाल के मैदे से बनती है। दोनों मैदों को समान मात्रा में मिलाकर गूँध लेते हैं और इस गूँधे हुए आटे को रात-भर यों ही पड़ा रहने देते हैं। इससे इसमें कुछ खट्टापन आ जाता है। दूसरे दिन इसके मोटे-मोटे टिक्कड़ बनाकर भाप पर पकाते हैं। इस प्रान्त में इडली खाने का बहुत रिवाज है। होटलों में देखिए तो हर एक आदमी इडली और दाल और चटनी खाता हुआ नजर आयेगा। मिठाई से यहाँ किसी को प्रेम नहीं है। हाँ अब उत्तर भारत के संसर्ग से मिठाई का कुछ प्रचार हो चला है।

मद्रास पहुँचकर हम रामनाथ जी गोयनका के मेहमान हुए। सौभाग्य से श्री काका कालेलकर जी भी वहीं ठहरे हुए थे। उनके दर्शनों का आनन्द मिला। आप सेवा की मूर्ति हैं। हिन्दी-प्रचार में आप जो निर्माणात्मक काम कर रहे हैं वह बहुत ही आशाजनक है। जब तक किसी बात की उपयोगिता न दिखाई दे हमारा प्रेम उसके प्रति स्थायी नहीं हो सकता। हिन्दी ज्ञान को कैसे उपयोगी बनाया जाय—यही प्रश्न आपके सामने है। बड़े-बड़े व्यापार तो अंग्रेजों के हाथ में हैं। वहाँ हिन्दी की दाल नहीं गल सकती। मगर छोटे-छोटे व्यापारों में जो भारतीयों के हाथों में हैं, हिन्दी का व्यवहार करने से कुछ सुविधा हो सकती है। इसी हेतु से आप परिस्थितियों का अध्ययन कर रहे हैं। हमारी शुभेच्छाएँ आपके साथ हैं। गोयनका जी उन लक्ष्मी पुत्रों में हैं जो धन कमाना ही नहीं जानते उसका सदुपयोग करना भी जानते हैं। आप की जात से कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं की सहायता मिलती रहती है, और हिन्दी-प्रचार के तो आप एक स्तम्भ हैं। अभिमान तो आपको छू भी नहीं गया। आप बड़े ही हँसमुख निष्कपट उद्योगी युवक हैं और सभा के कोषाध्यक्ष हैं। आपके घर हम लोग पाँच दिन रहे, बिल कुल इस तरह, जैसे अपने ही घर में हों।

पदवी-दान का जलसा गोखले हाल में था। मेरा ख्याल था कि बहुत बड़ा जम-घट होगा लेकिन मालूम हुआ कि छुट्टियों के कारण बहुत से हिन्दी प्रेमी बाहर चले गये हैं। यहाँ के रेलवे विभाग ने सस्ते टिकट जारी करके और भी कितने लोगों को मद्रास से बाहर पहुँचा दिया था मगर तमाशाइयों की तादाद चाहे कम हो वहाँ जितने लोग थे प्राय: सभी हिन्दी-प्रचार से सम्बन्ध रखने थे और हिन्दी प्रचारकों के इस मिशनरी दल को देखकर मन में आशा और गर्व की गुदगुदी होने लगती थी। कुछ लोग तो कई-कई सौ मील तय करके आये थे और उनमें देवियों की भी काफी तादाद थी। इस आन्दोलन की बुनियाद केवल सांस्कृतिक नहीं उससे कहीं अधिक राजनैतिक है जो सम्पूर्ण देश को एक राष्ट्र-भाषा के सूत्र में बँधा देखना चाहता है। इसलिए इसे प्रान्त के प्रतिष्ठित नेताओं का सहयोग भी प्राप्त है और त्याग-भावना से भरे कार्यकर्ताओं का भी। श्री राजगोपालाचार्य जिस सभा के डायरेक्टर और श्री वे० नागेश्वर राव जिसके खास प्रेसीडेण्ट हों और केवल नाम के लिए नहीं बल्कि उसके हरेक काम में दिलचस्पी रखते हों उस सभा का प्रभाव और प्रचार इतनी तेजी से बढ़ रहा है तो क्या आश्चर्य है। १९३ में प्राथमिक मध्यमा और राष्ट्रभाषा तीनों परीक्षाओं में बैठनेवालों की तादाद एक हजार सात सौ थी १९३१ में नौ हजार आठ हो गयी मगर १९३४ में यह संख्या घट कर चार हजार छ सौ इक्यावन हो गयी। इससे शंका होती है कहीं हिन्दी का शौक घट तो नहीं रहा है। अगर ऐसा है तो यह खेद की बात होगी। हमारा कर्तव्य है कि इस अवनति के कारणों को खोजें और उन्हें दूर करने की चेष्टा करें।

मद्रास में देखने के लायक केवल दो चीजें हैं। एक तो समुद्र का तट जो मीलों तक चला गया है, दूसरा अड्यार की थियोसोफिकल सोसाइटी का केम्प है। इतना रमणीक जल-तट भारतवर्ष में और कहीं नहीं। मीलों तक समुद्र के किनारे ठण्डी-ठण्डी हवा का आनन्द उठाते चले जाइये। अड्यार मद्रास से चार मील पर समुद्र के किनारे एक बस्ती के रूप में है। उसका क्षेत्रफल दो मील से कम न होगा। बहुत ही चारु-सुन्दरी फूल-पत्तों से सजी हुई जगह है। पुस्तकालय है प्रकाशन-विभाग है मन्दिर है भोजनालय है ब्रह्मचारियों और अन्य थियोसोफिस्ट सज्जनों के निवास-स्थान हैं। बीच में एक विशाल बट-वृक्ष है, जो अपनी बूढ़ी गोद में लगभग दो हजार आदमियों को शरण दे सकता है। कहते हैं स्व० मिसेज एनीबेसेन्ट कभी-कभी वृक्ष के नीचे बैठकर धर्म के पिपासुओं को अपना उपदेशामृत पिलाया करती थीं। यह तपोभूमि दर्शनीय है। इन दिनों इस संस्था का वार्षिकोत्सव हो रहा है। दूर देशों से प्रतिनिधि आये हुए हैं।

मुझे या बैठकों में प्रान्त के प्रमुख प्रचारकों से बातचीत करने का सुअवसर मिला। तीन सज्जन तो उत्तर भारत के हैं जिन्होंने दक्षिण ही को अपना घर बना लिया है। सभी महानुभावों के दिलों में हिन्दी-प्रचार की लगन मालूम होती थी। सभी में उत्साह दीख पड़ा। सभी इस काम को पेशा समझ कर नहीं दिलचस्पी से काम कर रहे

है। उन्हें साहित्य से भी प्रेम है और साहित्यिक-विषय की चर्चा सुनने के लिए बड़े उत्सुक पाये गये। महाशय देवदूत जी विद्यार्थी जो केरल प्रान्त के संचालक हैं और बिहार प्रान्त के निवासी हैं, पद्य-काव्य के दो संग्रह भी प्रकाशित करा चुके हैं और एक ड्रामा भी लिख रहे हैं। इन संग्रहों को पढ़ने से विदित होता है कि आपकी अनुभूतियाँ कितनी कोमल और आपकी भावनाएँ कितनी मार्मिक हैं। उसके साथ ही भाषा पर भी आपका पूरा अधिकार है।

एक रात को हमें प्रचारकों का अभिनय-कौशल देखने का अवसर मिला। दो साल हुए कुछ लोगों ने एक नाट्य परिषद बना ली थी और प्रचार के लिए साल में दो एक नाटक खेल लिया करते थे। मतभेद के कारण इस वर्ष परिषद ने कोई नाटक नहीं खेला। मेरा उन सज्जनों से अनुरोध है कि वे अपने महान् उद्देश्य को ध्यान में रखकर वैयक्तिक मतभेदों को भूल जायें और प्रचार के इस अंग को शिथिल न होने दें। मैंने दुर्गादास नाटक के जो दो-तीन दृश्य देखे उनसे इस नतीजे पर पहुँचा कि थोड़े से संयम के साथ यहाँ के अभिनेता बहुत सफल हो सकते हैं। एक सीन में बालकृष्ण का पार्ट दिखाया गया था। मुझे वह पार्ट बहुत पसन्द आया। बालकृष्ण के शब्दों में दर्द था, चोट थी और विद्रोह था—वह विद्रोह जो ईश्वर की सत्ता से भी इनकार करता है, जिसे संसार में कपट, अन्याय और अत्याचार का एकछत्र-सा राज्य नजर आता है।

मद्रास में दो अजायबघर हैं। एक पशु-पक्षियों का और दूसरा जल-जीवों का। वह तो बहुत साधारण है पर मछली भवन बड़ा ही सुन्दर है। मछलियों का ऐसा विविध विचित्र और अद्भुत संग्रह भारतवर्ष में दूसरा नहीं है। शीशे के पानी से भरे केसों में रंग-बिरंगी मछलियों की क्रीड़ा बड़ा ही मनोहर दृश्य है।

सभा ने दो मकान किराये पर ले रखे हैं। एक में तो उसका दफ्तर, पुस्तकालय, परीक्षा-विभाग आदि हैं, दूसरे में प्रेस है। दोनों का किराया तीन सौ पचास रु० देना पड़ता है। मन्त्री जी ऐसे मकान की तलाश में हैं जहाँ दोनों ही काम हो सकें। ऐसा मकान मिल जाय तो शायद किराये में कुछ किफायत हो और काम ज्यादा व्यवस्थित रूप से चलने लगे। ऐसी उपयोगी संस्था के पास अपना भवन न हो और उसे साढ़े तीन हजार रुपये सालाना किराये के रूप में देना पड़े, यह हिन्दी प्रेमियों के लिए शर्म की बात नहीं। इसका कारण यही मालूम होता है कि अभी तक हमने हिन्दी-प्रचार का महत्व नहीं समझ पाया। इसकी जिम्मेदारी दक्षिण से कहीं ज्यादा उत्तर भारत पर है।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी दक्षिण भारत के लिए विदेशी भाषा के समान है। अध्यापक भी प्रायः दक्षिण के लोग हैं। शाला की पुस्तकें पढ़ने के सिवा हिन्दी को व्यवहार में लाने के शायद बहुत कम मौके मिलते होंगे। इसका परिणाम यह हो सकता है कि उनका भाषा-ज्ञान केवल किताबी ज्ञान हो कर रह जाय। इसके कुछ उदाहरण भी मिले। हमें ऐसे कितने ही सज्जन मिले जो किताबें तो समझ लेते हैं, लेकिन हिन्दी

बोल नहीं सकते और न हिन्दी भाषण आसानी से समझ पाते हैं। अगर अध्यापकगण क्लासों में छात्रों से हिन्दुस्तानी ही में बोलें और इसका ख्याल रखें कि छात्र भी आपस में कम से कम क्लास में हिन्दुस्तानी का व्यवहार करें तो उन्हें शुद्ध बोलने का अभ्यास हो जायगा और वह हास्यजनक भूलें न करेंगे जिनकी एक विनोदी-प्रचारक महोदय ने कुछ मिसालें देकर हमें खूब हँसाया था। दूसरा निवेदन जो मैं प्रचारक महोदयों से करूँगा वह यह है कि वे हिन्दी के पत्रों-पत्रिकाओं का अध्ययन करते रहें जिसमें उनका भाषा ज्ञान बढ़ता जाय। जिन्हें साहित्य-रचना का कुछ शौक है उन्हें कभी-कभी पत्रों में कुछ लिखते रहना चाहिए। दक्षिण के साहित्य में ऐसी कितनी ही चीजें होंगी जिन्हें हिन्दी में लाकर वे उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करेंगे।

मद्रास से हमने पाँचवें दिन मैसूर को प्रस्थान किया। यहाँ से छोटी लाइन चलती है। गाड़ी में बड़ी ठेलम-ठेल थी लेकिन किसी तरह बैठ गये। मैसूर के मध्य प्रचारक श्री हिरण्मय जी हमारे पथ-प्रदर्शक थे। बंगलोर में श्री जम्बुनाथ जी भी उसी डब्बे में थे। मेरे सामने केरल प्रान्त के एक सज्जन बैठे थे। उनसे साहित्य और हिन्दी-प्रचार के विषय में बड़ी देर तक बातें होती रहीं। हिन्दी-प्रचार से उन्हें प्रेम तो था पर उन्हें यह भय भी था कि कहीं यह आन्दोलन आगे चल कर हवा में न उड़ जाय। इस तरह का सन्देह कभी-कभी मन में होना स्वाभाविक ही है। हमारे आन्दोलन इतने जोरों से शुरू किये जाते हैं और थोड़े ही दिनों में लोग उनकी ओर इतने उदासीन हो जाते हैं कि हम किसी आन्दोलन को सजीव देखकर भी आशा में निश्चिन्त नहीं हो सकते। मैंने उन सज्जन को विश्वास दिलाया कि हिन्दी प्रचार अब केवल दो एक उत्साही व्यक्तियों का काम नहीं रहा वह एक संस्था है जिसने जनता के दिलों में अपना स्थान प्राप्त कर लिया है और आशा है कि दिन दिन इसकी उन्नति होगी। हम सुबह को मैसूर पहुँचे। हिन्दी-प्रेमियों ने हमारा स्वागत किया और हम कृष्ण-भवन में ठहरे। यहाँ हमें हर तरह का आराम था और होटल के स्वामी श्री शिवप्रसाद जी ने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया उसकी कहाँ तक तारीफ करें। इनकी उम्र अभी मुश्किल से तीस साल से ज्यादा नहीं है और इनका बाल-जीवन भी बड़ा ही संकटमय था यहाँ तक कि केवल बारह साल की उम्र में इन्हें घर से भागना पड़ा और वह बंगलोर आकर एक होटल में नौकर हो गये। यहाँ उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किया उससे उत्साहित होकर एक मित्र के सहयोग से यह होटल चलाने का साहस किया। और अब आप अपने पुरुषार्थ से एक स्वतन्त्र स्वामी हैं। आपको साहित्य और धर्म में विशेष रुचि है पर आपके विचार बड़े उदार हैं धार्मिक संकीर्णता का कहीं नाम भी नहीं। मानसिक और व्यापारिक उन्नति के साथ अपने दैहिक उन्नति का भी ध्यान रखा है। आप नियमित रूप से सूर्य नमस्कार और व्यायाम करते हैं। आम बनियों की भाँति आप केवल धन संग्रह करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए। बल संग्रह भी किया है। आप बलिष्ठ और स्वस्थ युवक हैं। और किसी

दुर्व्यसन को अपने पास नहीं फटकने देते। बुरी से बुरी परिस्थितियों में पुरुषार्थी आदमी क्या कुछ कर सकता है। यह उपदेश हमारे युवक शिवप्रसाद जी के जीवन से मिल सकता है। मुझे यह देख कर बड़ा हर्ष हुआ कि आपने धन को अपना स्वामी नहीं बनने दिया स्वयं उसके स्वामी हैं। आपके जीवन का उद्देश्य परोपकार है। आपका इरादा है कि अपने जन्म स्थान बुलन्दशहर में एक अच्छी व्यायामशाला कायम करें और युवकों को अपनी देह और स्वास्थ्य का बलवान करने का अवसर दें। कितना पवित्र उद्देश्य है।

इम्पीरियल-भवन से मिला हुआ ही एक दूसरा होटल है—आनन्द-भवन। इसके स्वामी बद्रीप्रसाद जी हैं। मैसूर में उत्तर भारतीयों का यह पहला ही होटल है। और बड़े सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है। बद्रीप्रसाद जी बड़े प्रसन्न-चित्त सेवा-तत्पर साहित्य रसिक व्यक्ति हैं और हिन्दी-साहित्य की प्रगति से खूब परिचित हैं। आप भी बुलन्दशहर के निवासी हैं और सपरिवार यहीं रहते हैं। हमें मैसूर के मुख्य दर्शनीय स्थानों की सैर कराने का जिम्मा आपने लिया था और इसके लिए हम आपके आभारी हैं।

मैसूर में यों तो देखने की बहुत-सी चीजें हैं, लेकिन हमारे पास समय न था इसलिए हमें उन्हीं स्थानों को देखकर संतुष्ट होना पड़ा जो मैसूर से मिले हुए हैं और जिन्हें हम कम से कम समय में देख सकते हैं। मैसूर बड़ा ही साफ-सुथरा सुन्दर उद्यानों से सजा हुआ रमणीक स्थान है। जिधर जाइये उधर पार्क यहाँ तक कि रेलवे लाइन के किनारे भी फूलों की लाइन नजर आती है। सड़कें चौड़ी हैं, गुल-गुजार से पार्क चौरस्ते पर बेलों और पौधों से सजे हुए स्क्वायर बने हैं। बिजली शक्ति की तो यहाँ इतनी इफरात है कि देहातों में भी बिजली की रोशनी है। और है भी बेहद सस्ती। देहातों में तो केवल दो आना यूनिट है। दूसरे शहरों में केवल म्युनिसिपैलिटी के अन्दर रोशनी होती है। उसके बाहर अंधेरा। यहाँ हरेक पक्की सड़क पर बिजली की रोशनी है, और चामुंडा पहाड़ी से नगर को देखिए, तो मालूम होता है, बिजली-प्रकाश का जाल बिछा हुआ है। यह पहाड़ी शहर से मिली हुई है और अक्सर शाम-सबेरे शहर के लोग उस पर हवा खाने जाते हैं। कोई एक हजार फीट ऊँची होगी। चढ़ाई के लिए मोटर चलने लायक सड़क बनी हुई है। जिस पर बिजली की रोशनी है। चोटी पर चामुंडा देवी का मन्दिर है। उसे जरा और ऊँचाई पर महाराज के निवास के लिए एक सुन्दर बंगला बना हुआ है। चामुंडा देवी मैसूर राजा की कुल-देवी हैं और महाराज अक्सर यहाँ पूजन के लिए आते हैं।

मैसूर नगर से दस-बारह मील पर मैसूर की पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम है। यहाँ तक पक्की सड़क बनी गयी है। श्रीरंगपट्टम पहले बहुत गुल्जार बस्ती थी लेकिन अब लोग इसे छोड़-छोड़ कर दूसरी जगहों में आबाद होते जाते हैं। पुराना किला तो मिस्मार हो गया। चार दीवारी कहीं-कहीं बाकी है। यहाँ की सबसे दर्शनीय वस्तु सुल्तान हैदरअली और टीपू की मजार है। एक रमणीक उद्यान के मध्य में मजार की

शानदार इमारत है जो काले पत्थर की है। अन्दर बड़ी खूबसूरत पच्चीकारी है और दरवाजों पर हाथी दाँत का काम है जो मैसूर की खास कला है। किले के बाहर सुलतान टीपू का महल है जिसका नाम दरिया दौलत बाग है। टीपू सुलतान गर्मियों में यहाँ आकर विश्राम किया करते थे। इसी की बाहरी दीवारों पर उस जमाने की प्राय सभी ऐतिहासिक और राजनैतिक घटनाओं के चित्र बने हुए हैं जो बहुत कुछ उन चित्रों से मिलते हैं जो आज भी शहर के चित्रकार दीवारों पर बनाया करते हैं लेकिन अन्दर नक्कारी बहुत ही बारीक है। जिस स्थान पर सुलतान अपनी प्रजा को दर्शन दिया करते थे वह दरबार किसी तरह भी किसी के दरबार आम से कम विशाल नहीं है।

सेरिंगापट्टम से हम कृष्णराज सागर देखने आये। यह एक बहुत बड़ा सागर है जो कावेरी नदी को एक बाँध से रोक कर बनाया गया है। बाँध कोई दो मील लम्बा और जमीन से कोई एक सौ पचास फीट ऊँचा होगा। चौड़ा इतना है कि उस पर मोटरें बड़ी आसानी से आ जा सकती हैं। इस बाँध को बनाने में मैसूर सरकार का करीब दो करोड़ से ऊपर खर्च हो गया है। इस सागर से नहर निकाली गयी है, जो लगभग पचास मील तक की भूमि को सिंचाई करती है। इसका फल यह हुआ है, कि अब यहाँ धान और अन्न की पैदावार कसरत से होने लगी है। अन्न की खपत के लिए सरकार ने एक शक्कर मिल भी बनवाया है। इसी पानी से बिजली भी निकाली जाती है। इस निर्माण में रियासत के लगभग पाँच करोड़ खर्च हो गये हैं। भारत में इससे बड़ा दूसरा बाँध नहीं है। बाँध के नीचे एक रमणीक स्थान है, जिसे वृन्दावन कहते हैं। यहाँ फौवारों की विचित्र लीला देखने में आती है। एक नाली से दरिया का पानी लाकर एक छोटी नहर में बड़े वेग से प्रवाहित किया गया है। दोनों तरफ फौवारों की छटा है जिनके पास रंग-बिरंग शीशों में बिजली का प्रकाश किया जाता है। उछलते हुए पानी पर जब इस रंगीन प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो ऐसा मालूम होता है कि फौवारों से रंगीन पानी निकल रहा है। दूर से देखने पर इन्द्र धनुष का-सा दृश्य आँखों को मुग्ध कर देता है।

मैसूर का राजभवन भी देखने लायक है, मगर यह कोई उल्लेखनीय बात नहीं। राजभवन तो उन रियासतों में भी आँखों को मस्त कर देते हैं जहाँ प्रजा नरक के कष्ट भोग रही है। हमारे राजाओं में निन्यानबे फीसदी तो वही हैं जो अपनी रियासत की आमदनी का बड़ा भाग अपने ही भोग-विलास पर उड़ा देते हैं। उनकी प्रजा मानो है ही इसलिए कि कमा-कमाकर राजा साहब को खजाना भरे और मुँह से आह भी न निकाले वर्ना उसकी जबान काट ली जावेगी। मैसूर तो सम्पन्न राज्य है और उसके राजभवन की रियासत की शान के अनुसार होना ही चाहिए। एक-एक हाल की सजावट बयान से परे है। दरबार-हाल तो इस ढंग का है कि शायद ही किसी राज्य में हो। यहाँ दशहरे के उत्सव पर महाराजा साहब सिंहासन पर विराजते हैं और दरबारी और

कर्मचारी अपने दर्जे के अनुसार कुर्सियों पर बैठते हैं। इत्र-पान से उनका स्वागत किया जाता है मगर इस इन्द्रपुरी का इस अतुल विभूति का स्वामी होते हुए भी त्याग का उपासक है। अन्य रियासतों की भाँति यहाँ का दरबार ऐश का अखाड़ा नहीं किसी संन्यासी का आश्रम है। महाराज को राज्य से कई लाख रुपये सालाना मिलते हैं पर वह उनके भोग-विलास में न खर्च कर प्रजा-हित के कामों में ही खर्च किये जाते हैं। यही कारण है कि यहाँ की प्रजा अपने राजा को पूजती है और उस पर गर्व करती है। महाराज संगीत और व्यायाम के प्रेमी हैं और साहित्य से भी आप की रुचि है।

मैसूर का चिड़िया घर देखकर बम्बई और मद्रास के चिड़िया-घर वैसे ही लगते हैं जैसे महल के सामने झोंपड़ा। जितने विचित्र पशु-पक्षी और जल-जीव यहाँ हैं शायद कलकत्ते के चिड़िया घर के सिवा और कहीं नहीं हैं। पशुओं के लिए नैसर्गिक दशाओं की व्यवस्था ऐसी शायद ही और कहीं हो। हमने जितने जीव देखे सभी हृष्ट-पुष्ट साफ-सुथरे और प्रसन्न दिखायी दिये थे।

मैसूर में सरकार की ओर से रेशम का कारखाना भी खुला हुआ है, चन्दन के तेल का भी। चन्दन पर इस रियासत की अमोपोली का इजारा है। उसका व्यापार सरकार के हाथों में है। कला-कौशल का विभाग भी है जहाँ लकड़ी बेंत हाथी दाँत धातु कुम्हारी आदि की शिक्षा दी जाती है। वहाँ की बनी हुई चीजों का प्रदर्शन होता है और बिक्री भी होती है, पर चीजों की क़ीमत बहुत ज्यादा है। यहाँ सबसे अच्छी बात जो हमें मालूम हुई वह यह है कि रियासत के कर्मचारियों का या पुलिस का यहाँ बिल्कुल आतंक नहीं है और रिश्वत की चर्चा यहाँ बहुत ही कम है। राज्य की सुव्यवस्था का इससे बढ़कर हमारे विचार में दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता।

मैसूर में हिन्दी-प्रचार के कार्यकर्ताओं और सचालकों में मैंने शुद्ध एकात्मक भाव देखा। सभी में हिन्दी के प्रति मिशनरी उत्साह और अनुराग है। पं० हिरण्मय जी चुपचाप काम करनेवाले व्यक्ति हैं जो शायद स्वप्न में भी प्रचार ही का स्वप्न देखते हों। श्री टी० कृष्ण मूर्ति और श्री के० श्रीनिवास मूर्ति दोनों ही सज्जन यहाँ की प्रचार-सभा के मन्त्री हैं और केवल पदाधिकारी मन्त्री नहीं बल्कि सभा में जीवन का मन्त्र डालनेवाले मन्त्री। दोनों ही शिक्षा विभाग में अध्यापक हैं, लेकिन हिन्दी-प्रचार को अपना व्यसन बना चुके हैं। एक तीसरे उत्साही युवक मि० जे० पी० वर्मा हैं। वह इन्टर यूनिवर्सिटी बोर्ड में हैं और यहाँ शायद साल भर ही उनका रहना होगा लेकिन हिन्दी प्रचार में इस जोश से सहयोग दे रहे हैं, जो सराहनीय है। अपने उत्साह के सामने बाधाओं को कुछ समझते ही नहीं। इन्हें यहाँ उत्तर भारत के रहनेवालों को संगठित करने के लिए एक 'हिन्दुस्तानी हितैषी मंडल' खोलने की धुन है। कोई सुने या न सुने आप अपना काम किये जाते हैं। आखिर मेरे हाथों उस मंडल को स्थापित करा के ही छोड़ा। बुनियाद की रस्म तो मैंने कर दी उस पर इमारत खड़ी करना मैसूर के उन सज्जनों का काम

है, जो व्यापार में धन कमाना ही नहीं चाहते अपने आदर्श को सेवा में उसका एक अंश अपण करना भी चाहते हैं। और जिम्मेदारी भी सबसे ज्यादा उन्हीं भागों पर आती है, जो संसार की प्रगति को देखते और समझते हैं।

मैसूर में इन्दिरा बहन से मिलकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। इन देवी से मैं काशी प्रयाग और दिल्ली में मिल चुका था। प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में दो साल तक इन्होंने हिन्दी का विशेष ज्ञान प्राप्त किया है और आजकल यहाँ प्रचार कर रही हैं। आप प्रचार-सभा के मन्त्री श्री हृष्णमूर्ति जी की सहधर्मिणी हैं। हिन्दी-प्रेम इन्हें प्रयाग खींच ले गया। पति ने भी सहर्ष अनुमति दी। अपनी छोटी-सी बच्ची को घर पर छोड़कर वह प्रयाग चली गयीं। जिस आन्दोलन में ऐसे साधक हों वह क्या न सफल हो। एक दूसरी देवी श्रीमती लक्ष्मी अम्मां हैं। इस वृद्धावस्था में इन्होंने विशारद पास किया और अब उर्दू पढ़ रही हैं। उनका उत्साह प्रशंस्य है और युवकों को भी लज्जित करता है। जहाँ-जहाँ मैं गया वह मेरे स्वागत के लिए मौजूद थीं। हम उनकी कुटिया में उस श्रद्धा से गये जैसे मन्दिर में जाते हैं और वहाँ हमने दस-पाँच मिनट तक इस तरह गुजारे मानो अपनी बहुत दिनों की बिछुड़ी हुई बहन से मिल रहे हों और बहन उतने ही समय में अपने स्नेह और महमानदारी के सारे अरमान पूरे कर लेना चाहती हो। प्रो० मुस्त्री के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें मिला। आप मैसूर-विश्वविद्यालय में फारसी के अध्यापक हैं और उर्दू के अच्छे जानकार हैं। आपको हिन्दोस्तानी से प्रेम है और संस्कृत के तो आप पंडित हैं। आप इन दिनों भगवत गीता का फारसी में अनुवाद कर रहे हैं। हिन्दू मुसलिम समस्या पर आपने जो मौन से विचार प्रकट किये काश वह हमारे लीडरों में भी होते तो भारत आज स्वर्ग हो जाता। आप साधुओं-का-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से आप को घृणा है। आपके चरणों में बैठकर हमने जो धार्मिक शांति लाभ की वह दिव्य दर्शन से होती है। हिन्दी में एक और उपासक प्रो० गोकुल दैया के सत्संग का भी सुअवसर हमें मिला। आप मैसूर-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक हैं और इन दिनों अस्वस्थ हैं। आपने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया वह हमारे जीवन की बड़ी मधुर अनुभूति है। आप इन दिनों उर्दू का अध्ययन कर रहे हैं और हमारी कई उर्दू रचनाएँ आपकी नजरों से गुजर चुकी हैं। आपका विराट साहित्य-प्रेम और साहित्य के एक तुच्छ सेवक के प्रति आपका उमड़ता हुआ सम्मान देखकर हम दबाव हो गये। आप से हम यही शिकायत है कि आपने हाथी दाँत की नक्काशी से सजा हुआ एक सिगरेट बक्स भेंट करके हमें यह पाठ पढ़ाया कि सिगरेट पीना भी कोई सद्व्यसन है और तब से सिगरेट के प्रति हमारा अनुराग बढ़ गया है, क्योंकि बक्स को हम खाली नहीं देख सकते—दावात में स्याही नहीं तो वह दुखिया है—और जब सिगरेटों से भरा हुआ डब्बा सामने हो तो मौन का रोकना जरा दुश्वार है।

यों हम तो यहाँ वा अमसों म हिन्दी के विषय में अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिला लेकिन विशेष आनन्द का अवसर वह था जब हम विश्वविद्यालय भवन में हिन्दी के प्रेमियों से मिले। पचास मित्रों से कम न थे और यह सभी युवक हैं जो कुछ विश्व-विद्यालय में पढ़ रहे हैं। पर हिन्दी से इतना प्रेम रखते हैं कि कुछ न कुछ समय निकाल कर हिन्दी प्रचार की भेंट करते हैं। यह राष्ट्र-भाषा के उत्साही सैनिक हैं और उसके प्रचार का सम्पूर्ण श्रेय इनको है। कई मित्रो न हिन्दी मे अपनी रची हुई चीजें पढ़ीं और हम लोगों में घन्टे भर तक कन्नडी के साथ साहित्यिक समस्याओं पर खूब गपशप हुई।

मैसूर की राजभाषा कनाड़ी है और बोलनेवालों की संख्या डेढ़ करोड़ के लगभग है मगर वह संख्या मद्रास बम्बई हैदराबाद रियासत और मैसूर में फैली हुई है और इससे इस भाषा के विकास म बाधा पड़ रही है। कनाड़ी का प्राचीन साहित्य ऊँचे दरजे का है और नये साहित्य में भी अच्छी उन्नति हो रही है। बंगलोर में कनाड़ी-साहित्य परिषद का अपना भवन है, पुस्तकालय है और उसके द्वारा कनाड़ी-साहित्य के अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। मैसूर म मुझे कई कनाड़ी-साहित्य-प्रेमियों की सेवा में हाजिर होने का अवसर मिला। कई अन्य प्रान्तीय भाषाओं की तरह कनाडी को भी यह शंका होने लगी है कि हिन्दी-प्रचार से कनाड़ी की प्रगति म कुछ बाधा न पहुँचे। इसका कारण यही मालूम होता है कि हिन्दी प्रचार के उद्देश्य के विषय म कुछ भ्रम अभी तक बाकी है। हिन्दोस्तानी प्रचार का उद्देश्य यह हर्गिज नहीं है कि वह प्रान्तीय भाषाओं का स्थान छीन लं। वह तो अंग्रेजी भाषा का वह स्थान लेना चाहती है, जो उसने भारतवर्ष म प्राप्त कर लिया है। राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओं म कुछ वही सम्बन्ध रहेगा जो प्रान्तीय कौंसिलों और भारतीय एसेम्बली मे है। एसेम्बली प्रान्तीय कौंसिलों के किसी काम म बाधा नहीं डालती। हाँ कुछ एसे विषय हैं जिनका सम्बन्ध पूर्ण भारत से है और एसेम्बली उन्हीं के विषय म व्यवस्था करती है। जो लेखक या पत्रकार अपनी पुस्तक या पत्र का सारे भारतवर्ष में प्रचार चाहेगा उसके लिए अंग्रेजी माध्यम की जगह हिन्दी माध्यम का साधन उपस्थित कर देना ही हमारा ध्येय है। आखिर कोई ऐसा दिन तो आयेगा ही चाहे वह दूर भविष्य म ही क्यो न आये कि भारत अपनी संस्कृति और अपने साहित्य के साथ अन्य राष्ट्रों के पहलू में बैठे। अगर हम भारत को एक देश न मान कर महाद्वीप मान लें जिसम बहुत से देश हैं तब भी तो हम एक प्रधान भाषा की जरूरत पड़ेगी ही जिसमे अन्तर्देशीय व्यवहार किया जा सके। हाँ अगर इन देशों म कोई सम्बन्ध ही न रहे, तो दूसरी बात है। तब तो एक प्रान्त भी अपनी अलग सत्ता न कायम रख सकेगा। हमारा ख्याल है कि हिन्दुस्तानी का प्रचार साहित्य-प्रेमियों के लिए यश और कीर्ति का एक महान् क्षत्र खोल देता है और प्रान्तीय भाषाओं को उसमें बदगुमान होने की बिलकुल जरूरत नहीं है। अभी तक हमने जो कुछ किया है, वह

प्रान्तीय दृष्टि से ही किया है। हम पारिभाषिक शब्दों का कोष बनाते हैं। तो अलग अलग साधारण कोष बनाते हैं तो भी अलग-अलग। अगर हमारे पास कोई अन्तरप्रान्तीय या राष्ट्र-भाषा-परिषद ऐसी होती जहाँ प्रतिवर्ष प्रत्येक भाषा के महारथी एकत्र होकर दो-चार दिन या दो-चार हफ्ते बैठ कर राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया करते तो शायद दस बीस साल में हमारी एक सम्पन्न राष्ट्रभाषा बन जाती। पृथक-पृथक् काम करने से समय और शक्ति का अपव्यय हो रहा है। पचास विज्ञान शास्त्र के हजारों ही शब्द हैं जो सभी प्रान्तीय भाषाओं में एक हो सकते थे। अलग-अलग भाषापच्ची करने की जरूरत ही न पड़ती।

पाँच दिन मैसूर की मेहमानी खाकर हमने बेंगलोर का प्रस्थान किया।

मैसूर से बंगलोर कोई चार घंटे का सफर है। बीच का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही रमणीक है। कहीं हरे-भरे खेत हैं कहीं आम नारियल और सुपारी के बाग और कहीं हरियाली से ढकी हुई ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ। आकाश में कुछ बादल थे और उन पर प्रकाश में बह पवन। शोभा स्वप्निल हो गयी थी। बीच-बीच बाटियों की गोद में विश्राम करते हुए ग्राम नजर आ जाते थे जिनकी झुराई से पुती हुई दीवारें ग्रामवासियों की सफाई और सुरुचि का पता दे रही थीं। यहाँ की मिट्टी लाल है, जिससे खेतों की छटा और भी सुहावनी हो जाती है। खेतों में जो किसान काम करते नजर आते थे उनका पहिरावा कुरता और जाँघिया था। धोती के मुकाबले में जाँघिया किफायत की चीज है। यहाँ धान के खेत भी बहुत मिले जिनमें मद्दर से सिंचाई हो रही थी। अब यहाँ गन्ना भी पैदा होने लगा है और राज्य की ओर से एक शक्कर की मिल भी है।

शाम को हम बंगलोर पहुँच गये। स्टेशन पर हिन्दी-प्रचार-सभा के अध्यक्ष श्री मिट्ठू, मी निवास राव श्री अम्बुनाथन श्री मादि सज्जन मौजूद थे। हम वाजपेयी जी के महमान हुए।

बंगलोर समुद्र की सतह से तीन हजार फीट की ऊँचाई पर है और मैसूर से कुछ ठंडा है। बंगलोर शहर के दो भाग हैं। शहर तो मैसूर राज्य के अधीन है और छावनी पर अंग्रेजी सरकार का राज्य है। आबादी ढाई लाख से ऊपर है। शहर में तो कोई खास बात नहीं प्रयाग या लखनऊ जैसा ही है, लेकिन छावनी की सड़कों की सफाई और बंगलों की सजावट देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। बंगलोर में और प्रायः दक्षिण में वे आँगन के घर होते हैं। घर में हैसियत के अनुसार दो-तीन-चार कोठरियाँ होती हैं। मकान के सामने एक छोटा-सा बाग और चार दीवारी भी बनायी जाती है। हर एक घर बंगले जैसा मालूम होता है।

दूसरे दिन प्रातःकाल हम लाल बाग की सैर करने गये। इसका रकबा एक सौ

एकत्र है। बाग की बनावट और सफाई और सुन्दरता साफ-सुथरी रविशें फूलों की क्यारियाँ शीश मंडप मन को मुग्ध कर लेती है। खास बात यह है कि यह पार्क-सुलतान हैदरअली की सुरुचि और वनस्पति-प्रेम की यादगार है। यहाँ पौधों और बीजों की बिक्री होती है और विविध प्रकार की वनस्पतियाँ को विदेशों से मँगाकर उगाया जाता है। बंगलोर की सब से दर्शनीय वस्तु यही पार्क है।

बंगलोर से तीन मील पर विज्ञान का वह प्रसिद्ध विद्यालय है, जिसे श्री जमशेद जी नौशेरवाँ जी ताता ने स्थापित किया था। बंगलोर जाकर इस विज्ञान-मंदिर के दर्शन न करना दुर्भाग्य की बात होती है। रविवार के दिन हम कोई तीन बजे वहाँ पहुँचे। विद्यालय बन्द था पर डॉ॰ सर सी॰ वी॰ रमन ने बड़ी खुशी से हमारा स्वागत किया और हमें विद्यालय के रासायनिक विभाग पुस्तकालय और लेबोरेटरी की सैर करायी। मैं दो-चार वैज्ञानिकों से पहले भी मिल चुका हूँ। वह बड़ा उपमन्यप बड़ा ही भावुक गूढ़ शुष्क और अपनी धुन में मस्त होता है। प्रकृति की समस्त रहस्यमयी रचनाओं में उद्विग्न बिचरते रहने के कारण कदाचित् मनुष्य उसके लिए मामूली पशु-मात्र रह जाता है, लेकिन वैज्ञानिकों के इस प्रिंस को देखकर मैं चकित हो गया। ऐसा प्रसन्नचित्त व्यक्ति जिसका पोर-पोर बालकों के सरल उत्साह से छलका पड़ता हो मैंने दूसरा नहीं देखा। वह विज्ञान के आस्तिक हैं। और यह आस्तिकता उनकी आँखों में उनके कपोलों पर एक-एक अंग में रमा हुआ है। वह इस तरह से दौड़-दौड़कर एक-एक चीज हमें दिखा रहे थे मानों कोई बालक अपने किसी सखा को अपने खिलौने और कनकौवे और नये कपड़े दिखाने के लिए अधीर हो रहा हो और चाहता हो कि एक ही साँस में सारी विभूतियाँ दिखा दूँ जिसमें कुछ बाकी न रह जाय। मैं अगर कहूँ कि इसी इन्स्टीट्यूट में उनके प्राण बसते हैं, तो गलत न होगा। इसकी एक-एक रविश एक-एक फूल एक-एक पौधे यहाँ तक कि उसके मनोरम प्राकृतिक दृश्य पर भी उन्हें गर्व है, मानो यह प्राकृतिक दृश्य भी उनकी अपनी रचना हो। इस विद्यालय से देश को अब तक क्या लाभ पहुँचा है, यह तो कोई वैज्ञानिक ही जानता होगा हम तो सर रमन के व्यक्तित्व की छाप हृदय पर लेकर आये। विद्युत-विभाग और अन्य विभाग बन्द थे वह हम न देख सके। सर रमन ने हमें एक मजे का तमाशा दिखाया जो हमारे लिए तो खेल था पर बुद्धिमानों के लिए तात्त्विक छान-बीन की चीज है। तबले के समभाग पर चुटकी भर बालू बिखेर दी और तबले पर एक थाप मारी। बालू कभी सीधी रेखा का रूप धारण कर लेती है, कभी वृत्त का। तबले की अलग-अलग ध्वनि भिन्न-भिन्न आकार में प्रकट होती है। सर रमन जिस जिज्ञासा और जोश से तबले पर बालू बिखेरते और थाप लगाते थे वह देखकर कौन ऐसा मुर्दा दिल होगा जो गद्गद् न हो उठता।

चार बजे हम डॉक्टर साहब से विदा हुए और यह सोचते हुए निकले कि काश

बड़े लोग अपने बड़प्पन को अपनी कब्र न बनाकर ज्योति बना सकते तो उससे कितना प्रकाश फैलता।

उसी दिन हमने चीनी के बरतनों का कारखाना देखा जो इन्स्टीट्यूट से मिला हुआ है। क्रिया बिलकुल कुम्हारों की-सी है। एक खास तरह की मिट्टी यहाँ निकलती है, जिसमें दो-एक चीजें मिला देने से लुग्दी तैयार हो जाती है। लुग्दी को भिन्न-भिन्न साँचों में डाल कर बाहर निकालते हैं फिर सुखाते हैं, रंगते हैं और भट्टी में पकाते हैं। दो-कमरे में यहाँ के बने हुए खिलौनों और मूर्तियों और फूलदानों आदि का अच्छा संग्रह है जिससे मालूम होता है कि इस काम में यहाँ कितनी उन्नति हुई है। नल खपरे, माकल तार की चिड़ियाँ सब कुछ यहाँ तैयार होती हैं। मैसूर-राज्य में बिजली का व्यवहार बड़ी कसरत से होता है, उसके लिए चीनी का जितना सामान दरकार होता है वह इसी कारखाने में तैयार होता है।

बंगलोर में भी मैसूर की भाँति हिन्दी का अच्छा प्रचार हो रहा है। यहाँ के नेशनल हाई स्कूल में तो हिन्दी लाज़िमी कर दी गयी है। कुछ उद्योग धंधे भी सिखाये जाते हैं। यहाँ एक जलसा हुआ जिसके सभापति प्रो० ए० आर वाडिया थे। प्रो० वाडिया मैसूर हिन्दी-प्रचार-सभा के प्रेसिडेन्ट हैं। मैसूर में उनके दर्शन न हो सके थे। यह सौभाग्य यहाँ मिला। आपको हिन्दी और उर्दू से विशेष रुचि है मगर बोलते हैं अंग्रेजी में और बहुत अच्छा बोलते हैं। स्कूल हेड मास्टर श्री सम्पतराव गिरि एम ए भी हिन्दी के उपासक हैं और आपने तुलसीकृत रामायण का कन्नाड़ी भाषा में अनुवाद किया है। इस स्कूल के साथ एक व्यायामशाला भी है, जिसे गत वर्ष महात्मा जी ने खोला था।

बंगलोर में महिलाओं की कई संचालित संस्थाएँ हैं और प्रायः उन सभी में हिन्दी पढ़ायी जाती है। सिलाई बुनाई, कढ़ाई बेल का काम संगीत कसीदे काढ़ना प्रायः सभी संस्थाओं में जारी है। अध्यापन और संचालन-काम देवियों ही के हाथों में है। कहीं-कहीं लड़कियों के लिए व्यायामशालाएँ भी हैं। स्त्रियों की यह जागृति राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्यत् की सूचक है। यहाँ का कोमल जलवायु संगीत के लिए बहुत अनुकूल जान पड़ता है। सभी महिला-समाजों में संगीत का प्रचार है। वीणा यहाँ का प्यारा बाजा है। काश ये देवियाँ महीने में दो दिन आस-पास के देहातों की भेंट कर लिया करें, तो गाँववाली स्त्रियों को भी उनकी जागृति का कुछ प्रसाद मिले। यों तो सभी संस्थाएँ तरक्की कर रही हैं पर मल्लेश्वरम् महिला-समाज की उन्नति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ १९३१ में हिन्दी क्लास खोला गया। पहले साल केवल चार देवियाँ परीक्षा में बैठीं और अबतक यह संख्या बढ़कर पैंतालिस तक पहुँच गयी। भी संस्था की दो देवियाँ प्रयाग महिला विद्यापीठ में पढ़ रही हैं। अब तक तीन सौ देवियाँ इस समाज से हिन्दी का काम चलाऊ ज्ञान प्राप्त कर चुकी हैं। यहाँ एक

कार्यकारिणी सभा भी है, जिसमें देवियाँ सामाजिक विषयों पर मुबाहसे करती हैं। इतना ही नहीं यहाँ से 'समाज भारती' नाम का एक हिन्दी त्रैमासिक पत्र भी निकलता है जिसमें देवियाँ भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख लिखती हैं। समय-समय पर यहाँ विद्वानों और राष्ट्र नेताओं के भाषण भी होते हैं। एक बार महात्मा जी भी यहाँ अपना अमृत उपदेश कर चुके हैं। इस कीर्ति पर कौन-सी संस्था गर्व न करेगी।

कनाड़ी भाषा और साहित्य-परिषद भी बंगलोर में ही है। हमने बड़ी श्रद्धा से इस साहित्य-मंदिर की परिक्रमा की। अच्छा खासा परिषद् का अपना भवन है जिसमें एक हाल है, एक पुस्तकालय वाचनालय और दफ्तर। कनाड़ी भाषा के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ परिषद् द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। आजकल परिषद में मैसूर राज्य के प्रोत्साहन से एक बृहद् कनाड़ी-अंग्रेजी कोष बन रहा है, जिसके एडिटर और कोष-मंडल के अध्यक्ष एक वयोवृद्ध सज्जन प्रो॰ वैंकट नारायणप्पा हैं। आप जिस उत्साह और तन्मयता से यह कार्य-सम्पादन कर रहे हैं वह जवानों को लज्जित करता है। आप पहले मैसूर विश्व-विद्यालय में केमिस्ट्री के अध्यापक थे। अब पेंशन पाते हैं। कनाड़ी साहित्य बहुत पुराना है और इसका काव्य साहित्य तो बड़े ऊँचे दरजे का है। नया साहित्य भी अब बन के बढ़ रहा है। परिषद् के कुशल उपसभापति श्री मञ्जप्पा जी के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें हुआ। आप साहित्य के एक यशस्वी लेखक और कवि हैं और प्राचीन साहित्य के बहुत विद्वान। कनाड़ी साहित्य कितना धनी है, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इसमें लगभग बारह सौ कवि हो गये थे जिनमें पचीस महिलाएँ थीं और पचीस राजे-रईस। एक विद्वान ने तीन जिल्दों में उनके जीवन चरित्र लिखकर कनाड़ी साहित्य के इतिहास की अच्छी सामग्री जुटा दी है। अगर कनाड़ी साहित्य की कुछ चीजें हिन्दी-साहित्य में आ सकें तो आदान-प्रदान से दोनों ही भाषाओं को लाभ हो। कुमार व्यास की अमर कृति 'भारत' शायद कनाड़ी साहित्य का सबसे उत्तम ग्रन्थ है। कनाड़ी विद्वानों का कहना है कि ऐसे कवि भारतवर्ष में दो ही बार हुए

अब इस प्रान्त में हिन्दी का प्रचार हो रहा है तो शायद भविष्य में कोई कनाड़ी [illegible] अपने साहित्य-रत्नों को हिन्दी में भेंट करे। 'हंस' में गुजराती मराठी उर्दू, [illegible] की पत्रों के संग्रहणीय और विचारपूर्ण लेखों पर टिप्पणियाँ भी जाती हैं मगर कोई [illegible] जाननेवाले कनाड़ी विद्वान कनाड़ी के सामयिक साहित्य पर टिप्पणियाँ लिख कर [illegible] में भेजने की कृपा करें, तो 'हंस' उपकार मान कर उसे सहर्ष स्वीकार करेगा [illegible] अपना गौरव समझेगा।

बंगलोर में सि॰ के॰ बी॰ ऐयर का व्यायाम मन्दिर भी देखने की चीज है। मालूम नहीं ऐयर महोदय ने इसका नाम हरक्यूलीज व्यायाम मन्दिर क्यों रखा है। हमारे हनुमान जी तो हरक्यूलीज से कुछ कम न थे। हरक्यूलीज ने अगर पहाड़ के दो टुकड़े कर दिये थे तो हनुमान जी सूर्य को साबत निगल गये थे और धौलागिरि पर्वत को एक

हाथ पर उठाकर कोई ढाई हजार मील दौड़ते चले आये थे। इस मन्दिर में युवकों को हर एक तरह का व्यायाम सिखाया जाता है। ऐपर स्वयं बड़े ही सुगठित शरीर के स्वामी हैं और भारत भर्र के शिष्य अच्छे-खासे पहलवान हैं। आपने सूर्य नमस्कार के आधार पर अपनी एक व्यायाम-विधि निकाली है और इस विषय का बहुत-सा साहित्य भी प्रकाशित कर चुके हैं हम उनसे मिल तो न सके क्योंकि उस दिन वह कहीं बाहर गये हुए थे। लेकिन उनके सचित्र बुकलेट जो हमने पढ़े उससे मालूम हुआ कि आपने नवीन और प्राचीन विधियों का मिश्रण करके एक वैज्ञानिक अभ्यास-क्रम निकाला है जिससे थोड़े समय में ही आश्चर्यजनक फल प्राप्त हो सकता है। और यह पहलवान अपन बाल्यावस्था में बहुत ही दुबला-पतला था। ऐसे मन्दिरों की प्रत्येक नगर में जरूरत है और हमारा खयाल है कि जनता उनका बड़े हृप से स्वागत करेगी।

मैसूर राज्य म हिन्दी अभी तक अख्तियारी मजमून है। हिन्दी प्रेमियों की ओर से यह आन्दोलन हो रहा है कि हिन्दी को लाजिमी बना दिया जाय। अगर यह उद्योग सफल हो जाय तो हिन्दी प्रचार दुगनी गति से बढ़ने लगे। इसी विषय पर कुछ विचार विनिमय करने के लिए मैं मैसूर राज्य के दीवान सर मिर्जा इस्माइल की खिदमत म हाजिर हुआ। दीवान साहब बड़े ही विद्या प्रेमी और उदार व्यक्ति हैं। हमारी बातचीत हिन्दुस्तानी में हुई। उर्दू साहित्य का उन्हें अच्छा परिचय है और बेतकल्लुफ उर्दू बोलते हैं। हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रभाषा की जरूरत को वह भी स्वीकार करते हैं और इस आन्दोलन से उन्हें सहानुभूति है लेकिन एक सांस्कृतिक विषय में वह सरकारी तौर पर कोई कारवाई करने के पक्ष में नहीं हैं। जब तक यह माँग इतनी बलवान नहीं हो जाती कि कार्यकारिणी समिति इसे बहुमत से स्वीकार कर ले तब तक राज्य इसमें दखल देना मुनासिब नहीं समझता। सब कुछ राष्ट्र भाषा के प्रेमियों और प्रचारकों के धैय उत्साह और लगन पर मुनहसर है। जब तक हम हिन्दुस्तानी को सर्वसम्मति से राष्ट्र भाषा स्वीकार न करा लें तब तक राज्य उसे कैसे स्वीकार करेगा। दीवान साहब हमारे साथ बड़ी मेहरबानी से पेश आये। गोरे अधिकारियों ने हमें यह सिखाया है कि अधिकार और सज्जनता म मेल नहीं होता। दीवान साहब इसके अपवाद हैं। आपसे मिलकर फिर-फिर मिलने की इच्छा होती है।

हमने चौथे दिन बंगलोर म पूना को प्रस्थान किया। श्री सिवासराव जी ने हमारा जो सत्कार किया उसके लिए हम उनके एहसानमन्द हैं। आप हैं तो एक स्कूली के व्यक्ति मगर आपके चाल-तौर में सजीवता भरी हुई है। आप वकील हैं प्रकाशक हैं लेखक हैं और हिन्दी प्रचार के स्तंभ हैं। आपने कनाड़ी भाषा में Book of knowledge के ढंग की एक माला मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित करना आरम्भ किया है और शायद उसके चार नम्बर निकल चुके हैं। इसमें अनेक खण्ड हैं और साहित्य विज्ञान इतिहास भूगोल कला कौशल जीव शास्त्र वनस्पति आदि अनेक विषयों पर बालकों

यूरोपीय निर्माण है। और चेष्टा की गयी है कि उसकी भाषा सरल, सजीव और रोचक रहे। हिन्दी में अभी तक ऐसी कोई माला नहीं निकली है। श्रीनिवासदास इसका एक हिन्दी एडिशन निकालने का प्रबन्ध कर रहे हैं। मसाला उनके पास है ही, केवल निबन्धों का सरल हिन्दी में अनुवाद करना है। हमें आशा है कि हिन्दी में इस माला का आदर होगा। बच्चों के लिए हिन्दी में किस्से कहानियाँ तो बहुत निकली हैं, लेकिन ज्ञान बढ़ानेवाली पुस्तकों का अभाव है। इस संग्रह से यह कमी पूरी हो जायगी।

फरवरी-मार्च १९३५

सरहदी सूबे में हिन्दी और गुरुमुखी का बहिष्कार

नये शासन विधान में जिस तरह का स्वराज्य और प्राविंशल आटानोमी मिलने वाली है उसका नमूना हमारी सरहदी सरकार ने दिखा दिया। उसे इसकी बिलकुल परवाह नहीं कि सभ्य संसार में अल्प-संख्यकों के कुछ हक मान लिये गये हैं और उनमें भाषा, धर्म और संस्कृति की रक्षा का मुख्य स्थान है। मगर सभ्य संसार से उसे क्या मतलब? उसे तो स्वराज्य मिला है और वह एक नयी नीति, नये विधान का आविष्कार करेगी और दुनिया को दिखा देगी कि बहुमत अपने अल्प-संख्यकों के साथ कितनी उदारता का बर्ताव करता है और इसलिए उसे क्यों न डोमिनियन स्टेटस मिले। हमारा खयाल है, अगर अल्पमत और बहुमत में इस तरह के व्यवहार पर सरकार को निरंकुश छोड़ दिया जाय तो वह डोमिनियन स्टेटस नहीं पूर्ण स्वराज्य भी बड़ी खुशी से दे देगी।

सरहदी सूबे के शिक्षा मन्त्री एक मुसलमान सज्जन हैं जिनकी नीतिज्ञता और दक्षता की हम बहुत प्रशंसा सुन चुके हैं, सरकार के शुभचिंतकों में उनका ऊँचा स्थान है। मिनिस्ट्री के लिए अभी तक तो जिस सिद्धान्त की सबसे ज्यादा जरूरत समझी गयी है, वह यही है। अगर शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर कोई योरोपियन साहब होते तब तो मिनिस्टर साहब के सिर से सारी जिम्मेदारी उठ जाती। कौन नहीं जानता कि बेचारे मिनिस्टर महोदय काठ की पुतली हैं और उसकी रस्सी दूसरों के हाथ में होती है। अगर वह जरा भी अपनी सजीवता का परिचय दे तो उसे मिनिस्ट्री की गद्दी छोड़ना पड़े और ऐसे साहसी तो विरले ही होते हैं, जो सिद्धान्त के लिए स्वार्थ का त्याग कर सकें। इसलिए अगर डाइरेक्टर कोई अंग्रेज सज्जन होते तो हम मिनिस्टर साहब को दया का पात्र समझकर चुप हो जाते। लेकिन जब हम देखते हैं कि आजकल शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर एक मुसलमान सज्जन हैं, और हिन्दी तथा गुरुमुखी के बहिष्कार का सरकुलर उनकी शुभ कीर्ति है, तो यही नहीं कि मिनिस्टर इस जिम्मेदारी से नहीं बचते बल्कि सारी जिम्मे

गरी उन्हीं पर आ जाती है। यह तो हमारी समझ में खूब आता है कि हिन्दुस्तानी
मिनिस्टर एक योरोपियन डाइरेक्टर के सामने चूँ नहीं कर सकता और चूँ करे तो
उसकी खैरियत नहीं लेकिन यह हमारी समझ में नहीं आता कि हिन्दुस्तानी मिनिस्टर
मुसलमानी डाइरेक्टर के सामने भी चूँ नहीं कर सकता? अपनी इच्छा के विरुद्ध हम
इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह बहिष्कार दोनों सज्जनों के संयुक्त विचार का फल है
मगर जिम्मेदारी मिनिस्टर साहब के सिर है क्योंकि वह इस पद पर इसलिए हैं कि प्रजा
के हकों की रक्षा करें विशेषकर अल्पमत के। बहुमत अपनी रक्षा आप कर सकता है
मगर यहाँ हम यह देखते हैं कि जो अल्पमत का रक्षक समझा जाता था वही उसका
भक्षक हो रहा है, और इससे भी ज्यादा शोक और लज्जा की बात यह है कि वह लोग
भी मौन हैं जिन्हें इस विषय में अल्पमत की ओर से लड़ना चाहिए था। हमारे मुसलिम
लीडरों में—जहाँ तक हमें मालूम है—अभी तक किसी ने भी इस अन्याय-पूर्ण अपमान
जनक अराष्ट्रीय संकीर्ण नीति के खिलाफ आवाज नहीं उठायी। इसका अर्थ इसके सिवा
और क्या हो सकता है कि मिनिस्टर साहब ने जो नीति प्रकाशित की है उसे पसन्द
किया जा रहा है, या कम से कम उसे इतना महत्त्व नहीं दिया जाता कि उस पर स्पष्ट
रूप से कुछ कहा या लिखा जाय। मुसलमानों ने अन्य जातियों पर सदियों तक जिस
निष्पक्षता और न्याय के साथ शासन किया उसका इतिहास में कोई जवाब नहीं
मिलता। और आज उसी जाति का एक व्यक्ति प्रजा के माने हुए अधिकार छीने लेता है
और उसी जाति के नेता शान्ति से बैठे हैं।

और यह चिनगारी उस वक्त फेंकी गयी है जब हर तरफ अविश्वास और विरोध की
बारूद चारों तरफ फैली हुई है और सर्वव्यापी विस्फोट का भय है। एक तरफ तो यह
प्रयत्न किया जा रहा है कि हिन्दी और उर्दू में एकरूपता पैदा कर उनमें जो भेद है
उसको मिटा दिया जाय और उनमें ऐसा समन्वय कर दिया जाय कि वे यथार्थ में देश
की राष्ट्रभाषा बन जायें। दूसरी ओर इस खाई को और चौड़ा करने का प्रयत्न किया
जा रहा है। क्या हम दूसरे प्रान्तों के मुसलमान मित्रों से यह याचना नहीं कर सकते कि
'दूसरों के साथ वही व्यवहार करो जो तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें' के सुन
हले सिद्धान्त के अनुसार वे इस अवसर पर सरहदी सूबे के अल्पमतों के हकों की हिमायत
करें? गोलमेज सभा में मुसलिम अल्पमत ने यह बिलकुल जायज माँग पेश की थी और
वह एक स्वर से स्वीकार भी कर ली गयी थी कि उनकी भाषा और संस्कृति की रक्षा
विधान की मौलिक धाराओं-द्वारा कर दी जाय जिसमें बहुमत की ओर से उन्हें किसी
प्रकार का भय न रहे। ऐसे प्रतिबन्ध हरएक जनसत्तात्मक विधान के मुख्य अंग हैं जो
सभ्य संसार में सर्वमान्य समझे जाते हैं मगर सरहदी सूबे में वही मुसलिम बहुमत हिन्दू
और सिक्ख अल्पमत के सांस्कृतिक स्वत्वों पर आघात कर रहा है जिनसे आधार की
जान है। मनोवृत्तियाँ बदलती रहती हैं यह हम मानते हैं लेकिन इतनी नहीं कि सभ्य

मत में कुछ और हो और बहुमत में बिलकुल उसके विरुद्ध । क्या सरहदी सूबे के मुसलिम बहुमत ने इस पक्षपात-पूर्ण नीति से यह साबित नहीं कर दिया कि हिन्दू-सभा का यहाँ आईनी शासन की स्थापना से जो विरोध था वह सर्वथा साधार था । और जब इस दशा में कि अधिकार बहुत ही थोड़े मिले हैं बहुमत इतनी दस्तंदाजी कर रहा है तो उस वक्त अल्पमत की क्या गति होगी जब अधिकारों का क्षेत्र बढ़ जायगा ? दो साल पहले हिन्दी के हिमायतियों ने पंजाब सरकार से यह बिलकुल जायज मुतालबा किया था कि पत्रों पर हिन्दी में पते लिखे जाने का जो निषेध है वह उठा लिया जाय और हिन्दी पत्र नष्ट न किये जाया करें क्योंकि वहाँ हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या हिन्दी में ही पत्र-व्यवहार करती है, तो इस पर चारों तरफ वावेला मच गया था कि उर्दू को मिटाया जा रहा है उसकी जड़ खोदी जा रही है । हालाँकि मुतालबा सर्वथा निरापद और निरीह था । कुछ हिन्दी सिरनामों से उर्दू के प्रचार या विकास में कोई बाधा न पड़ सकती थी । आज सारे देश में उर्दू सिरनामे लिखे जाने लगें तो उससे उर्दू को कोई बड़ा फ़ैज न पहुँच जायगा और न हिन्दी पते लिख जाने से हिन्दी ही मालामाल हुई जाती है । केवल उन हिन्दी-प्रेमियों के मनोभावों के आदर का प्रश्न था । जो दुर्भाग्यवश वह नहीं पा सके । यह माँग ठुकरा दी गयी हालाँकि हिन्दी प्रेमियों की संख्या पंजाब में भी बीस फी सदी से कम न होगी लेकिन वही लोग जिन्होंने हिन्दी का यहाँ विरोध किया यह हर्गिज न बर्दाश्त करेंगे कि दक्षिण भारत में जहाँ मुसलमानों की तादाद शायद दस फी सदी से ज्यादा न होगी उर्दू सिरनामेवाले पत्र फाड़कर फेंक दिये जायँ और बर्दाश्त करना भी नहीं चाहिए । उर्दू केवल प्रांतीय-भाषा नहीं है मगर उसी तरह हिन्दी केवल प्रांतीय भाषा नहीं है—और उनमें से किसी एक को भी मिटाया नहीं जा सकता । उनकी उन्नति पृथक रहकर भी सहयोग में है । दोनों को अपने-अपने विकास और फैलाव और सम्पन्नता का समान अवसर मिलना चाहिए । क्या उर्दू प्रेमियों में कल्पना का इतना अभाव है कि वह खुद जिस हक पर जान देते हैं वही दूसरों से छीन लेना चाहते हैं और उस दुःख और निराशा और मनस्ताप की कल्पना नहीं कर सकते जो ऐसी दशा में उन्हें खुद होता ? यह तो बिलकुल अजीब रीति है, कि जो चीज इंग्लैंड के लिए सुधा समझी जाय वह हिन्दुस्तान के लिए विष ।

पर इस उद्देश्य पर विचार करना चाहिए, जिसे पूरा करने के लिए इस नीति का आविष्कार किया गया है । सरहदी सूबा अपने बालकों और बालिकाओं को प्रान्त की व्यापक भाषा में शिक्षा देना चाहता है, जिससे वे हिन्दुस्तान में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकें और इसके लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं में शिक्षा देना अहितकर है । सरहदी सूबे में आम चलन उर्दू है इसलिए सबको उर्दू में ही शिक्षा मिलनी चाहिए और अंग्रेजी का तो प्रभुत्व है ही मगर हरेक प्रान्त इसी नीति का अनुसरण करने लगे तो देश में हाहाकार मच जाय । हिन्दुस्तान के अक्सर सूबों में उर्दू जाननेवालों की संख्या

नगण्य है, फिर भी उर्दू पढ़ाने का सभी जगह काफ़ी इन्तज़ाम है और होना चाहिए। बिहार में तो जहाँ कहीं १० लड़के भी उर्दू पढ़ने के इच्छुक हों वहीं उनके लिए शिक्षा का प्रबन्ध हो सकता है। हम यह मानते हैं कि बाज़ हालतों में अल्पमत को बहुमत में मिला देने के लिए और इस प्रकार आपस के भेद-भाव की जड़ काट डालने के विचार से ज़बरन ऐसी नीति का आश्रय लेना पड़ता है लेकिन यह उसी हालत में मुमकिन है जब अल्पमत के पास अपनी कोई भाषा, कोई साहित्य या संस्कृति न हो। सरहदी प्रान्त के हिन्दू इस श्रेणी में नहीं आ सकते। उनके पास यह सब कुछ काफ़ी मौजूद है जिससे उनकी पृथक सामाजिक सत्ता मानी जानी चाहिए। कई बातों में तो वे बहुमत से बढ़े हुए हैं। शिक्षा ही को ले लीजिए। सूबे भर के इक्तीस मिडिल स्कूलों में उन्नीस हिन्दुओं और सिक्खों के प्रबन्ध में हैं। हिन्दू लड़कियों की संख्या मुसलिम बालिकाओं से कहीं ज़्यादा है। मिडिल की परीक्षा में छः मात्र उर्दू लड़कियों के मुक़ाबले में हिन्दू और सिक्ख कन्याओं की संख्या एक सौ उनसठ थी। हिन्दू सरकार को इनकमटैक्स भी अपनी संख्या के अनुपात से कहीं ज़्यादा अदा करते हैं। ऐसी हालत में उन्हें बहुमत में मिला लेने की कोई कोशिश बेकार है, उसी तरह जैसे हिन्द बहुमत मुसलमानों को अपने में पचा लेना चाहे तो यह उसकी हिमाक़त होगी। यद्यपि हम विशेषाधिकारों के पक्ष में नहीं हैं लेकिन जिस नीति पर आजकल भारत चल रहा है उसके लिहाज़ से तो सरहदी सूबे के हिन्दुओं और सिक्खों को विशेषाधिकार मिलने चाहिए।

इन सारी परिस्थितियों पर विचार करके हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि इस नयी नीति की प्रेरणा चाहे और जिन कारणों से हुई हो राष्ट्रहित की सद्भावना उसमें नहीं है। धार्मिक दृष्टि से बेशक इस नीति के लिए एक तर्क पेश किया जा सकता है मगर जब कि सरहद की हिन्दी जनता सूबे का विशिष्ट अंग है तो उसके स्वत्वों का किसी धार्मिक नीति पर होम नहीं किया जाना चाहिए। यह कहना कि यह क़दम नेक नीयत से उठाया गया है किसी को धोखे में नहीं डाल सकता।

हमारी दशा कितने उपहास, कितनी लज्जा और कितनी दया के योग्य है। हम थोड़ा-सा अधिकार पाकर भी उसका सदुपयोग नहीं कर सकते। वहीं हम जो दूसरों के पैरों के नीचे पड़े सिसक रहे हैं अपनी तंगदिली और अपनी अदूरदर्शिता से उन सीमाओं को कुचलने से बाज़ नहीं आते जिन पर हमारा क़ाबू है। जब तक हम इस मनोवृत्ति से अपने को मुक्त न कर लेंगे और हम में एक दूसरे के प्रति सद्भावना न जागेगी हम चाहे स्वराज्य किसे चाहें स्वयं हमें गुलामी से निजात न मिलेगी। हमारे भाग्य के विधाता हमारी इस नोच-खसोट पर कितने खुश होंगे और उससे और दूने ज़ोर शोर से हमें लड़ाने का प्रयत्न करते हैं। काश हम उनका यह प्रभाव न भुला सकते, जो प्यासा के ओर के साथ स्वप्न में हमारी इस दुनिया पर होते हैं। क्या हम आशा करें कि सरहद का शिक्षा-विभाग अपनी इस असीम करोणा का महानता का सबसे बड़ा प्रमाण है और

इस पासली को बमीन के अन्दर दफन कर देगा ? मुसलिम नेताओं से भी हमारी यही प्रार्थना है कि वे अपने प्रभाव और अपनी उदारता और राष्ट्र हित-कामना से काम लेकर कौम को इस खतरे से बचायें। दिसम्बर १९३२

हिन्दुस्तान की कौमी जबान

कानपुर के सहयोगी 'जमाना' में मि. सलीम जाफ़र ने उक्त विषय पर एक साहसपूर्ण लेख लिखते हुए अन्त में कहा है—

'अगर एक जबान का पैदा करना जरूरी है तो और नहीं तो हिन्दू और मुसलमान इसी पर रजामन्द हो जायें कि दोनों अपने-अपने बच्चों को हिन्दी और उर्दू दोनों जबानें मदरसों में पढ़वायेंगे और जो महत्व आज अंग्रेजी को हासिल है उसकी जड़ काट देंगे। दफ्तरों की जबान बदलवा देंगे अदालतों में फैसले मुल्की जबानों में लिखे जायेंगे और वकील मुल्की जबानों में बहस करेंगे क्योंकि इन बातों के बगैर अंग्रेजी के प्रभुत्व पर आँच नहीं आ सकती।"

हिन्दू तो आज भी लाखों की संख्या में उर्दू पढ़ते हैं, लिखते हैं और उसको अपनी मातृभाषा समझते हैं। मुसलमानों ने शुरू में हिन्दी को अपनाया था मगर अब वे हिन्दी का अक्षर देखना भी गुनाह समझते हैं। क्या हमारे मुसलमान दोस्त इस बात पर राजी होंगे कि हिन्दी हाई स्कूल तक लाजिमी करार दे दी जाय। हमारा यकीन है हिन्दुओं को हाई स्कूल तक उर्दू के लाजिमी बनाये जाने में एतराज न होगा। अगर दोनों जबानें हाई स्कूल तक लाजिमी हो जायें तो दोनों जबानों का विकास इस ढंग से होगा कि वे दिन-दिन एक-दूसरे के समीप आती जायेंगी और एक दिन दोनों भाषाएँ एक हो जायेंगी। अगर मुसलमान इसे मंजूर कर लें तो मुल्की जबान भी यही हो जायगी फैसले भी इसी जबान में लिखे जायेंगे और वकील भी इसी जबान में बहस करेंगे। जब तक दोनों भाषाओं को समीप न लाया जायगा अंग्रेजी का प्रभुत्व बना रहेगा।

दिसम्बर १९३२

हिन्दुस्तानी एकाडेमी का सालाना जलसा

हिन्दुस्तानी एकाडमी प्रयाग का सालाना जलसा जनवरी के पहले सप्ताह में होना निश्चित हुआ है। इस अवसर पर प्रान्त के सुलेखक और विद्वान एकत्र होकर साहित्य और संस्कृति के अनेक विषयों पर भाषण करेंगे और लेख पढ़ेंगे। एकाडमी ने अबकी उर्दू विभाग की सदारत के लिए बलिया के वयोवृद्ध अनुभवी और यशस्वी मौलाना

प्रमुख पुरुष को निर्वाचित किया है। हिन्दी विभाग के सभापति माननीय डा० गंगानाथ झा होंगे। बिहार के यशस्वी लेखक राजनीति-विशारद और वक्ता श्री सच्चिदानन्द सिंह उर्दू के सभापति चुने गये हैं। इस तरह एकाडमी ने अपनी अन्तर-प्रान्तीयता का परिचय दे दिया है। हमारे देश में साहित्य की प्रान्तीय संस्थाएँ तो अनेक हैं पर अभी तक ऐसी कोई संस्था नहीं है जो अन्तर प्रान्तीय साहित्य-स्रष्टाओं को निमन्त्रित करके आदान-प्रदान का सम्बन्ध पैदा करे। हिन्दुस्तानी भाषा भारतवर्ष की आम भाषा है और हम एकाडमी से सविनय अनुरोध करते हैं कि वह इस अवसर पर अन्य प्रान्तों के साहित्य-सेवियों को भी निमन्त्रित किया करे। इससे यही नहीं कि एकाडमी का यह उत्सव ज्यादा आकर्षक हो जायगा बल्कि हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य को प्रगति मिलेगी हिन्दुस्तानी भाषा का प्रभाव बढ़ेगा हमारा साहित्यिक दृष्टिकोण फैलेगा और हमारी अनुभूतियों का भंडार सम्पन्न होगा। साहित्य के ऐसे कितने ही प्रश्न हैं जिन पर अभी तक हमने केवल व्यक्तिगत रूप से विचार किया है। उन पर परस्पर के सम्भाषणों से प्रकाश पड़ेगा और हम अपनी भ्रान्तियों का सुधार और अपनी धारणाओं की पुष्टि कर सकेंगे।

दिसम्बर १९३४

राष्ट्र-लिपि

राष्ट्र-लिपि समिति की सूचनाएँ समय-समय पर पत्रों में छपती रहती हैं और उनमें पाठकों को उसकी प्रगति की जानकारी होती रहती है। 'हंस' के पिछले अंक में हमने श्री काका कालेलकर का इस विषय पर एक रचनात्मक लेख भी प्रकाशित किया था। दिसम्बर की 'माधुरी' में इसी विषय पर श्री वेंकटराव ने एक महत्त्वपूर्ण लेख छपवाया है जिसमें उन्होंने यह दिखाया है कि नागरी लिपि में थोड़े बहुत परिवर्तन कर देने से ही राष्ट्र-लिपि का उद्देश्य पूरा न होगा। उसके लिए तो एक अलग नयी लिपि की जरूरत है जो कम से कम समय में सीखी लिखी और पढ़ी जा सके। उन्होंने नागरी लिपि की जगह एक नयी लिपि का आविष्कार भी किया है और कोई नयी लिपि स्वीकार करने के विरुद्ध जो युक्तियाँ दी जा सकती हैं उनका जवाब भी दिया है। इसमें कोई शक नहीं कि वेंकटराव जी का यह उपाय तारीफ के काबिल है लेकिन जब हम यह देखते हैं कि नागरी लिपि में थोड़े ही हेर-फेर से बंगला गुजराती उड़िया गुरुमुखी आदि लिपियों के निकट आ जाती है और इन प्रान्तों में अगर एक प्रान्त की सभी भाषाओं को नागर मान भी जाय तो भी लगभग दो करोड़ आदमियों का प्रश्न आ जाता है जिन्हें नयी लिपि सीखनी पड़ेगी। चूँकि तमिल-तेलगू आदि का उद्गम भी ब्राह्मी लिपि है इस

लिए नागरी को हम अरबी लिपि के जितना ही समीप ले जायँ उतनी ही भारतीय लिपियों में निकटता आ जायगी। इस विषय में कुछ प्रचार और प्रोपेगैंडा हो भी चुका है, और लिपि-सुधार-समिति की कोशिशों से उसमें जो कठिनाइयाँ थीं उनके दूर हो जाने की भी आशा है। ऐसी दशा में हम तो किसी नये आविष्कार का समर्थन नहीं कर सकते। हमें तो सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने साथ ले चलना है। लिपि-सुधार-समिति ने संयुक्ताक्षरों के लिए कुछ नयी व्यवस्था करके छापे की कठिनाइयाँ भी दूर करने की चेष्टा की है और श्री हरि जी गोविल से हमें यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि वह जो नये टाइप बनवा रहे हैं उनकी संख्या मौजूदा पाँच सौ की जगह डेढ़ सौ से ज्यादा न होगी। इससे छापे में कितनी सुविधा हो जायगी और प्रकाशन में व्यय की कितनी किफायत हो जायगी उसके साथ ही इन नये परिवर्तनों के लिए किसी शिक्षा की जरूरत नहीं। थोड़े से अभ्यास से हमारी आँखें उनके नये रूप से अभ्यस्त हो जायँगी।

जनवरी १९३६

हिन्दुस्तानी एकाडेमी का वार्षिक सम्मेलन

चार साल के बाद अबकी बारह, तेरह, चौदह जनवरी को हिन्दुस्तानी एकाडेमी इलाहाबाद ने फिर अपना सालाना जलसा किया। इसके सभापति बिहार के प्रसिद्ध नेता साहित्यकार और 'हिन्दुस्तान रिव्यू' के यशस्वी सम्पादक श्री सच्चिदानन्द सिंह थे। साहित्यकारों का अच्छा सम्मेलन था। उन्हें उर्दू और हिन्दी दो विभागों में बाँट दिया गया था। उर्दू विभाग के सद्र मौलाना अब्दुल हक साहब थे और हिन्दी विभाग के सद्र डा० धर्मानन्द भट्ट थे। दोनों विभागों में कई अच्छे-अच्छे निबन्ध और गवेषणा और खोज से भरे हुए लेख पढ़े गये मगर दोनों सम्मेलनों के अलग-अलग होने के कारण श्रोताओं को सारे निबन्धों को सुनने का अवसर न मिला। निमंत्रित सज्जनों के एक जगह रहने का कोई इन्तजाम हो सकता तो आपस में विचार-विनिमय के अवसर मिलते और इस सम्मेलन की उपयोगिता कहीं ज्यादा बढ़ जाती। यहाँ संध्या होते ही लोग अपने-अपने डेरों की राह लेते थे और दूसरे दिन फिर उसी वक्त आते थे जब जलसा शुरू होनेवाला होता था। उर्दू और हिन्दी विभाग को अलग अलग कर देने से एक और हानि यह हुई कि उर्दू और हिन्दी के बीच में जो दीवार खड़ी होती जा रही है, वह और भी ऊँची हो गयी। अगर दोनों समुदाय मिल नहीं सकते तो न मिलें। अपनी अपनी अलग बजाना चाहते हैं, तो बजाते जायँ लेकिन क्या इसमें भी कोई बुराई है कि दोनों एक-दूसरे की धुन भी सुन सकें? अगर निबन्धों की चुनी हुई संख्या सम्मिलित रूप से पढ़ी जाती तो पृथकता का भाव तो कुछ न कुछ कम हो ही जाता। हमें तो इन सारे निबंधों

में मीमांसा मालूम हुए साहब का सुतबा ही सबसे ज्यादा विचारपूर्ण साबित रहा। उनके भाषण में जोर था, स्फूर्ति थी और यकीन पैदा करनेवाली शक्ति थी। आपने बहुत ठीक कहा कि अभी तक साहित्य और भाषा की उन्नति के लिए जितने प्रयास किये गये और किये जा रहे हैं उनमें कोई सामंजस्य नहीं है। हरेक अपने-अपने ढंग से अपना अपना काम करता है, दूसरे की अनुभूतियों और गलतियों से लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की जाती। जो काम एक करता है, वही काम दूसरा करता है, और इस तरह बहुत-सा परिश्रम और धन व्यय हो जाता है।

सभापति महोदय ने एकाडेमी के किये हुए कामों पर एक सरसरी नजर डालते हुए यह इच्छा प्रकट की कि ऐसे सम्मेलन प्रतिवर्ष होना चाहिए और उसमें भारत के अन्य भाषाओं के विद्वानों को भी निमन्त्रित करना चाहिए। आपने हिन्दी-उर्दू विवाद पर प्रकाश डाला और दोनों बहनों को समीप आने और गले मिल जाने का अनुरोध किया। आपके शब्द यह हैं—

'आनरेबल राय राजेश्वरबली ने सर विलियम मैरिस (गवर्नर संयुक्त प्रान्त) को हिन्दुस्तानी एकाडमी को कायम करने की दावत देते हुए अपने भाषण में कहा था कि 'एकाडमी एक ऐसी जबान को तरक्की देने की कोशिश करेगी जिसे पढ़े-लिखे भारत के अलावा सब समझ सकेंगे। मुझे इस दृष्टिकोण से पूरी सहानुभूति है। सर विलियम मैरिस ने शिक्षा मन्त्री को जवाब देते हुए कहा—हर हिन्दी लिखनेवाले का उद्देश्य यह होना चाहिए कि *मानो वह मुसलमानों के पढ़ने के लिए लिख रहा है* और इसी तरह हर उर्दू लिखनेवाले को यह खयाल रखना चाहिए, मानो वह हिन्दुओं के पढ़ने के लिए लिख रहा है।

उत्तर भारत में यह विषय साहित्य और भाषा दोनों ही एतबार से बहुत महत्त्वपूर्ण है और सभापति ने अपने भाषण में इसी समस्या को हल करने की चेष्टा की लेकिन पार्थक्यवादियों को उनका यह प्रयत्न कुछ रुचिकर न लगा और जल्सा समाप्त हो जाने के बाद पत्रों में पृथक्ता के समर्थन में बार-बार लेख लिखे जा रहे हैं और यह सिद्ध किया जा रहा है कि उर्दू और हिन्दी अब अलग-अलग रास्तों पर चलकर एक दूसरे से इतनी दूर निकल गयी हैं कि उनका समीप आना असम्भव है और यह कि उनको मिलाने की कोशिश दोनों ही भाषाओं को मटियामेट कर देगी। एकतावादियों को बार बार चुनौती दी जा रही है कि वे कोई ऐसी रचना करके दिखा दें जिसमें एकता का आदर्श निभाया गया हो और वह किस्से-कहानी की पुस्तक न हो बल्कि कोई ऐतिहासिक या वैज्ञानिक या दार्शनिक या आलोचनात्मक कृति हो। हम अपने पृथक्तावादी भाइयों से बड़े अदब के साथ पूछेंगे कि अगर ऐसी कोई जबान मौजूद होती तो इस संस्था की जरूरत ही क्यों पड़ती। श्री सच्चिदानन्द सिंह ने जिन भावकों का हवाला दिया है उन्हीं भावकों ने अब यह बात गोद लिया ली गयी है कि एकाडमी के सम्पादकों को

ऐसा कोई नयी भाषा निर्माण करना नहीं बल्कि उर्दू और हिन्दी की पृथक-पृथक तरक्की करना था और इस संस्था का नाम 'हिन्दुस्तानी एकाडेमी' केवल इसलिए रख दिया गया था कि 'उर्दू-हिन्दी एकाडेमी' कुछ सुनने या लिखने में भला न लगता था। हमारे मित्रों ने जिस परिश्रम से यह खोज की है, उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं लेकिन सर विलियम मैरिस या आनरेबुल राय राजेश्वरबली के उन भावों में जो उनके मन में थे हिन्दुस्तानी एकाडेमी के विषय में किसी तरह की दुविधा नहीं मालूम होती। वे दोनों भाषाओं की इस प्रगति से असन्तुष्ट थे और उसका सुधार करने के लिए ही एकाडेमी की स्थापना हुई थी। उर्दू और हिन्दी को पृथक-पृथक अपने रास्ते पर चलाने के लिए किसी तरह के सरकारी सहारे की जरूरत न थी दोनों भाषाएँ उसकी मदद के बगैर उन्नति कर रही हैं।

अगर हम पूछते हैं अगर सर विलियम मैरिस और राय राजेश्वर बली ने उर्दू और हिन्दी को पृथक रखने ही के लिए एकाडेमी की स्थापना की तो अब हमारा कर्तव्य क्या है? पृथकता को बढ़ाना या घटाना? अगर बढ़ाने का निश्चय कर लिया जाय तो यह साहित्य और राष्ट्र दोनों ही के लिए अहितकर होगा। हमारा आदर्श पृथकता नहीं एकता होना चाहिए। इसे मानकर हमें आगे अपने कर्तव्य का फैसला करना होगा। और मिलाने की सबसे पुरअसर तदबीर यह है कि वर्नाक्यूलर फाइनल और हाई स्कूल परीक्षा तक उर्दू और हिन्दी दोनों लाजिमी विषय बना दिये जायें। तभी आनेवाली पीढ़ी जिस भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए जो शब्द उपयुक्त समझेगी उसका व्यवहार करेगी। और ऐसे तो हजारों शब्द हैं जिनका आज भी हम व्यवहार कर सकते हैं, पर भाषा-चातुरी दिखाने की हवस हम उन शब्दों का व्यवहार नहीं करने देती। डाक्टर ताराचन्द ने हिन्दुस्तानी में जो भाषण दिया था उस पर यारों ने खूब कहकहे मारे थे लेकिन काश उन्हें किसी ऐसे पब्लिक जलसे में बोलने का अवसर मिलता जिसमें अपढ़ या कमपढ़ हिन्दू-मुसलमान दोनों ही होते तो उन्हें मालूम होता कि यही जनता की भाषा है।

फरवरी १९३६

दिल्ली में हिन्दुस्तानी सभा

हिन्दुस्तान में शायद यह पहला मौका था कि आठ मार्च को देहली की जामिया मिलिया में देहली के उर्दू और हिन्दी के अदीबों और साहित्यकारों ने मिलकर एक हिन्दुस्तानी सभा की बुनियाद डाली जिसका उद्देश्य यह होगा कि वह दोनों साहित्यों को एक दूसरे के समीप लाये उनके अदीबों में मुहब्बत हमदर्दी और एकता पैदा करे, उन्हें

एक-दूसरे के विचारों और भावों को जानने और समझने का मौका दें और हिन्दुस्तानी भाषा के विकास का आयोजन करें। एक समय था जब हम्म और इन की इतनी उन्नति और राजनीति में इतनी जागृति न होने पर भी आपस में बहुत कुछ मुहब्बत थी और साहित्य के क्षेत्र में तो कोई भेद ही नहीं था मगर जमाने ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि हिन्दी हिन्दुओं की जबान हो गयी और उर्दू मुसलमानों की। हिन्दुओं ने उर्दू से मुँह मोड़ना शुरू किया मुसलमानों ने हिन्दी से। अलग-अलग दो कैम्प हो गये और दोनों जबानें और साहित्य राजनीति के चक्कर में पड़ गये। आपस में मनमुटाव बढ़ने लगा। हिन्दी प्रचार की कोई कोशिश उर्दू दायरे में सन्देह की आँखों से देखी जाने लगी उर्दू प्रचार की हिन्दी दायरे में। हालाँकि मजहब का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं उसका विषय तो ईमान है और ईमान चाहे अपने माथे पर कोई लेबल लगाये वह ईमान ही है मगर यह राजनीति का युग है और कोई उद्योग ऐसा नहीं जिस पर राजनीतिक सत्ता का रंग न चढ़ाया जा सके। इसका नतीजा यह हुआ है कि हिन्दी से अलग उर्दू से न्यारे हैं और उर्दू के अलग हिन्दी से। उर्दू में जो कुछ लिखा जाता है वह उर्दू पाठकों को सामने रखकर हिन्दी में जो कुछ लिखा जाता है, हिन्दी पाठकों को सामने रखकर। हिन्दी लेखक क्यों यह समझें कि उसके पाठकों में उर्दू जाननेवाले भी हैं, जब वह जानता है कि ऐसा नहीं है। उर्दू लेखक इतना आशावादी नहीं है, क्योंकि अब भी पिछली पीढ़ी के कुछ लोग बाकी हैं जिन्हें उर्दू और हिन्दी दोनों से एक-सा प्रेम है, क्योंकि वह उन्हें एक ही जबान के दो रूप समझते हैं फिर भी ऐसे लोग तादाद में इतने कम हैं कि अदब और जबान की प्रगति में उनका लिहाज नहीं किया जा सकता। इस तरह दोनों जबानें अलग होती जा रही हैं और जिनसे हम अपनी जबान में बेतकल्लुफ बातचीत न कर सकें उनसे दिल क्योंकर मिलेगा। हिन्दी और उर्दू साहित्य बदकिस्मती से ऐसे जमाने से गुजरे, जब साहित्य ने आम जिन्दगी से नाता तोड़-सा लिया था और उसकी सारी ताकत विरह और विलाप के दुखड़े रोने में कटती थी या बहुत हुआ तो शराब की तारीफ की और दुनिया की अनित्यता पर फिलासफी बघारी लेकिन दुनिया में जो साहित्य जीव-जागते हैं उन्होंने कौम की तामीर बनायी है उसकी संस्कृति बनायी है। अदीब ही कौम का पथ-प्रदर्शक होता है। उसका दिल प्रेम की ज्योति से भरा होता है। उसमें तास्सुब और तंगखयाली के लिए जगह नहीं होती। आज पुरुषार्थ से लड़नेवाले लोग हैं यही अदीब। ऐसी कौन-सी क्रान्ति है जिसका बीजारोपण अदीबों ने न किया हो। इससे किसे इनकार हो सकता है कि कौम का एकीकरण उसकी संस्कृति का एकीकरण है और यह उद्देश्य आपस की दोस्ती विचार-विनिमय और सहृदयता से ही पूरा हो सकता है। भाषा के एकीकरण का भी इसके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं। बोल चाल की भाषा गलियों और बाजारों में बनती है मगर साहित्य और संस्कृति की भाषा तो विद्वानों के समाज में ही बनती। जब उर्दू का एक अदीब अपनी कोई रचना ऐसे

समाज के सामने पढ़ेगा जिसमें हिन्दी के लेखक भी शरीक हैं तो वह ऐसी भाषा लिखने की कोशिश करेगा जो हिन्दीवालों की समझ में आए। इसी तरह हिन्दी का लेखक उर्दू के अदीबों की सुहबत में अपनी भाषा को सुबोध रखने पर मजबूर होगा। और अगर हमारी अन्य योजनाओं की तरह इस सभा का भी शैथिल्य के हाथों अन्त न हो गया तो कुछ दिनों में हम आशा कर सकते हैं कि जैसे दिल्ली में हिन्दी और उर्दू दोनों ही का जन्म हुआ उसी तरह हिन्दुस्तानी भाषा और शैली का विकास भी दिल्ली ही में होगा। अभी तक हिन्दुस्तानी के हिमायतियों के रास्ते में जो सबसे बड़ी मुश्किल है, वह यह है कि वह कुछ कोई ऐसी चीज उस भाषा में नहीं लिख सकते। अगर हिन्दुस्तानी सभा कोई छोटी मोटी पत्रिका भी हिन्दुस्तानी भाषा में निकालने का प्रबन्ध कर सके तो वह क़ौम की बहुत बड़ी खिदमत होगी और उन लोगों को जो हिन्दुस्तानी के समर्थक तो हैं पर हँसी के खौफ से उसका व्यवहार नहीं करते क्योंकि अभी उनकी तादाद बहुत ही थोड़ी है, बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा। हम सभा के मन्त्रियों से दरख्वास्त करते हैं कि वह अपने जलसों की सूचनाएँ अखबारों में छपाया करें ताकि औरों को उनकी कारगुजारियों का हाल मालूम होता रहे।

अप्रैल १९३६

नीर-क्षीर

नीर-क्षीर

कुरान—सूरए बकर—अनुवादक तथा संपादक रामचन्द्र वर्मा तथा श्री प्रेमशरण प्रणत ।

श्रीयुत् पं० रामचन्द्र आर्य कुरान के हाफ़िज़ और अरबी के विद्वान् हैं । शायद उनके सहकारी श्री प्रेमशरण जी भी अरबी के आलिम-फ़ाज़िल होंगे । इन दोनों महानुभावों ने कुरान का हिन्दी अनुवाद करना शुरू किया है । यह पुस्तक केवल एक सूरा है । इसमें अरबी इबारत दी गयी है । उसके नीचे उसकी टीका भी कर दी गयी है । मालूम नहीं टीकाएँ किस मुफ़स्सिर के आधार पर की गयी हैं । उसका नाम कहीं नहीं दिया गया । बिना किसी मुसलमान या मुस्तनद आलिम की सनद के यह टीका कैसे ही मान्य नहीं हो सकती जैसे वेदों की टीका किसी संस्कृतज्ञ मुसलमान द्वारा संपादित की हुई । हाँ इसका एक शुभ फल अवश्य हो सकता है और वह है हिन्दू-मुसलमानों का वैमनस्य । न जाने हमारे ये भाई कब समझेंगे कि इसलाम धर्म का जिज्ञासु कुरान की वह टीका देखेगा जो मुसलमानों द्वारा सम्मानित और प्रमाणित हो । ऐसे अनुवादों से तो झगड़ा पैदा होने के सिवाय और कोई फल नहीं निकल सकता । किन्तु संसार में ऐसे भी प्राणी हैं, खासकर भारतवर्ष में जो दूसरों के मतों का खंडन करना ही जातीय सेवा का मुख्य उपाय समझते हैं ।

हिन्दू मुसलिम-इत्तहाद की कहानी—लेखक स्वामी भवानन्द जी ।

स्वामी जी ने हिन्दुओं और मुसलमानों के आपस के झगड़े की मुख्तसर तारीख लिखी है । झगड़े हमेशा होते रहे हैं । हिन्दुओं की दोनों और दोनों से खूब लड़ाइयाँ हुईं । मुसलमानों की दीनों से दीनों की दीनों से हिन्दुओं की हिन्दुओं से । परन्तु जातिगत और धर्मगत लड़ाइयाँ परम्परा से होती चली आ रही हैं । मगर कोशिश यह होनी चाहिए कि हम उन झगड़ों को भूल जायँ न कि गड़े मुरदे उखाड़ उखाड़कर विरोधी की आग और भड़काते रहें । हिन्दू मुसलमान के सिर पर इलज़ाम रखता है मुसलमान हिन्दू के सिर । दोनों पक्षों को अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए दलीलें और प्रमाण मिल जाते हैं और झगड़ा कभी तय नहीं होता । जब तक हम दूसरों के अवगुणों पर परदा डालना और गुणों को देखना न सीखेंगे जब तक हम अपने हृदय को उदार न बनायेंगे तब तक सुधार की कोई आशा नहीं हो सकती ।

अंधा एतक़ाद और सूफ़िया बेदाद—लेखक श्री स्वामी भवानन्द जी ।

इस पुस्तक में मुसलमानों के एक मुख्य धार्मिक सम्प्रदाय का वृत्तान्त उत्पत्ति से

लेकर उसके वर्तमान स्वरूप तक खोज और प्रमाण के साथ लिखा गया है। इस गुप्त सम्प्रदाय का नाम इसमाइलिया था। इसकी बानी हसन बिन सबाह नाम का एक शिया मुसलमान था। हसन ने अपने सम्प्रदाय को कैसे फैलाया उसके क्या-क्या सिद्धान्त थे और किन उपायों से वह कई सदियों तक बड़े-बड़े बादशाहों को नीचा दिखाता रहा यह वृत्तान्त किसी उपन्यास से कम मनोरंजक नहीं। धर्म के नाम पर संसार में कैसे अत्याचार होते चले आये हैं, इसका यह एक अच्छा उदाहरण है। जब हलाकू खाँ के जमाने में इस सम्प्रदाय की जड़ उखड़ गयी तो उसके कुछ बचे-बचाये आदमी सिन्ध आदि स्थानों में भाग आये। सिन्ध के खोजे उसी इसमाइलिया फिरके के अनुयायी हैं और उनके इमाम सर आगाखाँ हैं। हिन्दुस्तान में आने पर इस फिरके में कितने ही हिन्दू भी शामिल हो गये। अब इस फिरके के नेताओं को यह आशंका हुई कि यदि हिन्दुस्तान में मुसलमानों का राज्य न रहा तो हिन्दू फिर हिन्दू-धर्म को मानने लगेंगे। इसलिए उन मुरीदों को फँसाने के लिए नये-नये धर्म-ग्रन्थों की रचना की गयी जिनमें हिन्दुओं के पुराणों और अवतारों का भी समावेश कर दिया गया। उन ग्रन्थों के नाम भी हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों जैसे रख दिये गये। यही नहीं आगा खाँ भी हिन्दू कहलाते हैं।

इसी इसमाइलिया फिरके की देखा-देखी योरोप में ईसाइयों ने भी जेसुइट नाम का सम्प्रदाय जारी किया जिसने रोमन धर्म की गिरती हुई दीवार को बहुत दिनों तक सम्भाला और उसके प्रचारक पुर्तगाल से आकर हिन्दुस्तान चीन जापान आदि एशियाई देशों में ईसाई-धर्म का प्रचार करते रहे।

लेकिन हम लेखक के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि इस प्रकार का अन्ध विश्वास मुसलमानों और ईसाइयों ही तक महदूद है। हिन्दुओं में भी कई ऐसे मत हैं जिनमें श्रद्धा का उससे कम दुरुपयोग नहीं किया गया जैसा ईसाइयों या मुसलमानों में बाज फिरकों में किया और न यही निर्विवाद है कि मुसलमानों के भारत में आने के पहले हिन्दू-धर्म में हिंसा और अंधविश्वास का पता न था। पाखंडियों से दुनिया कभी खाली नहीं रही। अगर मुसलमानों में इसमाइलियों ने अपने भक्तों की आत्मा पर अधिकार जमाया और उन्हें अन्य धर्मवालों की हत्या करने पर आमादा किया तो भारतवर्ष में भी ऐसे कामांध पुरुषों और महन्तों की कमी नहीं रही जो धर्म की आड़ में नाना प्रकार के भ्रष्टाचरण करते रहे। यह मानना पड़ेगा कि हर एक धर्म में भक्त की सरलता और श्रद्धा से फायदा उठानेवाले मौजूद रहे हैं, अब भी हैं और हिन्दुओं को उनसे सावधान रहना चाहिए।

माधुरी : माघ १६८

माया—लेखक पं० रामगोपाल मिश्र डिप्टी कलेक्टर।

यह एक रूपक है। एक महान् उद्देश्य माया-बन्धन में पड़कर किस भाँति निम्न

हो जाता है, यही इस मनोहर कहानी का विषय है। बीच में सामयिक विचारों का समावेश मिलता है। भाषा बहुत सरल है। आदि में लेखक महोदय का चित्र है। उसके बाद महाराजा बलरामपुर का फोटो भी है। लेखक का चित्र देखकर तो पाठक की उत्सुकता शान्त होती है, पर महाराजा साहब यहाँ क्यों आ बैठे यह समझ में नहीं आता। संभव है, महाराजा साहब गुणियों के कद्रदान हों या लेखक महोदय पर उनकी विशेष कृपा हो। बहरहाल उनके फोटो से पुस्तक का महत्व बढ़ता नहीं कम हो जाता है। क्योंकि यहाँ खुशामद की बू आती है।

चन्द्र भवन—लेखक पं॰ रामगोपाल मिश्र।

इसमें भी न ही दोनों चित्र विराज रहे हैं शायद दोनों के ब्लाक बनवा लिये गए थे तसवीरें ज्यादा छपा ली गयी थीं इसलिए उन्हें दीमकों से खिला देने की अपेक्षा यही हुआ कि उनका कुछ उपयोग हुआ। उपन्यास में बाल-विवाह वृद्ध-विवाह और बेमेल विवाह के कुपरिणाम दिखाये गये हैं। दहेज की कुप्रथा का भी उल्लेख किया गया है। कमला का जीवन इसलिए दुखमय हो जाता है कि पिता के निधन होने के कारण उसका विवाह कृष्ण मुरारी से न हो सका। सोलह वय की बाल-विधवा शान्ता इसलिए विष खा लेती है कि उसकी नव-विवाहिता विमाता ने उसे ससुराल भेज दिया। शान्ता का छोटा भाई सतीश हेमलता के प्रेम में नैराश्य के सिवा और कुछ न देखकर घर से निकल जाता है और हेम का विवाह कृष्ण मुरारी से हो जाता है। किन्तु हेम के हृदय पर सतीश की मुहर थी। हेमलता मिशन की शरण लेती है और अन्त को उसे भी विष खाना पड़ता है। पुस्तक करुणारस-पूर्ण है। चरित्र-चित्रण में भी लेखक की कुशलता का परिचय मिलता है। भाषा सरल और सुबोध है। विवाह की समस्या कठिन है। योरोप में प्रेम के विवाह होते हैं पर थोड़े ही दिनों में तलाक की नौबत आती है। प्रेम ही एक ऐसा स्तम्भ है जिसके आधार पर वैवाहिक भवन आजीवन अटल रह सकता है।

पुष्प कुमारी—लेखक पं॰ टीकाराम तिवारी।

कमल किशोर ने एक घोर संकट में पुष्प कुमारी की रक्षा की है। पुष्पकुमारी ने उसी क्षण प्रतिज्ञा की कि तुम्हारे सिवा और किसी को न वरूँगी। कुछ दिनों के उपरांत एक महात्मा आते हैं और पुष्प कुमारी को देखकर कहते हैं कि यह सत्रह वर्ष की अवस्था में विधवा हो जायगी। पुष्प कुमारी कठिन तपस्या से भाग्य लिपि को अन्यथा कर देती है और कमल किशोर से उसका विवाह सानन्द हो जाता है। पुष्प कुमारी के भाई माधवप्रसाद की ककशा स्त्री ललिता सास-ससुर से झगड़ा करके अलग हो जाती है पर बहुत कष्ट सहकर अन्त को फिर अपने कुटुम्ब से आ मिलती है। कल्पना से बहुत अधिक काम लिया गया है। उपन्यास क्या है मालूम होता है, कोई पौराणिक कथा बांच रहे हैं। यही

॥ भीर-धार ॥

शैली है, वही भाषा। अशुद्धियाँ इतनी हैं, इबारत इतनी भद्दी वाक्य इतने भद्दे और असंगत जिसकी कोई हद नहीं।

शीलमणि—यह भी पं० टीकाराम की कृति है। आख्यायिका बुरी नहीं है। पति एक विधवा के प्रेम में फँस जाता है। पत्नी इस शोक में मर जाती है और मरने के बाद स्वप्न में पति को उपदेश देती है। पति की आँखें खुल जाती हैं। वह उस विधवा को किसी अनाथालय में भेज देता है।

गौरी शंकर—लेखक श्री भवानीलाल गुप्त।

प्लाट में कोई नवीनता नहीं और न कोई चरित्र ही उल्लेखनीय है। पहले ही अध्याय में नायक का गौरी से मिलना अनोखे ढंग से हुआ है। गौरी हलवा खाने के लिए मचल रही है, मा मजबूर है, पैसे कहाँ से लावे। शंकर उसी समय वहाँ अनायास आ जाता है और गौरी के लिए हलवे की सामग्री ला देता है। एक युवती का हलवे के लिए जिद करना और एक अपरिचित युवक के पैसों से हलवा खाने को तैयार हो जाना हास्यजनक है। छोटी-सी तो पुस्तिका ही है, पर वह भी आद्यन्त ऐसी ही असंगत घटनाओं से भरी पड़ी है।

माधुरी १० मार्च १९२४

आदर्श बहू—श्री शिवनाथ शास्त्री की 'मेजबऊ' नामक बँगला पुस्तक का अनुवाद। अनुवादक श्री शिवसहाय चतुर्वेदी।

मूल बँगला पुस्तक के उन्नीस संस्करण हो चुके हैं। इससे जाहिर है कि पुस्तक कितने मार्के की है। मजा यह है कि अनुवादक महोदय ने केवल अनुवाद ही नहीं किया दु:खांत कथा को सुखांत भी कर दिया है। अब सिद्ध हो गया कि किसी मनुष्य को केवल लेखक की पुस्तक का अनुवाद करने ही का अधिकार नहीं उसमें मनमाना उलट-फेर करने का और उस पर भी पुस्तक को मूल का अनुवाद कहने का अधिकार है। हमारी समझ में यह अनुवादक महोदय की अनाधिकार चेष्टा है, उन्हें इसका कोई मजाव नहीं कि किसी लेखक की कीर्ति को अपनी इच्छा से भ्रष्ट कर दें। और सुनिए। यह पुस्तक *हिन्दी में पहली ही बार अनुवादित होकर प्रकाशित नहीं हुई। इसका पहला एडीशन* 'शारदा' के नाम से पहले छप चुका है। यह दूसरा एडीशन है पर नाम बदल गया है। 'शारदा' शायद अच्छा नाम था इसलिए फिर नामकरण किया गया है। इसे भी चोले-*बाज़ी समझना चाहिए।*

पुस्तक बालिकाओं के लिए उपयोगी है और इससे उनका मनोरंजन भी होता किन्तु अनुवादक ने इसे सुखांत करके इस पर घोर आघात किया है। मालूम नहीं इस

किताब में ऐसी कौन-सी खूबी थी कि इसका बँगला से अनुवाद करना आवश्यक समझा गया। यदि हमारे यहाँ के हिन्दी लेखक ऐसी साधारण कथाओं की कल्पना भी नहीं कर सकते तो हमारी भाषा का ईश्वर ही मालिक है। सम्भव है, मूल पुस्तक में कोई खास बात हो, अनुवाद में तो कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती। हाँ, अगर कोई खूबी है तो यह कि भाषा में जहाँ-तहाँ बँगला का झलक आ गयी है, जो भाषा की सरसता में बाधक होती है।

मालूम नहीं प्रकाशक महोदय ने इस पुस्तक के लिए चित्र किस चित्रकार से बनवाये हैं। हमने ऐसी भद्दी तसवीरें कभी नहीं देखी थीं। कोमल जाति के साथ इतना भीषण अत्याचार आज तक किसी ने न किया होगा। ऐसी तसवीरों से तो तसवीर का न रहना हजार गुना अच्छा था। वास्तव में इन चित्रों ने पुस्तक के अन्य बाह्यगुणों को मिटा दिया है।

गृहिणी गौरव—गल्पों का संग्रह। अनुवादक श्रीकृष्णलाल वर्मा।

सात बँगला गल्पों का अनुवाद है। कहानियाँ मनोरंजक और शिक्षाप्रद हैं। कई कहानियों में स्त्रियों के आदर्श चरित्र दिखाये गये हैं। पहली कहानी तो बहुत अच्छी नहीं, किन्तु शेष कहानियाँ उच्च कोटि की हैं। 'सेवा का अधिकार' हमें बहुत पसन्द आयी। अनुवादक ने भाषा लालित्य को कहीं हाथ से नहीं जाने दिया। पुस्तक सेठ लक्ष्मीचन्द जी जैन को समर्पित की गयी है। शुरू में सेठ जी का चित्र और उनका संक्षिप्त जीवन चरित्र दिया गया है। उनके दिये हुए दानों की एक तालिका भी दी गयी है जो दाता के महत्व को घटा देती है। पुस्तक सचित्र है और चित्र साधारणतः अच्छे हैं।

माधुरी, माघ १९८१

भारतीय शासन—चौथा संस्करण। लेखक और प्रकाशक श्री भगवानदास केला।

इस राजनीतिक युग में जब कि प्राणिमात्र के हृदय में स्वराज्य की अभिलाषाएँ उठ रही हैं, यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि हम अपने देश की शासन-पद्धति से भली भाँति परिचित हों। जब तक हमें यह न मालूम हो कि इस पद्धति में क्या-क्या बुराइयाँ हैं, उनके सुधार की क्या-क्या योजनाएँ हैं और शासन के भिन्न-भिन्न अंगों के परिवर्तन से हमारा यथेष्ट कल्याण होगा, हम स्वराज्य के आन्दोलन में पूरे उत्साह से सम्मिलित नहीं हो सकते। इस पुस्तक से हम इस विषय की कितनी ही बातें मालूम हो

सकती है—ब्रिटिश साम्राज्य का शासन पार्लियामेंट प्रिवी कौंसिल भारत सरकार, भारतीय व्यवस्थापक मंडल प्रान्तीय सरकार देशी रियासतें भारतीय शासन के विभाग—इन सभी विषयों की विवेचना की गयी है। लेखक ने केवल इन संस्थाओं की चर्चा ही नहीं की उनके विषय में अपनी राय भी दे दी है। 'इंडिया कौंसिल' से साधारणतः लोग अनभिज्ञ हैं। लेखक ने उसका विस्तार से वर्णन किया है। आपकी यह राय है कि इंडिया कौंसिल की कोई जरूरत नहीं। जब उपनिवेशों के सेक्रेटरी को किसी कौंसिल की जरूरत नहीं तो भारत के सेक्रेटरी का चालीस लाख वार्षिक खर्च करके एक कौंसिल रखने की क्या जरूरत। पुस्तक उन भाइयों के लिए बहुत उपयोगी है, जो राजनीति में प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। पंडित दयाशंकर दुबे जी ने इसकी भूमिका लिखी है।

स्वाधीनता के पुजारी—लेखक श्री मुरेश विद्यालंकार।

इस पुस्तक में रूस के दस प्रधान देश-भक्तों की वीर-कथा का संग्रह किया गया है। उनमें कई स्त्रियाँ हैं कई राजकुमार हैं कई ऊँचे राज्य कर्मचारी हैं। इन वीरों ने कितनी विपत्तियाँ से कड़ी से कड़ी यातनायें झेलीं देश भक्ति की वेदी पर कितने प्रफुल्ल विश्वास और अदम्य उत्साह से अपने को बलिदान किया यह पढ़कर उन वीरात्माओं के प्रति हृदय में श्रद्धा की लहरें-सी उठने लगती हैं। स्वाधीनता की देवी से वरदान पाना कितना कठिन है, इसका अनुमान इन चरित्रों के देखने से हो सकता है। पुस्तक सचित्र है, तेरह हाफ्टोन चित्र दिये गये हैं। वर्णन शैली चित्ताकर्षक है और वास्तव चरित्रों में तो उपन्यासों से कहीं अधिक आनन्द आता है।

इल्मुल अर्ज़—लेखक श्री नत्थनलाल गुप्त।

यह भूगोल की उर्दू-पुस्तक है। ये लेख पहले लाहौर की वैज्ञानिक उर्दू पत्रिका 'रोशनी' में निकले थे। अब कुछ काट-छाँटकर उन्हें पुस्तक का रूप दे दिया गया है। इसमें भूगोल के उस भाग का बयान किया गया है, जो गणित से संबंध रखता है। पृथ्वी की वार्षिक गति वायु मंडल पृथ्वी का आकार, सूर्य-रेखा आदि विषय रोचक और सरल भाषा में खोज के साथ लिखे गये हैं। हमारे खयाल में यदि कोई स्कूल इस विषय को उर्दू भाषा में पढ़ाने का निश्चय करे, तो उसे उपर्युक्त पुस्तक के अभाव की शिकायत न करनी पड़ेगी। इस पुस्तक म भूगोल के इस भाग की वे सभी बातें लिख दी गयी हैं, जो कोर्स की साधारण अंग्रेजी पुस्तकों में नहीं मिल सकती। जहाँ कहीं जरूरत पड़ी है लेखक ने चित्रों और नक्शों से भी काम लिया है। छपाई इससे बहुत अच्छी हो सकती थी। इस पुस्तक में यह विशेषता है कि लेखक ने अपने विषय को खूब स्पष्ट करके

समझाया है और शंकाओं का भी दलीलों से समाधान करने की चेष्टा की है, जिसमें वह बहुत सफल हुए हैं। अब तक हमने हिन्दी में ऐसी कोई पुस्तक नहीं देखी।

माधुरी फाल्गुन १९८१

[illegible]—लेखक श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, अनुवादक श्रीयुत् बाबू रामचन्द्र वर्मा।

यह पुस्तक हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर का अट्ठाइसवाँ ग्रन्थ है। शरच्चन्द्र बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। इस छोटी-सी पुस्तक में बंगाल समाज का ध्यान उस निर्दयता की ओर आकर्षित किया है जो कुलीनता और छुआ-छूत के नाम पर नित्य नये-नये अन्याय-क्षेत्र पैदा करती है। पुस्तक बहुत ही रोचक, भावपूर्ण और असर डालनेवाली है। करुणा उत्पन्न करने में लेखक को पूरी सफलता हुई है। अनुवाद भी बा-मुहावरा और सरल है। पढ़ते वक्त यही मालूम होता है कि यह अनुवाद नहीं मूल पुस्तक है।

मुक्त धारा—महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बंगला नाटक 'मुक्तधारा' का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक पंडित धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री तर्कशिरोमणि एम० ए० प्रोफ़ेसर, मेरठ कालेज।

लेखक का नाम ही पुस्तक के उच्चकोटि की होने की गारंटी है। इसमें महाकवि ने वर्तमान साम्राज्यवाद और उसके द्वारा दलित पराधीन जातियों की दशा का चित्र खींचा है। अनुवादक महोदय ने नाटक की एक विस्तृत भूमिका भी लिख डाली है, जिसमें नाटक की साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से विवेचना की गयी है।

जर्मनी और टर्की में चवालीस मास—लेखक लाला हरदयाल एम० ए०।

लाला हरदयाल एम० ए० पंजाबी के अच्छे लेखक हैं और राजनीति में उग्र-नीति के समर्थक की हैसियत से मशहूर हैं। स्वदेशी आन्दोलन के समय आप बहुत लिखा करते थे। उसके कुछ समय बाद आप योरोप चले गये। तब से योरोप के भिन्न-भिन्न देशों में विचरते रहे हैं। महासमर के ज़माने में आपने चवालीस महीने जर्मनी और टर्की में गुज़ारे। इस अरसे में आपने उन्हीं दोनों देशों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है कि जर्मनीवाले किसी को अपना बराबर नहीं समझते। उनका ख़याल है कि ईश्वर ने उन्हें दुनिया पर राज्य करने के लिए बनाया है। उनमें धार्मिक भावों की गन्ध तक नहीं। पुस्तक में प्रायः [illegible]

॥ [illegible] ॥

सभ्य बनाया, नीतिपरायण बताया गया है। इसी भाँति तुर्कों को भी आपने मनुष्यता से रहित खिलाफत का झूठमूठ डंका बजानेवाले स्वार्थी भूठे और निर्दयी बतलाया है। लाला जी का दावा है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है अपने अनुभव से लिखा है इसलिए हम उनकी आलोचनाओं को मिथ्या तो नहीं कह सकते हैं कि जितने दुर्गुण वर्णनों में हैं वे सभी योरोप की अन्य जातियों में भी उसी मात्रा में मौजूद हैं। संभव है लाला जी ने इंग्लैण्ड की अपनी नेकनीयती का परिचय देने के लिए ये लेख लिखे हों। यदि ऐसा हो तो बड़े हर्ष की बात है। हम लाला जी का स्वागत करने को तैयार हैं। इन देशों के सम्बन्ध में लाला जी के विचार जानने योग्य हैं जरूर। तुर्क और जमन जातियों के स्वभाव का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है।

माधुरी वैशाख १६८७

कर्तव्याघात—लेखक श्री देवनारायण द्विवेदी।

यह मौलिक उपन्यास है। हिन्दी में इतना अच्छा मौलिक उपन्यास हमारी नजर से नहीं गुजरा। पर भाषा में बंगला की झलक मिलती है। कहानी इतनी सुन्दर है लेखक की शैली इतनी प्यारी है चरित्रों का प्रदर्शन इतना मनोहर है कि जैसे पाठक मनोभावों के उद्यान में गुजर रहा हो। कहीं मानमय पितृभक्ति है तो कहीं दीपशिखा की भाँति हृदय में जलनेवाला पुत्र प्रेम। चन्द्रकला का चित्र तो हिन्दी संसार में एक अनूठी वस्तु है। उसके पति ने अपने पिता की आज्ञा से अपनी पहली स्त्री को त्याग दिया है। बेचारी की रमणी मनोरमा अपने पुत्र सुशील के साथ मायके में विपत्ति के दिन काट रही है। यह दहेज के पूरे रुपये न मिलने का दण्ड है। चन्द्रकला अपनी सौत न जलती है। एक बार वह अपने सौतेले बेटे को देख लेती है। इससे उसका हृदय और भी व्याकुल हो जाता है। वह जानती है कि पति के देह पर मेरा अधिकार होने पर भी उसके हृदय पर मनोरमा ही राज्य कर रही है। क्यों न करे? उसके पुत्र है वह अनुपम सुन्दरी है। मैं अभागिन हूँ। पुत्रविहीना पत्नी को पति क्यों प्यार करेगा। उसके भाग्य में सन्तान-सुख भोगना लिखा ही नहीं। अपनी ननद के एक बालक को वह अपना पुत्र बनाकर पालती है, लेकिन वह भी उसे दगा दे जाता है। सुशील की तेजस्वी मूर्ति उसकी आँखों में नाचती रहती है। वह पति को मनोरमा की हवा भी नहीं लगने देना चाहती उसे सौगन्ध शपथ दिला कर पुत्र-दर्शन से भी वंचित रखती है यहाँ तक कि दुखिया मनोरमा अंत को संसार से विदा हो जाती है। चन्द्रकला इस अवसर पर अपनी सौत के पास पहुँच जाती है। मनोरमा उसे देखकर कहती है—

'बहन चन्द्रकला! आ आओ इस अंतिम समय में एक बार तुझे गले से तो लगा लूँ। तेरा कोई अपराध नहीं है चंडाल! नहीं-नहीं इस तरह रोकर मुझे दुखी न कर बहन—आज मैं धन्य हो गयी। तेरे ऊपर ईश्वर जानते होंगे—किसी दिन मैंने भिक्षा न

नहीं किया। आज भी यही आशीर्वाद अपने हृदय से देकर जाती हूँ 'तेरा जीवन सावित्री के समान पवित्र रहे।

अन्तरि शब्द का प्रयोग सुनकर मनोरमा अधीर हो जाती है। सौत की व्यथा पहले ही शांत हो चुकी थी। अब सपत्नी-भक्ति का उन्य होता है। मनोरमा अपने पुत्र को उसकी गोद में सौंप देती है।

इसी बीच म पति महोदय भी आ पहुँचते हैं। मनोरमा उन्हें देखते ही चिल्ला उठती है—'स्वामी! प्राणनाथ! यह कहते ही उसमें अभानक बल का संचार हो जाता है और वह पति के पैरों पर गिर पड़ती है। पन्द्रह वर्षों की अभिलाषा आज मरण शैय्या पर पूरी होती है। लज्जित पिता स्त्री और पुत्र से क्षमा मांगता है और इस करुण कथा का अंत हो जाता है।

इस उपन्यास में मुख्य पात्र चार हैं—मनोरमा सुशील राजेन्द्र और चन्द्रप्रभा। मनोरमा का चरित्र भारतीय पत्नी का आदर्श है। उसका पति-प्रेम अटल है। पति ने उसे त्याग दिया है उसकी खबर नहीं लेता। उसके पास एक पत्र भी नहीं भेजता। पर उसे विश्वास है कि पति को उससे प्रेम है वह पिता की आज्ञा से विवश होकर अवहेलना कर रहा है। वह जानती है कि स्वामी को मेरे वियोग म घोर पीड़ा हो रही है पुत्र वियोग मे उसका हृदय फटा जा रहा है वह पिता की आज्ञा मानने के लिए भी पति के प्रति द्वेष या अश्रद्धा का भाव नहीं आने पाता। एक बार जब सुशीला परम पिता के व्यवहार से दुखी होकर उनकी उपेक्षा करता है तो मनोरमा उसकी भर्त्सना करती है। इस समय उसके मुख से जो शब्द निकले हैं उनसे पति-श्रद्धा की पवित्र धारा-सी बहने लगती है। चन्द्रप्रभा के प्रति भी उसके मन में द्वेष का भाव नहीं है। जरा-सी जलन नहीं। वह अपनी दशा पर दुखी पर संतुष्ट है। भारतीय नारी का इससे बढ़कर और क्या आचरण हो सकता है?

राजेन्द्र महाशय हैं तो अंग्रेजी पढ़े-लिखे मैट्रिक पास बड़े हैं। पिता की आज्ञा का पालन करना वह अपना परम कर्तव्य समझते हैं। उचित और अनुचित का विचार रखते हुए भी वह पिता की एक अत्यन्त अनुचित आज्ञा के सामने सिर झुका देते हैं। उन्हें अपनी प्रिय पत्नी को त्याग कर दूसरा विवाह करते हुए सन्ताप नहीं होता। चन्द्रप्रभा मे उन्हें प्रेम नहीं है। उनका हृदय मनोरमा और सुशील के वियोग मे तड़पता रहता है लेकिन वह सुशील का पत्र पाकर भी उसका जवाब नहीं देते किसी प्रकार की सहायता नहीं करते। वह जानते थे कि इस दशा में यदि वह कुछ सहायता करना भी चाहें तो मानिनी मनोरमा उसे स्वीकार न करेगी। जैसा हम ऊपर लिख आये हैं मनोरमा से उसके अंतिम समय में उनकी भेंट होती है।

लेखक ने सबसे अधिक रचना-कौशल चन्द्रप्रभा के चरित्र म दिखाया है। वह धनी माता-पिता की लाड़ली है, राजेन्द्र का बखान भी सुन चुकी है लेकिन सौतियाडाह

॥ भेर-पोर ॥

की आग में जलने की अपेक्षा वह मर जाना ही अच्छा समझती है। वह अपने माता-पिता के कानों में यह बात डाल देती है। लेकिन उसके पिता को राजेन्द्र-सा दूसरा वर मिलना कठिन मालूम होता है। विवाह हो जाता है। ससुराल में आकर चन्द्रकला को ज्ञात होता है कि यद्यपि कोई मेरा अनादर नहीं करता पर घर भर का प्रेम मेरे सौत ही पर है। यहाँ तक कि उसे मालूम होता है राजेन्द्र भी उसे प्यार नहीं करते। वह ईर्ष्या की अग्नि म जलने लगती है। वह अक्सर अपने दुर्भाग्य पर अकेले बैठकर रोया करती है। पति उसकी बड़ी खातिर करता है, मगर आये दिन घर में ऐसी बातें होती रहती हैं जिनसे उसे पता चलता है कि यहाँ कोई मेरा नहीं यहाँ तक कि पति भी पहले सौत क पति है उसके बाद मेरे। कभी-कभी वह यह सोचती है कि जो अपनी पहली प्रणय-पात्री को इतनी निदयता स त्याग सकता है वह मेरा क्या हो सकेगा ? इसी मम वेदना की दशा म एक बार वह अपनी ननद के घर के न्योते में जाती है। वहाँ सुशील भी आया हुआ है। सुशील कहीं से तमाशा देखकर आया है और चन्द्रकला को अपनी बुआ समझकर उस तमाशे का जिक्र करने लगता है। उसकी प्यारी-प्यारी बातें सुनकर चन्द्रकला क 'शुष्क वंध्या जीवन म अनायास ही मातृत्व का उदय हुआ। वह तुरन्त वहाँ से अपने घर चली आयी। उसे सन्देह हुआ कि ननद ने सौत को भी अवश्य बुलाया होगा। मरे स्वामी भी अवश्य वहाँ गये होंगे। अपनी सौत के विहार की कल्पना करके वह व्याकुल हो गयी उसकी आँखों के सामने उसी लड़के की सूरत नाच रही थी मालूम होता था राजपुत्र की तरह सुकुमार देवकुमार की भाँति सुन्दर लड़का पास बैठा है। जब लड़का इतना सुन्दर है, तो उसकी माँ न जाने कितनी सुन्दर होगी ? इसी वक्त राजेन्द्र अपनी बहन के यहाँ जाने को तैयार होते हैं। चन्द्रकला को निश्चय हो जाता है कि यह सौत से मिलने जा रहे हैं। वह उन्हें यह भीषण शपथ दिलाती है—'आज यदि वहाँ जाओ तो अपन लड़के का खून पियो।

राजेन्द्र मर्माहत-से होकर बाहर चले जाते हैं। लेकिन जब थोड़ी देर के बाद चन्द्रकला को ज्ञात होता है कि राजेन्द्र रात भर घर ही पर रहे रात को भोजन भी नहीं किया तो उसका संदेह दूर हो जाता है। लेखक ने इस अवसर पर चन्द्रकला के मनोभाव को जितनी सुन्दरता से प्रकट किया है, उससे उनके स्त्री-हृदय के ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। उस दिन से शनै शनै चन्द्रकला की ईर्ष्या की आग ठंडी होने लगती है। दो माह के बाद फिर सावित्री के घर जाने का मौका मिलता है। सुशील के वहाँ आने की आशा है। चन्द्रकला अब की अपने पति से वहाँ जाने का अनुराध करती है। पर वह नहीं जाते। वह भीषण शपथ उन्हें भूली नहीं है। चन्द्रकला जाती है और उसकी आँखें सुशील का चारों ओर ढूंढने लगती हैं पर सुशील यहाँ नहीं आया है।

कुछ दिनों के बाद सुशील अपने पिता को एक पत्र लिखकर अपनी किसी परीक्षा

में पास होने की सूचना देता है। पंडित जी इस पत्र को खोलते भी नहीं। चन्द्रकला इस पत्र को पढ़ती और पति से उसका जवाब देने का आग्रह करती है। जिसका स्वाभाविक परिवर्तन है। पति अगर पुत्र और परित्यक्ता स्त्री से प्रेम करता तो चन्द्रकला का क्रोध बदला रूप को भाव पकड़ती। लेकिन पति का उन दोनों के प्रति यह अन्याय देखकर चन्द्रकला की सहृदयता जागृत हो जाती है। अन्त को वह पुत्र सुशील के पत्र का जवाब देती और उसे इलाहाबाद आकर पढ़ने का अनुरोध करती है। वह यही चाहती थी। सुशील इलाहाबाद आकर पढ़ता है पर अपने पिता के घर नहीं आता। चन्द्रकला को उसके प्रयाग आने की बात मालूम हो जाती है। वह उसे घर पर बुलाती है मोटर गाड़ी में बैठकर उसकी तलाश करने लगती है, पर वह न आता है न दिखायी देता है। इसी बीच में राजेन्द्र बीमार पड़ जाते हैं। मानसिक वेदना ही उनकी बीमारी का कारण है। उनकी दशा अच्छी नहीं है। यह वह चन्द्रकला नहीं है जिसे हम पहले देख चुके हैं। हृदय ने अब सहृदयता और प्रेम को स्थान दे दिया है।

सुशील के स्वभाव में मान की मात्रा अधिक है। वह यों तो अपने पिता को देखने नहीं आता लेकिन रात को घोर मेघाच्छन्न अंधकार में चोरों की भाँति अपने पिता के कमरे में जाता और उनके चरणों पर सिर रखकर रोता है। उसके आँसुओं से चादर भीग जाती है। आहट पाते ही वह फिर नीचे कूदकर चला जाता है। मगर उसकी चोरी छिपी नहीं रहती। चन्द्रकला और उसके पति दोनों ही भाँप जाते हैं कि आगन्तुक कौन था। राजेन्द्र महाशय पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने पर तुले हुए हैं चाहे इसके लिए अपने प्राण ही क्यों न देने पड़ें। पुस्तक के अंतिम दो-तीन परिच्छेद जिनमें चन्द्रकला सुशील और राजेन्द्र के चरित्रों का पूर्णरूप से विकास हुआ बहुत ही सुन्दर हैं। राजेन्द्र का पश्चात्ताप चन्द्रकला की ग्लानि और सुशील की निर्मलता का चित्रण अत्यन्त मनोहर है। हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि इस चन्द्रकला को अवश्य पढ़ें। ऐसे उपन्यास उन्होंने बहुत कम पढ़े होंगे।

माधुरी १६ फरवरी १९२९

दिलचस्प कहानियाँ—संग्राहक पं० रामस्वरूप गौतम।

बालकों के लिए छोटी-छोटी कहानियों का संग्रह है। हर एक कहानी के अन्त में उससे मिलनेवाली शिक्षा भी दी गयी है। भाषा सरस और रोचक है। पर हमारी समझ में शिक्षा का प्रकट करना भी जरूरत न थी। लड़के स्वयं कहानियों से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। कम से कम कुछ सोचना तो पड़ता ही।

[illegible] पुरखा—लेखक श्री कमला[illegible] चौधरी।

यह चौधरी महोदय की उन चौदह कहानियों का संग्रह है जो उन्होंने समय-

समय पर लिखी और प्रकाशित करायी हैं। कहानियाँ प्रायः सब मजेदार हैं। चलता-पुर्जा मायाविनी मोहिनी आदि बहुत ही सुन्दर हुई हैं। हास्यरस की गहरी चाशनी का मजा सब कहानियों में विद्यमान है। भाषा मुहावरेदार बोल चाल की है। पंडिताऊ भाषा कहानियों के लिए अनुकूल नहीं होती चौबरी महाशय ने इस गुर को खूब समझा है। कहानियों में लेखक की प्रतिभा झलक रही है। हमें आशा है, आप और भी अच्छा लिखेंगे। कहीं-कहीं एकाध शब्द बेमुहावरा आ गये हैं। 'कुलासगी' अब टकसाल बाहर है। यह मारवाड़ी महन्त-सी मालूम होती है। आशा है, लेखक महाशय इसका ध्यान रखेंगे। कहीं-कहीं तो आपका वर्णन बहुत ही रोचक और सजीव है। बहुत अच्छी चीज है। मुबारकबादी के लायक।

माधुरी फरवरी १९२७

कर्मदेवी—लेखक श्री प्यारीलाल शर्मा।

यह एक छोटा-सा मनोरंजक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें सत्य की अपेक्षा कल्पना से अधिक काम लिया गया है। कर्मदेवी चासोर के राजा दुर्जन सिंह की पुत्री थी। मेवाड़ के युवराज मल्लसिंह से उसका प्रेम हो गया था। पर इधर अकबर की निगाह भी कर्मदेवी पर पड़ चुकी थी। उसने छल कपट विनय बलात्कार आदि साधनों से उसे अपने वश में करना चाहा पर सफल न हुआ। आखिर उसने जहर से मल्लसिंह का काम तमाम किया और कर्मदेवी उसके साथ सती हुई। अकबर के चरित्र को बड़ी क्रूरता से बिगाड़ा गया है पर कथा मनोरंजक है, भाषा बहुत सुन्दर। संस्कृत शब्दों का प्रयोग कुछ कम होता तो पुस्तक अधिक उपयोगी हो जाती।

गल्पाञ्जलि—लेखक पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'।

यह उग्र जी की उन कहानियों का संग्रह है जो पाँच-छः साल पहले 'आज' में निकली थीं।

एक-एक कहानी समाज के एक-एक अंग का चित्र है। अधिकतर कहानियों में हिन्दू समाज की बुराइयों का करुण विलाप है। 'परीक्षा' हास्य-कथा है, बहुत सुन्दर है, भाषा सजीव और भाव मर्म-स्पर्शी है।

जीवित हिन्दी—(प्रथम भाग) संग्रहकर्ता श्री लक्ष्मीचन्द्र खुराना।

इस संग्रह में यह नवीनता है कि केवल समकालीन रचनाओं के ही अंश लिये गये हैं। अक्सर स्कूली संग्रहों में लोग लल्लूलाल और राजा शिवप्रसाद से आरम्भ करके बाबू राधाकृष्ण दास तक समाप्त कर देते हैं। समकालीन लेखकों को छूते तक नहीं। ऐसे संग्रह कालेज-क्लासों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं। उनका उद्देश्य भाषा का क्रम-विकास दिखाना है। किन्तु बालकों को प्रचलित भाषा से अपरिचित रखने का फल यह होता है

के वे कुछ नियम बैठ गए हैं तो व्याकरण और मुहावरे की गलतियाँ करने लगते हैं। इस ग्रंथ में यह दोष नहीं है। बालकों के लिए बहुत उपयोगी होगा।

माधुरी माघ १९८५

कंकाल—लेखक जयशंकर 'प्रसाद'।

अपनी रचनाओं के अत्यन्त सुन्दर फड़कते हुए नाम रखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। किताब तो है सड़ियल पर नाम इतना सुन्दर मानो साहित्य का रत्न हो है। 'प्रसाद' जी ने इतना सुन्दर उपन्यास लिखकर इतना बीभत्स नाम रख दिया कि पहले पाठक को एक प्रकार की अरुचि हो जाती है। वह समझने लगता है कि इसमें कोई पैशाचिक रहस्य होगा या कोई हत्या-काण्ड लेकिन दिल पर जब करके जब वह पुस्तक उठाता है और एक परिच्छेद पढ़ जाता है तब उसे मालूम होता है, कि यह तो कोई ऊँचे दर्जे की चीज है। पुस्तक समाप्त कर लेने पर उसके सामने कंकाल का भीषण रूप नहीं सौरभ से भरे हुए रमणीक उद्यान का दृश्य आता है जो हृदय पर एक चिरस्थायी असर छोड़ जाता है। यह 'प्रसाद' जी का पहला ही उपन्यास है पर आज हिन्दी में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं, जो इसके सामने रखे जा सकें। मुझे अब तक आप से यह शिकायत थी कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग अलापते हैं ऐसी चीज क्यों नहीं लिखते जिनमें वर्तमान समस्याओं और गुत्थियों को सुलझाया गया हो। न जाने क्यों मेरी यह धारणा हो गयी है, कि हम आज से दो हजार वर्ष पूर्व की बातों और समस्याओं का चित्रण सफलता के साथ नहीं कर सकते। मुझे यह असम्भव-सा मालूम होता है। हमको उस जमाने के रहन-सहन आचार-विचार का इतना अल्पज्ञान है कि कदम-कदम पर ठोकरें खाने की संभावना रहती है। हमको बहुत कुछ कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और कल्पना यथार्थ का रूप खड़ा करने में बहुधा असफल होती है। शायद यह मेरी प्रेरणा का फल है, कि 'प्रसाद' जी ने इस उपन्यास में समकालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की है और खूब की है। मेरी पहली शिकायत पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया था पर अब मुझे वह कठोर बातें बहुत प्रिय लग रही हैं। अगर ऐसी ही दस-पाँच लताड़ों के बाद ऐसा सुन्दर वस्तु निकल आवे तो मैं आज भी उनको सहन करने को तैयार हूँ। इस उपन्यास को निकले चार-पाँच महीने हो गये। मैं चाहता था कि कोई दूसरा योग्यतर सज्जन इसकी आलोचना करें। मेरे एक-दो मित्रों से—जिनकी आलोचना शक्ति मुझसे कहीं बढ़ी हुई है—इसकी आलोचना करने की इच्छा भी की पर सभी बातें करके टाल गये। इसलिए आज मुझे इस कर्तव्य का पालन शुरू करना पड़ा। मैं सच्चे हृदय से कहता हूँ कि मुझे इस रचना से बड़ा आनन्द मिला।

॥ बार और ॥

लेखक की कवितामयी शैली में यद्यपि उतनी सजीवता और मदमातापन नहीं पर उसकी अमर सौंदर्य और कोमलता न पूरी कर दी है। दृश्यों के चित्रण में नवीनता है, वैचित्र्य है और हृदय है। चरित्र में गहराई है जान है और सत्य है। संभाषणों में विचार है, तथ्य है और चुभनेवाले वाक्य हैं। मंगल का हिन्दू-धारणाचार विजय का दार्शनिक-वाद बाद स्वामी जी का बगुलाभगतपन किशोरी की पाखंडमयी धार्मिकता और निमज्जय विलासिता सभी पाठक को मुग्ध कर देते हैं। घंटी का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ है। उसने एक दीपक की भाँति अपने प्रकाश से इस रचना को उज्ज्वल कर दिया है। अल्हड़पन के साथ जीवन पर ऐसी तात्विक दृष्टि, यद्यपि पढ़ने में कुछ अस्वाभाविक मालूम होती है, पर यथार्थ म सत्य है। विरोधों का मेल जीवन का गूढ़ रहस्य है। यह भी सती है यमुना भी सती है, पर दोनों म कितना सूक्ष्म अन्तर है। एक कठोर है, दूसरी कोमल। एक प्राण को मम तुच्छ समझनेवाली दूसरी विष भी ग्रहण करने को तैयार।

मुझे विश्वास है कि 'प्रसाद' जी ऐसे और भी रत्न उत्पन्न करेंगे और हिन्दी भाषा उनका यथोचित सम्मान करेगी।

नवम्बर १६३०

परख—लेखक श्री जैनेन्द्र कुमार जैन।

जैनेन्द्र कुमार की रचनाएँ थोड़े ही दिनों से प्रकाशित होने लगी हैं। कुछ कहानियाँ 'त्याग भूमि' म निकलीं कुछ माधुरी मे। चार-चार और इधर उधर निकली होंगी और 'परख' तो उनका पहला उपन्यास है, पर जो कुछ उन्होंने लिखा है, बहुत ही सुन्दर लिखा है। भाषा चरित्र चुटकियाँ सभी अपने ढंग की निराली हैं। उनमें साधारण-सी बात को भी कुछ इस ढंग से कहने की शक्ति है, जो तुरन्त आकर्षित करती है। उनकी भाषा में एक खास लोच एक खास अन्दाज है। इसके साथ ही वह उन रियलिस्टों म नहीं हैं जिन्हें नग्न चित्रों म ही आनन्द आता है। सुन्दर को वह कभी हाथ से नहीं जाने देते। 'परख' है तो छोटी किताब पर हिन्दी में एक चीज है। भाषा इतनी सजीव शैली इतनी आकर्षक चरित्र इतना मार्मिक कि चित्त मुग्ध हो जाता है, मगर यह सती विवाह प्रथा हमारी समझ में नहीं आयी। यदि कट्टो और बिहारी को वैधव्य ही धारण करना था—और ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन में वह फिर न मिले होंगे—तो विवाह बन्धन की क्या जरूरत थी? विवाह वासना की चीज न हो सन्तान पैदा करने की चीज न हो पर संगति की चीज तो है ही ऐसी गाड़ी तो है ही जिसके दो पहिये होते हैं। यदि स्त्री और पुरुष को एक दूसरे के प्रेम सहारे और सहानुभूति की पकड़ न हो तो विवाह का नाम ही कौन ले। कट्टो का चरित्र एक सरल युवती विधवा का चरित्र है, जिसमें विराग भी है और तृष्णा भी अभिलाषा भी है

और पिपासा भी। विराग कितना मोहित, तृष्णा कितनी दबी हुई। विहारों में जवानी की उमंग है। वह उमंग का असीम पुतला है। चिन्ता, मनोरंजन और परिणाम वह कभी सोचता ही नहीं। जाता है तो उमंग से, बोलता है तो उमंग में, प्रेम करता है तो उमंग से और सन्यास लेता है, तो वह भी उमंग में। सत्यप्रकाश का पतन—हम उसे पतन ही कहेंगे—एक मनस्वी युवक का पतन है, जो निर्वासन के फेर में पड़ जाता है। हम विश्वास है इस रचना का आदर होगा। हम जैनेन्द्र जी को इस पर बधाई देते हैं और कथा प्रेमियों से आग्रह करते हैं कि वह इसे अवश्य पढ़ें।

जैनेन्द्र जी से हमारी थोड़ी देर की मुलाकात है। सीधे सादे सहृदयी आदमी हैं, हृदय में देश-भक्ति कूट-कूट कर भरा हुआ। लम्बे-लम्बे सँवारे हुए बाल हैं। न आँखों पर सुनहरी ऐनक न कोई टीम-टाम। चुपचाप काम करनेवाले आदमियों में हैं। पूरे सत्याग्रही। आजकल गुजरात स्टेशन जेल में जेल जीवन पर कोई उपन्यास लिखने की सामग्री जमा कर रहे हैं।

फरवरी १९३१

शराबी—लेखक श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'।

उग्र जी की भाषा में प्रवाह है, जोर है और स्फूर्ति है। हाँ कहीं-कहीं किसी बात को नवीन रूप से कहने के लिए वह मुहावरे का ध्यान नहीं करते। मानिक इस कथा का नायक है और जवाहर नायिका। दोनों ही शराबियों के बच्चे हैं। जवाहर का बाप उसे मारपीट कर घर से निकाल देता है। वह कुटनी बरवा के फंदे में फँसकर रिया हो जाती है। मानिक उससे विवाह करके उसका उद्धार करता है। कथानक का क्रम कुछ ऐसा रक्खा गया है कि समझने में कठिनाई पड़ती है। इसका भी विचार नहीं किया गया कि उपन्यास में किन बातों के विस्तार की जरूरत है और कौन-सी बात दो चार वाक्यों में ही समाप्त कर देनी चाहिए। शराबियों के चरित्र में अतिशयोक्ति का भ्रम हो सकता है, मगर यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसे लोग 'जीते जागते' मिल नहीं सकते। उग्र जी पक्के यथार्थवादी हैं और इस रचना में भी उनकी यथार्थवादिता रुचि या कुरुचि की परवाह न करते हुए अपने असली रूप में दिखाई देती है। पारसनाथ का चरित्र एक शराबी की सच्ची तस्वीर है। वह स्वभाव का इतना नीच न होने पर भी नशे में कितना बड़ा पशु बन जाता है और फिर नशा उतरने पर उसे कितना पछतावा और ग्लानि होती है और नशे में किसी बात को ले मायन की कितनी प्रवृत्ति होती है, यह एक कुशल चित्रकार की कला के साथ दिखला दिये हैं। मानिक का चरित्र भी एक जिन्दादिल युवक का चरित्र है, जो जवानी की उठती हुई उमंग में हीरा से प्रेम करता है और जब हीरा का दूसरे पुरुष से विवाह हो जाता है तो पागल [illegible] छोड़कर साधु हो जाता है और जब उसका शराबी बाप मर जाता है तो

वह खुद इस दुष्प्रसंग में पड़कर अपनी मनोव्यथा भूल जाता है और अन्त में बशाहर से विवाह करके सुखी होता है। उसी बशाहर के घर में हीरा के पति की हत्या हो जाती है और वह नदी में डूब कर आत्मघात् कर लेती है।

फरवरी १९३१

सपना—लेखक स्वामी आनन्द भिक्षु सरस्वती।

स्वामी जी इसके पहले 'भावना' लिखकर साहित्य में परिचित हो चुके हैं और जिन्होंने भावना पढ़ी है, वह जानते हैं स्वामी जी कैसे साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं। 'सपना' में उन्होंने अपनी विदुषी धर्म संगिनी की स्मृति वेदी पर अपने हृदय के फूलों की वर्षा की है। आपने भूमिका में लिखा—

मैं सोचता हूँ जो सपने की तरह बट गया और सपने की तरह ही फिर उजड़ गया उसी की बात में लोगों को क्या भुलावा फिरूं ? खुद भी क्यों उसकी स्मृति पोस पोस कर कठिन बनाऊँ ? यह भी मैं जानता हूँ कि स्वप्न मिटने के लिए होता है और जो लहलहाता है वह कभी उजड़े नहीं तो उसकी सुन्दरता भी नष्ट हो जाय। जीवन इतना प्रिय और सरस मालूम होता है। यही कारण है कि उसमें इतना प्रबल आकर्षण है। मैं स्पष्ट अनुभव करता हूँ कि जिस निधि को मैं खो बठा हूँ यदि उसे खोने न पाता तो उसकी अमूल्यता को पहचान भी न सकता। मैं उसे खोकर ही तो पा सका हूँ। अब रहा यह, कि मैं उसे खोने—लुट जाने—की पीर को गा गाकर क्यों सहलाता हूँ इसका मजा न पूछिए। इसे हृदयवाला हो जान सकते हैं।

स्वामी जी की भाषा में मर्म को स्पर्श करने की प्रबल शक्ति है, उसमें संगीत है कोमलता और भावना है। स्मृतियाँ इतनी पवित्र इतनी मनोहर है कि जिन पर हमेशा के लिए असर छोड़ जाती हैं। जो जानता है, कि उसके उद्गारों से पाठकों का मनोरंजन कक। एक-एक पंक्ति में आपकी प्रसन्न-सी भरी हुई, सच्ची भक्ति में डूबी हुई, कविता का आनन्द आयेगा। शायद यही भक्ति थी जिसने और विस्तृत होकर मीरा की वाणी को अमरत्व दिया था। आदि में डाक्टर श्रीमती कुन्तल कुमारी देवी का एक अंग्रेजी कथन है, जो पढ़ने और मनन करने योग्य है। हम इस पुस्तक को हिन्दी का उज्ज्वल रत्न समझते हैं और आशा करते हैं कि उससे कितना ही वियोगी आत्माओं का कल्याण होगा।

फरवरी १९३१

कुमुदिनी—लेखक श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर अनुवादक श्री धन्यकुमार जैन।

विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ जी का यह एक नया उपन्यास है। पहले 'विशाल भारत' में क्रमशः निकलता रहा। अब पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। मधुसूदन जो

कथा नायक है—बड़ा ही कृपण पैसे पर जान देनेवाला कुलाभिमानी और धन को संसार की सर्वोत्तम निधि माननेवाला क्रूर पुरुष है। कुमुद उदार स्नेहमयी आत्माभिमानिनी मनी पर दुःख से विकल हो जानेवाली सहानुभूति और कोमलता की देवी—नायिका है। इस अयोग्य जोड़ का मेल न सुखकर हो सकता है, न हुआ है। ऐसे पुरुष जहाँ होंगे वहीं वहीं बाधाएँ खड़ी होंगी। वह पत्नी को भी अपने जीवन विधान की कल का एक पुर्जा समझता है और चाहता है, कि वह भी अन्य पुर्जों की भाँति उसके इशारों पर नाचे और जब उसे इस उद्योग में सफलता नहीं होती तो वह उत्तरोत्तर कठोर और उद्विग्न होता जाता है। वैमनस्य का अंकुर तो दोनों कुलों में पहले ही से मौजूद है। मधुसूदन और विप्रदास दो पृथक संसारों के निवासी हैं। मधुसूदन विप्रदास से जलता है और कुमुदिनी का अपना प्यार भाई को श्रद्धा और स्नेह की दृष्टि से देखना उसे और भी बावला कर देता है। वह दम्भ ईर्ष्या और संकीर्णता की मानो सदेह मूर्ति है। ऐसे पति भी होते हैं इन्हें तो इन्हें स्वीकार करने ही में संकोच होता है। पर संसार में सभी तरह के लोग होते हैं और ऐसे पुरुषों का होना भी सम्भव है। हाँ हमारा विश्वास है कि ऐसे पुरुष संसार में अधिक होते तो संसार नरक-तुल्य हो जाता और सभी घरों में वही कलह नजर आता जो इस घर में हुआ। कुमुदिनी जितनी ही देवी है उतना ही मधुसूदन पिशाच है। पहली ही रात को जब कुमुदिनी को मूर्च्छा आ जाती है तो मधुसूदन कहता है—मायके से मूर्च्छा का अभ्यास कर आयी हो क्या? पर हमारे यहाँ इसका रिवाज नहीं। तुम्हें यह अपनी नूर नगरी बान छोड़नी होगी।

फिर अँगूठी की बात आती है। कुमुद के पास विप्रदास की दी हुई एक फीरोज की अँगूठी है। मधुसूदन नहीं चाहता कि भाई की दी हुई वस्तु को कुमुद इतनी प्रिय समझे। मधुसूदन वह अँगूठी उतार लेता है और कहता है—हाँ मैंने ली है। मैंने तो वह दिया था उसे तुम नहीं रख सकती।

कुमुद कहती है—तुम्हारी चीज तुम रख सकोगे और अपनी चीज मैं नहीं रख सकती?

इस घर में तुम्हारी अपनी समझी जानेवाली कोई चीज नहीं है।

कोई चीज नहीं? तो यह रहा तुम्हारा घर, सम्हालो।

सारांश यह कि मधुसूदन के चरित्र में कहीं कोमलता नहीं कहीं सज्जनता नहीं। वह कृपणता और अभिमान और कुत्सित सांसारिकता का प्रत्यक्ष अवतार है। प्रारम्भ है कुमुद की उस अनिन्द्य रूप-माधुरी का उस पर जरा भी असर नहीं पड़ता। जहाँ बड़े बड़े सम्राटों के सिर भी झुक जाते हैं वहाँ भी वह ज्यों का त्यों बना रहता है। केवल दो-तीन बार ही उसका दिल पसीजता है पर वह भी जब उसे धोखे से बताया जाता

॥ नीर-क्षीर ॥

है, कि कुमुद लक्ष्मी के ग्रह लेकर आयी है। उसका मन रूप से चंचल होता है जरूर मगर उसमें व्यामोहीपन के सिवा और कुछ नहीं है। जितनी बार मधुसूदन उससे प्रेम दिखाता है, कुमुद के हृदय में खींच-तान मचती है। पति का क्रोध तो उसकी समझ में आता है, उसका प्रेम समझ में नहीं आता। उस प्रेम में कपट है, स्वार्थ है, बनावट है, आत्मसमर्पण नहीं।

कुमुदिनी के मनोभावों का अत्यन्त सजीव चित्रण स्वयं उसी के शब्दों में हुआ है।

मोती की माँ कुमुद से पूछती है—तुम क्या समझती हो कि जेठ जी से प्रेम कर ही नहीं सकतीं ?

'कर सकती थी। हृदय में एक ऐसी चीज भर आयी थी कि जिससे सब बातें अपने पसन्द कर लेना मेरे लिए बहुत आसान था। शुरू ही में तुम्हारे जेठ जी ने इसे तोड़कर चकनाचूर कर डाला है। आज सब चीजें कठोर होकर मुझे सता रही हैं'' ''मैं जानती हूँ मैं जो पति को श्रद्धा के साथ आत्म समर्पण नहीं कर सकी हूँ वह मेरे लिए महापाप है, लेकिन उस पाप से भी मुझे उतना डर नहीं जितना श्रद्धाहीन आत्म-समर्पण की ग्लानि की याद करके हो आती है।

जरा देर चुप रहकर कुमुद ने फिर कहा—तुम भाग्यवान हो बहन न जाने तुमने कितना पुण्य किया होगा तभी तो तुम देवर जी को सम्पूर्ण हृदय से प्रेम कर सकती हो। पहले मैं समझती थी कि प्रेम करना सहज है—सभी स्त्रियाँ सभी पतियों से अपने आप ही प्रेम करती होंगी। आज देख रही हूँ कि प्रेम कर सकना ही सबसे दुर्लभ है, वह तो जन्म-जन्मान्तर की तपस्या से ही हो सकता है। अच्छा बहन सच-सच कहना सभी स्त्रियाँ क्या पति को प्रेम करती हैं ?

मोती की माँ जरा हँसकर बोली—बिना प्रेम के भी अच्छी स्त्री बना जा सकता है, नहीं तो संसार चलेगा कैसे ?

'वही दिलासा देती रहो मुझे! और कुछ बन सकूँ चाहे नहीं कम से कम अच्छी स्त्री तो बन सकूँ। पुण्य इसी में ज्यादा है, कठिन तपस्या तो यही है।

बाहर से उसमें बाधाएँ पड़ती हैं।

'अन्तर से उन बाधाओं को दूर किया जा सकता है। मैं कर सकूँगी हार न मानूँगी।

यह है एक सती नारी का शुभ दृढ़ संकल्प! पति की सारी बुराइयों को भूलकर भी वह अच्छी स्त्री बनने ही में अपने जीवन की सार्थकता समझती है।

पुस्तक में कितने ही स्थल इतने मर्मस्पर्शी हैं कि चित्त मुग्ध हो जाता है। और

भाव-व्यंजना का तो पूछना ही क्या। हमारे विचार में यदि कवि ने मधुसूदन का चरित्र इतना कुशल न दिखाकर इसमें कुछ और सुन्दर दिखाया होता तो जीवन की ? भाँति और भी मार्मिक हो जाती। मधुसूदन को तो हम एक असाधारण लोभी व्यक्ति समझकर उससे घृणा करने लगते हैं और कुमुदिनी की विडम्बनाओं का महत्व उससे बहुत कुछ कम हो जाता है पर इसमें तो कोई दो रायें हो ही नहीं सकतीं कि यह उपन्यास बड़े ऊँचे दरजे का है और धन्य कुमार जी ने अपनी प्रांजल भाषा में इसका अनुवाद करके हिन्दी भाषा का उपकार किया है।

मेरी ईरान यात्रा—लेखक महेश प्रसाद मौलवी आलिम फ़ाज़िल। मार्च १९३१

जो आप अंग्रेज़ी के विद्वान् हैं व इंग्लैंड की सैर करने जाते हैं। महेशप्रसाद जी अरबी-फ़ारसी के आचार्य हैं उनके लिए ईरान से ज्यादा प्रेम और किस देश से हो सकता था। यूरोप की यात्रा बहुत सुसाध्य है। ईरान समीप होते हुए भी दूर है क्योंकि वहाँ यात्रियों के लिए कोई सुविधा नहीं। शायद यह पहला ही यात्रा-वृत्तान्त है जो हिन्दी में निकला है। यह उस दिलचस्पी और यात्रा-प्रेम का प्रमाण है, जो भारतवासियों में अब जागरित होने लगा है। पुस्तक ग्यारह खंडों में विभाजित है। पहले खंड में ईरान का संक्षिप्त वृत्तान्त है और हमारे विचार से जरूरत से ज्यादा संक्षिप्त है। इससे ज्यादा विस्तार तो साधारण भूगोल की पुस्तकों में मिलता है। दूसरे खण्डों में पासपोर्ट कैसे मिलता है और उसकी क्या आवश्यकता है यह बतलाया गया है। मेरे विचार में इसे पहला खंड होना चाहिए था। बाकी खंडों में बनारस से कराची जाने कराची से जहाज़ पर बैठने और भिन्न-भिन्न ईरानी स्थानों का वर्णन है। यात्रा बड़ी मनोरंजक है और जानेवाले यात्रियों के लिए बड़े काम की चीज़ है। हाँ हम इतना कहेंगे कि यात्रा की भाषा रूखी है और कहीं वह सजीवता नहीं है जो यात्रा-वृत्तान्त का मुख्य गुण है। पुस्तक में कई ईरानी स्थानों और नगरों के चित्र हैं। ईरान का साधारण परिचय जो हमें यहाँ मिलता है वह यह है कि यहाँ के लोग बड़े अभ्यागत-सेवी उदार और सज्जन हैं। जीवन अभी मँहगा नहीं होने पाया है। सड़कें खराब हैं रेलें कम। मोटर लारियों का किराया बहुत ज़्यादा है। जलवायु स्वास्थ्यवर्द्धक मौसम सुहावना और दृश्य मनोहर है।

वातायन—लेखक श्री जैनेन्द्र कुमार। मार्च १९३१

यह जैनेन्द्र कुमार जी की तेरह कहानियों का संग्रह है। जिसमें कई तो पत्रिकाओं में निकल चुकी हैं। कई इस संग्रह में पहली बार निकली हैं। जैनेन्द्र जी की रचनाओं

॥ धीर-धीर ॥

ने हिन्दी उपन्यास और गल्प-साहित्य को गौरव प्रदान कर दिया है। इस संग्रह की 'फोटोग्राफी' 'चलित चित्र' 'भाभी' आदि कई कहानियाँ संसार के किसी साहित्य के लिए गर्व की वस्तु हो सकती हैं। ऐसा चुभचुभापन ऐसी सजीवता ऐसी सूक्तियाँ और कहीं कम देखने में आती हैं। बीच-बीच में ऐसे वाक्य रत्न बिखरे मिलते हैं जो चित्त को मुग्ध कर देते हैं। दो-एक उदाहरण लीजिए—

'वह घर, जिसमें सत्तू के पुराने दिन सुख के विलास के उल्लास के दिन अब भी छिपा था जो सत्तू के समीप उसके बाप का उसके माँ के समीप उसके पति का एक मात्र अवशेष संस्मृति-चिह्न था जो उनके जीवन में घुल-मिल गया था जिसके कोनों में भीतर बाहर चारों तरफ मानों अपनी शाखा-प्रशाखाएँ फैलाकर उनका जीवन-वृक्ष फला-फूला था।

'सोचा यह तो दिल्ली नहीं है, दिल्ली का बाजार है, जहाँ अमीरी तन कर अपना प्रदर्शन करती है और जहाँ गरीबी अपने को अमीरी जामे में छिपाने में शर्माती चलती है। यह जगह तो देखी नहीं जहाँ अमीरी सड़ती है और गरीबी सिकुड़ी पड़ी रहती है— वह गलियाँ जो सपाट चिकनी नहीं हैं जो संकरी और टेढ़ी-मेढ़ी हैं जैसे शरीर की रक्त वाहिनी नसें।

'और देवर स्त्री के जीवन में आवश्यक वस्तु है। एक देवर चाहिए, जिसको अवसर बनाकर, हँसी खेल-कूद और विनोद-प्रमोद की स्त्री की चपल सुलभ आमोदात्मक वृत्तियाँ खुल कर तृप्ति लाभ करें। पति के साथ स्त्री एक उत्तरदायिनी भारवाहिनी कर्तव्य और अधिकार की झंझटों के बीच प्रतिष्ठित वीर गम्भीर, गृहस्थिन है।

जैनेन्द्र जी की चुटकियाँ मजेदार होती हैं। वह निशाने पर सीधे जा बैठती हैं पर आघात नहीं पहुँचाती। बन्दूक हवाई है या सुगन्ध की पिचकारी समझिए। उनकी कल्पना बहुधा ऐसी प्रत्यक्ष हो जाती है कि आँखों का चित्र-सा सामने खिंच जाता है। जिन्हें कहानी के साथ-साथ साहित्यिक रस का आस्वादन करना हो उनके लिए इन गल्पों में बहुत मिलेगा पर नमक कहीं ज्यादा नहीं कड़वापन कहीं इतना नहीं कि आँखों से पानी बहे, मिठास कहीं इतनी अत्यधिक नहीं कि जी ऊब जाय। भाव-चरित्र वर्णन करने में जैनेन्द्र जी अपना सानी नहीं रखते। हम विश्वास है जनता इन गल्पों का आदर करेगी।

सितम्बर १९३१

मणिगोस्वामी—लेखक श्री कृपानाथ मिश्र एम ए ।

यह पत्रिकाओं के आकार का एक नाटक है जो हरेक प्रकार से अपनी उत्तमता को प्रदर्शित करता है। इसका आकार पुस्तक का नहीं पत्रिकाओं का-सा है। हम यह नहीं कहते कि इस आकार की पुस्तकें नहीं छपतीं। बहुधा कई ग्रन्थों के मोटेपन को कम करने के लिए इस आकार म पुस्तकें छापी जाती हैं। पर यह केवल सत्तर पृष्ठों का ग्रन्थ है। दूसरी नवीनता है इसका समर्पण। लेखक न यह रचना अपनी धर्मपत्नी जी को समर्पित की है। है भी अच्छा। किया पहले बार म कलाकार तब मन्दिर म जलाते हैं। तीसरी नवीनता है। साधारणतः पुस्तकों में एक भूमिका होती है। यहाँ तीन भूमिकाएँ हैं। भूमिकाओं मे भी नवीनता ठसाठस भरी हुई है। आपने बहुत सच कहा है कि हम नाटकों को केवल तमाशा समझते हैं आत्मवृद्धि या आत्मोत्कर्ष का उपकरण नहीं। लेकिन जब दूसरी भूमिका में आप कहते हैं—

हमारे प्राचीन नाटककार समस्या पूर्ति करनेवाले भयभीत श्रमजीवी थे। उन्होंने कला में किसी भी आत्मजनित ब्रह्माण्ड की सृष्टि नहीं की। उन्होंने विश्व को चोर छाया में स्थान नहीं दिया। उनके हाथ चतुर शिल्पी कुम्हार क हाथ थे कलाविद् या स्रष्टा ा भगवान के हाथ नहीं।—तो हम जरा चौंक पड़ते हैं और बड़ी सावधानी से भूमिका पढ़ने लगते हैं। निःसन्देह तीनों भूमिकाओं मे आश्चर्यजनक तत्व भरे पड़े हैं जिन पर ध्यान करना की जरूरत है—

'नास्तिकता की वेदी पर ही कला का जन्म होता है।

'हमारे प्राचीन नाटककार कुछ पंक्ति के कुछ मिट्टी पर थे सभी स्थूल। इसको नाटकों म कोई भी कारुण्य चीत्र नहीं सुन पड़ता अतः-अभिमत हृदय का पश्चिम नहीं मिलता।

'प्रत्येक मनुष्य का जीवन आत्म-प्रसार का एक दीन प्रयास है। पिता पुत्र को जन्म देता है, पुत्र में अपने आपको प्रकट करने के लिए।

क्या शकुन्तला म दुष्यन्त के दरबार म शकुन्तला का रुदन और विलाप 'कारुण्य चीत्र' नहीं है? महाभारत क्या एक महान ट्रजेडी नहीं है? ... अहंकार ... के बाद जीवन के इस ध्वस्त से भी बढ़कर कोई 'कारुण्य चीत्र हो सकती है?

इसमें सन्देह नहीं प्राचीन विद्वानों म साहित्य के शिकंजों में कसकर मौलिकता को हानि पहुँचायी पर यह शिकंजे साधारण श्रेणी के कलाविदों के लिए हैं। स्रष्टा के लिए प्राचीन समय म भी कोई शिकंजा न था। शिकंजे बनते हैं स्रष्टाओं ही की शैलियों से।

और अब मूल नाटक पर आइए। यह भी एक नवीन वस्तु है। हमको हरेक नवीन वस्तु से चिढ़ नहीं। इसी तरह हरेक नवीन वस्तु पर हम लट्टू भी नहीं होना

॥ सार और ॥

चाहते । नाटक एकांकी है, जिसमें छः दृश्य हैं । मणिगोस्वामी एक जमींदार हैं । उनके दो लड़के और एक लड़की है । तीनों जवान हैं । मणि की स्त्री का देहान्त हो चुका है । पहले दृश्य में मणि और घटक की बातचीत है । घटक दूसरे विवाह का अनुरोध करता है । गोस्वामी जी अनिच्छा रखते हुए भी अन्त को राजी हो जाते हैं । मणि के भावों का परिवर्तन चतुर है । वह नहीं-नहीं करके भी हाँ करता है । मणि का बड़ा पुत्र वीरेन बड़ा उत्साही जोशीला देशभक्त है जिसके विलायत जाने की तैयारी है । पर बाप के विवाह की खबर सुनते ही वह पागल हो जाता है और अन्त को अपनी हत्या कर लेता है । मणि की पत्नी थोड़े ही दिनों में उसके रुपये-पैसे उड़ाकर उसे फटेहाल बनाकर चली जाती है । इस मानसिक क्षोभ से वह भी अंत में पागल हो जाता है । मित्र जी ने वास्तव में 'आत्मग्रसित ब्रह्माण्ड' की सृष्टि की है । वीरेन का चरित्र हेमलेट की छाया-सा मालूम होता है । मगर इस सृष्टि में वास्तविकता नहीं आने पायी और नाटक का जो उद्देश्य है, वह भलीभाँति पूरा होता है । उसमें गहराई है, प्रभाव है, व्यथा है ।

अन्त में हम यही कहेंगे कि 'कला की सृष्टि' के लिए नास्तिक होना आवश्यक नहीं । इसके लिए भावों की गहराई और तीव्रता की ही जरूरत है । संसार के व्यापारों से आस्तिक और नास्तिक दोनों ही प्रभावित हो सकते हैं ।

सितम्बर १६३१

आँधी—लेखक श्रीयुत जयशंकर प्रसाद ।

यह प्रसाद जी की ग्यारह कहानियों का सुन्दर संग्रह है । प्रायः सभी कहानियाँ भिन्न-भिन्न पत्रों में छप चुकीं । आँधी नारी-हृदय की एक करुण कथा है ऐसे हृदय की जिसमें प्रेम अपने मौलिक और तेजस्वी रूप में प्रकट हुआ है । चारियारी बेचनेवाली अनुचित युवती की करुण वेदना हृदय को हिला देती है । मधुआ एक शराबी के हृदय का चित्रण है । प्रसाद जी की सहृदयता शराबी में भी मनुष्य का दयालु हृदय देखती है, उसकी अवहेलना नहीं करती । यहाँ प्रत्येक कहानी पर कुछ लिखने की विशेष जरूरत नहीं । प्रसाद जी की भाषा में प्रवाह नहीं वह दौड़ती हुई नहीं चलती इसलिए हाँफ कर शिथिल ... पर लक्षक वह शान्त गम्भीर और रसमयी है । कहीं-कहीं तो उसकी सजीवता जैसे स्पन्दित हो जाती है । देखिए, 'दासी' में सुकुमारी का वर्णन कितना मार्मिक—'अल्हड़पन चंचलता और हँसी से बनी हुई वह सुख-बाला सब हृदयों के स्नेह के समीप थी ।

एक रात्रि का वर्णन देखिए—

'बसन्त-सी चाँदनी रात अपनी मतवाली उज्ज्वलता में महल के मीनारों और गुम्बजों तथा वृक्षों की छाया में लड़खड़ा रही है, जैसे सोना चाहती हो ।

इस संग्रह की सबसे अच्छी कहानी 'वापसी' है जिसकी करुण व्यंजना हृदय पर गहरा असर छोड़ जाती है।

पेरिस का कुबड़ा—अनु० श्री दुर्गादत्त सिंह। मूल लेखक विक्टर ह्यूगो।

विक्टर ह्यूगो फ्रांस का सबसे बड़ा साहित्य महारथी समझा जाता है। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं की एक फ्रांसीसी पुस्तक का अनुवाद है। इस लेखक की एक पुस्तक का अनुवाद स्व० श्री गणेश शंकर विद्यार्थी जी ने किया था। उनके सबसे बड़े उपन्यास 'ला मिज़रेबुल' का अनुवाद वह पूरा कर गये हैं। 'पेरिस का कुबड़ा' वास्तव में 'नात्रेदाम का कुबड़ा' होना चाहिए था। शायद अनुवादक महोदय ने 'नात्रेदाम' को अप्रसिद्ध समझकर पेरिस कर दिया। हमें यह देखकर हर्ष हुआ कि यहाँ नामों और स्थानों को ज्यों का त्यों रहने दिया गया है। भारतीय बनाने का प्रयास नहीं किया गया है। इस तरह का प्रयास जब कभी किया गया है, असफल हुआ है। केवल नाम बदल देने से देशीयता या जातीयता नहीं बदल जाती। उसकी जगह इससे ज्यादा गड़बड़ी होता है। फिर हरेक वस्तु को भारतीय बनाने का प्रयत्न ही क्यों किया जाय। इसका अर्थ तो यही होता है, कि भारतीय पाठकों को संसार की और किसी जाति की कथाओं में कोई आनन्द ही नहीं आता। हम इतने संकीर्ण बुद्धि हैं कि हमारा इतना अनुमान नहीं। हम विदेशी फिल्मों को कितने चाव से देखते हैं। यहाँ तक कि शिक्षित समाज तो देशी फिल्मों के नाम से ही चिढ़ता है। अपने निकट की वस्तुओं से ज्यादा प्रभावित होना स्वाभाविक है, लेकिन अपने पुत्र को प्यार करके दूसरे बालकों से प्रेम किया जा सकता है। हम उस अनुवाद-शैली को रोकना चाहते हैं जो हरेक मास्टरपीस को भारतीय बनाने के प्रयास में सार हीन बना देती है। उसके विषय में कुछ लिखना व्यर्थ है। नात्रेदाम जगत-प्रसिद्ध उपन्यास है। वह हिन्दी में भी आ चुका है। अनुवाद जैसा सरस और सुगम होना चाहिए था वैसा नहीं जान पड़ता। हालांकि यह लिखते हुए हम उन कठिनाइयों की ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते जो हिन्दी में बार-बार सामने आती रहती हैं। फिर कोई अनुवाद कितना ही सुन्दर क्यों न हो असल असल ही रहती है। फिर हम तो दुर्भाग्यवश सभी योरोपीय भाषाओं का अनुवाद अंग्रेजी अनुवादों से करते हैं। तो जो असल नकल की नकल हो उसमें असल के रस का क्या अन्दाजा लगाया जा सकता है। फिर भी 'पेरिस का कुबड़ा' मनोरंजक और [illegible] आनन्दप्रद है।

नवम्बर, १९३१

षड्यंत्रकारी—ले० अलेक्ज़ेंडर ड्यूमा।

ड्यूमा फ्रांस का प्रसिद्ध उपन्यासकार है। यह पुस्तक उन्हीं के एक उपन्यास का

॥ और-और ॥

अनुवाद है। इस उपन्यास में फ्रेंच क्रान्ति के समय का बड़ा सजीव चित्रण किया गया है। पुस्तक बहुत ही रोचक है और अनुवाद भी सुन्दर हुआ है। साहित्य मंडल ने उर्दू के केन्द्र दिल्ली में हिन्दी प्रकाशन का भार उठाया है, यह उद्योग प्रशंसनीय है।

कनौजिया समाज में भयानक अत्याचार—ले० श्री कान्तिकृष्ण शुक्ल।

इस पुस्तक में दस कहानियाँ दी गयी हैं जिनमें कनौजिया समाज में होनेवाले सामाजिक अत्याचारों का बयान किया गया है। समाज में लड़कियों की कितनी दुर्दशा होती है, विधवाओं का कितना अपमान किया जाता है और स्वार्थी ससुर कैसी-कैसी शर्तें रखते हैं, इसका खासा भंडाफोड़ किया गया है। कहानियाँ सच्ची जान पड़ती हैं उनमें यथार्थता है, दर्द है, मन को स्पर्श करने की शक्ति है। हमें विश्वास है, लेखक को अपने प्रयत्न में विशेष सफलता होगी। मुश्किल यही है कि यह पुस्तक उन हाथों में पहुँचे कैसे? पहुँचे या न पहुँचे पर इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि एक-एक कहानी से लेखक की सहृदयता टपक रही है। इस जाति के नवयुवकों का कर्तव्य है कि वह इस पुस्तक का प्रचार अधिक से अधिक करें। ऐसी रचना के लिए हम शुक्ल जी को हृदय से बधाई देते हैं।

महापाप—लेखक काउंट टाल्सटाय।

काउंट टाल्सटाय के दो छोटे उपन्यासों को एक साथ प्रकाशित किया गया है—कज़ाक और क्रूज़र सोनाटा। टाल्सटाय की रचनाओं के विषय में कहना ही क्या हालाँकि वह कभी-कभी भावों और विचारों की आलोचना करने में इतने मग्न हो जाते हैं कि पाठक का जी ऊब जाता है। यह दोनों कहानियाँ टाल्सटाय की प्रसिद्ध वस्तुओं में हैं। और अनुवाद सुलझी हुई सरल भाषा में किया गया है।

मुन्तखबात हिन्दी कलाम—ले० डाक्टर जाकिर हुसेन पी० एच० डी०।

हिन्दी-साहित्य के निर्माण में मुसलमानों ने जत काल में जो कुछ किया उसके भार से हिन्दी भाषा कभी मुक्त नहीं हो सकती। लेकिन नये युग में मुसलमानों ने हिन्दी-साहित्य से केवल उदासीनता ही नहीं कभी-कभी द्वेष का व्यवहार किया है, जो उर्दू-हिन्दी के झगड़े के कारण और भी बढ़ गया है। आज बहुत कम मुसलमान हैं जो हिन्दी-साहित्य से परिचित हों और उसमें लिखनेवालों की संख्या तो उँगली पर गिनी जा सकती है। इसलिए हम डा० जाकिर हुसेन साहब के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने ऐसी नाकदरी के जमाने में यह पुस्तक प्रकाशित करके मुस्लिम संसार को हिन्दी-साहित्य से परिचित कराने का काबिले-मुबारकबाद काम किया है। आपने एक अध्याय में 'हिन्दी साहित्य में मुसलमानों का स्थान' पर कुछ प्रकाश डाला है एक दूसरे अध्याय में 'हिन्दी

साहित्य की विशेषताएँ बयान की गयी हैं। दोनों ही अध्यायों को पढ़कर हम डाक्टर साहब की विद्वत्ता के तो उतने कायल नहीं हुए, पर वह सहृदय अवश्य हैं और उन्हें मुसलमानों की इस साहित्य उपेक्षा का बड़ा खेद है। आपने बहुत ही अच्छा प्रस्ताव किया है कि हमारे स्कूलों में अगर हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं को लाजमी कर दी जायें तो सभी शिक्षित जनता दोनों भाषाओं को समान रूप से सिखेगी और बोलेगी। नतीजा यह होगा कि कालान्तर में एक हिन्दुस्तानी भाषा का विकास हो जायगा और कौमी जबान का प्रश्न हमेशा के लिए तय हो जायगा। इसी आशय का प्रस्ताव हमारे मित्र मिर्जा हमीदुल्लाह ने 'लीडर' में किया था। इस पत्र की जितनी चर्चा हुई उससे विदित होता था कि जनता उसे सहर्ष स्वीकार करने के लिए तैयार है पर हमारे शिक्षा विभाग के कर्णधारों ने उस पर कुछ विशेष ध्यान न दिया।

इन अध्यायों के बाद मूल पुस्तक शुरू होती है। उसे लेखक ने छः भागों में रखा है। पहले भाग में नीति है, दूसरे में भक्ति और ज्ञान, तीसरे में शृंगार, चौथे में कुफ्र-पद्य है और पाँचवां जमीमा है। पद्यों की व्याख्या विस्तार से की गयी है और शब्दार्थ भी दिये गये हैं। हमारे विचार में शृंगार रस का चुनाव इससे बहुत अच्छा हो सकता था और नाजेबोहा का अंश भी गोलमाल कर दिया गया है। फिर भी लेखक ने सराहनीय प्रयत्न किया है।

रुबाइयात उमर खैयाम—अनु० श्री मैथिलीशरण जी गुप्त। दिसम्बर १९३१

फारसी-साहित्य में शायद इससे ज्यादा प्रसिद्ध कोई पुस्तक नहीं है विशेषकर योरप में। इन रुबाइयों में कुछ ऐसा रस है कि इस संग्रह को संसार-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। बंगला में इसके सुन्दर सचित्र अनुवाद पहले ही निकल चुके हैं। हिन्दी में 'प्रभा' में गुप्त जी ने इन रुबाइयों का अनुवाद शुरू किया था। उस समय वह अधूरा रह गया था। प्रयाग-पुस्तकालय ने अब इस अनुवाद को पुस्तक के आकार में सुन्दर चित्रों सहित बड़ी सजावट के साथ प्रकाशित किया है। शुरू में गुप्त जी का कथन है जिसमें उन्होंने मूल फारसी और उसके अंग्रेजी रूपान्तर दोनों से ही अपरिचित न होने पर भी अनुवाद कर डालने के साहस का जिक्र किया है और हम यह कहने पर मजबूर हैं कि गुप्त जी का काव्य-कौशल भी इस अनुवाद में कोई रंग न ला सका। इस कथन के बाद श्री राय कृष्णदास ने उमर खैयाम और उसकी कविता पर अच्छा निबन्ध लिखा है। इसके बाद मूल अनुवाद है। खैयाम की रुबाइयों में जो विराग-मय अनुराग है जो मस्ती है वह अनुवाद में न आ सकी और न आ सकनी थी। कवि की आत्मा का मूल से ही आस्वादन हो सकता था। फिट्ज जेरल्ड का अनुवाद भी शब्दशः नहीं। उसने जगह जगह मनमाना अनुवाद कर डाला है। फिर भी उसमें वर्ण अच्छे हैं

॥ और और ॥

और कई बीभत्स। वास्तव में भावों का चित्रण हो ही नहीं सकता। उसके लिए तो कविता ही है। राम-रागिनियों के चित्र प्राचीन शिल्पियों ने खींचे हैं पर नतीजा कुछ नहीं। भदृश्य को दृश्य और भावों को कायिक बनाने का प्रयत्न कभी सफल नहीं होता। खैर, उस दृष्टि से न देखकर भी इन चित्रों में सौम्यापन केवल तीन चित्रों में आ सका है—पृष्ठ ५ पृष्ठ २१ और पृष्ठ ४। १६ और ४० पृष्ठ के दोनों चित्र तो मन में ग्लानि उत्पन्न करते हैं।

दिसम्बर १९३१

आरोग्य शास्त्र—लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री।

हिन्दी में आजकल आरोग्य-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों की धूम है। और होना ही चाहिए। मनुष्य के लिए आरोग्य से बढ़कर कोई वस्तु नहीं। अन्य पुस्तकों की अपेक्षा इस रचना में यह विशेषता है कि इसमें पुरानी बातों के साथ नयी बातों का समावेश कर दिया गया है और स्वास्थ्य के विषय में नयी से नयी तहकीकातों की व्याख्या भी कर दी गयी है। यह मूल रूप से चिकित्सा की पुस्तक नहीं बल्कि इसमें उन विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जिनसे चिकित्सा की जरूरत ही न पड़े। चिकित्सा भी है मगर केवल इतनी नहीं कि वह भी आरोग्य-प्राप्ति का एक साधन है। हैजा प्लेग टायफॉइड मलेरिया आदि संक्रामक बीमारियों का विशद रूप से उल्लेख किया गया है। स्नान पर एक पूरा अध्याय है। पहले अध्याय में स्वास्थ्य विज्ञान है। दूसरे अध्याय में शरीर विज्ञान दिया गया है। तीसरा अध्याय भी इसी विषय पर है। चौथे अध्याय में गर्भाधान और प्रसव और पाँचवें अध्याय में शिशु-पालन। आगे के चार अध्याय स्नान और भोजन से सम्बन्ध रखते हैं। दसवें अध्याय में रोग-कीटाणु का जिक्र है। रोगी की सेवा आकस्मिक उपचार स्वाभाविक चिकित्सा पर भी एक-एक अध्याय है। चौबीसवें अध्याय में व्यभिचार से पैदा होनेवाली बीमारियों की चर्चा की गयी है। एक अध्याय में खास नुस्खे दिये गये हैं। सौन्दर्य-विज्ञान पर भी एक अध्याय है। गृह-निर्माण कला हस्तरेखा विज्ञान भी आरोग्य के साधन हैं और इन प्रयोगों को भी स्थान दिया गया है। पुस्तक सचित्र है। व्यायाम सौन्दर्य शरीर-दान आकस्मिक उपचार सम्बन्धी सैकड़ों चित्र हैं। तीसवें अध्याय में अध्यात्म- तत्व भी दिया गया है क्योंकि शरीर और आत्मा का सम्बन्ध समझे बिना आरोग्य प्राप्ति नहीं हो सकती। संग्रह बहुत सोच-समझकर किया गया है और ऐसी कोई बात नहीं रहने पायी जिसका आरोग्य से दूर का सम्बन्ध भी है। कागज अच्छा और छपायी सुन्दर। जिल्द खासा दरजे की। मूल्य अधिक है, लेकिन यह पुस्तक नहीं आरोग्य का पुस्तकालय है। अगर रोगों के निदान और चिकित्सा का वर्णन और विस्तार से होता तो पुस्तक सर्वांगपूर्ण हो जाती। फिर भी बड़े काम की चीज है। भाषा रोचक और सरल है।

मार्च १९३२

योरोप की कहानियाँ—संग्रहकर्ता श्री श्रीगोपाल नेवटिया।

इस संग्रह में रूस, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड, इटली आदि देशों के कहानी लेखकों की पैंतीस सुन्दर कहानियाँ दी गयी हैं। यह कला भारत में योरोप से आयी है, इसलिए हम योरोप की प्रगति को देखते रहने की जरूरत है। योरोप के प्रायः सभी विख्यात लेखकों की रचनाएँ चुनी गयी हैं। टाल्सटाय, चेखफ, तुर्गनेव, मैक्सिम गोर्की, अनातोल फ्रांस, मोपासां, वल्स, हार्डी, ओ हेनरी आदि-आदि लेखकों की कीर्तियाँ कभी-कभी पत्रिकाओं में निकलती रहती हैं। यहाँ सभी एक मजलिस में जमा हैं और अपनी-अपनी कीर्ति सुना रहे हैं। प्रायः सभी कहानियाँ ऐसी हैं कि पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। रूसी लेखकों में चेखफ की 'हाय' नामक कहानी लाजवाब है। 'चमत्कार' और 'कीटाणु' भी अच्छी हैं। चुनी कहानियों के इस संग्रह में रखने का मर्म इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता कि वह विशेष की है। भूमिका में कहानी के विकास और गुण-दोष का विवेचन किया गया है और कहानी की रचना पर मूल्यवान विचार प्रकट किये गये हैं। उसका एक अंश हम देते हैं—

'पहले यह देख लेना चाहिए कि कथानक की रचना का आधार क्या हो। कहानी लिखने के लिए एक उद्देश्य का होना आवश्यक है। किसी एक गुण अथवा अव-गुण की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखकर कथानक की सृष्टि करनी चाहिए।'

माघ १९९२

बीस कहानियाँ—संग्रहकर्ता श्री रामचन्द्र टण्डन।

इस संग्रह में हिन्दी की बीस अच्छी-अच्छी कहानियाँ जमा की गयी हैं। एक लेखक की केवल एक कहानी ली गयी है। चुनाव सुन्दर है, लेकिन मूल्य अधिक।

गल्प मञ्जरी—संग्रहकर्ता श्री मु[illegible]राम।

यह भी हिन्दी के सुप्रसिद्ध गल्प लेखकों की रचनाओं का संग्रह है। कुल सत्रह कहानियाँ हैं। लेखकों का परिचय भी दिया गया है।

कहानी कैसे लिखनी चाहिए—लेखक मु. कन्हैयालाल बी एम ए।

यह चौंसठ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक है और इस विषय की कदाचित् पहली पुस्तक है। 'कहानी कला' के विषय में एक पुस्तक की जरूरत है और जहाँ कुछ नहीं है वहाँ यह पुस्तक नये लेखकों का बहुत कुछ लाभ पहुँचा सकती है। भूमिका में मुंशी जी फरमाते हैं—

'इस पुस्तिका में बहुत-सी बातें एसी है जो बतायी जा सकती थीं और बहुत-सी ऐसी भी है जो छोड़ दी जा सकती थीं किन्तु पुस्तिका जिस रूप में है उसी रूप में इसलिए उपस्थित की जा रही है कि जिसम विद्वान और अनुभवी लोग इसकी त्रुटियाँ को देखकर एसी पुस्तक लिखें जिससे कहानी-लेखकों को ठीक-ठीक शिक्षा प्राप्त हो।

तो यह पुस्तिका केवल इसीलिए लिखी गयी है कि इसकी त्रुटियों को दूर करने के लिए कोई दूसरी पुस्तक लिखे। हमारे विचार म लेखक जब कोई किताब लिखने बैठे तो उसका यह ध्येय होना चाहिए कि यथाशक्ति वह अपनी रचना को निर्दोष बनाये जान-बूझकर कोई कसर न छोडे।

इस पुस्तक मे आठ परिच्छेद है—कहानी प्लाट चरित्र-चित्रण कथोपकथन कहानी की रचना अलायमकस शैली और कहानी के नियम म अन्य विशेष बातें।

पष्ठ सात पर लेखक महोदय कहते है—कहानी लिखने से अच्छी आमदनी हो सकती है। इससे ज्ञात होता है कि आपको हिन्दी-पत्रों का अनुभव नहीं है। हिन्दी मे बहुत कम ऐसे पत्र है, जो पुरस्कार देते हों। दो-चार इने-गिने लेखकों को सम्भव है कुछ पुरस्कार मिल जाय पर साधारणत यहाँ कहानी लिखना अभी व्यवसाय के दरजे तक नहीं पहुँचा है। ऐसी बिरली ही कोई पत्रिका होगी जो नफे पर चल रही हो। तो फिर घाटे का पत्र निकालकर कोई पुरस्कार कैसे दे सकता है।

ऐसा जान पड़ता है कि यह पुस्तक कई अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर लिखी गयी है क्योंकि इसम जगह-जगह असम्बद्धता आ गयी है। फिर भी इसमे काम की बहुत-सी बातें है जो कहानी लिखने म सहायक होंगी।

दो एक छोटे-छोटे उद्धरणों से यह बात प्रकट हो जायगी—

'प्लाट के लिए सामग्री अकसर अकस्मात् मिल जाती है, जैसे कभी समाचारपत्र पढ़ने से कभी साधारण बातचीत से कभी भावात्मक घटनाओ के देखने से और कभी साधारण अनुभव से। सम्भव है कि नये लेखक को यह प्लाट की सामग्री साधारण बातों से न दिखायी दे किन्तु प्लाट ढूँढ़ने का अभ्यास उसको निपुण बना देता है—

चरित्र-चित्रण के प्रकरण म आप लिखते है—

'पहली किस्म की कहानी घटनामय होती है, जिसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि घटना बराबर होता जाय। इसी प्रकार की कहानियों म चरित्र-चित्रण के लिए बहुत कम स्थान मिलता है। दूसरी तरह की कहानी वह है, जिसम साधारण का चित्र खींचा जाता है—इसम चरित्र-चित्रण का स्थान प्लाट और घटनाओं से अधिक आवश्यक समझा जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि घटनात्मक कहानियों म चरित्र चित्रण का बिलकुल अभाव हो या साधारण-सम्बन्धी कहानियों मे घटनाएँ या प्लाट न हों क्योंकि अच्छी कहानियों म दोनों बातों का होना आवश्यक है।

मार्च १६३२

बेलि क्रिसन रुकमणी री राठौड़राज, पृथीराज री कही

अनुवादक—स्वर्गीय महाराज श्री जगमाल सिंह जी साहब।

राठौड़-नरेश पृथीराज बड़े वीर भक्त हैं जिनका महाराणा प्रताप को उस समय लिखा हुआ पत्र मिला था जब महाराणा कष्टों से तंग आकर अकबर की पराधीनता स्वीकार करने का विचार कर रहे थे। इस पत्र को पढ़ते ही महाराणा सम्भल गये और अन्त तक स्वाधीनता का झंडा फहराते रहे। यह पत्र भाव और भाषा और ओज आदि गुणों के लिए ऐतिहासिक साहित्य में एक अमूल्य वस्तु है। पृथ्वीराज मारवाड़ी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि थे और कृष्ण के परम भक्त। 'बेलि' उन्हीं की रचना है। सम्पादकों ने अपने प्राक्कथन में कहा है कि मारवाड़ी भाषा में यह कविता का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। मारवाड़ी भाषा को डिंगल कहते हैं। महाराजा पृथ्वीराज ने हिन्दी में भी कविता की है, पर उनकी गणना दूसरी श्रेणी के कवियों में है, पर सम्पादक-द्वय का दावा है कि पृथ्वीराज चंदबरदाई से किसी तरह कम नहीं है। बेलि में कृष्ण-चरित गाया गया है। भूमिका में राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति विकास और विस्तार का विशद वर्णन है। फिर महाराजा पृथ्वीराज का चरित लिखा गया है और उनकी रचनाओं के दुए दर्शाये गये हैं। 'बेलि' में कुल तीन सौ चार पद हैं। हरेक पद का भावार्थ दिया गया है। साधारण हिन्दी जाननेवाला आदमी इन पदों को नहीं समझ सकता। इसलिए डिंगल का शब्दकोष भी दिया गया है। एक अध्याय में बेलि के भिन्न-भिन्न पाठान्तरों को सामने रख दिया गया है। सम्पादकों ने जितने परिश्रम और विज्ञता से इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है, वह प्रशंसनीय है। पुस्तक को बोधगम्य बनाने के लिए उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। डिंगल भी हिन्दी भाषा ही का एक रूप है और उसके शब्दकोष तथा टिप्पणियाँ भाषा-विज्ञान के लिए बड़े महत्व की चीज हैं। हिन्दुस्तानी एकेडमी ने इस पुस्तक को प्रकाशित करके अपने साहित्य-प्रेम का परिचय दिया है। डिंगल भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण हम 'बेलि' के पदों का पूरा-पूरा रसास्वादन तो नहीं कर सके पर भावार्थ को पढ़कर यह कह सकते हैं कि पृथ्वीराज में असाधारण प्रतिभा थी। हम दो-एक पदों से इसका उदाहरण देंगे—

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन यों किया गया है—जब सूर्य ने जगत के सिर पर से उतर भाग बनाया और सघन वर्षा ने अपनी धारा जगत के सिर पर की। नदी और दिन बढ़ने लगे। सरोवरों का जल और रात्रि घटने लगी। पृथ्वी में कठोरता और हिमालय में द्रव भाव आ गया।

वर्षा ऋतु वर्णन का केवल एक पद देखिए—पृथ्वी श्री रुक्मिणी की भाँति और बादल घनश्याम श्रीकृष्ण की भाँति परस्पर दौड़कर एक हो गए हैं। दिन और रात

॥ और और ॥

का भेद नहीं जाना जा सकता। ऋषि-मुनिगण भ्रम में पड़कर सन्ध्या-वन्दन करना भूल गये।

अप्रैल १९३०

डी वेलरा—लेखक श्री उमादत्त शर्मा।

सामयिक पुस्तक है और अच्छे समय पर निकली है। लेनिन ने रूस का उद्धार किया। उस वक्त ज़ार की शक्ति क्षीण हो गयी थी। मुस्तफ़ा कमाल ने टर्की का उद्धार किया। सुलतान योरोप का पुराना रोगी मशहूर था। लेकिन आयर्लेंड का उद्धार करने के लिए डी वेलरा को संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य का मुकाबला करना पड़ा। इसलिए हम डी वेलरा को लेनिन या मुस्तफ़ा कमाल पाशा से कम नहीं समझते। अंग्रेज सरकार ने आयर्लेंड का खून चूसना किया लेकिन सिनफ़िनस का वही बागी मता आज अपने त्याग तेजस्विता और दृढ़ता से आयर्लेंड का बेताज का बादशाह है। यहाँ की दशा बहुत कुछ भारत से मिलती है और साम्राज्यवादियों की कूटनीति की चालें भी यहाँ उसी ढंग पर चल रही थी लेकिन डिसन फ़ासिस पार्नेल ने जो स्वप्न देखा था उसे डी वेलरा ने पूरा कर दिखाया। पुस्तक एक महान पुरुष का चरित्र है और उस पढ़कर हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। पुस्तक बड़ी ही रोचक है, उपन्यास की तरह। ही भाषा इससे सरल होती तो अच्छा होता। डी वेलरा के अतिरिक्त अन्य आइरिश नेताओं के चित्र भी हैं। आयर्लेंड का एक नक्शा दे दिया जाता तो इसकी उपयोगिता बढ़ जाती। जिन्हें देश प्रेम की लगन है उन्हें इस पुस्तक से बहुत कुछ लाभ होगा।

विप्लव—लेखक श्री राधामोहन गोकुल जी।

श्री राधामोहन गोकुल जी हिन्दी के उन गिने हुए लेखकों में हैं जिन्होंने धार्मिक सामाजिक और नैतिक विषयों पर स्वतन्त्र विचार किया है और उन विचारों का निडर होकर पालन किया है। आपके विचारों में मौलिकता है गहरा अध्ययन है और आदमी को क़ायल करनेवाली सच्चाई है। आपकी भाषा में नज़ाकत और लोच की जगह स्वामी दयानन्द की-सी दृढ़ता और तेज है। आप इस सत्तर वर्ष की अवस्था में भी नये से नये विचारों का प्रतिपादन बर्नार्ड शा और ट्राटस्की की-सी निर्भीकता से करते हैं। आप जात-पाँत छूत-छात धर्म-सम्प्रदाय इन सभी को समाज के लिए घातक और उनकी स्वाभाविक प्रगति में बाधक समझते हैं और आपकी दलीलों के सामने सिर न झुका देना कठिन है। अट्ठारह बरस की युवावस्था में जो आदमी स्त्री के मर जाने पर इसलिए विधुर जीवन व्यतीत करे कि वह मर जाता तो उसकी स्त्री आजीवन वैधव्य का पालन करती त्यागमय जीवन का ऐसा पवित्र और ऊँचा आदर्श है कि जिसकी मिसाल मुश्किल से

मिलेगी और इस अवस्था में भी आपकी विलासिनी नौजवानों को लज्जित करती है। विप्लव वास्तव में अपने नाम को चरितार्थ करता है। इसमें महात्मा गोकुल जी के चुने हुए गानों का संग्रह किया गया है और अरोड़ा जी ने इसे प्रकाशित करके हिन्दी के विचार-साहित्य में एक स्तम्भ-सा खड़ा कर दिया है। पहला लेख है 'ईश्वर का बहिष्कार'। माधुरी में यह लेख-माला आठ मास हुए क्रमशः निकली थी और हिन्दी संसार में इसने हलचल मचा दी थी। इस लेखमाला का जवाब नहीं है और लेख की शैली इतनी चलबुली और विनोदमय है कि क्या कहना। अंधविश्वास 'इतिहास की कसौटी' आदि सब पढ़ने और विचार करने योग्य हैं। लेखक महात्मा पक्के बुद्धिवादी हैं वह क्यों मानने लगे लेकिन हम तो यही कहेंगे कि साकार रूप में महात्मा चार्वाक ने अवतार लिया है।

सुलभ कृषिशास्त्र—लेखक श्री मुख सम्पत्ति राय भंडारी एम० आर० ए० एस०

ऐसी एक पुस्तक की कमी थी जो अनुभव की और भंडारी जी ने यह पुस्तक लिख-कर देश का उपकार किया है। भारत किसानों का देश है। उसका सब कुछ खेती पर मुनहसर है। सरकार भी लाखों रुपये नये-नये रिसर्च (खोज) पर खर्च करती है लेकिन खेती पर उसका कोई प्रत्यक्ष असर नहीं होता। खोज होती है लेकिन उसका कोई प्रचार नहीं होता और वह सारी मेहनत सरकारी दफ्तरों की आलमारियों की शोभा बढ़ाने की भेंट हो जाती है। लेखक ने उन खोजों को एक जगह संग्रह करके उसे जनसाधारण के लिए सुलभ कर दिया है। जमीन की किस्में जुताई खाद गेहूँ ऊख आलू मूँगफली अफीम तम्बाकू मटर कपास चावल आदि फसलों के पैदा करने की विधि विस्तार से लिखी गयी है और नयी से नयी खोजों का उपयोग किया गया है। इस सरकारी के दिनों में खेती के सिवा नौजवानों के लिए दूसरा आधार नहीं है। उनके लिए और प्रत्येक किसान के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। हाँ इसकी कीमत बहुत ज्यादा है। अधिक से अधिक दो रुपया होना चाहिए था इसलिए कि यह साहित्यिक विलास की वस्तु नहीं रोटी के मसले को हल करनेवाली जरूरी चीज है और अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार जरूरी चीजों पर कर न लगना चाहिए या बहुत कम।

अंतर्वेदना—लेखिका श्रीमती पुष्पावती देवी।

हिन्दी साहित्य के निर्माण में देवियों जो स्थान ले रही हैं वह उनके लिए गौरव की बात है। पद्य-रचना में तो उनका स्थान मर्दों से जौ भर भी कम नहीं। अपनी भाषा की कोमलता ही प्रधान वस्तु है जहाँ मनोवेदना ही का राज्य है वहाँ तो कहना ही क्या। लेखिका महोदया पहले उस हिन्दी-संसार, देवी पुष्पावती के नाम से अपरिचित-सा था। पर इस अंतर्वेदना का दिदार हम यह मानते हैं कि उनमें क्षमा

असाधारण रचना-शक्ति थी और अपने कुमारी जीवन में ही उन्होंने ऐसी मर्मानुभूति प्राप्त की जो प्रौढ़ कवियों को भी गौरव प्रदान कर सकती है। पर खेद है कि यह 'कली जो खिलनी शुरू हुई थी कि तोड़ ली गयी'। केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में उसका अवसान हो गया। यह सारी कविताएँ सोलह और उन्नीस साल की अवस्था में ही लिखी गयी हैं। इतनी उम्र में ऐसी भावपूर्ण कविता करना साधारण प्रतिभा का काम नहीं है। उनका विवाह श्री चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार से हुआ था पर वह निधि छः महीने में ही उनसे छीन ली गयी और उनके दुखी हृदय को सान्त्वना देने के लिए जो कुछ शेष रह गया वह यही कविता का संग्रह है। पुस्तक को हाथ में लेते ही एक क्षण के लिए हाथ और हृदय दोनों में सिहरन-सी हो उठती है और इन कविताओं में जो वेदना है वह साकार हो जाती है। क्या वह आत्मा जीवन के बंधनों से मुक्त होने के लिए ही तड़प रही थी?

कुसुम पथ पर चल आयी हूँ होने को चरणों में लीन।
और निराशा-पथ में अब तक थी आशा की आभा क्षीण॥

जिस आत्मा में यह तड़प और कसक हो वह इस स्वार्थमय संसार में क्या आनंद पाती! हमें आशा है, साहित्य-संसार इस संग्रह का आदर करेगा।

जनवरी १९३५

भर्तृहरि रचित शृंगार, नीति और वैराग्य-शतक—अनु० श्री हरिदास जी वैद्य

भर्तृहरि के तीनों शतक संस्कृत साहित्य के ही नहीं भू-साहित्य की अपूर्व रचनाएँ हैं। जीवन की इन तीनों अवस्थाओं का शायद ही किसी कवि ने इतना मार्मिक हृदयस्पर्शी और आँखें खोलनेवाला चित्रण किया हो। हिन्दी में इन कृतियों के अनुवाद तो पहले ही छप चुके हैं लेकिन हरिदास जी ने प्रत्येक श्लोक की व्याख्या, श्लोक का अपना रूपान्तर, उससे मिलती-जुलती हिन्दी, उर्दू, फारसी कवियों के छंद देकर इसे सर्वसाधारण के लिए सुबोध बना दिया है। व्याख्या बड़ी फड़कती हुई सजीव भाषा में की गयी है जिससे उसके पढ़ने में आनन्द आता है। ये तीनों पुस्तकें अब तीसरी बार प्रकाशित हो रही हैं इसी से ज्ञात होता है कि हिन्दी पाठकों ने इनका कितना आदर किया है। भर्तृहरि का जीवन चरित्र भी दिया है, मगर उसमें कितना इतिहास है, कितनी कल्पना इसका फैसला मुश्किल है।

हिन्दी गुलिस्ताँ—अनु० श्री हरिदास जी वैद्य।

गुलिस्ताँ फारसी साहित्य का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इतना सर्वप्रिय नीति-ग्रंथ संसार साहित्य में मुश्किल से मिलेगा। संसार की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें इसका अनु-

बाद म हो गया हो। इसकी भाषा इतनी सरल सरस और सजीव है और कथाएँ इतनी शिक्षाप्रद और मनोरंजक कि चिरकाल से पाठ्यपुस्तकों में इसका प्रथम स्थान रहा है। जिसे फ़ारसी साहित्य से नाममात्र का भी परिचय है उसने गुलिस्ताँ अवश्य पढ़ी है। शेख़ सादी कवि भी था और इन कथाओं को उन्होंने अपने शेरों से अलंकृत कर उनमें जान डाल दी है। गुलिस्ताँ के सैकड़ों वाक्य और शेर लोकोक्तियाँ बन चुके हैं। हरिदास जी के अनुवाद में मूल का आनन्द आता है। हर कथा के अन्त में उससे मिलनेवाली शिक्षा भी दे दी गयी है। इस पुस्तक की यह चौथी आवृत्ति है। इससे मालूम होता है कि हिन्दी में इसका कितना आदर है। बालकों के लिए तो इसका पढ़ना लाज़िमी है ही बूढ़ों को भी इसमें बहुत कुछ शिक्षा मिलती है।

चिकित्सा-चन्द्रोदय—लेखक श्री हरिदास जी वैद्य।

इस अनुपम ग्रन्थ के दो खण्डों की आलोचना पहले किसी अंक में की जा चुकी है। पाँचवें भाग में तीन खण्ड हैं। पहले दो खंडों में विष का वर्णन किया गया है। तीसरे खण्ड में स्त्री-रोगों की चिकित्सा दी गयी है। छठे भाग में खाँसी और श्वास-रोग का निदान और चिकित्सा दी गयी है। इस भाग के अन्त में दवाएँ बनाने और सेवन करने में जिन बातों के जानने की ज़रूरत होती है वह सब विस्तार में लिखी गयी हैं। जैसा हमने पहले कहा था हरिदास जी ने आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों को मथकर उनका सार इन पुस्तकों में भर दिया है। विषय का इतना विशद वर्णन कदाचित् किसी एक आयुर्वेद ग्रन्थ में न मिलेगा। तीन सौ चालीस पृष्ठ इस विषय पर दिये गये हैं। हर प्रकार के ज़हर की पहचान उससे पैदा होनेवाले दोष उनकी चिकित्सा सभी कुछ तो है। यहाँ तक कि सामने कुछ मकड़ी छिपकली आदि के ज़हर की चिकित्सा बतायी गयी और नुसख़े भी अधिकांश परीक्षित हैं जो बड़े महत्व की बात है। इन पुस्तकों को पढ़कर आदमी अपना और अपने परवालों ही का नहीं गाँव और मुहल्लेवालों का भी बहुत कुछ कल्याण कर सकता है।

इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग की बालोपयोगी पुस्तकें—बालकों का विद्यासागर,

विद्यासागर के चरित्र में बालकों की रुचि की जितनी बातें हैं वह सब यहाँ बड़ी सरल भाषा में लिखी गयी हैं। लड़कों को इस चरित्र से ज्ञात होगा कि विद्यासागर पढ़ने-लिखने में ही सब लड़कों से तेज़ न थे खेल-कूद में भी कोई लड़का उनकी बराबरी न कर सकता था। वह माता-पिता के कितने भक्त थे। एक अध्याय में उनके जीवन की सब शिक्षाप्रद घटनाएँ जमा कर दी गयी हैं। सुन्दर छपाई-सफ़ाई है। चित्र भी हैं।

॥ शेष-चोर ॥

वेश्या का हृदय—लेखक डा० धनीराम प्रेम।

एक वेश्या ने अपनी जीवन कथा लिखी है और उस पर सच्चाई का रंग भरने मे पूर्णरूप से सफल हुई है। एक अच्छे मुसलमान परिवार की लड़की माता-पिता के मर जाने के बाद रिश्ते के एक चचा अम्मू मियाँ के घर में आश्रय पाती है। अम्मू मियाँ का बेटा महमूद जो बम्बई में कामधाम करता है घर आता है और इस लड़की को अपनी ओर आकर्षित करके उससे निकाह कर लेता है और उसे बम्बई ले जाता है। बम्बई में वह अपना परदा खोल देता है और नर-पिशाच वेश्या के दलाल के रूप मे प्रकट होता है। आयसू रोती है बिलखती है, पर बम्बई में उसका कौन सहायक है? वह इस चक्र म फँस जाती है। महमूद पुलिस की गोली का शिकार होता है आयसू को कैद की सजा होती है और बाहर निकलने पर पतन उसका स्वागत करता है। तब से अन्त तक यह दुखिया प्रेम का आश्रय ढूँढती रहती है और जब सफल होने का अवसर आता है तो संसार से विदा हो जाती है। कहानी अत्यन्त करुण और उसके साथ ही यथार्थमूलक है। एक निराश्रिता किस तरह अपनी रक्षा करने की चेष्टा करती है और अन्त में असफल होती है इसका वर्णन बहुत ही रोमांचकारी है। उसी के मुख से सुनिए—

'कौन ऐसा स्थान है जहाँ प्रतिष्ठा के साथ जीवन कट सकेगा? कौन ऐसा है, जिस पर विश्वास कर सकूँगी? फिर यह जीवन किस लिए? किस आशा पर यह सारी आयु व्यतीत होगी? अब तो दो ही मार्ग हैं—या तो चरित्र को विदा कर दो हीरा को खो दो और औरों की भाँति संसार के मजे लूटो और या फिर उस स्थान पर चलो जहाँ मनुष्यों की दृष्टि से बच सको।

जब विलन की पत्नी वेश्या आयसू के पास आकर कहती है—मुझे इसमें क्या? आप नहीं जानतीं। आपने कभी पत्नी होने का सुख नहीं उठाया। आपने एक पुरुष को प्रेम का केन्द्र बनाकर उसकी पूजा नहीं की। आपने स्त्रीत्व के उस प्रथम प्रवाह में गोता नहीं लगाया जिसमें बहना एक अपूर्व बात है। फिर आप एक स्त्री के हृदय के भावों को कैसे समझ सकती हैं?

इस स्त्री की बातों ने आयसू के जीवन की धारा ही पलट दी। वही वेश्या जो विलन को दोनों हाथों से लूट रही थी अब कहती है—

'तुम अपनी स्त्री से प्यार नहीं करते? यह तुम्हारा बड़ा अन्याय है। वह तुम्हारी है, तुम उसके हो। मैं अब तक तुम्हें धोखे में डाल रही थी। मैं न तुम्हें प्यार करती हूँ न कर सकती हूँ। मेरे इस क्षणिक रूप के पीछे अपना सत्यानाश न करो न किसी और के रूप के पीछे पड़ना। तुम्हारे घर में देवी है। उसकी पूजा करो।

पुस्तक अत्यन्त रोचक है और समाज के एक ऐसे अंग की ओर हमारा ध्यान खींचती है जो अपनी निगाहों में चाहे जो कुछ हो हमारी निगाहों में दुखी है क्योंकि

वैवाहिक जीवन हा समाज का सत्य है और शायद अभी दस-बीस साल रहे। कई स्थल तो बड़े ही मार्मिक हैं। भाषा में प्रवाह और रस है और भावों के चित्र बड़े सुन्दर हैं।

सन्देह नहीं होता है कि यह वेश्या अमर्सी है या नरमी। काश अमली वरमाएँ एसी होतीं इतनी आसानी से प्रेम के बन्धन में पड़ जानेवाली तो समाज क्यों उन्हें इतना हेय समझता। आमन्नु मगर परवाह नहीं है या उमर मधमग अवश्य है।

इसाइ बाला—लेखक श्री धनम्न गोपाल शेखर।

प्रकाश हिन्दू है। इमाकला जाम स्मार्ट। दोनों साथ कालेज में पढ़ते हैं। दोनों में प्रेम होता है और गुप्त रूप से विवाह हो जाता है। प्रकाश की माता शाद में प्राण देती है, प्रकाश का पिता भी बहुत नाराज होता है लेकिन जब दम्पति समाज और राष्ट्र-सेवा में तन-मन से लग जाते हैं और बाद को सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेते हैं तो पिता का क्रोध शान्त हो जाता है और वह अपने पुत्र और पुत्र-वधू का स्वागत करता है। पुस्तक का उद्देश्य तो सामाजिक क्रान्ति है लेकिन ऐसी पुस्तक के लिए जिस लेखकला की आवश्यकता है वह यहाँ कम है और ऐसा जान पड़ता है कि बहुत जल्दी में लिख कर समाप्त कर दी गयी है।

मधुकरी—सम्पादक श्री विनोद शंकर व्यास।

इस संग्रह का पहला भाग दो-तीन साल हुए निकला था। यह उसका दूसरा भाग है। इसमें कुछ कहानियाँ तो उन लेखकों की हैं जो पहले भाग में नहीं आ सके थे और कुछ नये लेखकों की हैं। कुल तीस कहानियाँ हैं और सब एक से एक सुन्दर। कहानी साहित्य जिस दशा में हिन्दी में बढ़ रहा है वह देखकर सन्तोष होता है। कहानियों में कृष्णानन्द जी की 'अपराधी' जैनेन्द्र कुमार जी की 'स्पर्धा' धनीराम जी 'प्रेम' की 'बहन' श्री राधामोहन गोकुलजी, सुदर्शन जी की अशी...प्रतापनारायण जी का आशीर्वाद सुन्दर कहानियाँ हैं। सरदार मोहन सिंह के मेरे मास्टर साहब में सामाजिक दृष्टि की भावना प्रत्यक्ष है। हमारे सरदार साहब की ऐसी क्रान्ति देश के उद्धार के लिए आवश्यक जान पड़ती है। हमें तो इसमें सचनाएँ ही के सन्देश मिलते हैं। वैवाहिक बंधन केवल मन की इच्छा नहीं है और न मन की चंचलता और विलास की प्रेम कहते हैं। अगर इस तरह प्रत्येक स्त्री-पुरुष दूसरे पुरुष-स्त्री को देखकर लट्टू हो जाय मन तो वैवाहिक जीवन का अंत ही हो जाय। ऐसी भ्रष्ट कहानी लिखकर सरदार साहब ने किसी की सेवा नहीं की। गायत्री प्रसाद मिश्र जी की ... की यथार्थता का चित्रण हुआ चित्र है। हृदयनारायण का व्यवहार कभी ऐसा नहीं दिखाया गया जिसमें

॥ और और ॥

उसकी स्त्री को उससे असन्तुष्ट होने का कोई कारण होता। उसकी आमदनी कम है और वह स्त्री को अच्छे-अच्छे उपहार नहीं दे सकता। क्या इतना अपराध ही स्त्री के मन में मोपासाँ के प्रति ऐसी ममता उत्पन्न करने के लिए काफी है? अगर पुरुष या स्त्री इस तरह उपहारों पर लोट-पोट हो जाने लगें तो गरीब परिवारों की सुख शान्ति का अन्त ही हो जाय। वात्स्यायन जी की 'अमर-वल्लरी' अपूर्व है, और वीरेश्वर सिंह जी की 'वह भाव' लाजवाब है। कई लेखकों की कहानियों का चुनाव इससे अच्छा हो सकता था। चन्द्रगुप्त जी ने 'क ख ग' से अच्छी कहानियाँ लिखी हैं और वाचस्पति पाठक ने 'हंस' के अभिनन्दनांक में 'कागज की टोपी' लिखकर दिखा दिया है कि वह 'उनी' से बहुत अच्छी चीजें लिख चुके हैं। रहा शिवपूजनसहाय जी का 'कहानी का प्लाट' वह तो एक निराली चीज है काश भयभीषनी का अंत इतना बीभत्स न होता। जिनजी की 'वह तस्वीर' तो कहानी के मर्त्यलोक से उड़कर कल्पना के स्वर्ग में जा पहुँची है।

मई १९३३

हिन्दुस्तानी कोश—संग्रहकर्ता प० रामनरेश जी त्रिपाठी।

त्रिपाठी जी ने यह कोश तैयार करके हिन्दी की एक बड़ी जरूरत पूरी कर दी। हिन्दी और उर्दू के बीच में एक तीसरी भाषा बनती जा रही है जिसे 'हिन्दुस्तानी' कहा जा रहा है। यह साधारण बोल चाल की भाषा है जिसमें हिन्दी उर्दू, फारसी अंग्रेजी आदि सभी भाषाओं के शब्द मिलते हैं। यह हिन्दी और उर्दू दोनों को प्लेटफार्म पर ला खड़ी करती है उसमें केवल लिपि का भेद रह गया है। इस तरह का कोई कोश अब तक मौजूद न था जिसमें ईजलास अंजुमन मारफत लिफाफा हवाल मुस्तगीस आदि शब्दों के अर्थ दिये गए हों। अंग्रेजी के शब्द हमारी बोल-चाल में रोज-बरोज बढ़ते जाते हैं और थोड़े दिनों में वे हिन्दी में मिल जायँगे। जीवित भाषा का धर्म है कि ऐसे शब्दों का स्वागत करे, न कि उनके द्वार बन्द कर दे। त्रिपाठी जी ने इस जरूरत को समझा है। और इन शब्दों को कोश में स्थान देकर उन पर टकसाल की मुहर लगा दी है। वैज्ञानिक या दार्शनिक विषयों के पारिभाषिक शब्द तो उर्दू के अलग होंगे और हिन्दी के अलग लेकिन साधारण किस्से-कहानियाँ समाचारपत्र और इसी तरह की हजारों बातें अगर हिन्दुस्तानी का प्रयोग करें तो निस्सन्देह भाषा का भेद मिट जाय और शिक्षित मुसलमान या हिन्दू की बोल-चाल में कोई विभिन्नता न हो किन्तु उर्दू भी हिन्दी शब्दों का इसी शौक से स्वागत करने को तैयार है या नहीं हम नहीं कह सकते।

सितम्बर १९३२

प्रकाश की किरणें—लेखक श्री भोलानाथ जी।

स्वामी जी के उपदेश इसमें मुख्य हैं। इसमें एक भक्त-हृदय के पुष्पित कमल मानो उद्गार हैं प्रेम में डूबे हुए और आध्यात्मिक आनन्द में सने हुए। यह छोटी-सी पुस्तक भावक कुछ लेखों का संग्रह है। इसमें भी आध्यात्मिक तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। आध्यात्मिक एक ऐसा विषय है जिससे साधारण से साधारण आदमी भी कुछ न कुछ परिचित है। हम अक्सर लोगों को कहते-सुनते हैं—जो कुछ करता है ईश्वर करता है, संसार माया है, घट-घट में राम व्याप्त हैं मन चंगा तो कठौती में गंगा जहाँ श्रद्धा होगी वहीं भगवान के दर्शन होंगे आदि पर यह ज्ञान परम्परागत है अनुभूत नहीं इसलिए हम मुख से ऐसे महान सत्यों का व्यवहार करके भी उनके अनुरूप आचरण नहीं कर सकते। जिसने इन तत्वों को अपना लिया है वही ज्ञानी है वही महात्मा है। स्वामी भोलानाथ जी ऐसे ही अनुभवी पुरुषों में हैं और इस विषय पर लिखने और बोलने का उन्हें अधिकार है। मधुरता का रहस्य' इस विषय पर लिखते हुए आप कहते हैं—ईश्वर-प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग उसकी संतान मनुष्य मात्र की सेवा और उन्हीं से प्रेम है। और हमारे समाज में यह अध्यात्म का सार है। मुश्किल यही है कि जब हमसे कहा जाता है कि—

दिन भर में जो सुख-दुख मिले उन सब में ईश्वर की इच्छा का मधुर समझो और सदा के लिए उसे प्रसन्न हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करो।

तो तुरन्त मन में सन्देह होता है कि ईश्वर हम दुनिया के प्राणी पोषण के लिए केवल एक मानवी कल्पना तो नहीं है। जब हमारे दुखों में भी ईश्वर की इच्छा ही का संचार है तो शंका होती है कि हम अपनी दशा को सुधारने का प्रयत्न ही क्यों करें? और वही शंका इस नतीजे पर पहुँचती है कि जिनका संसार के पदार्थों पर अधिकार है, उन्होंने विषमता को शान्त करने के लिए इस कल्पना की सृष्टि करके उसे सम्मोहित कर दिया है।

सितम्बर १९३२

आत्म-विस्मृति—रचयिता श्री पद्मकान्त मालवीय।

पद्मकान्त जी ने हिन्दी में रुबाई लिखकर कविता प्रेमियों को एक नयी चीज देने की चेष्टा की है। मगर उर्दू या फ़ारसी या रुबाइयों के लिए उर्दू की जमीन जितनी मज़बूत सिद्ध हुई है शायद हिन्दी उतनी मज़बूत न हो। हाँ एक बार अगर वह मज़बूत पायी है। पद्मकान्त जी की रुबाइयों का गदा-मंगार या दरवाज़ और सौन्दर्य का मिश्रण-सी मालूम होता है। किसी कविता में प्याला और मधुशाला और

* * *

पण्डित जी अभी अपरिचित से लगते हैं। सम्भव है आगे चलकर भाषा के मंज जाने पर हिन्दी रुबाइयों में भी अमीर या रवाँ की रुबाइयों का-सा मजा आवे। अभी तो वह बात नहीं आयी।

नवाब का हाथी—अनु० मुंशी कन्हैयालाल।

मुंशी कन्हैयालाल ने हिन्दी को उर्दू-साहित्य के हास्य रस से खूब परिचित कर दिया है। इस संग्रह में उन्होंने दस अच्छी-अच्छी कहानियों का संग्रह कर दिया है। 'बाईसिकिल' और 'अंगूठी की मुसीबत' विशेष रोचक हैं। मगर ऐसी कोई कहानी नहीं, जिसे पढ़कर हास्यमय मनोरंजन न हो।

साहित्य-समीक्षा—लेखक श्री कालिदास कपूर।

श्री कालिदास जी कपूर हिन्दी के सुपरिचित आलोचकों में हैं। इस पुस्तक में उनके आलोचना-संबंधी लेख जो उन्होंने समय-समय पर पत्रों में प्रकाशित कराये थे संग्रह कर दिये गये हैं। सेवा-सदन प्रेमाश्रम और रंगभूमि की विस्तृत आलोचनाएँ भी दी गयी हैं। कालिदास जी की आलोचनाएँ पक्षपात रहित होती हैं यही उनकी खूबी है। 'हिन्दी में नाटक और अभिनय' और 'हिन्दी में उपन्यास साहित्य' विचारपूर्ण लेख हैं।

मानुषी—लेखक श्री सियारामशरण गुप्त।

श्री सियारामशरण जी की कविताओं में जो शांति और माधुर्य ही की प्रधानता रहती है वही विशेषता उनकी कहानियों में है। कहीं-कहीं गिरीह चुटकियाँ भी लेते हैं। भावों में गहराई है अवश्य पर पाठक को वहाँ पहुँचने में कोई झटका कोई हचकोला नहीं लगता जैसे किसी लिफ्ट में बैठकर नीचे उतर गये। 'रुपये की समाधि' 'पथ में से' और 'कष्ट का प्रतिदान' बड़ी सुन्दर और मर्मस्पर्शी कहानियाँ हैं।

चाँद—नव वर्षांक

हिन्दी मासिक पत्रों में 'चाँद' ही एक ऐसा पत्र है जिसने एक आदर्श सामने रखकर सदैव उसको पूरा करने का यत्न किया है। उसके आदर्श से बहुतों को मतभेद हो सकता है पर उसने जो कुछ सत्य समझा है उसका प्रतिपादन करता है और प्रशंसनीय निर्भीकता से। नवम्बर से उसका नया वर्ष आरम्भ होता है और इस साल उसका नव-वर्षांक बड़ी सजधज के साथ निकला है। कविताओं कहानियों और इसके विशेष स्तम्भों के अतिरिक्त इस अंक में कई विचारपूर्ण लेख हैं जिनमें प्रो० रामदास गौड़ का 'भारतीय परलोकवाद' पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी का 'हमारी पतिता बहनें' श्री बालकृष्ण गुप्त का 'सोवियेट रूस' श्री सत्यजीवन शर्मा का 'प्राचीन भारत में

मखिका' तथा हिन्दू विवाह की रस्मों म परिवतन' आदि लेख विचारशील है। आज
पैमी जी ने जिस संगठन की चर्चा की है उससे वरयाओं का चाहे आर्थिक लाभ हो सके
मगर समाज में सम्मान तो तभी मिल सकता है जब उनके चरित्र म संयम या जाय
यदि फिर व नृत्य और गान को पेशा बनाकर भी गृहिणी बनकर रहे। वर्मा जी न
बहुत से प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि पुराने समाज म गणिकाओं का समाज मे
अच्छा आदर था आदर सदैव चरित्र से मिलता है। आज भी ऐसी वरयाएँ मौजूद हैं
जिन्होंने संगीत की उपासना को ही अपने जीवन का आधार बनाये रखा है। अनादर
और अपमान तो रूप के बेचने से होता है। मगर आज भी प्राचीन गणिकाओं की भाँति
वरयाएँ नाचने-गाने को अपना मस्त काय बना म और बदम प्रम मान पर किया नाम
रिक स मबंध कर न और एकचारिणी बनकर रह तो कोई वजह नहीं कि आज भी
उनका अनादर हो। श्री मोहनलाल जी म य म मन म दिखाया है कि पुरान जमान म
हिन्दुओं की विवाह-प्रथा म क्या-क्या परिवतन हुए पर विवाह का वतमान समस्य का
इस बरस की चेष्टा नहीं की। समाज की यह बड़ी कठिन समस्या है। हम अंधे म
टोम रहे हैं पर कोई मार्ग नहीं पाते। एक ओर पुरानी बहुत रस्म हैं दूसरी ओर
विषम की अस्वाभाविक बन्धन हैं और उसमें पड़ा हालवाले ...।

तूफान

साप्ताहिक साहित्यिक पत्र है। कलकत्ता म राधामोहन गोकुल जी क सम्पादकत्व
मे निकला है। राधामोहन गोकुल जी इस वृद्धावस्था म भी नौजवानों का सा उत्साह रखत
है। तूफान में हास्य व्यंग्य-विनोद कहानी आदि मनोरंजन की काफी सामग्री रहती है।
गंभीर और विचारपूर्ण लेख भी रहे जाते हैं। सम्पादक म अपने वक्तव्य के विषय म
लिया है 'तूफान देखने में कभी-कभी संसार के लिए बहुत हानिकर बहुत भयानक
और अवांछनीय प्रतीत होता है किन्तु वास्तव म ऐसा होता नहीं। उसकी गर्मी सर्दी
तरलता सरलता कठोरता आदि म से प्रत्येक गुण प्रकृति देवी के किसी न किसी उद्देश्य
पालन के निमित्त ही होता है। ऐसी म पत्र क नाम की यथार्थता सिद्ध होती है।

मदारी

हास्य-रस का पाक्षिक पत्र है। प्रयाग से श्री ... प्रसाद गुप्त 'रसिक' की
एडीटरी म प्रकाशित होता है। चार अंक निकल चुके हैं। कविताएँ और गल्पें भी देता
है। हम आशा है मदारी साहित्यिक मदारियों म अपना स्थान बनाने में सफल
होगा। ऐसे एक पत्र की जरूरत थी। हाँ मदारी का काम इतना आसान नहीं होता।
कभी-कभी बंदर उस पर भी किया करते हैं। इसलिए बंदरों का सदा सबके ...
हितकारक काम लेना अधिक लाभदायक होगा।

दिसम्बर १६३३

॥ और और ॥

टर्की का मुस्तफ़ा कमाल पाशा—लेखक श्री शिवनारायण टंडन।

जिस वीरात्मा ने टर्की को गुलामी, धर्म पाखंड और स्वेच्छाचारिता से मुक्त किया उसी मुस्तफ़ा कमाल पाशा का यह जीवन चरित्र है, जो कई अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर लिखा गया है। मुस्तफ़ा कमाल ने जिस वक्त होश सँभाला टर्की साम्राज्य का अन्त हो चुका था। एक ओर गृह-कलह का बाजार गर्म था दूसरी ओर योरोपियन शक्तियों का आतंक। देश के हितैषी उद्धार की कामना कर रहे थे। नौजवान टर्की की स्थापना हो चुकी थी और वह प्रत्येक मुख्य स्थान में गुप्त रूप से देश में नवीन जागृति पैदा करने का उद्योग कर रही थी। कितने ही उच्च राज-कर्मचारी इस नौजवान पार्टी में थे। मुस्तफ़ा कमाल को जमीन एक तरह से तैयार मिली। उसके ऊपर कई बार सन्देह हुआ पर हर बार वह कर्मचारियों के सहयोग से बच गया। योरोपीय महायुद्ध में उसे अपनी सैनिक योग्यता दिखाने का अवसर मिला और उसने दरें-दानियाल में विपक्षी सेनाओं को परास्त करके अपना सिक्का बिठा दिया। फिर उसने किस तरह अनेक बाधाओं और कठिनाइयों में अपने प्रतिभापूर्ण व्यक्तित्व का परिचय देते हुए, सुलतान को मालूम किया किस तरह देश को देश द्रोहियों से मुक्त किया किस तरह राज्य को शक्तिशाली बनाया किस तरह सामाजिक सुधार किये यह सारा वृत्तान्त इस पुस्तक में इतने मनोरंजक ढंग से किया गया है कि उपन्यास का मजा आता है। भाषा चुलबुली और मंजी हुई है। जीवनीकार को अपने नायक में जो श्रद्धा होनी लाजमी है, वह एक-एक शब्द से टपकती है। यदि अध्यायों का स्पष्टरूप से वर्गीकरण कर दिया जाता तो पुस्तक और भी उपयोगी हो जाती। 'प्रारम्भिक-जीवन' 'योरोपीय युद्ध' 'टर्की क्रान्ति' आदि परिच्छेदों से हमें विषय के समझने में ज्यादा सुगमता होती। टर्की का नक्शा भी होना जरूरी था। ऐसे महान व्यक्ति की जीवनी ऐसी होनी चाहिए कि उसकी जीवन-कथा के साथ-साथ देश की ऐतिहासिक और राजनैतिक प्रगति पर भी प्रकाश पड़ता जाय। यह दोष खटकता है। हम आशा है दूसरे एडिशन में यह कमी दूर कर दी जायगी।

गांधी-विचार दोहन—लेखक श्री किशोर लाल घ. मशरूवाला।

श्री मशरूवाला को महात्मा गांधी के सम्पर्क में रहने का बहुत अवसर मिला है, महात्मा जी की पुस्तकों और लेखों का आपने खूब स्वाध्याय किया है। इस पुस्तक में आपने धर्म समाज सत्याग्रह स्वराज्य वाणिज्य उद्योग गोपालन स्वच्छता और आरोग्य शिक्षा साहित्य और कला आदि विषयों पर महात्मा जी के विचारों का मन्थन करके नवनीत निकालकर रख दिया है। महात्मा जी का जीवन एक फ़िलासफ़ी है, उनके हरेक शब्द हरेक वाक्य हरेक काम की तह में आध्यात्मिक तत्व छिपे होते हैं। उन तत्वों को यहाँ सूत्र रूप में संग्रह कर दिया गया है। हमने ऊपर जो विषय दिये हैं

समय हरेक के अन्तर्गत कई-कई प्रकरण हैं। 'धर्म' के अन्तर्गत परमेश्वर, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, शारीरिक परिश्रम, स्वदेशी, अभय, नम्रता, व्रत प्रतिज्ञा, उपासना की अलग-अलग विवेचना की गयी है। महात्मा जी ने संसार के सामने मानवता का परिष्कृत और महान आदर्श रखा है, केवल सैद्धान्तिक नहीं, सम्पूर्णतः व्यावहारिक जिसने उस आदर्श पर चलकर, उन्हीं सिद्धान्तों के साँचे में अपना जीवन ढालकर जो दुर्गम था, असम्भव था, उसे अपने जीवन में सुगम और सुलभ बनाकर मानवता को उच्चतर बना दिया है। ऐसे अवतारी पुरुष Superman के विचार तत्वों को एक छोटी-सी पुस्तक में जमा करके लेखक ने समाज का बड़ा उपकार किया है। *इन्हें कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है।* हम यहाँ दो-चार उदाहरण देकर पाठकों को दिखाना चाहते हैं कि महात्मा जी के विचारों का दोहन कितनी योग्यता और सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है—

अहिंसा—प्रेम के शुद्ध रूप का नाम अहिंसा है, परन्तु प्रेम में राग और मोह की गंध आ जाती है। जहाँ राग और मोह होगा, वहाँ द्वेष का भी बीज अवश्य होगा। इसीलिए तत्ववेत्ताओं ने 'प्रेम' शब्द का प्रयोग न करके 'अहिंसा' की योजना की है और कहा है कि 'अहिंसा परमो धर्मः'। 'अहिंसा' धर्म का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे के शरीर या मन को दुःख या चोट न पहुँचाना। यह तो अहिंसा धर्म का एक दृश्य-परिणाम कहा जा सकता है। स्थूल दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि किसी के शरीर और मन को तो दुःख या हानि पहुँच रही है, परन्तु वास्तव में यह शुद्ध अहिंसा धर्म का पालन है। हाँ, इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि वास्तव में हिंसा तो की गयी है, परन्तु इस तरह से कि जिसमें शरीर या मन को दुःख अथवा हानि पहुँचने का आरोप न किया जा सके, अतएव अहिंसा का भाव दृश्य-परिणाम में नहीं, बल्कि अन्तःकरण के राग-द्वेष-हीन स्थिति में है।

नम्रता—नम्रता को अहिंसा ही का एक अंश कह सकते हैं। जहाँ अहंकार है, वहाँ नम्रता में कमी समझना चाहिए। जो अहंकारी है, वह सर्वोत्तम सत्य नहीं पा सकता, इसलिए उसकी अहिंसा में कमी आ जाती है।

अभय—मनुष्य आम तौर पर बीसों बातों से डरता रहता है—जैसे मौत से, शारीरिक कष्टों से, धन-नाश से, अपमान से, दुःख और अत्याचार से, मानहानि से, लोक-निन्दा से, कौटुम्बिक क्लेशों से, अथवा इस ख्याल से कि कुटुम्बियों को दुःख होगा इत्यादि बहुतों से बारी-बारी से। जो मनुष्य डरता है कि वह धर्मपथ का गहरा विचार करने का साहस ही नहीं कर सकता। वह सत्य की खोज नहीं कर सकता और न प्राप्त होने के बाद उस पर आरूढ़ ही रह सकता है। इस तरह उससे सत्य का पालन भी नहीं हो सकता।

जनवरी १९५४

मञ्जरी—लेखक डॉ० धनीराम प्रेम प्रकाशक साहित्य सम्पादक 'चाँद'।

डॉक्टर धनीराम की कहानियों का हिन्दी म खास स्थान है। यह पुस्तक उनकी ग्यारह कहानियों का संग्रह है। आपकी कहानियो म वह मसाला नहीं जो आजकल अक्सर मनचले गल्प-लेखकों की कहानियों में नजर आते हैं, जो कहानियों म चटपटे कबाबु का स्वाद नहीं—मीठे हलवे का स्वाद भर रही है। देखिये विधवा के मनोभावों का यह कितना सुन्दर चित्रण है—

'क्या मेरे हृदय म पुनर्दशन की लालसा न थी ? सारे जीवन म जिस एक पुरुष की वाणी म माधुर्य पाया हो हृदय म भावुकता पायी हो जिसने दो घंटे वार्तालाप करके जीवन की शुष्क वास्तविकताओ को भुला दिया हो उसको फिर देखने की इच्छा किसे न होगी।

बीच-बीच म आपकी कहानियों म हास्य-परिहास की अच्छी चाशनी रहती है। क्या नाम की कहानी पढ़कर हँसते-हँसते पेट म बल पड़ गये। कुमुद सचमुच जालिम थी और हरीश को उसने ऐसी नजर दी कि उम्र भर न भूला।

अयोध्या—लेखक श्री रामनरेश त्रिपाठी।

यह त्रिपाठी जी का नाटक है और लिखा गया है केवल पाँच दिन म। इस रफ्तार से तो शायद आप साल भर म पन्द्रह-बीस नाटक लिख डालेंगे और इस क्षेत्र में विलम्ब करके आने की कसर पूरी कर लेंगे।

नाटक बच्चा के पढ़ने लायक अच्छा है क्योंकि वास्तविक जीवन म चाहे इतनी आसानी से भिखारी राजा हो जाय लेकिन नाटकीय जीवन म तो हम नायकों को इतनी कड़ी भीषण कठिनाइयो म देखना चाहते हैं। यहाँ तो सफलता के पहले न देवता और दवियाँ हैं। इतनी सस्ती सफलता ने उसका महत्व खो दिया। दो-चार गिलास और दो-चार थापड़ अगर एक राजा का दामाद बना दे तो आज सभी युवक उसे झेलने को तैयार हो जायेंगे और सबसे बड़ी भूल तो यह हुई कि आपने यह स्पष्ट लिख दिया कि आपने इस पाँच दिन म लिख डाला। आप चाहे एक ही दिन में लिख डालते मगर आपको या तो इस विषय म खामोश रहना चाहिए था या कम से कम तो पाँच महीने लिखते।

फरवरी १९३४

महाभारत और इतिहास की कहानियाँ—लेखक श्री आनन्द कुमार।

यह दोनो पुस्तिकाएँ बच्चो के लिए लिखी गयी हैं और मनोरंजक हैं। दोनों के नाम बार-बार आते हैं। इनके लेखक श्री आनन्द कुमार जी बाल-साहित्य की अच्छी

रचना कर रहे हैं। आपकी रफ्तार त्रिपाठी जी से भी तेज है। बलभद्र आपने पाँच घंटे में लिख डाली। आप लोगों के मस्तिष्क में मशीन की गति है लेकिन प्रतिभा को इस तरह सरपट छोड़ देना ठीक नहीं। रोक कर चलना चाहिए।

फरवरी १६३४

नरेन्द्र पब्लिशिंग हाउस देहरादून की पुस्तकें

श्री आर. सहगल ने 'और प्रेस लिमिटेड' के मैनेजिंग डायरेक्टर का पद त्याग करने के बाद देहरादून से पुस्तकों की एक नयी माला निकालनी शुरू की है और इस थोड़े ही समय में उन्होंने जितनी पुस्तकें निकाल डाली हैं और निकालने का प्रोग्राम बना डाला है, उससे प्रकट होता है कि आपके उस उत्साह और धुन में आपका साथ नहीं छूटा है। हम आपकी इस नयी साहित्यिक योजना का स्वागत करते हैं।

इस माला की छः पुस्तकें इस समय हमारे सामने हैं जिनमें चार तो ख्वाजा हसन निजामी के 'गदर की कहानियाँ' नामक माला की उर्दू किताबों के सरल अनुवाद हैं, पाँचवीं पुस्तक का नाम है—'भारतीय विद्रोह' और छठी पुस्तक है—'देशी नौरा' का दूसरा एडीशन।

अफसरों की चिट्ठियाँ—अनु. श्री जयनारायण कपूर।

इसमें उन पत्रों का संग्रह है जो अंग्रेज़ अफ़सरों के बीच में आ गयी थी और जिनके द्वारा उस समय के हाकिमों की कमज़ोरियों का पता चलता है।

बहादुरशाह का मुकदमा—अनु. श्री गोपीनाथ सिंह बी. ए.।

इस पुस्तक में उस मुकदमे का हाल लिखा गया है जो बहादुरशाह पर बगावत के जुर्म में चलाया गया था। प्रत्येक दिन की कार्रवाई का विवरण दिया गया है। उनको देश-निकाले की जो सजा दी गयी थी उसका हाल बड़ा करुणाजनक है।

बेचारे अंग्रेज़ों की विपदा—अनु. श्री बनारसीदास सेठ।

बगावत के दिनों में बागियों ने अंग्रेज़ी अफसरों पर क्या-क्या अत्याचार किये उनका बयान है।

बेगमों के आँसू—अनु. श्री नवनीतकुमार जी श्रीवास्तव।

यह इस माला की सबसे मार्मिक और दर्दनाक पुस्तक है। बहादुरशाह के देश-निकाले के बाद राजवंश की जो दुर्गति हुई उसी की करुण गाथा है। शाहजादों की बेटियों तथा बहुओं को किन-किन मुसीबतों में रातें काटनी पड़ीं यह सब हाल यहाँ

दिया गया है । बहादुरशाह सज्जन मनुष्य थे बड़े दयालु और दरियादिल । मगर बादशाह होने के लिए केवल इन सद्गुणों की जरूरत नहीं होती । उनमें उन गुणों में से एक भी न था जिनसे मुगलों ने सदियों तक दिल्ली पर राज किया । वह इसी लायक थे कि कोने में बैठे वैराग लिया करते और फकीरों की कब्रों पर झाड़ लगाया करते । ऐसा आदमी बगावत में क्या सफल हो सकता था । इसका दंड उन्हें भोगना पड़ा । जिन्दगी के उलट-फेर का आँखें खोलनेवाला वृत्तान्त है । अनुवाद सभी निगाहों से अच्छा है । ख्वाजा साहब की भाषा इतनी सरल होती है कि उर्दू भाषा भी होती तो आसानी से समझ में आ जाती ।

भारतीय विद्रोह—अर्थात् राउलेट कमेटी की रिपोर्ट (प्रथम भाग)—अनुवादक श्री ठाकुर मनजीत सिंह जी राठौर ।

राउलेट कमेटी की रिपोर्ट भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए महत्व की वस्तु है । इसमें १८५७ से अब तक के भारतीय क्रान्तिकारियों के कृत्यों का बयान है । राउलेट की रिपोर्ट के परिणाम स्वरूप जो राउलेट ऐक्ट पास हुआ जिसका फल सत्याग्रह आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ वह समकालीन इतिहास की एक मुख्य घटना है । यह पुस्तक उसी रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद है । पहला भाग अभी निकला है । दूसरा भाग भी निकलने जा रहा है । पुस्तक इतनी मनोरंजक है कि इसमें उपन्यास का सा मन लगता है ।

देवी वीरा—अनुवादक श्री सुरज शर्मा ।

वीरा फिगनर रूस के क्रान्तिकारियों में बहुत प्रसिद्ध है । यह पुस्तक उसी की आत्मकथा है । इससे पता चलता है कि वीरा के विचारों में कैसे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और क्योंकर उसने अपने बलिदान और त्याग से क्रान्ति के पौधे को सींचा । पुस्तक बड़ी मनोरंजक है ।

धर्म-ज्योति—लेखक श्री जगतनारायण ।

इस पुस्तक में थियोसोफिकल दृष्टिकोण से हिन्दू धर्म का निरूपण किया गया है । थियोसोफी या ब्रह्म-विद्या उन आन्दोलनों में से एक है, जिन्होंने शास्त्र और विज्ञान की सहायता से हिन्दू धर्म और अन्य धर्मों के गुप्त रहस्यों को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके असर से कम से कम उसके अनुयायियों में वह धार्मिक कट्टरता नहीं पायी जाती है । थियोसोफी सभी धर्मों और सम्प्रदायों का समान रूप से आदर करती है और उनकी खूबियों पर प्रकाश डालती है । हिन्दुओं में अपने धर्म और उसके सिद्धान्तों से जो अविश्वास आ गया था उसको थियो

शैली ने बहुत कुछ मिटा दिया है। लेकिन उसके साथ ही बुद्धि को गौण और विश्वास को मुख्य स्थान देकर उसने अन्ध श्रद्धा को भी जगा दिया है और उस संस्कार को पुनर्जीवित कर दिया है, जिसके कारण हिन्दू-धर्म निर्बल हो गया। मसलन् यह अवतारवाद का समर्थन करता है, परलोक के विषय में कितनी ही ऐसी बातें कहता है, जिनका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। फिर भी यह पुस्तक पढ़ने योग्य है क्योंकि संसार के बड़े-बड़े विद्वान् और साधक हिन्दू धर्म के विषय में क्या कहते हैं यह जानने की इच्छा सभी को होती है। इसके साथ ही उसमें आजकल के धर्मात्माभिमानियों को विचार करने और अपने मतों को बदलने की काफ़ी सामग्री है। पुस्तक की भाषा सुबोध है।

सचित्र शुद्ध-बोध—सम्पादक श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ।

इसमें परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री एक सौ आठ स्वामी शुद्धबोध तीर्थ प्रथम आचार्य गुरुकुल कांगड़ी तथा कुलपति महाविद्यालय ज्वालापुर का संक्षिप्त जीवन-चरित और उनके भक्तों के संस्मरण हैं। स्वामी शुद्धबोध जी के भक्तों और शिष्यों की संख्या हजारों तक पहुँचती है। श्री नरदेव जी ने इन संस्मरणों को एकत्र करके एक प्रकार से गुरु-दक्षिणा भेंट की है। आशा है आगे चलकर स्वामी के अनेक शिष्यों में से कोई विद्वान् इसी सामग्री के आधार पर स्वामी जी का एक सुन्दर जीवन-चरित लिखकर अपनी लेखनी को कृतार्थ करेंगे।

भगवान की शिक्षा

यह पुस्तक श्री अरविन्द घोष की पुस्तक का भावानुवाद है। पहला संस्करण समाप्त हो जाने पर यह दूसरी आवृत्ति निकाली गयी है। योग और उसके सिद्धान्त के विषय में भी अरविन्द घोष जैसे महात्मा के विचार अमूल्य हैं। आपका कथन है—

'यद्यपि भारतवर्ष के पास इस समय कुछ नहीं है फिर भी अपने तपोबल के सहारे वह सब कुछ कर लेगा।'

पुस्तक बड़े महत्व की है इसने हिन्दी संसार को भी अरविन्द घोष के ऊँचे विचारों से लाभ उठाने का अवसर दे दिया है।

अप्रैल-मई १९३४

रचनात्मक महात्मा गांधी (दो भाग)—सम्पादक श्री सी० एफ० एण्ड्रूज।

यह अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है जो मि० सी० एफ० एण्ड्रूज ने महात्मा गांधी के विषय में हाल में लिखी है और जिसने योरोप और अमेरिका में धूम मचा दी थी। मि० एण्ड्रूज महात्मा जी के घनिष्ठ मित्रों में हैं और उन्हें अपने निकट से देख चुके हैं। महात्मा जी के आदर्शों और विचारों से उन्हें जितनी सहानुभूति है [illegible] हम सब

दिया गया है। बहादुरशाह सज्जन मनुष्य थे बड़े दयालु और दरियादिल। मगर बादशाह होने के लिए केवल इन सद्गुणों की जरूरत नहीं होती। उनमें उन गुणों में से एक भी न था जिनसे मुगलों ने सदियों तक दिल्ली पर राज किया। वह इसी लायक थे कि कोने में बैठे देशल सिया करते और फकीरों की कब्रों पर झाड़ लगाया करते। ऐसा आदमी बगावत में क्या सफल हो सकता था। इसका दंड उन्हें भोगना पड़ा। जिन्दगी के उलट-फेर का आँखों खोलनेवाला बयान है। अनुवाद सभी किताबों के अच्छे हैं। ख्वाजा साहब की भाषा इतनी सरल होती है कि उर्दू भाषा भी होती तो आसानी से समझ में आ जाती।

भारतीय विद्रोह—अर्थात् राउलेट कमेटी की रिपोर्ट (प्रथम भाग)—अनुवादक श्री ठाकुर मनजीत सिंह जी राठौर।

राउलेट कमेटी की रिपोर्ट भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए महत्त्व की वस्तु है। इसमें १८६७ से अब तक के भारतीय क्रान्तिकारियों के कृत्यों का बयान है। राउलेट की रिपोर्ट के परिणाम स्वरूप जो राउलेट ऐक्ट पास हुआ जिसका फल सत्याग्रह आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ वह समकालीन इतिहास की एक मुख्य घटना है। यह पुस्तक उसी रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद है। पहला भाग अभी निकला है। दूसरा भाग भी निकलने जा रहा है। पुस्तक इतनी मनोरंजक है कि इसमें उपन्यास का-सा मन लगता है।

देवी वीरा—अनुवादक श्री सुरेन्द्र शर्मा।

वीरा फ़िगनर रूस के क्रान्तिकारियों में बहुत प्रसिद्ध है। यह पुस्तक उसी की आत्मकथा है। इससे पता चलता है कि वीरा के विचारों में कैसे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और क्योंकर उसने अपने बलिदान और त्याग से क्रान्ति के पौधे को सींचा। पुस्तक बड़ी मनोरंजक है।

धर्म-ज्योति—लेखक श्री जयनारायण।

इस पुस्तक में थियोसोफिकल दृष्टिकोण से हिन्दू धर्म का निरूपण किया गया है। थियोसोफी या ब्रह्म-विद्या उन आन्दोलनों में से एक है, जिन्होंने शास्त्र और विज्ञान की सहायता से हिन्दू धर्म और अन्य धर्मों के गुप्त रहस्यों को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके असर से कम से कम उसके अनुयायियों में वह धार्मिक कट्टरता नहीं पायी जाती है। थियोसोफी सभी धर्मों और सम्प्रदायों का समान रूप से आदर करती है और उनकी गुत्थियों पर प्रकाश डालती है। हिन्दुओं में अपने धर्म और उसके सिद्धान्तों से जो अविश्वास सा हो गया था उसको थियो-

खोजों ने बहुत कुछ मिटा दिया है। लेकिन उसके साथ ही बुद्धि को गौण और विश्वास को मुख्य स्थान देकर इसमें उस अन्ध श्रद्धा को भी जगा दिया है और उन संस्कारों को पुनर्जीवित कर दिया है, जिनके कारण हिन्दू-धर्म निर्बल हो गया। मसलन् यह वर्णाश्रम का समर्थन करता है, परलोक के विषय में कितनी ही ऐसी बातें कहता है, जिनका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। फिर भी यह पुस्तक पढ़ने योग्य है क्योंकि संसार के बड़े-बड़े विद्वान् और साधक हिन्दू धर्म के विषय में क्या कहते हैं यह जानने की इच्छा सभी को होती है। इसके साथ ही उसमें आजकल के अनात्मवादियों को विचार करने और अपने मतों को बदलने की काफ़ी सामग्री है। पुस्तक की भाषा सुबोध है।

सचित्र शुद्ध-बोध—सम्पादक श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ।

इसमें परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री एक सौ आठ स्वामी शुद्धबोध तीर्थ प्रथम आचार्य गुरुकुल काँगड़ी तथा कुलपति महाविद्यालय ज्वालापुर का संक्षिप्त जीवन-चरित और उनके भक्तों के संस्मरण हैं। स्वामी शुद्धबोध जी के भक्तों और शिष्यों की संख्या हजारों तक पहुँचती है। श्री नरदेव जी ने इन संस्मरणों को एकत्र करके एक प्रकार से गुरु दक्षिणा भेंट की है। आशा है आगे चलकर स्वामी के अनेक शिष्यों में से कोई विद्वान् इसी सामग्री के आधार पर स्वामी जी का एक सुन्दर जीवन-चरित लिखकर अपनी लेखनी को कृतार्थ करेंगे।

भगवान की लीला

यह पुस्तक श्री अरविन्द घोष की पुस्तक का मर्मानुवाद है। पहला संस्करण समाप्त हो जाने पर यह दूसरी आवृत्ति निकाली गयी है। योग और उसके सिद्धान्त के विषय में भी अरविन्द घोष जैसे महात्मा के विचार अमूल्य हैं। आपका कथन है—

'यद्यपि भारतवर्ष के पास इस समय कुछ नहीं है, फिर भी अपने तपोबल के सहारे यह सब कुछ कर लेगा।

पुस्तक बड़े महत्व की है, इसने हिन्दी संसार को श्री अरविन्द घोष के ऊँचे विचारों से लाभ उठाने का अवसर दे दिया है।

अप्रैल-मई १९३४

सपाक्षात महात्मा गांधी (दो भाग)—लेखक श्री सी. एफ. एण्ड्रूज़।

यह अंग्रेजी पुस्तक का उर्दू अनुवाद है, जो मि. सी. एफ. एण्ड्रूज़ ने महात्मा गांधी के विषय में हाल में लिखी है और जिसने योरोप और अमरिका में धूम मचा दी थी। मि. एण्ड्रूज़ महात्मा जी के घनिष्ठ मित्रों में हैं और उन्हें बहुत निकट से देख चुके हैं। महात्मा जी के आदर्शों और विचारों से उन्हें कितनी सहानुभूति है यह हम सब

जानते हैं। इस पुस्तक में उन्होंने महात्मा जी के विचारों और उनके आन्दोलनों की मार्मिक विवेचना की है। इसमें संदेह नहीं कि मि० एंड्रूज ने आलोचनात्मक दृष्टि से यह पुस्तक नहीं लिखी है, बल्कि उनका उद्देश्य यह था कि महात्मा जी के सिद्धान्तों और आदर्शों को उनके यथार्थ रूप में पश्चिमवालों के सामने रखें और उन भ्रमात्मक धारणाओं को मिटायें जो विरोधियों ने महात्मा जी के विषय में फैला दी हैं। इस पुस्तक को पढ़कर महात्मा जी का चरित्र, उनकी गहरी ईश्वर भक्ति, उनका अपूर्व त्याग, उनका निर्भीक सत्य-प्रेम, उनका अटल विश्वास अपने उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आ जाता है। महात्मा जी जितने बड़े राजनैतिक नेता हैं, उससे कहीं बड़े ऋषि हैं, और सबसे भी कहीं बड़े आदमी हैं और उनके बड़े से बड़े विरोधी को भी यह मानना पड़ेगा कि उनके चरित्र में मानवता अपनी चरम सीमा को पहुँचकर देवत्व के समीप आ गयी है, बल्कि अगर हमारे पुराणों के पुरुष देवता माने जायें तो उनमें एक भी महात्मा जी के समीप नहीं आ सकता। कृष्ण भी तभी उनसे ऊँचे सिद्ध हो सकते हैं, जब वह केवल भावुक कुरुक्षेत्र-रूपी क्षेत्र के एक नायक समझे जायें। एंड्रूज साहब के एक-एक शब्द से महात्मा जी के प्रति श्रद्धा झलकती है और अनुवादक महोदय ने—जो स्वयं एंड्रूज साहब के उस जमाने के शिष्य हैं जब वह दिल्ली में प्रोफेसर थे—इतना सुन्दर अनुवाद किया है कि कहीं भी पता नहीं चलता यह अनुवाद है। अगर टाइटिल पर अनुवाद न लिखा होता तो यही खयाल होता कि यह उर्दू का मौलिक ग्रन्थ है। अनुवादक इस काम में सिद्धहस्त हैं और कितने ही शरीफ मुसलमानों की भाँति उन्हें भी महात्मा जी से सच्चा प्रेम है। उर्दूदाँ सज्जनों के लिए यह पुस्तक अमूल्य है।

उपदेशामृत (पाँच भाग)—लेखक श्री प्रो० सुधाकर, एम० ए०।

सुधाकर जी के ही शब्दों में 'उपदेशामृत' के पाँचों भागों में इस प्रकार शिक्षा देने की कोशिश की गयी है जिससे बच्चों में सदाचार, सच्चरित्रता की नींव दृढ़ हो। इस निमित्त वेद मंत्र अथवा उनके भाग देकर बच्चों का ध्यान उन आदर्शों की ओर खींचा गया है, जो उभारनेवाले तथा उन्नत करनेवाले हैं।

आपका यह कथन बिलकुल सत्य है कि धार्मिक शिक्षा तभी उपयोगी हो सकती है, जब उसका ध्येय बच्चे को उत्तम नागरिक अथवा मनुष्य-समाज का उपयोगी सदस्य बनाना हो। मुश्किल यह है कि ऐसे उपदेश बालकों को प्रिय नहीं लगते। जिस उम्र के लड़कों के लिए यह पुस्तकें रची गयी हैं, वे इन विषयों की व्याख्या के रूप में नहीं पसन्द करते। हाँ, यह पुस्तकें पाठ्यक्रम में दाखिल की जा सकती हैं और इनके पाठों को आख्यायिक नये-नये दृष्टान्तों द्वारा रोचक बना सकता है।

देवी जोन—लेखक श्री धनीराम जी 'प्रेम'।

पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ में फ्रांस के कुछ भागों पर इंग्लैण्ड का अधिकार था और फ्रांस की राजनैतिक दशा कुछ ऐसी गड़बड़ हो रही थी कि इंग्लैण्ड का प्रभुत्व उस पर बढ़ता जा रहा था। जिस समय फ्रांस की दशा बहुत क्षीण हो गयी थी और वह बराबर कई लड़ाइयों में हार गया उसमें एक ग्रामीण युवती जोन आफ आर्क ने फ्रांस की सहायता करके उसे इंग्लैण्ड के पंजे से मुक्त कर दिया। जोन आफ आर्क लड़ाई की विद्या न जानती थी शिक्षित भी न थी पर उसके हृदय में अपने व्यथित देश के लिए इतना प्रबल अनुराग उठा कि उसे मानों ईश्वर की ओर से प्रेरणा हुई कि तू जाकर फ्रांस का उद्धार कर। धर्मोन्माद की दशा में उसे मानो दैवी प्रेरणा हुई और वह घर से निकल पड़ी। फ्रांस की जनता ने खुले दिल से उसका स्वागत किया। वह मानों उसका उद्धार करने के लिए ईश्वर की ओर से भेजी गयी थी। बाजी पलट गयी। फ्रांस जीत गया। इंग्लैण्ड को वहाँ से भागना पड़ा।

मगर वही युवती जिसने अपने देश के साथ इतना बड़ा उपकार किया था धर्मान्ध पादरियों की क्रूरता का शिकार हुई। पादरियों ने उस पर जादूगरनी होने का इलजाम लगाकर उसे जिन्दा जला दिया। उसी देवी का यह चरित्र है और लेखक ने उसे सरल और आकर्षक भाषा में लिखा है। पढ़ने में उपन्यास का-सा आनन्द आता है।

अक्तूबर १९३४

अन्तिम आकांक्षा—लेखक श्री सियारामशरण गुप्त।

यह सियारामशरण जी का दूसरा उपन्यास है। देहाती जीवन की एक करुणा-जनक कथा है, जिसमें रूढ़ियों के हाथ बिके हुए संसार ने एक नर-रत्न को आघात पर आघात देकर मृत्यु की गोद में सुला दिया है। रामलाल है तो टहलुआ लेकिन सेवा विनय और साहस का पुतला। स्वामी के घर का काम इस तरह करता है—जैसे अपना काम हो। मगर, जब गाँव में एक बार डाका पड़ता है तो बन्दूक से एक डाकू को मार डालता है। बस उस पर नर-हत्या का अपराध लग जाता है। उसकी शादी होती है, एक कुल्टा से जिसका गुलाब सिंह नाम के एक युवक से अनुचित सम्बन्ध है। यह है तो गुण्डा पर देहात में उसका रोब भी है और सम्मान भी जो आजकल के निर्जीव देहाती समाज की साधारण दशा है। रामलाल उसका खून तो नहीं करता लेकिन जो लोग उसके अत्याचारों से पीड़ित होकर उसे खत्म करना चाहते हैं उनसे मिल जाता है। पकड़ा जाता है सजा होती है और जेल में मर जाता है। उपन्यास की रचना आत्म-कथा की शैली में की गयी है। इस शैली में कथाकार से हमारी मैत्री हो जाती है और उसकी हरेक बात में हमें विश्वास का अनुभव होता है। मुन्नी का विवाह, स्नेहमयी माता

का वेदान्त जो किसी का दुःख नहीं देख सकती और जिनके जीवन का सबसे बड़ा आनन्द दूसरों को भोजन कराना है, रामसाल का मुकदमा यह सभी दृश्य आपके सामने आवफल के देहाती समाज को खड़ा करते हैं। हाँ चित्रण तेल के चटकीले रंगों में नहीं पानी के हाथ के रंगों म किया गया है। बीच-बीच म वार्तालाप में सामयिक परिस्थितियों पर चुभने हुए विचार प्रकट किये गये है, जिससे जाहिर होता है कि लेखक महोदय कितने जागरूक हैं। अध्यापक जी ने रामसाल को नीच कहनवाला को कितने जोरों से फटकारा है—

'धिक्कार है हमारी इस समाज व्यवस्था को जो रामलाल जैसे आदमी को भी नीच कह सकती है। मन अपनी आँखों देखा तिमक धारधारी ऊँची जाति के लोग उस कुएँ म झाँककर देखने म भी डर रहे थे। ऐसे स्वार्थी लोग ही हमारे समाज मे सब कुछ हैं जिनम न शरीर का बल है न आत्मा का हम लोग विदेशियो की बेड़ी में जकड़े हुए हैं, इस बात का अनुभव हमारे शिक्षित समुदाय को कुछ-कुछ होन लगा है। परन्तु हमारे शरीर मे इससे भी बहुत बड़ी एक बेड़ी पड़ी हुई है और वह है जन्मगत या वर्णगत उच्चता के सम्बन्ध म हमारा अन्धविश्वास। वर्ण की श्रेष्ठता हमारे लिए सब कुछ है, उसके सामने सच्ची मनुष्यता का मूल्य हमारी दृष्टि मे कुछ नहीं।

राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए सामाजिक स्वतन्त्रता पहले जरूरी है। इसे आपने इन विकल शब्दों म घोषित किया है—

'समाज मे सब के ऊपर मनुष्यता की प्रतिष्ठा कर लेने पर ही हम स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं 'हम कहने लगे हैं समाज-सस्कार बुद्धिमो का काम है हम सनिक हैं हमारे लिए तो लड़ाई चाहिए, लड़ाई! यह वीर-वाणी सुनकर हम आनन्द से पुलकित हो उठते हैं और समझने लगते हैं अब हमारे उद्धार म देर नहीं परन्तु यह सोचने का भी कभी हमने कष्ट उठाया है कि हम में सैनिक का अभाव रहा कब है? प्रतापसिंह शिवाजी छत्रसाल गोविन्दसिंह बन्दा बैरागी रणजीतसिंह और लक्ष्मी बाई क्या ये सब साधारण सैनिक थे? परन्तु बार-बार स्वतन्त्रता का छोर पकड़कर भी हम उसे रख नहीं सके। 'राष्ट्रपति के निर्वाचन का प्रश्न यदि आज हमारे सामने आ जाय तो मनुष्य को न देखकर हम अपने-अपने ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को ही देखन लगेंगे।

मुख्य यह है कि यदि कोई इस अन्ध-विश्वास के खिलाफ कुछ कहे, तो और तो और साहित्य-जगत म उसे ब्राह्मण-द्रोही की पदवी मिलती है।

अन्तिम आकांक्षा में तीव्रता नहीं है, लेकिन इस स्वभ पर पुस्तक की लेखनी तेज हो गयी है और बतला रही है कि वह ऊँच-नीच की भावना उन्हें कितना दुखित कर रही है। पुस्तक का मूल्य डेढ़ रुपये ज्यादा है।

मार्च १६२९

रक्षा बन्धन—लेखक श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'।

जिन दिनों हरिकृष्ण जी 'भारती' के सम्पादक थे उन्हीं दिनों आपने यह ड्रामा लिखा था और यद्यपि यह आपका पहला ही ड्रामा है लेकिन आप इसमें सफल हुए हैं। और पंजाब के शिक्षा-विभाग ने इसे मैट्रिकुलेशन की पाठ्यपुस्तकों में ले लिया है। राजस्थान की प्रसिद्ध घटना है, जब गुजरात के बहादुरशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई की और राणा सांगा की रानी कर्मवती ने हुमायूँ के पास राखी भेजकर उससे मदद माँगी थी और हुमायूँ ने उसे स्वीकार किया था—

यह इस्तजा नहीं हुक्म है यह आग में कूद पड़ने का न्योता है। हिन्दुस्तान की तवारीख कह रही है कि राखी के धागे ने हजारों कुर्बानियाँ कराई हैं।

हुमायूँ अपने झगड़े में इतना व्यस्त रहा कि वक्त पर मेवाड़ की मदद को न पहुँच सका और जिस वक्त पहुँचा देवी कर्मवती की चिता जल रही थी और मेवाड़ बहादुरशाह के हाथों विध्वस्त हो चुका था लेकिन वीर स्त्री-पुरुषों के दिल कितने साफ़ और कितने उदार और मजहबी कुटिलता से कितने निर्लिप्त। कर्मवती उसी राणा साँगा की स्त्री है जो बाबर से लड़ा था और जिसने प्रतिज्ञा की थी कि मुग़लों को भारत के बाहर खदेड़कर दम लूँगा। वही कर्मवती अवसर पड़ने पर बाबर के बेटे को राखी भेजती है, और विजयी शत्रु का पुत्र उस रानी का भाइयों की भाँति सम्मान करता है। वास्तव में इन लड़ाइयों को मजहब से कोई सम्बन्ध न था। वह तो केवल वीरों की विजय लालसा की क्रीड़ाएँ होती थीं। बहादुरशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई की थी इसीलिए कि मेवाड़ के राना ने उसके बागी भाई को अपने यहाँ पनाह दी थी। बहादुरशाह की फ़ौज में भी हिन्दू सिपाहियों की कमी न थी न मेवाड़ की फ़ौज में मुसलमान सेनाओं की। आजकल जो मजहब का यह तांडव है वह गुलामी से पैदा होनेवाली दशाओं का रूप है। ड्रामा वीर-रसपूर्ण है और लेखक ने अपने पात्रों के मुख से धर्म और प्रेम और स्वाधीनता पर जो उद्गार प्रकट कराये हैं वह मन को हिला देते हैं और मस्तक को ऊँचा कर देते हैं।

माघ १६३२

रूसी कहानियाँ—अनुवादक श्री रामचन्द्र टण्डन।

उपन्यास की कला में तो रूस का जोड़ फ्रांस से किया जा सकता है। अगर रूस के पास डास्टाएवस्की तुर्गनेव टाल्सटाय और मक्सिम गोर्की हैं तो फ्रांस के पास बालज़ाक अनातोल फ्रांस एमिल जोला और रोमा रोलां हैं लेकिन कहानी-कला में रूस शायद संसार के साहित्य में बेजोड़ है। इसमें मतभेद हो सकता है लेकिन इससे किसी को इनकार नहीं हो सकता कि इस कला में रूसी साहित्य का दर्जा किसी से भी घटकर नहीं

है। और इसका कारण है—रूसी जाति की वह दीन दशा जो क्रांति के पहले थी। इस संग्रह में बारह कहानियाँ हैं जो या तो दरिद्र जीवन की हैं या प्रेम और दया का उपदेश देनेवाले उपाख्यान हैं, जिनसे दुखियारों के आँसू पोंछे गये हैं। इंग्लैण्ड या फ्रांस की कहानियों में अधिकांश मध्य दशा के जीवन का चित्रण होता है। शादी-ब्याह की समस्याएँ और सैर-तमाशे अथवा जुआ मार-पीट आदि विषय ही उनमें बहुतायत पाते हैं। इन देशों का शिक्षित वर्ग सम्पन्न है और उसकी सामाजिक समस्याएँ उतनी रोमांचकारी उतनी मर्मस्पर्शी और उतनी गहरी नहीं हो सकतीं। इसी संग्रह में टाल्स्टायेवस्की का 'ईमानदार चोर' केवल इसलिए नहीं महत्व रखता कि वह एक शराबी की सच्ची तस्वीर है, बल्कि इसलिए कि वह दरिद्र जीवन में जो कोमलता जो आत्मीयता होती है, उसको मानव-हृदय से निकालकर सामने रख देता है। टाल्सटाय का 'जहाँ सत्य है वहाँ परमेश्वर है' दरिद्रों के जख्मी दिल का मरहम है। पीछे चलकर टाल्सटाय का मत हो गया था कि कला को सर्वतोमुखी होना चाहिए जिसका आनन्द बड़े से बड़े सभी ले सकें। जिस कला को समझने के लिए विशेष ज्ञान और शिक्षा की जरूरत हो उससे जन-साधारण का क्या उपकार हो सकता है। इसलिए उन्होंने बहुत-सी कहानियाँ दृष्टान्तों और रूपकों के ढंग पर लिखीं और किसी हद तक सफल भी हुईं। 'मनोला डोल' इसी तरह की एक कहानी है, जिसमें बच्चों को भी कुतूहल का आनन्द मिल सकता है हालाँकि जो लोग कहानियों में कुछ रस चाहते हैं, उन्हें वह मनोला डोल बिलकुल पोल ही लगेगा। 'लाल मशाल' इस संग्रह में शायद सबसे सजीव और सबसे रसपूर्ण कहानी है। चेखव की। 'दाँव' कल्पना की उड़ान के लिहाज से तो बड़ी सुन्दर है, लेकिन वही धर्मोपदेश का एक विलक्षण ढंग। पन्द्रह बरस जेल में बन्द रहने के बाद दाँव लगानेवाला कैदी धन की ओर से कितना विरक्त हो जाता है और धन से उसे कितनी घृणा हो जाती है—इसे पढ़कर एक बार हमें रोमांच हो जाता है। मगर चेखव ने इससे बहुत अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। चिरिकोव का 'पाप' बाल जीवन का तात्त्विक अध्ययन है और गोर्की का 'अद्भुत मिलन' तो एक युवती के हृदय-दाह और कोमलता की अपूर्व झलक है, जो मानो हमारे जीवन की संकुचित सीमाओं को फैलाकर क्षितिज के अन्त तक पहुँचा देती है। कुप्रिन की 'सफ़ेद मर की मूर्ति' में प्रेम के उस चमत्कार की कथा है जो कठोर से कठोर आत्मा में भी आस्था और जीवन का संचार कर देती है। 'मृत्यु और सिपाही' और 'झूठ' इस संग्रह में केवल शैली और विषय की विभिन्नता के लिए रखी गयी जान पड़ती हैं। इनमें रस नहीं है और न जीवन का स्पन्दन ही है। अतिरंजीता में ऐसी कहानियाँ बहुत मिलेंगी।

हम इन कहानियों में से कई एक अंग्रेजी अनुवाद में पढ़ चुके हैं और जगह-जगह हमें मालूम हुआ कि अनुवादक महोदय को किसी तरह अपना गला छुड़ाकर निकल जाना पड़ा है। यह उनका दोष नहीं भाषा का दोष है, जो अभी तक मँज नहीं सकी

ग्रीर संस्कृत के शब्दों का व्यवहार करते हुए डर लगता है कि कहीं भाषा क्लिष्ट न हो जाय। शुरू में आठ पृष्ठों का परिचय दिया गया है जिसमें इस संग्रह के रचयिताओं का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है और रूसी साहित्य के महारथियों—तुर्गनेव, डास्टा-वस्की टाल्सटाय, चेखव और गोर्की के फोटो प्रिंट भी हैं।

पुस्तक का मूल्य तीन रुपया है, जो हमारे ख्याल में बहुत ज्यादा है।

माघ १९३४

आहार, संयम और स्वास्थ्य—लेखक श्री भगवती प्रसाद।

वैद्यों और डाक्टरों ने तो इस विषय की अनेक पुस्तकें लिखी हैं पर इस पुस्तक की खास बात है कि यह एक ऐसे मरीज की लिखी हुई है जिन्होंने सात सम बरसों से केवल आहार और संयम के बल पर एक घातक बीमारी से युद्ध किया है और अन्त में विजयी हुए हैं और इस दृष्टि से इस रचना का महत्व बहुत बढ़ गया है क्योंकि इसमें लेखक ने जो कुछ लिखा है, उसका खुद तजरबा किया है। अतएव हमने इस पुस्तक को आदि से अन्त तक बड़े गौर से पढ़ा। चूँकि हम खुद इसी रोग में बहुत दिनों व्यस्त रहे हैं और मरते-मरते बचे हैं इसलिए हमें इस विषय से खास दिलचस्पी भी है। एक बीमार सौ हकीम के बराबर होता है। हमने बहुत दिनों सारे वैद्य हकीमों और डाक्टरों के द्वार की खाक छानकर अन्त में केवल संयम और आहार से अपनी जान बचायी। इस पुस्तक के लेखक का भी यही अनुभव है। जो लोग मानसिक परिश्रम से अपना स्वास्थ्य खो बैठे हों या जो मेहनत करके भी अपने स्वास्थ्य की रक्षा करना चाहते हों उनके लिए इस पुस्तक में अनेक काम की बातें मिलेंगी और यदि वे इसके आदेशों पर चलेंगे तो आसानी से बीमारी के शिकार न होंगे। लेखक ने आदि में अपना आत्मकथात्मक परिचय देकर बता दिया है कि वह क्यों बीमार हुए, क्या-क्या कष्ट सहे और अन्त में कैसे स्वास्थ्य-लाभ किया और अब उनकी क्या हालत है। आपने बड़े पते की बात कही है—

'जहाँ मनुष्य ने रोग का कारण अपने को छोड़कर ईश्वर को समझा और उसके निवारण का उपाय डाक्टर के हाथ में दिया वहाँ उसने पुरुषार्थ को गँवाया और अकर्मण्यता की टोकरी अपने सिर पर धारी।

लेखक ने विषय को छत्तीस अध्यायों में बाँटा और अपने जीवन भर के अनुभवों को उनमें भर दिया है। पहले बारह अध्यायों में आहार के महत्व, प्रयोजन और उसके आवश्यक अंशों का बयान है और भिन्न-भिन्न विटामिनों की चर्चा की गयी है। नक्शे देकर आपने स्पष्ट कर दिया है कि किस पदार्थ में कौन-सा विटामिन कितना है और उसका स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ता है। बाद के तीन अध्यायों में जल, वायु और सूर्य-

प्रकाश का महत्त्व दिखाया गया है। सोलहवें अध्याय में विचार-शक्ति और स्वास्थ्य की मीमांसा करते हुए आप लिखते हैं—

मनुष्य को पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए चाहिए कि वह सबसे प्रेम सहानुभूति और उदारता के साथ रहे। ईर्ष्या द्वेष क्रोध अहंकार क्रूरता अदेखा सेना भय झूठ आदि अवगुणों को त्याग दे दूसरों के अपराध को क्षमा कर दे अपने अपराधों की माफी माँग ले और शारीरिक क्लेश को हँसी-खुशी झेलते हुए यथाशक्ति अपने कर्तव्य का पालन करता रहे।

ऐसा मनुष्य तो देवता ही हो जायगा फिर बीमारी उसके पास क्यों फटकने लगी। उसके तो आशीर्वाद से रोगी चंगे हो जायँगे। आगे के तीन अध्यायों में आहार समय की पाबन्दी आदि का उल्लेख है। एक अध्याय में व्यायाम और निद्रा का जिक्र सात अध्यायों में भिन्न-भिन्न खाद्य पदार्थों में—दूध मांस अनाज शाक-भाजी फल आदि—का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। दाँतों की रक्षा पर एक अध्याय अलग है। सर्वोत्तम प्रकार का भोजन क्या है इस पर आपकी सम्मति का सारांश यह है—

१—दूध की मात्रा बढ़ा दी जाय।

२—हरी पत्तियाँ की भाजी अधिक खायी जाय।

३—प्रति दिन कुछ न कुछ कच्ची शाक-भाजी अवश्य हो।

बत्तीसवें अध्याय में 'खाद्य पदार्थों का संगठन' शीर्षक देकर आपने एक तालिका द्वारा सभी खाद्य पदार्थों में पाये जानेवाले पोषक तत्त्वों को स्पष्ट कर दिया है। इससे हमें स्वयं अपने भोजन का फैसला करना सरल हो गया है।

पुस्तक रोगियों और दुर्बल स्वास्थ्यवालों के लिए खास तौर पर उपयोगी है। लेखक ने विषय को इतनी योग्यता सहानुभूति स्पष्टता से निभाया है कि ऐसा शुष्क और अरुचिकर विषय भी रोचक हो गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए अनेक चित्र दिये गये हैं। छपाई अच्छी कागज बढ़िया। आहार और संयम के सम्बन्ध की शायद ही कोई बात हो जिस पर यहाँ प्रकाश न डाला गया हो।

मई १९३५

कारवाँ—लेखक श्री भुवनेश्वर प्रसाद।

कारवाँ हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नयी प्रगति का प्रवर्तक है, जिसमें शा और आस्कर वाइल्ड का सुन्दर समन्वय हुआ है। अभी तक हमारा हिन्दी ड्रामा घटनाओं और चरित्रों और कथाओं के आधार पर ही रचा गया है। कुछ समस्या नाटक भी लिखे गये हैं। जिनमें व्यक्तियों का या नये या पुराने विचारों का खाका खींचा गया है पर सब कुछ स्थूल घटनात्मक दृष्टि से ही हुआ है, जीवन और उसकी भिन्न-भिन्न

समस्याओं पर सूक्ष्म, पैनी, तात्त्विक, बौद्धिक दृष्टि डालने की चेष्टा नहीं की गयी जो नये ड्रामा का आधार है। जैसा लेखक ने अपने 'प्रकाश' में खुद कहा है—

हिन्दी में समस्या नाटककारों का अभाव एक सहज बात है। उनके कथोपकथन में 'समस्या टाइप' का आ जाना।

लेखक ने यहाँ कुछ भावुकता से काम लिया है, लेकिन इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं कि समस्या नाटक की स्पिरिट को उसने खूब पकड़ पाया है और हमारे जीवन के गुप्त रहस्यों, प्रेम और नाजुकता की आड़ में छिपे हुए मनोविकारों पर ऐसा निर्मम प्रकाश डाला है कि उनको मार डालते डर लगता है। सम्भाषण में जगह-जगह मनोभावों की ऐसी मार्मिक विवेचना की गयी है कि लेखक की सूझ की प्रखरता और बुद्धि की तीव्रता का कायल होना पड़ता है। राजन जब स्त्री से कहता है—'स्त्री की घृणा पुरुष पर बलात्कार है', या जब प्रतिमा महेन्द्र से कहती है—'हृदय तो टूटने ही के लिए बने हैं। मानव जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजेडी तो यही है कि हमारे हृदय नहीं टूटते', या जब मिस्टर सिंह कहते हैं—'अनुभव तो मनुष्य जीवन की हार है। संसार का कोई कठिन सत्य जब हम पूर्णतया परास्त कर देता है तो हम उसे अनुभव कहते हैं।' या जब वह आगे चलकर फिर कहते हैं—'विवाहित जीवन में सुख केवल उस अहंकार का नाम है, जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर विजय पाने में होता है।' या जब किशोर माया से कहता है—'कोई भी मनुष्य अपने प्रेम पात्र के साथ सुखी नहीं रह सकता, तुम्हें उस बालक के लिए पग-पग पर त्याग और बलिदान करना पड़ेगा। और सुख, सुख नाम है विजय का।' या जब माया कहती है—'स्त्री का वास्तविक जीवन तभी प्रारम्भ होता है जब एक पुरुष अपने आपको उसके लिए मिटा चुकता है।' तो मानो हमारी बुद्धि पर ऐसी कड़ी चोट पड़ती है कि हम क्षण भर के लिए चौंक जाते हैं और जी चाहता है लेखक का जोरों के साथ खंडन करें, जो शायद इस बात का प्रमाण है कि उसका निशाना ठीक बैठा है।

पुस्तक में प्रकाश और उपसंहार को छोड़कर छः एकांकी नाटक हैं जिनमें तीन 'हंस' में छप चुके हैं, शेष तीन या तो अप्रकाशित हैं या अन्य पत्रिकाओं में निकल चुके हैं। 'रमला' एक वैवाहिक विडम्बना है जिसमें पत्नी अपने पति से कहती है—'समाज के सम्मुख मैं तुम्हें प्यार करने के लिए उत्तरदायिनी हूँ और विवाह करके यदि मैंने जीविका के लिए अपना रूप बेच नहीं दिया है—यदि इस कठिन सत्य का सामना तुम नहीं करना चाहते—तो मुझे प्रेम तो चाहिए।' अगर वैवाहिक जीवन में प्रेम नहीं है—और निस्सन्देह नहीं है—तो और कहाँ है? मुक्ताचरण के जीवन में? व्यभिचार में प्रेम केवल रसिकों को मुग्ध कर मन उड़ानेवालों की कल्पना है। उसमें सत्य रूप में वह केवल सन्तान की नैसर्गिक प्रेरणा है। भोग की इच्छा का नाम प्रेम रख दिया गया है। जब एक जोड़ा इस जिम्मेदारी में बंध जाता है तो एक दूसरे के प्रति त्याग

और सहानुभूति की मानवीय भावनाएँ जाग उठती हैं। यही वैवाहिक जीवन है, यहीं प्रेम है। अगर प्रेम से कवियों और रसिकों के प्रेम का आशय है, तो वह चन्द्रलोक में होगा मर्त्यलोक में नहीं। यह गलत है, कुफ्र है कि स्त्री जीविका के लिए अपने आपको बेचती है। असली श्री सारी दुनिया के बसनेवाले मजदूर हैं। उनके स्त्री-पुरुष दोनों ही परिश्रम करते हैं। प्रायः स्त्री ज्यादा करती है। जीविका का वहाँ प्रश्न ही नहीं है। फिर भी अधिकतर पुरुष ही प्रधान है। जहाँ लड़कियाँ पिता की सम्पत्ति की वारिस होती हैं वहाँ भी पुरुष का आदर कम नहीं है बल्कि और ज्यादा है। जिसमें बुद्धि बल ज्यादा है, वही विजयी है। कभी-कभी मेहरे मर्द नजर आ जाते हैं। ऐसे घरों में स्त्रियों की प्रधानता होती है। वैवाहिक जीवन से घबड़ानेवाले वह पुरुष हैं जो अपनी अकर्मण्यता के कारण कोई जिम्मेदारी नहीं लेना चाहते जो परले सिरे के खुदगरज हैं जो विलास के पुतले हैं चाहे वे कवि हों या फिलासफर। विवाह अवश्य एक बन्धन है, लेकिन इस नजर से देखिए तो जीवन ही क्या है? किसी भी ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती है, जहाँ निरंकुशता का राज हो? ऐसी यूटोपिया तो आज तक किसी ने नहीं बनायी। कुछ न कुछ बन्धन तो जीवन में रहेगा ही। इसी का नाम संयम है और जिस तरह जीवन के और विभागों में उसी तरह वैवाहिक जीवन में भी उसका खास महत्व है। वैवाहिक जीवन में पाँव रखते ही स्त्री-पुरुष दोनों ब्रह्मचारी का व्रत कर लेते हैं और इस व्रत का जितनी ही दृढ़ता से पालन होता है उतना ही जीवन सुखी होता है। सुख उस विजय का नाम है जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर पाने में होता है, बड़ी सुन्दर युक्ति हो सकती है, लेकिन निस्सार। उस विजय का नाम सुख नहीं बल्कि व्यभिचार है।

खैर यह तो हुई विचार की बात पर पुरी दम्पत्ति के मनोरहस्यों का बड़ा ही बारीक चित्रण है। बेचारा मिस्टर पुरी एक बड़ा दैविक व्यक्ति है पर बिलकुल सच्चा और उसके साथ ही कुछ कमजोर जो नहीं चाहता कि उसकी स्त्री उसका असली रूप देखे। बलवान पुरुष मनोज महोदय की परवाह न करता। किस हिमाकत के साथ आप कहते हैं—'श्यामा मेरी है' 'समाज की एक हृदयहीन लौह विधि ने ही उसे तुम्हारी बनाया है तुम्हारा उस पर क्या स्वत्व है? स्वत्व तो मनोज महाशय का है, क्योंकि आप श्यामा से प्रेम करते हैं। मिस्टर पुरी सम्भव है क्लर्क हो। नौ बजे से लेकर *दस बजे शाम तक किसी दफ्तर में नाक रगड़ते हों अपने जीवन रक्त का एक-एक बूँद* श्यामा के लिए जलाते हों लेकिन उनका श्यामा पर कोई स्वत्व नहीं है स्वत्व है मनोज का क्योंकि वह श्यामा से प्रेम करता है।

'एक साम्यहीन साम्यवादी' में आजकल जैसे साम्यवादी दरजने में आते हैं उनकी जीती-जागती तस्वीर। 'मिस्टर मिश्रा का तीस'रूप के वाहिनी और राजनैतिक विचार सहिष्णुता के बाईं ओर' 'रुपये से जहाँ तक उसके कमाने का प्रश्न है निमित्त। नाम

और काम दोनों को लोलुप। कितना सजीव खाका है।

'शैतान' एक उद्दंड रोज़ीबाज़ मनचले लोफर का चरित्र है जिसकी आकस्मिक उदारता उस स्त्री को मुग्ध कर देती है, जो उससे घृणा करती थी। 'प्रतिमा का विवाह' एक धन-लोलुप रमणी का चित्र है मगर अभी शायद भारत में प्रतिमाओं का जन्म नहीं हुआ है। वह भारतीय नाम की एक अंग्रेज़ छोकरी हो सकती है जो बूढ़े पति के धन से जवान प्रेमी के साथ विहार करके बूढ़े को उसकी बुढ़भस की सज़ा देती है। सम्भव है, नयी रोशनी कुछ दिनों में यहाँ की रमणियों की मनोवृत्ति में यह तबदीली पैदा कर दे लेकिन यद्यपि इस क्षेत्र में हमारा अनुभव बहुत ही कम है फिर भी हम इसी भ्रम में पड़े रहना चाहते हैं कि यह सम्पूर्णतया काल्पनिक सृष्टि है जीवन से इसका कोई वास्ता नहीं।

'मारटी' का प्रसंग यह है कि एक पुरुष विदेश में अपरिचिता से रंग-बिरंगे स्वप्न देखता है और जब वह धड़कता हृदय लेकर घर आता है, तो देखता है उसकी स्त्री किसी दूसरे पुरुष के प्रेम में पागल है। स्त्री अपने आशिक से कहती है—'तुमने मुझे क्यों जानने दिया कि तुम मुझसे प्रेम करते हो मेरी आत्मा में पैठ कर तुमने उस हिंसक बाघिनी को क्यों जगा दिया मेरे जीवन में चिनगारियाँ क्यों भर दी ?

आशिक साहब उसके प्रेम का बल लिये चल जाने को तैयार हैं। फरमाते हैं—'मैं तुम्हारे स्वप्न लेकर संसार के किसी कोने में चला जाऊँगा और तुम्हारे जीवन में एक सरस पर अप्रिय स्वप्न केवल एक स्वप्न छोड़ जाऊँगा।

स्त्री जवाब देती है—'और मैं एक पुरुष के गले में निर्जीव लता के समान लिपटी रहूँ जिसे मैं प्रेम नहीं करती ? उसके लिए बच्चे उत्पन्न करूँ ? उसे प्रेम न कर समझूँ नहीं पर उसके जीवन में ईर्ष्या की आग लगा दूँ और सदैव अपने हृदय में एक दूसरे पुरुष का दाहक प्रेम लिये रहूँ।

स्त्री का पति आता है और यह कौतुक देखकर फिर अपनी नौकरी पर चला जाना चाहता है। पत्नी परस्पर में कुछ खरी-खरी बातें होती हैं। आशिक साहब पर इन बातों का कुछ ऐसा असर होता है कि वह अपने प्रेम से इस्तीफा दे देते हैं और जिस पद पर पति जाना चाहता था उस पर खुद चले जाते हैं।

'रोमांस रोमांस' का प्रसंग भी बहुत कुछ मारटी से मिलता-जुलता है। हाँ मिस्टर सिंह ने अपने दिल जले मन में स्त्री के विषय में जो अभद्र और अश्लील शब्द कहे हैं *उनका Cynicism मन म ग्लानि पैदा करता है और यहाँ क्या इस रचना* की एक नाटिका एक 'सामग्रहीन साम्यवादी के सिवा और प्रायः सभी में एक ही विचार, कुछ बदले हुए रूपों में काम कर रहा है अर्थात्—वैवाहिक जीवन का असफल रंग। जितनी स्त्रियाँ आयी हैं सभी अपने शौहरों से बगावत किये बैठी हैं सभी किसी दूसरे आदमी से साँठ-गाँठ करती हैं और चुम्बन-चुम्बा करती हैं और सभी पुरुष ईर्ष्या से

जलते हैं और कुढ़ते हैं। वैवाहिक जीवन की यह निस्सारता शायद लेखक ने ग्रास्कर वाइल्ड से उधार ली है। अगर ऐसा है तो गनीमत है लेकिन अगर यह उनके मन की भावनाएँ हैं, तो हम यही कहेंगे कि उन्होंने उसका केवल सियाह रुख ही देखा है अगर वैवाहिक जीवन इतना दुखमय होता तो आज संसार में एक जोड़ा भी नजर न आता। जीवन में सर्वथा विद्रोह ही विद्रोह नहीं है कविता भी है भावुकता भी है, आनन्द भी है त्याग भी है। वही कवि-प्रतिभा जिसे जीवन में निराशा के सिवा और कुछ नजर नहीं आता शायद यहाँ भी प्रस्फुटित हो रही है और यह उसी के उद्‌गार हैं। या शायद ऐसे प्रसंग इसलिए चुने गये हैं, कि दाम्पत्य के विषय में जो भावनाएँ लेखक ने अपने अन्दर भर ली हैं उनके इजहार के लिए दूसरे प्रसंगों में गुञ्जाइश न थी। पुराने जमाने में 'शुक बहत्तरी' के ढंग की पुस्तकें बहुत लिखी जाती थीं जिनमें स्त्री-पुरुष के बेवफ़ाई पर आक्षेप करती थी और पुरुष स्त्री की दगाबाजी पर। दोनों अपने पक्ष के समर्थन में नजीरें पेश करते थे और पुस्तक तैयार हो जाती थी। उन किस्सों के लेखकों का मंशा केवल मनोरंजन होता था। नया ड्रामा अब उससे बहुत ऊँचा उठ गया है। वह अब जीवन की फ़िलासफ़ी और जिन्दगी के मसले हल करता है और मसले भी वह लेता है, जो सार्वजनिक होते हैं वह नहीं जिनका केवल मुट्ठी भर विश्व जले आदमियों से ताल्लुक है।

भुवनेश्वर प्रसाद जी में प्रतिभा है गहराई है, दर्द है, पते की बातें कहने की शक्ति है मन को हिला देने की जादूगरी है। काश वह इसका उपयोग 'एक साम्यहीन साम्यवादी' जैसी रचनाओं में करते। ग्रास्कर वाइल्ड के गुणों को लेकर क्या वह उसके दुर्गुणों को नहीं छोड़ सकते।

जून १९३५

तितली—लेखक जयशंकर प्रसाद।

'तितली' प्रसाद जी का दूसरा उपन्यास है और यद्यपि इसमें कंकाल की शिल्पिक छटा नहीं है पर दृष्टिकोण की स्पष्टता और विचारों की प्रौढ़ता में उससे बढ़ा हुआ है। 'तितली' नाम पढ़ कर ऐसा अनुमान होता है कि इसमें किसी चंचल रमणी का चित्रण होगा मगर यह अनुमान गलत निकलता है और तितली का विकास स्वदेश गृहिणी और मर्यादाओं पर उत्सर्ग करनेवाली देवी के रूप में होता है। वह ग्रामी स्त्री है पर उसे अच्छी शिक्षा मिली है और कठिन परिस्थितियों में पड़कर इसका चरित्र कुन्दन की भाँति और भी निखर जाता है

पुरुषोचित साहस से उसने इन चौदह वर्षों में संसार का सामना किया था। किसी से न झुकने की टेक अविचल कर्मण्यनिष्ठा और अपने बल पर खड़ हीकर इतनी सारी गृहस्थी उसने बना ली।

उसके मन में यही आकांक्षा है कि उसका इच्छित पति लौट कर आवे और उसकी साधना का पुरस्कार दे। लेकिन जब यह कामना पूरी नहीं होती और तितली मौन में संदेह का विषय बन जाती है, तब वह चिल्ला उठती है—

'मैंने इसमें धैर्य से इसलिए संसार का सब अत्याचार सहा कि एक दिन वह आवेंगे और मैं उनकी थाती उन्हें सौंप कर अपने दु:खपूर्ण जीवन से विश्राम लूँगी।... क्या एक दिन एक घड़ी एक क्षण भी मेरा मेरे मन का नहीं आवेगा—जब मैं अपने जीवन-मरण के सुख-दुःख में साथ रहनेवाले की प्रतिज्ञा करनेवाले के मुँह से अपनी सफ़ाई सुन लूँ।

उधर शैला अंग्रेज महिला है जो इंग्लैंड में कुँवर इन्द्रदेव सिंह की सज्जनता से प्रभावित होकर उनके साथ भारत आती है और यहाँ किसानों की दुर्दशा देखकर उनको संगठित करने और उनकी आर्थिक समस्याओं को हल करने का आयोजन करने लगती है। फिर विद्वान रामनारायण के मुख से हिन्दू धर्म का उपदेश सुनकर वह हिन्दू धर्म की दीक्षा ले लेती है और कुँवर साहब से उसका विवाह हो जाता है पर उसका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं है। स्मिथ नाम का एक अंग्रेज उसके मन को बुरी तरह आन्दोलित कर देता है। उसी समय शैला और तितली में जो बातें होती हैं उनसे उनके आदर्श स्पष्ट हो जाते हैं। तितली कहती है—

'तुम धर्म के बाहरी आवरण से अपने को ढँक कर हिन्दू स्त्री बन गयी हो सही किन्तु उसकी संस्कृति की मूल शिक्षा भूल रही हो। हिन्दू स्त्री का पत्यानुगत समर्पण उसकी साधना का प्राण है। इस मानसिक परिवर्तन को स्वीकार करो। देखो इन्द्रदेव बाबू कैसे देव प्रकृति के मनुष्य हैं। उस त्याग को तुम अपने प्रेम से और भी उज्ज्वल बना सकती हो।

जिस तरह शैला और तितली के मनोभावों में अन्तर है उसी तरह कुँवर इन्द्रदेव और पंडित रामनाथ के जीवन-आदर्शों में भी गहरा अन्तर है। दोनों ही देश और समाज के शुभ चिन्तक हैं लेकिन इन्द्रदेव समाज को पश्चिमी ढंग पर ले जाना चाहता है इसके खिलाफ रामनाथ हिन्दू आदर्शों पर श्रद्धा रखता है और उन्हीं के परिष्कार में जाति का उद्धार देखने का इच्छुक है। इन्द्रदेव जाति की दुर्दशा की चर्चा करते हुए कहते हैं—

'इसमें तो अच्छी है पश्चिम की आर्थिक भौतिक समता जिसमें ईश्वर न रहने पर भी मनुष्य की सब तरह से सुविधाओं की योजना है।

इन्द्रदेव पश्चिम की भौतिक समता के पुजारी हैं। रामनाथ भी समता के भक्त हैं पर वह काम भारतीय आदर्शवाद द्वारा पूरा करने के इच्छुक हैं। वह इन्द्रदेव के जवाब में कहते हैं—

'ममता को धर्म प्रेम की शिक्षा देकर उसे पशु बनाने की चेष्टा धमय करेगी। उसमें ईश्वर भाव या आत्मा का निर्वासन होगा तो सब लोग उस दया सहानुभूति और प्रेम के उद्गम से अपरिचित हो जायेंगे जिससे आपका व्यवहार टिकाऊ होगा। प्रकृति में विषमता तो स्पष्ट है। नियन्त्रण के द्वारा उसमें व्यावहारिक समता का विकास न होगा। भारतीय आत्मवाद की मानसिक समता ही उसे स्थायी बना सकेगी।

इन्द्रदेव का पारिवारिक जीवन आपापूर्ण है। वो घर के स्वामी नहीं हैं पर उस पर राज है उनकी बहन माधुरी का जो पति प्रेम से वंचित होकर मके में ही रहती है और इस घर के संचालन म अपने जीवन को सार्थक कर रही है। उनकी माता श्याम-कुमारी देवी का समय बीमारी और पूजा-पाठ और अमीरी के चोचलों मे कटता है। इन्द्रदेव जब इंग्लैंड स एक अंग्रेजी युवती के साथ लौटता है और दोनों अलग छावनी में रहने लगते हैं तो माधुरी और श्यामकुमारी दोनो ही चिन्तित होती हैं और शैला को किसी तरह दूध को मक्खी की तरह निकाल बाहर करना चाहती है। रियासती षड्यंत्र शुरू हो जाते हैं, यहाँ तक कि इन्द्रदेव घर से विरक्त होकर शहर मे चले जाते हैं और वहाँ बैरिस्ट्री करके अपना निर्वाह करने लगते हैं। अपनी सारी सम्पत्ति अपनी माँ के नाम हिब्बा करके वह उस हिब्बानामे की रजिस्ट्री करा देते हैं लेकिन देहातों क सुधार का विचार उनके हृदय म अभी तक मौजूद है। वह शैला से कहते हैं—

'कुछ पढ़े-लिखे सम्पन्न और स्वस्थ लोगो को नागरिकता की प्रलोभनो को छोड़कर देश के गाँवों म बिखर जाना चाहिए। उनके सरल जीवन म—जो नागरिकता के समय स विपन्न हो रहा है—विश्वास प्रकाश और आनन्द का प्रचार करना चाहिए।

मगर आन्तर हिन्दू माता अपन पुत्र स सम्पत्ति दान लकर क्या अधिकार का सुख भोगने म सन्तुष्ट हो सकती है? वह अन्त मे सब कुछ अपनी बहू शैला को भेंट करके सुखी होती है। इन्द्रदेव की बहन माधुरी भी अन्त में पति के दुर्व्यवहार से दुखी होकर शैला से स्नेह करने लगती है। इस समय मनोभावों का दर्शन कितना कोमल है—

'प्रेम मित्रता की भूखी मानवता! बार-बार अपने को ठगा कर भी वह उसी के लिए झगड़ती है।

तितली का पति मधुबन बड़ा मनचला युवक है जो अन्याय देख कर शान्त नहीं बैठ सकता। उसकी विधवा बहन राजरानी पर जब एक सूदखोर महन्त बलात्कार करने की चेष्टा करता है, तो मधुबन क्रोध को काबू म नहीं रख सकता। वह महन्त को गला दबाकर मार डालता है और उसके सन्दूक मे रुपयों की थैली लेकर भागता है और कलकत्ता पहुँचता है। वहाँ कई घटना चक्रों म पड़ने के बाद उसे दस साल की सजा दी

जाती है। जेल में पड़े-पड़े उसके चंचल मन में तरह-तरह के सन्देह उठते हैं और अपने ऊपर ग्लानि होने लगती है। वह सोचता है—

'क्या तितली मुझसे स्नेह करेगी ? मुझ अपराधी से उसका वही सम्बन्ध फिर स्थापित हो सकेगा ? मैंने उसका ही यदि स्मरण किया होता—जीवन के शून्य अंश को उसी के प्रेम से केवल उसी के पवित्रता से भर लिया होता तो आज यह दिन मुझे न देखना पड़ता। किन्तु, क्या वही तितली होगी ? अब भी वैसी ही पवित्र ? इस नीच संसार में जहाँ पग-पग पर प्रलोभन है, खाई है, आनन्द को सुख की लालसा है ?

जेल से छूटने के बाद वह ठाकुर जाता हरिहर क्षेत्र पहुँचता है और वहाँ अपने पुराने दुश्मन चौबे जी और तहसीलदार की बातचीत से उसे तितली के विषय में संदेह होता है—उसका लड़का कब हुआ ? प्रतिशोध लेने के लिए उसका पशु मौका ढूँढ़ रहा था और वह बार बार उसे शांत करना चाहता था।

वह घर आता है। उसी समय तितली जीवन से निराश होकर गंगा की गोद में कूद पड़ती है। अंतिम समय उसे मधुबन के दर्शन होते हैं—

उसने देखा सामने एक चिर-परिचित मूर्ति है। जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुबन विश्राम-शिविर के द्वार पर खड़ा था।

प्रसाद जी कवि हैं और इस कथा में अनेक स्थल ऐसे आये हैं जहाँ उनकी लेखनी कवित्व में डूब गयी है। दो-एक उदाहरण लीजिए—

रसीली चाँदनी की मादकता से मन्थर पवन अपनी लहरों से राजकुमारी के शरीर में रोमांच उत्पन्न करने लगा था।

अपनी मलाइ गरिमा को ओढ़े हुए वह स्त्रियों को रानी-सी दिखलायी पड़ती थी।

'दो वृक्षों की ऊँची चोटियाँ पश्चिम के धुँधले और पीले आकाश की भूमिका पर एक उदास चित्र का अंश बना रही थी।

इस पुस्तक ने हिन्दी के अच्छे उपन्यासों में एक की संख्या और बढ़ा दी है। कमी जो खटकती है वह है इसमें विनोद और सजीवता की। चौबे जी शुरू में तो कुछ आशाजनक थे पर आगे चलकर बदमाश निकल गये। उपन्यास पढ़ते हुए मन इस प्रवंचना में नहीं पड़ने पाता कि यह कोई यथार्थ जीवन का चरित्र है। उसकी औपन्यासिकता मन से दूर नहीं होती। चरित्र सजीव न होकर छाया से मालूम होते हैं। सूर्य का तीव्र प्रकाश नहीं पड़ी है, मद्धिम चाँदनी में सारे दृश्य दिखायी देते हुए जान पड़ते हैं। मानो पुर एक पहेली है। हम चरित्रों की झलक-सी देखते हैं। उनका सम्पूर्ण

कम हमारे सामने नहीं आता मगर शायद यह उनका अपरिमापन ही है जो उन्हें हृदय के समीप पहुँचा देता है। कला जितनी छिपाव में है, उतनी दिखाव में नहीं।

जुलाई १६३५

मुसद्दस हाली (नयी एडीशन)

स्व. मौलाना हाली उर्दू साहित्य के प्रवर्तकों में हैं। आपने ही उर्दू पद्य को नग्न शृंगार के दोष से मुक्त किया और नवीन शैली की बुनियाद डाली। गद्य-साहित्य में भी आपने आलोचना और आलोचनात्मक चरित्र को जन्म दिया। बिगड़ी उर्दू साहित्य-रुचि को जितना हाली ने सुधारा और किसी लेखक ने नहीं। आप सर सैयद के साथ मुस्लिम जागृति के जन्मदाता हैं। गत मास में आपकी शताब्दी जयन्ती बड़ी धूम-धाम से मनायी गयी थी। मौलाना हाली के सबसे प्रसिद्ध और युगान्तरकारी काव्य 'मुसद्दस' का यह एडीशन उसी जयन्ती की यादगार में निकाला गया है। शुरू में डाक्टर आबिदहुसेन साहब की लिखी हुई विद्वत्तापूर्ण भूमिका है, फिर मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी मौलाना अब्दुल हक सयद सुलेमान नदवी और ख्वाजा गुलामुस्सैयदेन के अलग-अलग लिखे हुए परिचय हैं। मूल काव्य के अन्त में शब्दार्थ भी दिये गये हैं। इस काव्य में मौलाना हाली ने मुस्लिम जाति के उत्थान और पतन का बड़ा ही विशद और स्फूर्तिमय वर्णन किया है। मौलाना का चित्र और उनकी लिपि के नमूने भी दिये गये हैं। लिखाई छपाई और जिल्द आकर्षक। दामों में इतनी सुन्दर पुस्तक देखकर आश्चर्य होता है। प्रकाशकों ने यह पुस्तक छापकर उर्दू साहित्य का उपकार किया है।

नवम्बर १६३५

कांग्रेस का इतिहास—लेखक डा. बी. पट्टाभिसीतारमय्या।

जिस पुस्तक की महीनों से धूम थी वह प्रकाशित हो गयी और उसका पहला एडीशन बिक भी गया। अब दूसरा एडीशन छप रहा है। हमें यह जानकर ताज्जुब हुआ कि यह हिन्दी अनुवाद केवल दो महीनों में छप-छपाकर तैयार हो गया। श्री हरिभाऊ उपाध्याय के सिवा कोई दूसरा आदमी इतनी जल्द और इतने अच्छे ढंग से यह काम कर सकता इसमें संदेह है। सात सौ सुपर रायल पृष्ठों का अनुवाद करना ही बरसों का काम था वह भी अब वकीलों पुरुषार्थ लेखक एड़ी चोटी का जोर लगाते। और यहाँ उपाध्याय जी ने केवल दो महीनों में सारा काम समाप्त कर डाला। कैसे किया यह तो वही जानें। शायद बीस घण्टे रोज काम करते रहे हों। अनुवाद सरल चलती हुई बोध भाषा में किया गया है और उसकी सफलता पर हम उपाध्याय जी और उनके मेले-मिले सहकारियों को बधाई देते हैं। इतनी बड़ी और महत्वपूर्ण पुस्तक की विस्तृत आलोचना तो फिर कभी की जायगी आज तो हम उसकी रूप रेखा और विषय-विभाग

का सरसरी जिक्र करके ही अपने को संतुष्ट कर लेंगे। पुस्तक छ भागों म विभक्त की गयी है। पहले भाग में १८८८ से १९१९ तक सरसरी निगाह डाली गयी है। कांग्रेस के जन्म के पहले देश की क्या अवस्था थी स्व ह्यूम ने किस तरह जनमत को संगठित किया इसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। कांग्रेस के अंग्रज और हिन्दुस्तानी हितैषियों को श्रद्धांजलि देकर यह भाग समाप्त कर दिया गया है। दूसरे भाग म १९१५ से १९१९ तक का इतिहास है। लोकमान्य तिलक के होम रूल लीग श्रीमती एनीबेसेंट के भारत इण्डिया होमरूल लीग उनकी नजरबन्दी और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड के सुधारों का जिक्र आ गया है। रौलट कमेटी की रिपोर्ट हिन्दू-मुसलिम एकता का शुभ दर्शन और जलियानवाला बाग के हत्याकाण्ड का समावेश भी हो गया है।

तीसरे भाग में १९२ से १९२८ तक का वृत्तान्त है। असहयोग का जन्म गांधी जी का जेल-दंड हिन्दू-मुसलिम दंगे नेहरू रिपोर्ट और उसके बाद के सत्याग्रह संग्राम बारडोली आदि सभी प्रसंग आ गये हैं जिनकी याद अभी लोगो के दिलो में ताजा है। चौथे पाँचवें और छठे भाग म १९२९ से १९३५ तक की सारी घटनाएँ आ गयी हैं जिनके दोहराने की जरूरत नहीं। अन्त म एक परिशिष्ट है, जिसम गाँधी इर्विन समझौते साम्प्रदायिक समझौते और महात्मा जी के महाव्रत के समय के पत्र व्यवहार की नकलें दी गयी हैं। पुस्तक बेहद सस्ती है, सस्ता साहित्य-मण्डल के लिए भी।

तीन नाटक—लेखक श्री सेठ गोविन्ददास जी।

इस पुस्तक में सेठ जी के तीन नाटक हैं—कर्तव्य हर्ष और प्रकाश। कर्तव्य म दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध म श्री रामचन्द्र जी की जीवन-कथा है, उत्तरार्द्ध म श्रीकृष्ण के मथुरा से प्रस्थान करने और अक्रूर के घात का वृत्तान्त लिखा गया है। यह दोनों कथाएँ इतनी बार लिखी जा चुकी हैं और इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कि क्यों की त्यों नाटक के रूप में आकर भी विशेष आकर्षण नहीं रखतीं। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त न उसी कथा का प्रसंग लेकर अपूर्व काव्य रच डाला। उनकी सफलता का कारण कुछ तो उनकी ओजस्विनी वर्णन-शैली और कवित्व शक्ति है और कुछ रामायण से बिलकुल अलग एक नयी कथा। सेठ जी कथानक में कोई अनुष्ठान न ला सके।

हर्ष ऐतिहासिक नाटक है। इसमें राजा हर्षवर्द्धन का चरित्र दर्शाया गया है। सम्राट हर्ष भारत के उन सम्राटों म हैं जिनकी वीरता और सच्चरित्रता दोनों ही दृष्टियों से इतिहास में सर्वोच्च स्थान है। लेखक न उस आदर्श प्रजा-पालक अहिंसा व्रतधारी पक्ष का धर्म-परायण दिखाया है, जो सर्वथा इतिहास के अनुकूल है। हर्ष का

चरित्र एक महान ट्रेजेडी है, जो जितना महान सांस्कृतिक और राजनैतिक उद्देश्य का स्वप्न देखता हुआ राजश्री को सम्राज्ञी बनाता है स्वयं उतना मोहसिक बनता है, पर भारत को एक राष्ट्र एक चक्रवर्ती राज्य के अंतर्गत देखने की उसकी अभिलाषा निष्फल होती है और उसका सारा जीवन राजाओं के विद्रोह के दमन करने में बीत जाता है। अन्तिम दृश्य जिसमें माधव गुप्त ने अपने पुत्र आदित्यसेन के प्राण-रक्षा की अनुमति माँगी है और आदित्यसेन को माता का पुत्र के प्राणों की भिक्षा मांगना ही मर्मस्पर्शी है।

प्रकाश सामाजिक नाटक है और वर्तमान राजनैतिक और सामाजिक जीवन का यथार्थ नक्शा। यहाँ स्वार्थी मिनिस्टर हैं ऐसे सियार कौंसिल के मेम्बर हैं जो देश भक्ति और जन-सेवा का स्वाँग भरकर अपना उल्लू सीधा करते हैं जिनकी दृष्टि में स्वार्थ और यशोलिप्सा के सिवा और किसी चीज का महत्व नहीं जो आठों पहर अपना मतलब गाँठने के लिए षड्यंत्र सोचा करते हैं। अकेला एक ग्रामीण युवक प्रकाश इनके बीच में आकर अपनी स्पष्टवादिता से इस षड्यन्त्र को मकड़ी के जाले की भाँति छिन्न-भिन्न कर डालता है। उसमें दोष का इतना बल है कि सारे स्वार्थी भोगी पतित समाज में हलचल पड़ जाती है, मिनिस्टर और लीडर और मेम्बर सब के सब दहल उठते हैं और प्रकाश के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जाते हैं पर ठीक उस वक्त जब प्रकाश की गिरफ्तारी के सामान हो गये हैं मालूम होता है कि वह उसी राजा मानसिंह का पुत्र है, जिन्होंने अङ्गरेज में पड़कर उसके विरुद्ध अपनी रियासत में विद्रोह फैलाने की रिपोर्ट पर हस्ताक्षर कर दिया था। हमें तीनों नाटकों में यह सबसे ज्यादा पसन्द आया। ऊँचे मिडिल क्लास का इतना सफल चित्रण देखकर मन मुग्ध हो जाता है। प्रसंग से अनेक सामाजिक समस्याओं पर बड़े ही सुलझे हुए ढंग से विचार किया गया है और उन समस्याओं का वही हल बताया गया है, जो भारत की परिस्थिति और राष्ट्र के हितों के अनुकूल है। 'स्पर्द्धा' सेठ जी की पहली रचना है जो हमारी नजर से गुजरी। उसके बाद इस सामाजिक नाटक ने हमारी यह धारणा मजबूत कर दी कि सामाजिक नाटक ही आपका क्षेत्र है।

अदबी दुनिया

लाहौर की इस विख्यात उर्दू पत्रिका का यह नव-वर्षांक बड़ी शान से निकला है। इसमें प्रताप के आकार के दो सौ बीस पृष्ठ लेख और रङ्गीन सादे और रंगीन चित्र हैं। इसे देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि उर्दू साहित्य कितने वेग से उन्नति कर रहा है। इसमें सत्तरह गद्य-लेख और चौबीस कविताएँ हैं। गद्य-लेखों में आठ कहानियाँ हैं पाँच इनमें दस आलोचनात्मक निबन्ध हैं और तीन साहित्यिक लेख हैं। कहानियों में दो 'हंस' से अनुवादित हैं यद्यपि नाम नहीं दिया गया है। हजरत वकार अम्बालवी का

आखिरा गीत ग्रामीण जीवन की सुन्दर प्रेम-कथा है, यद्यपि कथानक में कोई नवीनता नहीं। ड्रामों में श्री [illegible] 'क़मर' का 'सोसाइटी के ठेकेदार' इब्सेन के Pillars of Society की शैली का मनोरंजक सामाजिक चित्रण है, जिससे हमारी वर्तमान सोसायटी की नैतिक और धार्मिक दशा पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। आलोचनात्मक निबन्धों में हज़रत फ़ैज़ी का 'तारीख़ उर्दू का मुतालआ' और हज़रत राशिद का 'उर्दू साहित्य पर ग़ालिब का असर' बड़े विचारपूर्ण हैं। राशिद साहब ने जिस योग्यता से अपने विषय का प्रतिपादन किया है उससे विदित होता है कि उर्दू में आलोचना का आदर्श कितना ऊँचा उठ गया है। मिर्ज़ा अज़ीमबेग चग़ताई का 'बीबी का ख़त मियाँ के नाम' हास्यरसपूर्ण लेखों में सबसे अच्छा है। कविताओं में हज़रत हफ़ीज़ जालंधरी का 'दरसन' पंडित इन्द्रजीत शर्मा का 'भूल आयी री' नयी सर्वप्रिय शैली की रचनाएं हैं। 'बाग़ी संसार' और 'शिकवा' भी सुन्दर हैं। और भी कई कविताएं बहुत अच्छी हैं। इस अंक का मूल्य सवा रुपया है।

THE NEW OUTLOOK

यह अंग्रेजी का मासिक-पत्र अहमदाबाद से श्री गोविन्दलाल डी० शाह की एडीटरी में निकलता है। सम्पादक-मंडल में मिस श्यामकुमारी नेहरू मिर्ज़ा अहमद सोहराब और कई अन्य प्रतिष्ठित नाम हैं। जनवरी का यह अंक विशेषांक के रूप में निकला है, जिसमें कई अच्छे-अच्छे विचारपूर्ण लेखों का संकलन है। इस पत्र की विशेषता यह है कि इसमें अन्य प्रदेशों के लेख भी दिये जाते हैं और इसे सर्वप्रिय बनाने की चेष्टा की जाती है। अधिकतर उन्हीं समस्याओं पर लेख लिखे जाते हैं जिन पर आजकल समाज में बहुत लिखा-पढ़ा जा रहा है।

फरवरी १९३६

तुलसी के चार दल—लेखक श्री सद्गुरुशरण अवस्थी।

उक्त पुस्तक के लिखने का उद्देश्य उसके लेखक के शब्दों में ही इस प्रकार है —

'यह बात हिन्दी के सभी प्रेमियों को खटकती है कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास जी की कृतियों की पूर्ण और उचित समीक्षा तथा उनके पठन पाठन की उचित व्यवस्था अभी नहीं हुई है। कविता प्रेमियों का ध्यान अभी तक 'रामचरित-मानस' तक ही सीमित रहा है। 'मानस' की सैकड़ों टीकाएँ निकली हैं और निकल रही हैं। उसकी समीक्षाएँ भी विद्वानों ने की हैं। अन्यान्य भाषाओं में भी रामायण की समीक्षाएँ देखने में आती हैं, परन्तु यह सौभाग्य गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थों को प्राप्त नहीं हो सका। 'विनयपत्रिका' की ओर कुछ भक्त लोगों का ध्यान

गया है। उसकी एक-दो आलोचनाएँ और टीकाएँ अच्छी निकली हैं। 'कवितावली' की भी एक-दो टीकाएँ अच्छी निकली हैं परन्तु उस पर कोई आलोचना-ग्रन्थ देखने में नहीं आया। फुटकर लेखों में तो कभी-कभी गोस्वामी सम्बन्धी समीक्षाएँ दिखायी भी देती हैं परन्तु पुस्तक रूप में इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया। मुझे इस प्रकार का अनुभव है कि हिन्दी की अच्छी मासिक पत्रिकाओं के कुछ नये सम्पादक भी गोस्वामी तुलसीदास की तथा कवि-सम्राट् सूरदास जी की आलोचनाओं को सर्वथा निस्सार समझते हैं।

'गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में सबसे अच्छा और सबसे मौलिक ग्रन्थ पंडित रामचन्द्र शुक्ल का ही है। उनकी समीक्षा किसी एक ग्रन्थ पर आश्रित न होकर सभी ग्रन्थों पर आश्रित है। फिर भी 'मानस' पर ही उस आलोचना का बरातल अधिक है। विश्वविद्यालयों में और कालेजों में हिन्दी की उच्च शिक्षा की व्यवस्था हो जाने के कारण गोस्वामी तुलसीदास के समस्त ग्रन्थों की पूर्ण और विशद समालोचनाएँ निकलनी चाहिए थीं परन्तु काशी के प्रोफेसरों को छोड़कर अन्य स्थानों के प्रोफेसरों का ध्यान भी इस ओर नहीं गया। कुछ लोगों में तो अपनी लेखनी का प्रयोग करने में विकट संकोच है।

'गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में छात्रों की जानकारी अधिक बढ़े और उनकी कृतियों के पठन-पाठन में सहायता मिले इसी लाभ को ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तकों को लिखा गया है। पहली पुस्तक में गोस्वामी तुलसीदास का एक संक्षिप्त जीवन-वृत्त दिया गया है। साथ ही साथ काव्य-कला और गोस्वामी तुलसीदास जी की निजी प्रेरणा पर एक लम्बा प्रबन्ध भी दिया गया है। इसके अनन्तर गोस्वामी तुलसीदास की चार छोटी कृतियों पर समीक्षाएँ हैं। उन कृतियों के नाम हैं—'रामलला नहछू' 'बरवै रामायण' 'पार्वती मंगल' तथा 'जानकी मंगल'। इन आलोचनाओं के प्रसंग में बहुत सी और जानने योग्य बातें सम्मिलित कर दी गयी हैं। दूसरी पुस्तक में उन्हीं चारों पुस्तकों के उचित अध्ययन के लिए मूल पाठ के साथ-साथ शब्दार्थ तथा टिप्पणियाँ देकर पाठ समझाया गया है। स्थान-स्थान पर तुलना करने के लिए बाहर के पदों को उद्धृत किया गया है। अलंकारों का भी कहीं-कहीं पर निर्देश कर दिया गया है।

प्रसन्नता की बात है कि लेखक महोदय प्रस्तुत पुस्तक के सभी उद्देश्यों की पूर्ति सफलता के साथ कर सके हैं। खासकर हिन्दी के ऊँचे साहित्य का मनन करनेवाले विद्यार्थियों से तो हमारा विशेष अनुरोध है कि वे इस पुस्तक का खूब अध्ययन करें। यों तो सर्वसाधारण के काम की यह है ही। इसी प्रकार यदि अन्य विद्वान प्राचीन साहित्यों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें तो हमारा पूर्ण विश्वास है कि नवयुवक साहित्यिकों में प्राचीन साहित्यों के प्रति अभिरुचि बढ़े और उनकी बहुत कुछ कठिनता दूर हो जाय।

मार्च १९३६

ग्यारह कहानियाँ—लेखक श्री बहुरबक्स।

मुंशी बहुरबक्स बच्चों की कहानियाँ लिखने में कुशल हैं। इस संग्रह में आपकी ग्यारह कहानियाँ हैं, बड़ी ही मनोरंजक हैं। बच्चों में 'अद्भुत' भावना बड़ी प्रबल होती है और साहित्यिकता से विशेष रुचि। इन सभी कहानियों में ये दोनों गुण मौजूद हैं। बीच-बीच में बच्चों का चरित्र-निर्माण करनेवाली बातें भी आती गयी हैं मगर वह इस तरह आयी हैं कि कहानी का अंग बन गयी हैं। बालकों के लिए ये कहानियाँ मनोरंजक भी हैं और भावप्रद भी। भाषा बहुत ही साफ़ और मँजी हुई।

समाज की आग—लेखक श्री आदित्यकुमार।

आदित्यकुमार जी ने समाज का जो चित्र खींचने की चेष्टा की है, उसमें वह सफल नहीं हुए। न कोई सजीव चरित्र है, न रोचक कथा और न हृदय को स्पर्श करने वाले भाव। कथा तो इतनी उलझ गयी है कि किस्से को समझने के लिए प्रयास करना पड़ता है। इतने चरित्रों के लाने की कोई ज़रूरत न थी। ऐसा जान पड़ता है, लेखक ने दो-तीन परिवारों का वृत्तान्त एक उपन्यास के रूप में संग्रह कर दिया है। उपन्यास में हर एक चरित्र अपना एक व्यक्तित्व रखता है और उसी के विकास पर कथा चलती है। पाठक को उसके विकास में उत्कंठा होती है। वह देखता है, लेखक में अनुभूतियों की कितनी गहराई है, वह किन स्थलों पर अपने रचना-कौशल या मार्मिक आलोचनाओं या मनोवैज्ञानिक रहस्यों से उसे मुग्ध करता है। उपन्यास में अगर कोई घटना ही हो तो उसे भी इस तरह रखना चाहिए कि उसका वैचित्र्य पाठक को खींचे। यह उपन्यास तो केवल वह सामग्री देता है, जिस पर किसी उपन्यास की कल्पना की जा सकती है।

सोहाग बिन्दी—लेखक श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी।

इधर कुछ दिनों से एकांकी नाटकों की ओर रुचि बढ़ रही है। द्विवेदी जी का इस अंग की पूर्ति करनेवालों में प्रमुख स्थान है। हमने इन छहों नाटकों को बड़े शौक से पढ़ा और हमें जो सबसे अधिक रुचा वह सर्वस्व समर्पण है, जो आपने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की किसी रचना के आधार पर लिखा है। शेष पाँचों नाटकों में चार तो ऐसे हैं जिनमें कोरी भावुकता है और एक शर्मा जी कुछ व्यंग्यात्मक है। जिसमें एक शिक्षित युवती के मनोभावों की आलोचना की गयी है। 'सोहाग की बिन्दी' में काली बाबू की स्त्री अकेलेपन से दुःखी रहती है और अपने मौसेरे देवर को देखकर उसी की याद में घुल-घुलकर मर जाती है। अकेलेपन को हौआ बनाकर जो स्त्री एक युवक को पहली बार देखकर और उसकी मजेदार बातें सुनकर मरने लगती है, उसका मर जाना ही अच्छा। दूसरा नाटक भी इसी तरह की एक युवती का चित्र है जो एक युवक के प्रेम में घुलती है और आखिर व्याकुल होकर एक बार देखने आ जाती है। तीसरे

नाटक में उर्मिला अपने एक पुराने प्रेमी को ठुकराकर एक जमींदार से ब्याह कर लेती है। प्रेमी साहब उसे दिल में प्यार भी करते रहते हैं और उससे जलते भी रहते हैं। उसकी बीमारी की खबर पाकर भी वह अपने रिस को रोकते हैं और जब उसके घर पहुँचते हैं तो वह मर चुकती है। शर्मा जी' मन की चीज है, जिसमें एक युवती के मनोस्वत्व की गहराई में पहुँचने का सफल प्रयास है। पाँचवाँ 'दूसरा उपाय ही क्या था' एक मुअम्मा-सा है, न यही पता चलता है कि स्त्री क्या चाहती है, न यही कि पुरुष क्या चाहता है। चरित्रों में पहले नाटकवाला महाराज बड़ा मौलिक और सहृदय बन गया है। काश द्विवेदी जी ऐसे चरित्रों के सृजन में ज्यादा उबर होते। नाटकों में या किसी भी रचना में लेखक का आइडिया स्पष्ट होना चाहिए। पाठक को अंधी गली में ले जाकर छोड़ देना पाठकों को भ्रम में डाल देना है।

मधुबाला—रचयिता श्री बच्चन।

यह कवि बच्चन के गीतों और कविताओं का दूसरा संग्रह है जो छोटे आकार में बड़ी सज-धज से छपा है। बच्चन में अपना व्यक्तित्व है, अपनी शैली है, अपने भाव हैं और अपनी फ़िलासफ़ी है। मधु, मधुबाला साक़ी आदि भावनाएँ हिन्दी में अनोखी हैं। यहाँ तो सोमरस और भंग का प्राधान्य था मगर सोमरस का वैदिक काल में चाहे जो महत्व रहा हो और भंग गाँजा चरस आदि का साधु और रसिक-मण्डली में चाहे आज भी कितना ही रिवाज हो मगर नशे की कल्पना हमारी कविता के क्षेत्र में नहीं घुसने पायी। हमारी मध्यकाल की कविता में बंसी और वृन्दावन की पुकार है और नयी कविता में वीणा और माला और धूप-दीप की कल्पना का प्राधान्य। वह साकार की भक्ति की यह निराकार की उपासना है और इसलिए आत्मानुभूतिपूर्ण और अन्तर्मुखी है। बच्चन जी की कविता में भी वही भावनाएँ हैं मगर कल्पना हिन्दी के लिए सर्वथा अछूती है और यह भय उनको है कि उन्होंने फ़ारसी का यह तर्जुमा नहीं ऐसा छपाया है कि उसमें बेगानापन बिलकुल नहीं रहा। और चूँकि हिन्दी में भी बुलबुल और क़फ़स और साक़ी और सागर के रसिक मौजूद हैं और क़सरत से मौजूद हैं हिन्दी ने यह चीज पाकर उन्होंने उसका स्वागत किया। फ़ारसी और उर्दू के कवियों ने तो साक़ी और सुराही को अध्यात्म की चीज बना डाला है। उनके लिए शराब वैसी आवेश है, या भक्ति या ज्ञान। उनका नशा वह विह्वलता है, जो भक्ति की पूर्णता है। पिंजरे में फँसी हुई बुलबुल का बाग में चमकते हुए घोंसले की याद में तड़पना मनुष्य के जीवन से इतना मिलता है कि हम उसके दुःख में शरीक होने के लिए मजबूर हैं। शराब की कल्पना भी जहाँ इस दुःख भरे संसार से विरक्ति की सूचक है, वहाँ धार्मिक कट्टरता और संकीर्णता से विद्रोह का भी इशारा करती है। देखिए मधुप भी क्या कहता है—

हमने छोड़ी कर की माला
पोथी-पत्रा भू पर डाला
मंदिर-मसजिद के बन्दी-गृह
को तोड़ लिया कर में प्याला ।
सौ दुनिया को आजादी का
संदेश सुनाने हम आये ।

हमें आशा है बच्चन जी की मधुबाला कहीं निराशावाद की शराब न पिलाये ?

अप्रैल १९३६

कसक—रचयिता श्री हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश' ।

यह हृदयेश जी की चुनी हुई कविताओं का सचित्र संग्रह है। उनमें माधुर्य है प्रसाद है, करुणा है, दम्प है और कहीं-कहीं क्रान्ति भी है। जैसा हृदयेश जी ने अपनी भूमिका में लिखा है कविता पर या साहित्य के किसी दूसरे अंग पर भी अपने समय की छाया पड़े बिना नहीं रह सकती। हम जिन सामाजिक और राजनैतिक दशाओं में पड़े हुए हैं उनमें करुणा और कसक के भावों की प्रधानता हो ही सकती है, मगर हम सुकवि जनों से यह आशा भी रखते हैं कि वह केवल मर्सिया न गायें हालाँकि जीवन में मर्सिये का स्थान भी है, बल्कि जीवन में स्फूर्ति का संचार भी करें। अगर कवि की रचना सुनकर 'चेतनता चल दे या 'आशाएँ' आहत हो जायें तो फिर इन आफतों से छुटकारा किस जगह से जाय। इस 'कसक' के प्रवाह में 'रितु' की आमाराम झलक देखकर दिल को ढारस मिलता है—

मधुर यौवन की लघु तस्वीर,
नवल आशाओं के मधुमास ।
भावनाओं के मृदु संचार,
प्रेम के कम्पित नव उच्छ्वास ।

पुस्तक में पाँच मनोहर रंगीन कवित्वपूर्ण चित्र हैं, कई हाफ़टोन चित्र। पुस्तक श्री सेठ कैलाशपति जी सिंहानिया को समर्पित की गयी है।

पखुड़ियाँ—लेखक श्री पृथ्वीनाथ शर्मा ।

यह शर्मा जी की बारह छोटी कहानियों का संग्रह है। सीधी-सादी मनोरंजक कहानियाँ हैं, जिनमें प्रतिभा तो कम है पर कलम मँजा हुआ है। लेखक ने विविध रसों की चीज़ें लिखी हैं, पर उनका प्रधान रस करुणा है। 'भिखारी का प्रेम' 'दुख की कन्दरा' 'रज्जो का सौदा' 'त्याग और ममता' आदि गल्पों में करुणा के भिन्न-

मिश्र रूपों की झलक मिलती है। 'मुनीरा का भ्रम' रहस्यपूर्ण है। हास्य-रस की कोई कहानी नहीं। मालूम नहीं शर्मा जी ने इस ग़रीब की क्यों अवहेलना की।

भगवद्गीता मंजूम या नग़मे इरफ़ाँ—रचयिता श्री विश्वेश्वर प्रसाद मुनौवर।

मुनौवर साहब उर्दू के सिद्धहस्त कवि हैं। आपने वाल्मिकीय रामायण और विनय-पत्रिका का भी पद्यबद्ध अनुवाद किया है। आलोच्य ग्रन्थ भगवद्गीता का उर्दू पद्यबद्ध अनुवाद है। भगवद्गीता के कई मंजूम तर्जुमे निकल चुके हैं। अभी नवर साहब सौहानवी का अनुवाद हाल में प्रकाशित हो चुका है, पर गीता ज्ञान और अध्यात्म का अपार सागर है और उसे जितना ही मथो उतने ही रत्न निकलते हैं। इस अनुवाद की खूबी यह है कि मूल भावों की पूरी तरह रक्षा की गयी है। श्री भगवानदास जी के शब्दों में आपने श्लोकों का मतलब खूबी से अदा किया है और उसके साथ ही शायरी का अमृत भी उसमें भर दिया है। अर्जुन के मनोभावों का कितना मर्मस्पर्शी चित्रण है—

> मैंदाम में हाल है मेरा गैर
> उखड़े जाते हैं खुद बखुद पैर।
> फोड़ा सा जिगर में पक रहा है,
> दिल बार बार धड़क रहा है।
> यह अपने अज़ीज़ो अक़रबा क्या
> अपने को ही उनको मारना क्या।
> जँचता नहीं अब निगाह में कुछ
> सम्मत नहीं इस गुनाह में कुछ।
> मतलब तौरो तख्त से क्या
> मिल जायगा फ़तहे जंग से क्या?
> राहत भी नहीं मुझे तमन्ना
> हूँ ताजे शाही का मैं न जोया।

'विशाल भारत' का राष्ट्रीय अंक

सहयोगी 'विशाल भारत' ने बैशाख का अंक राष्ट्रीय अंक के रूप में निकाला है। कई साल हिन्दी पत्रिकाओं के विशेषांक धूम-धाम से निकलते थे। इधर कुछ दिनों से शिथिलता आ गयी है। जो विशेषांक निकलते भी हैं वह भी कम से कम खर्च करके विशेषांक निकालने का गौरव मात्र लेने के लिए। 'विशाल भारत' का यह अंक भी आकार-प्रकार और सामग्री के एतबार से साधारण अंकों से कुछ ही बढ़कर है। फिर भी राष्ट्रीय अंक निकालकर उसने मासिक पत्रिकाओं की लाज तो रख ली। सम्पादक का

पर बाबू राजेन्द्रप्रसाद के 'कांग्रेस के नियमों का परिवर्तन' को दिया गया है जो बहुत मुनासिब है। इस विषय पर राजेन्द्र बाबू से ज्यादा अधिकारी लेखक और कौन हो सकता था। दूसरा छोटा-सा लेख बाबू रामानन्द चट्टोपाध्याय के किसी लेख का अनुवाद है। तीसरा लेख डा० रवीन्द्रनाथ के एक बड़े ही विचार और पाण्डित्य से भरे हुए लेख का उल्था है जो बहुत दिन हुए माडर्न रिव्यू में निकला था। 'हमारा सेनापति' में बाबू ब्रजमोहन वर्मा का छोटा-सा मगर प्रभावपूर्ण चित्र खींचा है। 'राष्ट्रीय चेतना' और 'धर्म प्रचारक' भी अच्छा लेख है। 'कांग्रेस के जन्मदाता ह्यूम' 'हमारे राष्ट्रीय शिक्षक' और 'हमारे राष्ट्रीय कवि' आदि लेख भी पढ़ने योग्य हैं। एक लेख में बाबू सम्पूर्णानन्द ने गांधीवाद और सोशलिज्म की तुलना की है। प्रायः सभी लेखों का चयन सुरुचि और उपयोगिता की दृष्टि से किया गया है।

'प्रताप' का कांग्रेस अंक

सहयोगी 'प्रताप' ने यह कांग्रेस अंक निकाल कर अपनी सजगता और सजीवता का परिचय दिया है। ऐसे अवसरों पर भी हमारे दैनिक और साप्ताहिक पत्र उदासीन रहते हैं यह हमारी मुर्दादिली के सिवाय और क्या है। प्रताप के इस अंक का पहला लेख 'राष्ट्रपति जवाहरलाल' है जिसमें पं० बालकृष्ण शर्मा ने पंडित जवाहरलाल नेहरू का चरित्र विस्तार के साथ और प्रेम और श्रद्धा से भरे हुए रंग में लिखा है। और पं० जवाहरलाल का चरित्र पिछले पन्द्रह वर्षों का सिंहावलोकन है मगर यह सिंहावलोकन ही नहीं श्रद्धांजलि है जिसमें बहुत कुछ आत्मकथात्मक और इसलिए बड़ा ही रोचक और प्रभावपूर्ण है। 'बापू की फाँसी' स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी की रची हुई एक हास्यरस की मजेदार कहानी है जिससे पता चलता है कि विद्यार्थी जी इस रंग में कुशल थे। बाबू सम्पूर्णानन्द का *'कांग्रेस और साम्राज्यशाही'* श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी का 'संयुक्त प्रान्त को किसान समस्या' आदि लेख भी पढ़ने योग्य हैं लेकिन इस अंक में श्री नवीन जी का 'वन-गमन' बिलकुल बेमौका मालूम होता है। इसे तो किसी साहित्यिक मासिक पत्रिका में छपना चाहिए था।

मुखपृष्ठ पर पं० जवाहरलाल जी का रंगीन चित्र है। और राष्ट्र-नेताओं के चित्र भी हैं लेकिन दस-पाँच अच्छे कार्टून हो जाते तो रंग और चोखा हो जाता।

'प्रभात' का बेकारी अंक

हमने कहीं पढ़ा था कि जब से मंदी का जोर हुआ है इंग्लैंड में पुस्तकों की बिक्री बढ़ गयी है। इसका कारण शायद यही हो सकता है कि व्यापारियों को हाथ पर हाथ धरे बैठने की अपेक्षा मनोरंजक पुस्तकें पढ़ने का मशगला ज्यादा पसन्द है। वहाँ की मंदी का अर्थ यह है कि अब पहले का-सा अन्धाधुन्ध नफा नहीं होता। उनके

खिलाफ हिन्दुस्तान की मंदी का प्रश्न यह है कि यहाँ रोटियों का ठिकाना भी नहीं है। फिर किताबें कौन पढ़े। खाली पेट तो भगवद् भजन भी नहीं होता साहित्योपासना तो दूर की बात है। फिर भी बलिया के सहयोगी प्रभात ने बेकारी अंक निकाल कर साहस का काम किया है। पहला लेख है 'बेकारी की विकट समस्या' जिसमें बेकारी के कारणों की मीमांसा की गयी है और उसका इलाज बताया गया है। दूसरा लेख श्री शीतलासहाय जी का 'भारत में बेकारी' है। आपका यह खयाल ठीक है कि 'जब तक आर्थिक शासन की आर्थिक नीति में कुछ स्थिरता न हो किसी और भी किसी प्रकार की आर्थिक उन्नति की सम्भावना नहीं है।' श्री परशुराम का 'बेकार साहित्यिक' श्री बाबा राघवदास का 'बेकारी' श्री भगवतीचरण वर्मा का 'बेकारी अथवा अकर्मण्यता' श्री दयाशंकर दुबे का 'शिक्षितों की बेकारी पर एक दृष्टि' आदि लेख भी विचार से लिखे गये हैं। श्री कृष्णमोहन का 'शिक्षितों की बेकारी और उसे दूर करने के उपाय' सारगर्भित लेख है जिसमें इस विषय पर हर एक पहलू से विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक लेख कविताएँ और कहानियाँ हैं जिनसे यह अंक संग्रहणीय बन गया है।

मई १९३६

वाजिदअली शाह—लेखक श्री शीतलासहाय और श्री गोपालसहाय।

लखनऊ के रँगीले नवाब वाजिदअली शाह जैसा विलासी राजा बहुत कम हुआ होगा। ये तो अवध राज्य के स्वामी लेकिन गाने-बजाने और नाचने और विषय-भोग के सिवा उन्हें रियासत से कोई मतलब न था। उनके विलासमय जीवन की सैकड़ों कथाएँ आज भी बच्चे-बच्चे की ज़बान पर हैं। नृत्य और संगीत और अभिनय में उनका सानी न था कवि भी अच्छे थे मगर इन कलाओं को आत्मोन्नति का साधन न बनाकर उन्होंने इन्हें काम-क्रीड़ा का साधन बनाया और उसमें ऐसे लिप्त हुए कि राज्य भी गया और अंग्रेज़ी सरकार के क़ैदी होकर कलकत्ता में मरे। इस पुस्तक में उन्हीं रंगीले वाजिदअली शाह के जीवन की कुछ मनोरंजक कथाएँ दी गयी हैं। उनसे मालूम होता है कि बादशाह के महल में एक सौ पच्चीस बेगमें थीं जिनमें साठ के तो नाम दिये गये हैं। इनमें तुर्की आर्मीनिया फ्रांस इटली तक की युवतियाँ भी थीं। जो मीरा-महरी रूपवती हुई और बादशाह की उस पर निगाह पड़ी कि वह महल में दाखिल कर ली गयी। बादशाह के मुसाहब अधिकतर भँड़ुए तबलिये और मीरासी थे जो प्रजा को दोनों हाथों से लूटते थे। और बादशाह का अपना एक से काम था। सारे राज्य का धन खिंच-खिंचकर लखनऊ आता था और ऐयाशी में उड़ता था। उसके साथ ही बादशाह साहब मिथ्यावादी भी परले सिरे के थे। 'परियों के सम्राट से भेंट' से उनके प्रेममय का अच्छा परिचय

मिलता है। पुस्तक बड़ी रोचक है और सजीव भाषा में लिखी गयी है। ऊपर वाजिदअली शाह का एक चित्र भी है।

भारत का कहानी-साहित्य—संग्रहकर्ता व सम्पादक डा० धनीराम जी।

भारतीय साहित्यों के संगठन और प्रचार का जो काम भारतीय साहित्य परिषद् ने उठाया है, उसका यह शुभ फल है कि भारत के प्रान्तीय साहित्यों में लोगों की रुचि हो गयी है और परस्पर आदान-प्रदान की गति तेज हो गयी है। जो रचनाएँ अपनी प्रान्तीय भाषा में केवल प्रान्त की चारदीवारी में बन्द रहतीं वह हिन्दी में आकर राष्ट्र की सम्पत्ति होती जा रही है। दक्षिण भाषाओं की कई कहानियाँ जो हंस में निकली गुजराती उर्दू मराठी आदि में अनुवादित हुईं। यह पुस्तक भी उसी साहित्यिक प्रेरणा का फल है। इसमें हिन्दी बंगला मराठी गुजराती उर्दू कनाड़ी तेलगु तामिल की दस कहानियाँ संगृहीत हैं। गल्प-लेखकों की सूची कह रही है कि इसमें बहुत से नाम छूट गये हैं। इसका कारण यही हुआ कि पुस्तक को इससे बड़ा करना संग्रहकर्ता को मंजूर न था। इन दो सौ पन्नों में इससे अच्छा संग्रह होना मुश्किल था। हाँ उर्दू कहानियों के विषय में हम कह सकते हैं कि चुनाव उतना सुन्दर नहीं हुआ। फिर भी पुस्तक संग्रह करने योग्य है।

भक्तवत्सला मीरा—लेखक श्री तुलसीराम शर्मा 'दिनेश'।

इस पुस्तक में मीरा का जीवन चरित्र रामायण के रूप में गानों के साथ लिखा गया है। भावुक प्राणियों के लिए अच्छी चीज है। श्री शान्तिबाई रानीवाला ने इसकी एक हजार प्रतियाँ साहित्यानुरागियों को मुफ्त देने की प्रशंसनीय उदारता की है। मीरा का जो चरित्र किंवदंतियों के रूप में मौजूद है, उसी का आश्रय लिया गया है। काश दिनेश जी ने भक्ति का आवरण हटा कर यथार्थ पर कुछ प्रकाश डाला होता। यह सच है कि मीरा का चरित्र रोमांस है इतना सुन्दर कि सभी उससे मुग्ध हो जाते हैं। किसी ने मीरा को यथार्थ रूप में लाने की चेष्टा नहीं की लेकिन कभी न कभी तो यह काम किसी को करना ही पड़ेगा।

सदाचार, शिष्टाचार और स्वास्थ्य—रचयिता श्री भागीरथ जैन।

कौन नहीं चाहता कि उसके लड़कों का चरित्र और स्वास्थ्य बलवान हो। हम छोटी-सी पुस्तक में चरित्र-सम्बन्धी विषयों पर प्रौढ़ भावों से सरस सरल भाषा में दिये गये हैं मगर पुस्तक जिस शैली में लिखी गयी है उसमें वह बालकों के स्वाध्याय की चीज नहीं रही। ऐसे गूढ़ विषय इस तरह रुचिकर नहीं हो सकते। हाँ युवकों के लिए पुस्तक बड़ी उपयोगी है।

मीरा पदावली—सम्पादिका श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु'।

हिन्दी के भक्त कवियों में पदों के लालित्य और तल्लीनता में मीरा का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके रहस्यमय और रोमानी जीवन ने भी उनके पदों को और आकर्षक बना दिया है। उन पदों का यह सटीक और प्रामाणिक संस्करण साहित्य-प्रेमियों के लिए आदर की चीज है। मीरा के विषय में अब तक जो खोज हो चुकी है, सम्पादिका ने उसको पढ़ा है और विवेक-बुद्धि से काम लेकर इतिहास का किंवदन्तियों से पृथक करने की चेष्टा की है। हम यह नहीं मान सकते कि मीरा जैसी विचारशील स्त्री भक्ति में अपने को इतना भूल गयी होगी कि पति से उसे विरक्ति हो गयी होगी और वैमनस्य इतना बढ़ा होगा कि पति ने उसे जहर का प्याला पीने को भेजा होगा और वह पी गयी होगी। जीवन का सामञ्जस्य तो यह है कि मन की सभी वृत्तियाँ अपने-अपने स्थान पर रहें। किसी देवी-देवता की भक्ति हो जाने का यह आशय नहीं कि हम अपने पारिवारिक कर्तव्य भूल जायें। यह भक्ति नहीं पागलपन है सम्पादिका जी ने लिखा है—

'जान पड़ता है कि यह दंतकथा साम्प्रदायिकता के रंग को विशेष प्रधानता देने के लिए गढ़ी गयी है। अथवा ये सब घटनाएं कुँवर भोजराज (मीरा के पति) की मृत्यु के बाद घटित हुई हों सम्भव है मीरा के साथ भी पति के अभाव में उनके कुटुम्बियों ने मनमाना अत्याचार किया हो।

पुस्तक में मीराबाई की जीवनी उनकी कविता और भाषा और मीरा की कविता में व्यवहृत शब्दों की विवेचना की गयी है। इस संग्रह में कुल दो सौ एक पद हैं। फुटनोट में शब्दार्थ दिये गये हैं। इस तरह यह पुस्तक साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी हो गयी है।

प्रेम दीपिका—सम्पादक रायबहादुर लाला सीताराम।

यह बुन्देलखंडी भाषा का एक तीन सौ साल का पुराना ग्रन्थ है। रचयिता हैं 'अक्षर अनन्य'। विषय है कृष्णलीला। लाला सीताराम जी ने इस पुराने ग्रन्थ का पाठ शुद्ध करके प्रकाशित कराया है। इस उम्र में आपका यह साहित्यानुराग देखकर हम चकित रह जाते हैं। ग्रन्थ में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है और कविता में रस भी है और लोच भी।

साम्यवाद का बिगुल

इस पुस्तक में श्री सम्पूर्णानन्द आचार्य नरेन्द्रदेव जी डा श्रीप्रकाश बाबू जय प्रकाशनारायण आदि के साम्यवादी विचारों का संग्रह किया गया है। कुछ विषय यह है—'समाजवादी समाज की मुख्य विशेषताएँ' 'स्वाधीनता संग्राम और समाजवादी दृष्टिकोण का वास्तविक स्वरूप' 'क्या बड़ी-बड़ी मशीनों की जरूरत नहीं है' आदि। साम्यवाद

आजकल विचार का मुख्य विषय है और हमें यह मालूम होने लगा है कि देश का उद्धार किसी न किसी रूप में समाजवाद के हाथों होगा। हाँ इतना कहना आवश्यक है, जैसा पण्डित जवाहरलाल जी ने बार-बार कहा है, कि हमारे सामने वर्तमान समस्या देश की स्वाधीनता है। जब तक साम्राज्यवाद का विध्वंस न होगा साम्यवाद की गाड़ी आगे न चलेगी। पुस्तक सामयिक है।

मदिरा —लेखक श्री तेजनारायण काक।

श्री तेजनारायण जी हिन्दी के कुशल गद्य-काव्य लेखक हैं। गद्य-काव्य की विशेषता है उसकी कोमलता उसके भावों की गहराई और मनोरहस्यों के अन्दर बैठने की शक्ति। आपके गद्य-काव्यों में ये सभी गुण मौजूद हैं। इस संग्रह की भूमिका डा० राम प्रसाद त्रिपाठी ने लिखी है और 'हिन्दी-साहित्य में गद्य-काव्य' के नाम से तेजनारायण जी ने हिन्दी गद्य-काव्यों का आलोचनात्मक इतिहास लिखा है, जिससे मालूम होता है कि हिन्दी में साहित्य का यह अंग कितना सम्पन्न है। हमें उससे यह भी पता चला कि श्री रायकृष्णदास जी ने और स्वयं तेजनारायण जी ने अपने भावों को पद्य में लिखने के लिए ज़ोर मारा मगर असफल रहे। इससे तो यही मालूम होता है कि जिनमें कवित्व शक्ति का अभाव है, वे विवश होकर गद्य-गीत लिखकर चित्त शान्त कर लेते हैं। हमारा ख़याल है, यद्यपि हमें इस विषय में कुछ कहने का अधिकार नहीं कि गद्य गीत स्वतन्त्र वस्तु है और कवि जो कुछ पद्यों में नहीं कह पाता वह गद्य-गीतों में कहता है, नहीं तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महान कवि ने गद्य-गीत क्यों लिखे होते। दोनों में अन्तर है। कविता भावना प्रधान रचना है, गद्य-गीत अनुभूति-प्रधान। हम गद्य-गीत में केवल भावुकता पाकर सन्तुष्ट नहीं होते। स्वयं तेजनारायण जी की रचनाओं में अनुभूतियों की कमी नहीं है, हालाँकि अगर भावुकता की मात्रा कुछ कम और अनुभूतियों की मात्रा कुछ ज़्यादा होती तो इनका मूल्य और बढ़ जाता।

जून १९३६

श्रद्धाजलिया

मुन्शी गोरखप्रसाद 'इबरत'

स्वर्गीय मुंशी गोरखप्रसाद 'इबरत' सिद्धहस्त कवि थे। यद्यपि उनका पेशा वकालत था और वह गोरखपुर बार के खास वकीलों में थे लेकिन कानूनी व्यस्तताओं के बीच भी अपनी कविता के अभ्यास के लिए कुछ न कुछ समय निकाल लिया करते थे। ख्याति की लालसा न थी इसलिए बराबर अपनी कविता के प्रकाशन से बचते रहे। उनकी कविता का रंग मौलाना आज़ाद और हाली से मिलता हुआ है। शैली सहज और सुलझी हुई भाव सरस और बनावट से खाली। शुरू में उनकी कुछ कविताएँ 'तुहिफए हिन्द' और अवध पंच में प्रकाशित हुई थीं और बहुत पसन्द की गयी थीं लेकिन जवानी के साथ आत्म-प्रदर्शन की कामना भी जाती रही। जो कुछ लिखते थे वह सिर्फ़ अपने दिलबहलाव और मानसिक तृप्ति के लिए लिखते थे। किसी उस्ताद के शागिर्द न थे इसी वजह से कविता में कहीं-कहीं त्रुटियाँ दिखायी पड़ती हैं। उनके दीवान में कुछ मुसद्दस एक मसनवी कुछ फुटकर नज़्में और ग़ज़लें हैं। उनके साहबज़ादे बाबू रघुपति सहाय बी० ए० जिनका एक लेख ज़माना में छप चुका है, एक ज़िन्दा दिल और रुचि सम्पन्न नवयुवक हैं। वह अपने स्वर्गीय पिता की रचनाओं का सम्पादन कर रहे हैं और जल्दी ही दीवान प्रकाशित होगा। नीचे हम उनके दीवान से कुछ शेर नक़ल करते हैं। उनसे विवेचन के अभ्यास की प्रौढ़ता और काव्य-प्रतिभा का सुन्दर परिचय मिल जायेगा—

कहीं है जो बेहतर नमूदे नूर से जो आलम यहाँ आशकारा नहीं है

*   *   *

कहती है रहे पाक खुदा से मैं कम नहीं मजबूर हूँ मगर कि उसे इख्तियार है

*   *   *

मैं बन हूँ न बार हूँ गुल हूँ न खार हूँ लूटे लिखा जिसे न कभी वह बहार हूँ

*   *   *

मैं दौरे जुनूँ में न हुआ मजम से बाहर

आप अपने गरेबाँ को फाड़ा भी सिया भी

*   *   *

क्या तुमको खबर तुमने तो करवट भी न बदली

मैं दर्द से सौ मर्तबा बैठा भी उठा भी

हँगामए हसरत

है दूर बहुत घर से साकी है न हमदम है
मातमगुसारी है कुछ खौफ है कुछ गम है
कुछ घर की मुहब्बत है कुछ याद है यारों की
बाकी हो नहीं दिल से बू पिछली बहारों की
कुछ यारों की सोहबत का लुत्फ आँखों में छाया है
कुछ जोरे मुहब्बत से दिल अपना भर आया है
वह वक्त भी क्या खुश है जब दोस्त सब आपस में
बासिद्को सफा बैठे एक दूसरे के बस में
अखलाक बरतते हों आपस में वह मिल जुलकर
और लुत्फ उठाता हो हर एक का दिल खुलकर

* * *

लेकिन नहीं कैफीयत यह अपने मुकद्दर में
सौदा तो समाया है कुछ और भी इस सर में
कुछ और ही मकसद है इस उम्र तबाही का
हमदम जो हाथ आये कुछ हाल कहूँ जी का
उम्मीद झलक अपनी है दूर से दिखलाती
जब उसपे लपकता हूँ वह हाथ नहीं आती
गो पेशे नजर मेरे दुनिया का झमेला है
पर वक्त मेरा मुझको लिये जाता अकेला है

* * *

हो दश्त तमम्मुस से नया रूए जमीं पर है
जंगल है जजीरा है सहरा है समदर है
पस्ती है बलंदी है है बस्ती भी वीराना
दिलचस्प नुमाइश है है शौकते शाहाना
यह शहर जहाँ हरदम हँगामए हस्ती है
टकसालों में हलचल है मैखानों में मस्ती है
बाजारों में रौनक है दौलत की दुकानों से
इक लुत्फ टपकता है सब ऊँचे मकानों से
यह सब्ज जमीं उगता जिसमें गुलो लाला है
और जिसका हरम से भी कुछ हुस्न दोबाला है
इठलाती हुई जिस पर है बादे सबा आती

॥ बिस्मिल मर्सय ॥

गुलज़ार है यहाँ भाकर मुरा गव उड़ा मासो
ऊपर से बरसता है रहमत का यहाँ पानी
शबनम सरे सब्ज़ा पर करती है दुरअफ़्शानी
ये नहर कि मिलते हैं उन पेड़ों को शादाबी
ये भीत कि है जिस पर पर मारते मुर्ग़ाबी
ये बहर गनी मिलता हुआ मिलता किनारा है
पानी पे रवाँ कश्ती मौजों का सहारा है
अफ़रिदा तमाम जिस ना नज़रों म समाया है
हर एक इशारा है यह गुफ़्ती बताता है
हाँ सबने तमन्ना में सब गेमतें मेरी हैं
माहोसों दिल म हूँ कमीयतें मेरी हैं
जो पायदाए सालबत तब वह गुमग्नम है
चमन है सितारों को और तेर वो गुज़ारा है
पर भेजा कि हर मुसाफ़िर जितना सहारे का
है देखता गुल होकर तम मगो सिरहाने का
सब मौसम भर मगगा यह सोत के रहता है
से लेकर नया सोग उसम से परगया है
रहता है सबमें जो हर सब गरीगाया
दिल पर नहीं पड़ता है दुख उसके मगर साया
बेसाबिर सासिर से मद्यान मिग्ज़्न है
इक पूर से कमतर है पर सानमे येहूँ है
हसरत भरी दिल म है कुछ कहके नहीं रोता
हो दुरा तो है पास आने पर भोर भी दुख होता
मेरा ही मेरा दिल भी पाबन्द हवस का है
दुनिया के झमेले में दामन मेरा भरा है
दिल अपना तड़पता है इक ऐसी मुहब्बत को
दुनिया के बखेड़ों से वाइस जो न होती हो
जो मुझसे बरी हो भारे दिलो जीस की
ख़्वाहिशे सातिर हो जो होसे रमीश की
छुप छुप लिया जिसमें हो दिल के तरानों म
हर मीमी सम माजी हर बरउ हो भाना मे
दिल भाजए दिलक़श से मसरूर रहे हरदम
दुनिया की बलाओं से दिल दूर रहे हरदम
★ ★ ★

पर है इक खुशी ऐसी जब रूए ज़मीं पर है
अंबोह में हसरत के जिसका नहीं बिस्तर है
जो लोग कि रहते हैं जो सब मकामों में
कहते हैं खुशी उनकी है मै भरे कामों में
यह क़ौम का हमदम जो हमदर्दियाँ करता है
कहता है इसी पर कुछ आलम यह गुज़रता है
और जैसे ही मरता जो हुब्बुलवतनी पर है
कहता है निगाहों में उसकी बड़ी मंज़र है
लेकिन जो हक़ीक़त में दिल उनका टटोलूं मैं
इक भेद समझने मे अपनी सभी खोलूं मैं
महलों म बसायें ये हरचन्द जिया जी का
पर बाटे शहर जब हो महबास खुले जी का
सब मादरें गेती के आग़ोश म पलते हैं
इक वास्ते मुऐयन तक दुनिया में मचलते हैं
इक तौर पे नज़र का है दस्ते करम सब पर
मड़ में छुपा सबकी क़िस्मत का नविश्ता है
हाथों म छुपा बाक़ी तक़दीर का रिश्ता है
जो लोग नहाते हैं मेहनत के पसीना म
पाते हैं ज़रा ठंडक कुल्फ़तज़दा सीनों में
जिस तरह मुसाफ़िर इक दिन खस्ता थका-मांदा

हसरतज़दा अफ़सुर्दा और ख़ाक बसर रोता
उम्मीदें लिये दिल में तनहा चला जाता हो
गर्दिश के ज़माने की जो ख़ाक उड़ाता हो
और फ़ासले मंज़िल हो उसका बड़ी दूरी पर
इक ओस पड़ी हो जिससे मुबूरी पर
मैदान इसी हालत म हमदमे दैरीना
छाती से लगा जिसको ठंडा जो करे सीना
पर पाते ही घर में वह बोला खुश होकर
बाहम गले मिल मिलकर हसरतज़दा रो रोकर
जाते रहें आख़िर जो अपनी राहे मंज़िल को
खुश एक घड़ी करके अरमान भरे दिल को
वैसी ही खुशी सबकी इक दम म समाता है
उम्मीद की आभा म अफ़कार का साया है

रह जाती फ़क़त हसरत है दिल के दुखाने को
उम्मीद अभी आती और है अभी जाने को

*   *   *

इक दम के लिए तनहा होने दो ज़रा मुझको
इन्सान की हालत पर रोने दो ज़रा मुझको
ऐ बज़्मे ज़माना में जो सबसे निराला है
वह कमसमझो हसरत से यूँ तहोबाला है
इस उम्र तबीई की कमबख़्त बड़ी थी जो
औक़ात बनी आदम की सख़्त बड़ी थी जो
हसरत ने जमाया जब इन्सान पे रंग अपना
शैतान ने फाड़ा जब यह सीनए संग अपना

*   *   *

नैरंगे ज़माना की सब बूक़लमूनी है
तसकीन न हो दिल को हिम्मत की ज़ुबूनी है
मुश्किल है कहाँ इतनी नेचर के सफ़ीने में
आसूदगी जो भर दे हसरत भरे सीने में
जब तक कि यह दुनिया है जब तक कि यह हसरत है
इक बेबसी दिल में है हँगामए हसरत है।

ज़माना नवम्बर १९१९

स्वर्गीय पंडित मन्नन द्विवेदी

उर्दू को हज़रत अकबर मरहूम की मौत से जो नुकसान पहुँचा है करीब-करीब तना ही ज़बरदस्त नुकसान हिन्दी साहित्य को पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी की असा-यिक मृत्यु से पहुँचा है। अकबर की तरह गजपुरी जी भी ज़िन्दा दिल हास्यप्रेमी कवि । आपके हास्य में एक खास साहित्यिक चपलता होती थी जो हिन्दी पाठकों के दिलों बरसों तक दिवंगत की स्मृति को ताज़ा रखेगी। इन पंक्तियों के लेखक को आपका ऐक्य प्राप्त था। दो-एक बार उसे आपकी दिल्लगी का निशाना भी बनना पड़ा मगर पकी चुटकियों में द्वेष की गंध भी न होती थी। मुलाकात होते ही बात हँसी में उड़ ाती थी। आपकी उम्र अभी छत्तीस-सैंतीस साल से ज़्यादा न थी। बहुत चुस्त और मे बदन के हृष्ट-पुष्ट मंझे-तड़ंगे आदमी थे। सेहत ऐसी अच्छी कि पढ़े-लिखे लोगों बहुत कम को नसीब होती है मगर मौत की आँखों में इसकी पहचान कहाँ।

मजपुरी जी गोरखपुर ज़िले के रहनेवाले थे। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट होकर तहसीलदारी के ओहदे पर नियुक्त थे। मगर इस ओहदे के फ़र्ज़ पूरे करते हुए आप राष्ट्रीय आंदोलनों में उत्साह से योग देते थे। कुछ पत्रों को स्थायी रूप से आपका सहयोग प्राप्त था। आपने 'गोलमालकारी सभा' नाम की एक परिषद् बनायी थी। गोलमालानंद उसके सभापति थे। वह वर्तमान परिस्थितियों और घटनाओं को ऐसे आकर्षक और हास्यपूर्ण ढंग से लिखते थे कि पढ़ने से कभी जी न भरता था। आपकी एक-एक बात में नयापन होता था। कुछ सीधे-सादे ख़रीदारों को पूरा विश्वास था कि *गोलमालानंद जी भी वास्तव में कोई जीते-जागते व्यक्ति हैं।* अफ़सोस कि मजपुरी जी की ज़िन्दगी का बड़ा हिस्सा सरकारी कामों की ख़ाना-पूरी में ख़र्च हुआ। जीविका की चिंता ने आपको नौकरी के घेरे से बाहर न निकलने दिया।

आप केवल कवि न थे बल्कि अद्वितीय गद्यकार भी थे। आपकी लेखन-शैली बहुत सरल सुथरी मुहावरेदार शोख़ी से भरी हुई, प्रवाह-पूर्ण होती थी। क़लम न रुकता था। बनावट से आपको नफ़रत थी। तहसीलदार होने के बावजूद आप असहयोग में काम करते थे। ख़ुद खद्दर इस्तेमाल करते और अपने इलाक़े में भी लोगों से खद्दर इस्तेमाल करने के लिए कहते थे। आतिथ्य-सत्कार आपका विशेष गुण था इतना कि तनख़्वाह कभी ख़र्च के लिए काफ़ी न होती थी। बहुधा सांस्कृतिक और राष्ट्रीय आंदोलनों की सेवा करते रहते थे और हमेशा गुमनाम। आपका इरादा अब नौकरी छोड़ने का था लेकिन इसके पहले ही आप दुनिया से सिधार गये। कुल दस-बारह दिन बुख़ार में पड़े रहे। *आख़िरी दम तक आप दोस्तों से साहित्य चर्चा करते रहे। मगर मौत ने उनको* चुन लिया था कोई दवा कारगर न हुई। परमात्मा से हमारी प्रार्थना है कि आपको शांति दे।

ज़माना दिसम्बर १९२१

देशबन्धु चितरंजन दास

देशबन्धु दास उन महान् पुरुषों में थे जो राष्ट्रों के इतिहास में अपनी यादगार छोड़ जाते हैं, जो जातियों के भाग्य-विधाता होते हैं। जिनके दिल मुर्दा हो चुके होते हैं, जिनमें दर्द और शर्म की झलक तक नहीं रह गयी होती ऐसों ही को दीन दशा से उठाकर वे ऐसे शक्तिमान राष्ट्रों की बुनियाद डालते हैं कि देखनेवाले दाँतों तले उँगली दबाते हैं। किसे उम्मीद थी कि कभी पंजाब में नादिर और अब्दाली से टक्कर लेनेवाली कोई संस्था बनेगी? कौन कह सकता था कि मुग़लों का अखंड राज्य एक पहाड़ी मराठे के हाथों जड़ से हिल जायगा? ऐसे वीरों के सिर पर मुकुट नहीं होता लेकिन जाति के

असली राजा वे ही होते हैं। उन्हें गद्दी पर बैठने की हवस नहीं होती पर जनता के हृदयों में उन्हें वह स्थान मिल जाता है जो राजों को भी मयस्सर नहीं हो सकता। देशबन्धु दास इसी श्रेणी के मनुष्यों में थे। वह बड़े विद्वान बड़े वक्ता बड़े राजनीतिज्ञ न रहे हों लेकिन उनमें वह प्रतिभा थी जिसने उन्हें विद्वानों में विद्वान वक्ताओं में वक्ता और राजनीतिज्ञों में राजनीतिज्ञ बना दिया। वह स्वतन्त्रता के भक्त थे और उसी पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। उनके मन में केवल एक अभिलाषा थी और उसी को स्वदेश को स्वतन्त्र देखने की। पर वह स्वतन्त्रता देवी के उन भक्तों में न थे जो मन्दिर में गला फाड़-फाड़कर गाते हैं, अपने भिजनों से मन्दिर की चौखट को रगड़ डालते हैं और उसी भक्ति और उपासना को अवसर पड़ने पर मान और पद का जीना बना लेते हैं। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति यहाँ तक कि अपने प्राण भी उस देवी के चरणों पर चढ़ा दिये। यही कारण था कि भारतवर्ष का बच्चा-बच्चा उन पर प्राण देता था। वह जाति के सच्चे सेवक थे और जाति भी उन पर सच्चे दिल से प्रेम करती थी। उन्होंने बहुत थोड़े दिनों से राजनीतिक क्षेत्र में पग रखा था लेकिन अपने अनवरत उद्योग अदम्य उत्साह, असीम उदारता और अनुपम त्याग के कारण इस थोड़े समय में उन्होंने भारतवर्ष में एक युगान्तर-सा उपस्थित कर दिया। भारत में प्रजा पक्ष को शायद ही कभी सफलता मिलती है। प्रजा की इच्छाएँ और आशाएँ तो कुचली जाने ही के लिए होती हैं। किन्तु यह गौरव देशबन्धु ही को प्राप्त हुआ कि उन्होंने स्वराज्य दल को जिस उद्देश्य से स्थापित किया था वह पूरा हो गया। उन्होंने द्वैत शासन का अन्त करने की ठानी थी। उनकी विजय से भारत को अपना अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने में कोई सहायता मिलेगी या नहीं इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु देशबन्धु ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत अब पश्चिमी राजनीति समझने लगा है और उसे मनमाने खिलौने से नहीं फुसलाया जा सकता।

चित्तरंजन के पिता बाबू भुवनमोहन दास कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करते थे। वह बहुत ही उदार हृदय पुरुष थे। जो कमाते थे उससे ज्यादा खर्च करते थे। नतीजा यह हुआ कि ऋण का भार बढ़ने लगा और अन्त में दिवालिया बनना पड़ा। चित्तरंजन उन दिनों विलायत में थे। वहाँ से वापस आकर उन्होंने स्थिति बहुत खराब देखी। पिता की बदनामी के कारण पहले उनसे लोगों में व्यवहार की कोई सहारा देने को तैयार न हुआ। पर नौजवान बैरिस्टर को इसकी बहुत जरूरत होती है। आखिर कलकत्ते से निराश होकर चित्तरंजन को मुफस्सिल में वकालत करनी पड़ी और वहाँ थोड़े ही दिनों में उन्होंने फौजदारी के सीग में अच्छा नाम पैदा कर लिया। तब वह कलकत्ते फिर लौट आये और हाईकोर्ट में वकालत करने लगे। यद्यपि आमदनी अभी तक के लिए काफी न होती थी पर आपको कर्ज अदा करने की फिक्र हमेशा लगी रहती थी। दस्तावेजों की मियाद गुजर चुकी थी। कानूनन महाजन भी उनका कुछ न

कर सकता था। पर चितरंजन प्रनीति की धाड़ में छिपनेवाले आदमी न थे। मियाद गुजर जाने से कर्ज नहीं मिट सकता। कर्ज तो अदा करने ही से मिट सकता है। ज्यों ही हाथ फैला चितरंजन ने अपने पिता का देना पाई-पाई चुका दिया। महाजन निराश हो चुका था। उसका कथन है कि जब मेरे पास चेक पहुँचा तो मैं चकित हो गया। मौका पाकर भी जो लोभ वश या कर्तव्य से विचलित नहीं होते वे ही सच्चे धर्मात्मा हैं। इसी एक काम से चितरंजन की विवेकशीलता का पता लग जाता है।

मि दास को अब अपने पेशे में ख्याति प्राप्त होने लगी। उनकी जिरह शैली और बहस को देखकर उस विद्या के विशारदों को अनुमान होने लगा कि किसी दिन यह युवक ख्याति के शिखर पर पहुँचेगा। सन् १९ ८ के पूर्व तक मि दास को कोई ऐसा मार्के का मुकदमा न मिला था जिससे उनको बुद्धि की कुशलता का परिचय मिलता। इतने में अलीपुर के बम का अभियोग चला। बाबू अरविन्द घोष और उनके कई सहकारियों पर मुकदमा चला। इस मुकदमे ने सारे भारतवर्ष में हलचल पैदा कर दी। सारे देश की आँखें उसकी ओर लगी हुई थीं। सरकार की ओर से प्रसिद्ध बैरिस्टर मि नार्टन पैरवी कर रहे थे। मि दास ने जी तोड़कर इस मुकदमे की पैरवी की। इन दिनों उन्हें कभी दो बजे से पहले रात को सोना नसीब न होता था। मि दास केवल अरविंद बाबू के वकील ही न थे उनके भक्त भी थे। आखिर आपकी मेहनत ठिकाने लगी और अरविंद बाबू जो प्रधान अभियुक्त थे बरी कर दिये गये।

इस सफलता ने मि दास को वकीलों की प्रथम श्रेणी में ला बिठाया उनकी गणना प्रधान वकीलों में होने लगी। शनैः शनैः आपकी इतनी ख्याति हुई कि आपकी सालाना आमदनी तीन लाख तक पहुँच गयी। बंगाल में लार्ड सिनहा के सिवा आपके जोड़ का दूसरा कानूनदाँ न था। लार्ड सिनहा अगर बहस में ज्यादा कुशल थे तो जिरह में मि दास का कोई सानी न था। विशेषता यह थी कि मुकदमा जितना ही कमजोर और सारहीन होता था उतनी ही उनकी बुद्धि उत्तम लड़ती थी। बेजान मुकदमे उनके हाथ में आकर पनप जाते थे। राजनीतिक अभियोगों पर तो मानो उनका इजारा ही था।

जिन दिनों बाबू अरविन्द घोष पर मुकदमा चल रहा था बाबू विपिन चन्द्रपाल भी उस मुकदमे में गवाही देने के लिए तलब किये गये। बाबू साहब ने गवाही देने से इनकार किया। सबको विश्वास हो गया कि अब हुजरत पर आफत आयी। कानून की धारा इस विषय में साफ थी। जरा भी सन्देह या भ्रम न था। बचने का कोई उपाय न था। मि दास ने आखिर यह युक्ति निकाली कि यह धारा अंग्रेजी नीति-विधान पर अवलंबित है भारतवर्ष की नैतिक और सामाजिक अवस्था इस धारा के विरुद्ध है। इंग्लैंड की नीति में जो बात उचित हो वह भारत में अनुचित हो सकती है और उस धारा का यहाँ प्रयोग करना सर्वथा न्याय-विरुद्ध होगा। आपने इस युक्ति को एेसे प्रबल

प्रमाणों से सिद्ध किया कि विपिन बाबू को केवल छह मास की सादी कैद की सजा मिली।

यद्यपि अब तक मि० दास राजनीति के क्षेत्र में न आये थे लेकिन राजनीतिक संग्राम में उनका काम किसी बड़े से बड़े नेता से कम न था। आपकी अभिरुचि का परिचय उसी समय मिलने लगा था। आपको बार-बार इच्छा होती थी कि वकालत को तिलांजलि देकर रण-क्षेत्र में कूद पड़ें किन्तु उन दिनों अरविन्द घोष और विपिन चन्द्र पाल दोनों ही राष्ट्रीय झण्डा सँभाले हुए थे। इसलिए मि० दास ने अपने को रोका।

मि० दास का सार्वजनिक जीवन १९१७ में शुरू हुआ जब इंग्लैंड की लिबरल गवर्नमेन्ट ने बहुत दिनों के बाद अपनी हस्ती का सबूत दिया और घोषणा करके यह स्वीकार किया कि भारतवर्ष का राजनीतिक लक्ष्य स्वराज्य है। दो साल तक मि० दास बंगाल के राजनीतिक जीवन में नये विचारों का संचार करते रहे। अलीपुर के अभियोग के बाद बंगाल में गरम विचारवालों की विजय-सी हो गयी थी। राजनीतिज्ञों को इस घोषणा में कुछ गुण नजर आते थे। वे खुशी से फूले न समाते थे। उन दिनों नरम और गरम दलों में नये सुधारों पर जो वाद-विवाद हुए, और आन्दोलन ने अन्त में जो रूप धारण किया वह अभी कल की बात है। उसका उल्लेख करने की यहाँ जरूरत नहीं। केवल इतना कहना काफी है कि मि० दास पर भी पंजाब के अत्याचारों का वही असर हुआ जो अन्य कितने ही सहृदय व्यक्तियों पर। आप भी असहयोग दल में शामिल हो गये। कांग्रेस की ओर से उन अत्याचारों की तहकीकात करने के लिए जो कमेटी कायम की गयी उनमें मि० दास भी शामिल थे।

इसमें सन्देह नहीं कि असहयोग का मार्ग काँटों से भरा हुआ था और महात्मा गांधी के जेल जाने के बाद कोई ऐसा न रह गया था जो उस भार को सँभालता। अकर्मण्यता की कुछ ऐसी प्रतिक्रिया शुरू हुई कि आन्दोलन बिलकुल बेजान-सा हो गया। देहातों में जाते हुए लोगों के रोएँ खड़े होने लगे। उस अकर्मण्यता को दूर करने और जातीय उत्साह को किसी ढर्रे पर लगाने के लिए मि० दास को काउंसिल में जाकर गवर्नमेन्ट का विरोध करने की सूझ गयी। यही ऐसा मार्ग था जिसका हमारे नेताओं को कुछ अनुभव था। अन्य कोई मार्ग उन्हें सूझ ही न सकता था। आखिर स्वराज पार्टी का जन्म हुआ और महात्मा गांधी के छूट कर आते-आते इस पार्टी ने देश की बहुत कुछ सहानुभूति प्राप्त कर ली। मि० दास यद्यपि पहली बार यह प्रस्ताव स्वीकार न करा सके पर उन्होंने हिम्मत न हारी और कांग्रेस को उनका प्रस्ताव मानना ही पड़ा। यह सब से बड़ी विजय थी जो मि० दास को अपने जीवन में प्राप्त हुई और इसमें सन्देह नहीं कि जिस दशा में सारा देश उत्साह शून्य हो रहा था उसी में आपने

उत्साही पुरुषों को काम करने का एक रास्ता दिखा दिया। पर असहयोग आन्दोलन की उसी दिन पूर्णाहुति भी हो गयी। सारी पत्थर का सब ने चूम कर छोड़ दिया। कौंसिल की मेम्बरी और असहयोग दोनों में नैसर्गिक विरोध था। कौंसिल में वाला सहयोग के मुँह में जाना था और आज व शंकाएं पूरी हो रही हैं जो उन दिनों कुछ लोगों के मन में उठी थीं। मि दास ने अपनी अन्तिम वक्तृता में सहयोग का संकेत भी किया था और पं मोतीलाल नेहरू ने सैण्डहर्स्ट कमेटी में सम्मिलित होकर बतला दिया कि अब उन्हें बजारत स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी। यह हमारी राजनीतिक पराधीनता और असमर्थता का करुणाजनक दृश्य है।

मगर कुछ भी हो मि दास ने हमारे राजनीतिक जीवन का आदर्श बहुत ऊँचा कर दिया है। अब राजनीति केवल कौंसिल या कांग्रेस के प्लेटफार्म पर नहीं रही। वह अब आत्म बलिदान का दूसरा नाम है। अब वही प्राणी हमारा नेता बनने का दावा कर सकता है जो जाति के लिए त्याग कर चुका हो जिसने अपने को जाति के हाथ में समर्पित कर दिया हो जिसका चरित्र उज्ज्वल हो जिसने अपने मन को जीत लिया हो और जो कड़ी से कड़ी आंच सह कर खरा निकल आवे। मि दास के स्वराज्य का आशय भी वह न था जिसकी साधारणतः कल्पना की जाती है वह पश्चिमी नमूने का स्वराज न चाहते थे। वह तो पंचायत में बसियों का राज्य है, भारत के लिए वह ऐसा स्वराज्य चाहते थे जिसमें गरीबों के अधिकार प्रधान हों। देहातों की उन्नति और स्वास्थ्य उनके स्वराज्य का सबसे उज्ज्वल भाग था। वह बड़े-बड़े शहरों की समृद्धि वृद्धि के पक्ष में न थे। इसे वह नवीन सभ्यता का कलंक समझते थे। वह देहातों में ऐसे केन्द्र स्थान बनाना चाहते थे जो स्वावलम्बी हों जिनकी सारी जरूरतें वहीं पूरी हो जायें। इन्हीं केन्द्रों को वह अपने स्वराज्य का प्रवेश-द्वार समझते थे। सारांश यह कि वह भारतीय जनता को गरमके शिक्षित समाज के पंजे से छुड़ाना चाहते थे। वह इस देश को योरोप की नकल से बाज रख कर राष्ट्रीयता की ओर खींचना चाहते थे। उनका कथन था कि यदि देहातों में सड़कें बन जायं सफाई और रोशनी का प्रबन्ध हो जाय तो कोई कारण नहीं कि बहुत से वे व्यवसाय देहातों में न किये जा सकें जो अब शहरों ही में किये जाते हैं। उन्हें भारतवर्ष से असीम प्रेम था। उनकी यह अभिलाषा थी कि मैं इसी देश में फिर जन्म लूं और फिर इसकी सेवा में जीवन बिताऊं। उनकी देश भक्ति में अधिकार-प्रेम नहीं छिपा था। देशभक्ति ने उनकी अन्तरात्मा में घर कर लिया था। और उनकी भक्ति भारत ही तक मर्यादित न थी। वह एशियाई संगठन के भी अनुमोदक थे। यदि अकाल मृत्यु ने उन्हें कुछ दिनों का अवकाश दिया होता तो वह उस बृहद् क्षेत्र में भी अपनी कीर्ति का चिह्न अवश्य छोड़ जाते।

राजनीति हमेशा से एक बदनाम चीज है। यहाँ वह सब कुछ उचित और क्षम्य है, जिससे हमारा काम निकले। यहाँ औचित्य की परख परिणाम से होती है। यदि

कुटिलता सफल हो तो श्रेष्ठ है, उदारता असफल हो तो त्याज्य है। भारतवर्ष में भी पहले इसी ढंग की राजनीति चलती थी। यहाँ सफाई और ईमानदारी की जरूरत न थी। महात्मा गांधी पहले देश भक्त हैं जिन्होंने राजनीति के माथे से यह कलंक का दाग मिटाने की चेष्टा की और राजनीति को 'सत्यवादिता' का समानार्थक बना दिया। मि. दास की राजनीति भी निष्कलंक थी। उन्होंने कभी कुटिल चालों से अपना दामन नहीं मैला किया कभी धाँधली नहीं की। जब वार किया तो ललकार कर कभी आँख के नीचे तीर न मारा। उनकी वाणी और व्यवहार में कोई भेद न होता था। उनके हृदय में गुप्त बातों के लिए कोई अँधेरा स्थान न था। वह उन राजनीतिज्ञों में न थे जो शब्द जाल ही को राजनीति का प्राण समझते हैं जिनका सारा जीवन सत्य पर पर्दा डालने और चिकनी-चुपड़ी बातें बनाने में कट जाता है जो मन में द्वेष छिपाकर भी मुँह से मिसरी के डले घोल सकते हैं। यहाँ तो हृदय खोलने की भाँति निर्मल था। जो मन में था वही मुख पर, चाहे किसी को बुरा लगे या भला। इसी स्वच्छन्दता के कारण कई बार गवर्नमेंट को उन पर अनुचित सन्देह हुआ। यहाँ तक कि आखिर वही सन्देह स्वराज्य-दल पर खास कानून के रूप में वज्र बन कर गिरा। अभी तक सन्देह के बादल फटे नहीं हैं। मि. दास शान्ति की मूर्ति थे। यह संदेह सबसे कठोर आघात था जो उन पर किया जा सकता था। यह आघात उनकी आत्मा पर था। इस सन्देह को मिटाने के लिए मि. दास को बार-बार अपनी सफाई देनी पड़ी और आखिर उनकी फरीदपुरवाली वक्तृता ने किसी अंश तक सन्देह को हटाया हालाँकि उस अवसर पर भी उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि पशु बल का प्रयोग यदि प्रजा की ओर से निंद्य है तो सरकार की ओर से वह और भी आपत्तिजनक है। कानून वही है जिसे समाज अपने सुख और कल्याण के लिए आवश्यक समझता हो। जो कानून समाज में अशान्ति और उपद्रव पैदा करे, वह कानून नहीं। आश्चर्य तो यही है कि ऐसे आत्मवादी पुरुष के विषय में ऐसा सन्देह क्यों कर हुआ। असल में यह केवल एक बहाना था स्वराज दल को परास्त करने का उसकी शक्ति को हरने का। मि. दास अत्याचारी न थे। वह विप्लव और हत्या की कल्पना भी न कर सकते थे। सेवा और भक्ति में ही उनकी आत्मा को शान्ति मिलती थी। जहाँ त्याग और समर्पण के भाव राज्य करते हों वहाँ हत्या और षड्यन्त्र के लिए स्थान कहाँ? उन्हें तो प्रत्येक ऐतिहासिक घटना में ईश्वरीय प्रेरणा छिपी हुई मालूम होती थी। भारत के इतिहास में भी वह ईश्वरीय प्रेरणा का स्वरूप देखते थे। आर्यों का आगमन और अनार्य जातियों में उनका मेलजोल बौद्ध धर्म का प्रचार, वैदिक धर्म का पुनरुद्धार मुसलमानों का आक्रमण अंग्रेजों का प्रचार ये सारी घटनाएँ एक उसी प्रेरणा की शृंखला की कड़ियाँ थीं और वह सत्य क्या था? वह था भारतवर्ष को संयुक्त और संगठित करके राष्ट्रों के दरबार में उचित स्थान पर बिठाना भारत के आध्यात्मिक प्रकाश से संसार को आलोकित करना उन ?

॥ देशबन्धु चित्तरंजन दास ॥

की सृष्टि करना जिनका अनुसरण करने से संसार में शांति और प्रेम का साम्राज्य हो सकता है। जिसके विचार ऐसे उन्नत और परिष्कृत हों उस पर ऐसे सारहीन सन्देह करना घोर अन्याय है।

मि. दास हिन्दू-मुस्लिम एकता के परम भक्त थे। शायद सारे देश में महात्मा गांधी के सिवा एकता का महत्त्व किसी ने इतना न समझा था जितना मि. दास ने। इस विषय में प्रायः हिन्दू नेताओं का आपस में मतभेद था। जब मि. दास ने बंगाल में मुसलमानों से यह समझौता कर लिया जिसमें मुसलमानों को उनकी संख्या से अधिक स्थान दिये गये तो हिन्दू समाज में बड़ी खलबली मची। लोगों ने मि. दास पर भाँति भाँति के आक्षेप किये। लेकिन मि. दास अन्त तक उस समझौते पर डटे रहे।

वह एकता का महत्त्व समझते थे और थोड़ी-सी हानि उठाकर भी उसकी जड़ मजबूत करना चाहते थे।

यों तो बंगाल की भूमि महान् आत्माओं को जन्म देने में बहुत उर्वर है लेकिन जो सार्वदेशिक ख्याति मि. दास ने प्राप्त की वह कदाचित् पहले और किसी ने न की थी। और यह केवल सात-आठ वर्षों की कमाई थी। इसका कारण उनका वह विनय और सेवाशीलता थी जो दूसरों को आपका दास बना लेती थी। बंगाल में तो आप देवता ही समझे जाते थे। आप में वे सारे गुण थे जो जनता देवताओं में देखना चाहती है। आप बहुत ही सहृदय थे, अपने सिरे के दीन-वत्सल। दानशीलता तो आपमें दुर्गुण की सीमा तक पहुँची हुई थी। आप अपने सिद्धान्तों पर अटल थे, बड़े ही मिलनसार, हँसमुख और सरलहृदय पुरुष थे। कांग्रेस में ऐसा प्रायः न छोटा काम भी न था जिससे आपका परिचय न हो। कल की चिन्ता उन्हें कभी न सताती थी और क्षमा करना तो उन्होंने सीखा ही न था। आप बड़े साहसी थे। कठिनाइयों में आपकी हिम्मत और भी चमक उठती थी। उदार आप इतने थे कि आपके द्वार से कोई निराश न लौटता था। उनके गुप्त दानों की सूची बहुत लम्बी है। उस पर जनता की निगाह कदाचित् कभी न पड़ेगी। आपके जीवन में कई बार ऐसे मौके आये हैं कि आपके पास उस वक्त जो कुछ था वह सब आपने दान कर दिया। पर आप दबकर न देते थे, न देकर एहसान जताते थे। जो कुछ देते थे बड़ी खुशी से देकर फिर भूले से भी उसकी चर्चा न करते थे। आप में वह आकर्षक शक्ति थी जो मिलते ही दूसरों पर अपना असर डालती थी। आपकी सुरुचि, सुबुद्धि, रसिकता और विनोद-प्रियता, अदम्य उत्साह आदि सभी ऐसे गुण थे जिनसे आप दूसरों के दिल में घर कर लेते थे। आप में बालकों की-सी सरलता थी, दिखावे और ठाट से आपको घृणा थी। एक लेखक के शब्दों में—उनमें ऋषियों की सूक्ष्म दृष्टि, कवि की कल्पना, राजनीतिज्ञ की दूरदर्शिता और एक सिद्धहस्त नेता की गंभीर सूझ और निश्चित शक्ति थी।

जब आप पटना में ठहरे हुए थे तब एक महाशय शहर का एक पैसा मात्र और

आपको दिखाया। आपने लपक कर बसा उनके हाथ से छीन लिया और इतना उछले कूदे मानों कोई पड़ी हुई निधि हाथ आ गयी।

सन् १६ २ में जब महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियों के लिए चंदा मांगने कलकत्ते गये थे तब मिस्टर दास के पास बैंक में कुल सोलह सौ रुपये थे। आपकी वकालत उस वक्त बहुत अच्छी न थी और आर्थिक दशा भी चिन्ताजनक हो गयी थी। पर आपने वह सब रुपया महात्मा जी को भेंट कर दिया। आपकी वार्षिक आमदनी तीन लाख के लगभग थी लेकिन आपने उसकी कभी रत्तीभर परवाह न की। यह दरियादिली थी जिसने आपको इतना प्रभावशाली बना दिया था। एक बार एक महाशय को जिनसे उनकी विशेष मित्रता न थी बिना लिखा-पढ़ी किये पच्चीस हजार रुपये दे दिये। उन महाशय ने चकित होकर पूछा—आपको मुझ पर इतना विश्वास क्यों कर हुआ? आपने कहा—विश्वास की बात तो जब होती है जब मैं किसी दूसरे को देता। मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है कि मैं अपने ही को दे रहा हूँ। अंग्रेजी के ऊँचे शिखर पर भी आपका जीवन सात्विक था। आप अपने कुटुम्ब के साथ मिलकर प्रेम से रहते थे। आप जो कुछ धन कमाते थे उसमें घर भर का हिस्सा था। यह नहीं कि अपने बाल-बच्चों के भरण-पोषण की धुन में आप अपने सम्बन्धियों को भूल जायें। आपको संगीत और कविता से प्रेम था। स्वयं भी बड़ी मनोहर भावपूर्ण कविता करते थे। आपकी रचनाओं में 'सागर-संगीत' बहुत सुन्दर है। उसमें दर्शन नहीं उपदेश नहीं केवल भक्ति है एक भक्ति-विह्वल आत्मा के उद्गार हैं और एक मनोरमोत्पादक पवित्र सद्भाव है। क्या उनके ये शब्द हम भूल जायेंगे—मैंने अपने प्यारे देश को बचपन में जवानी में बुढ़ापे में सम्पत्ति में विपत्ति में सदैव और सभी दशाओं में प्यार किया है। मैंने अपने हृदय और अपनी आत्मा में उसकी मूर्ति को प्रतिष्ठित कर लिया है और अब अन्त समय निकट आने पर वह चिह्न और भी उज्ज्वल और प्रकाशमय हो गया है।

माधुरी जुलाई १६२५

मौलाना हसरत मोहानी

अगर तुम्हें क्रान्ति की तस्वीर देखनी हो जीती जागती चलती-फिरती तस्वीर, अपनी सारी विभूति सारी कला के साथ तो मौलाना हसरत मोहानी को देखो। तुम्हें ज्ञात होगा कि क्रान्ति के रूप और तत्व में कोई सादृश्य नहीं होता। लेकिन रूप था? बिलकुल साधारण मजदूर जैसा रूप के किसी गाँव में देख सकते हो। चेहरे पर तेज और प्रतिभा और महत्ता का नाम नहीं। गाढ़ा की पोशाक। इससे ज्यादा गरीब सरल देहाती सूरत और किसकी होगी? बस ऐसा मालूम होता है कि कोई मजदूर धनी

ाम करके लौटा है। हसरत के चेहरे पर भी वही नम्रता है, वही दीनता है, पर उसके न्दर शान्ति का प्रवाह समुद्र लहरें मार रहा है। जिस्मा कद स्थूलता की ओर झुकी ई सुगठित देह, साँवला रंग चेहरे पर चेचक के दाग खिचड़ी दाढ़ी प्रसन्न और माइश से कोसों दूर त्याग और सादगी की मूर्ति जिसे सदाचार मानते और जहर से ाभाविक प्रेम है। यूरोप के टाप-बाट रंग-ढंग का जादू कभी उन पर नहीं चला। म निश्चय नहीं कर सकते पर हमने तो उन्हें हमेशा फैशन के खिलाफ कमर कसे तैयार पीछे पाया। मुसलमानों में शायद हसरत ही वह पुरुष हैं जिन्होंने आज से ग्रह वर्ष पहले भारत की पूरी आजादी की कल्पना की और आज तक उसी पर कायम । पहले-पहल वह स्वर्गीय महात्मा तिलक के अनुयायी हुए। नरम राजनीति में उनकी न तबियत के लिए कोई विश्वास कोई रुचि न थी। थोड़े ही दिनों में वह कान्ग्रे मुस्लि भी बार प्रस्ताव और आगे बढ़ गये और उस समय पूर्ण स्वराज का डंका बजाया जब ग्रेस का गरम से गरम नेता भी पूर्ण स्वराज का नाम लेते काँपता था। उस जमाने में हसरत का कोई साथी न था लोग उन्हें सनकी समझते थे पर वह तो अपनी धुन का पक्का था। अपने लक्ष्य से उसने कभी मुँह नहीं मोड़ा। नेहरू रिपोर्ट ने बहुत से मुसल-मानों को काँग्रेस से अलग कर दिया। पूरी आजादी का दीवाना हसरत भी उस रिपोर्ट [का] दुश्मन हो गया। मौलाना के विचारों में उस वक्त हिन्दुओं से विरोध की झलक [दिखाई दे]ने लगी थी। उनके हिन्दू मित्रों की समझ में उनकी यह नीति न आती थी। वे सम[झ]ने लगे इन पर भी नौकरशाही का जादू चल गया पर अब सिद्ध हुआ कि मौलाना [अप]ने मार्ग से जरा भी विचलित नहीं हुए थे। नेहरू-रिपोर्ट का आदर्श था डोमीनियन [स्टे]ट्स। मौलाना खूब जानते हैं कि जब तक भारत की तमाम शक्तियों के हाथ में रहेगी [त]ारी शासन व्यवस्था कितनी ही निर्दोष क्यों न हो उसका संचालन इस प्रकार किया [जा] सकता है, भिन्न-भिन्न जातियों और मजहबों को इस भाँति लड़ाया जा सकता है कि [नौ]करशाही का हमेशा बोलबाला रहे। इसलिए ज्यों ही काँग्रेस ने पूर्ण स्वराज का [प्रस्]ताव स्वीकार किया मौलाना हसरत संग्राम में कूद पड़े। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सम[झौ]ते की प्रतीक्षा नहीं की क्योंकि वह जानते हैं कि वर्तमान दशाओं में कोई समझौता [हो]ना असम्भव है। यह संग्राम का समय है, समझौते का समय तब को आयेगा जब कि [विज]य प्राप्त हो जायगी। कितने ही बने हुए लोग जो काँग्रेस का विरोध इसलिए करते [हैं] कि वह तो डोमीनियन स्टेटस को अपना ध्येय बनाये हुए हैं और हम स्वाधीनता के [उप]ासक हैं काँग्रेस का क्यों साथ दें वह लोग आज समझौते का बहाना निकालकर जाति [की] आँखों में धूल झोंकना और अपनी शान बनाये रखना चाहते हैं पर कौम उन्हें खूब [सम]झ रही है और अब उनके पंजे में आनेवाली नहीं।

मौलाना हसरत का समस्त जीवन ही व्रत है। औरों की तरह उन्होंने कानून [पढ़क]र धन कमाने की इच्छा नहीं की सरकारी नौकरी के लिए कभी सरकार की चौखट

पर नाक नहीं रगड़ी। डिग्री लेने के बाद ही उन्होंने 'उर्दू-मुअल्ला' नामक साहित्यिक पत्रिका अलीगढ़ से निकाली और एक मुद्दत तक उसे चलाते रहे। जब वह जेल चले गये तो पत्रिका बन्द हो गयी। कुछ दिनों से आपने मुस्तकिम नाम का दैनिक पत्र निकाला है और उसी को चला रहे हैं। 'उर्दू-मुअल्ला' के दो आश्रय थे—साहित्य और राजनीति। उसके साहित्यिक भाग में जितनी सुरुचि और मौलिकता होती थी उसके राजनैतिक भाग में उतनी ही निर्भीकता और उदारता। उर्दू-साहित्य के उत्थान में मौलाना ने जो काम किया है वह चिरस्थायी रहेगा।

मौलाना हसरत उर्दू के खास कवि हैं और उर्दू कवियों में उनका स्थान सबसे ऊंचा नहीं तो किसी से कम भी नहीं। आमृत्ति के भाव तो आपके कलाम में जितने मिलते उर्दू के किसी कवि के कलाम में नहीं मिल सकते। उर्दू कविता के पुराने रंग को निभाते हुए उन्होंने नयी उमगें और उद्गारों को उसमें ऐसा भरा है कि उनका कलाम अपने रंग में निराला है। प्रेम के रहस्य जितनी खूबी से आपने दिखाये हैं जितनी मार्मिकता से उसका चित्रण किया है, हम दावे से कह सकते हैं कि उर्दू के किसी कवि ने भी नहीं किया और शब्द योजना तो आपका हिस्सा है। उसमें कोई आपका सानी नहीं। आपके शेरों में कितने ऐसे शेर हैं, जिनमें दोहरे अर्थ निकलते हैं। साधारण तौर पर देखिये तो वह मामूली शृंगार का शेर है, लेकिन ज़रा और से पढ़िये तो आपको उसमें एक दूसरा ही समाँ दिखायी देगा—उसमें आज़ादी के दीवाने की तड़प है, नाला है, फ़रियाद है। उर्दू के प्राचीन साहित्य की इतनी खोज भी किसी ने कम ही की होगी। आज उर्दू के पुराने कवियों से जो उर्दू की जनता को इतनी दिलचस्पी है इसका सेहरा हसरत ही के सिर है।

१९२१ के असहयोग आन्दोलन में कानपुर में स्वदेशी कपड़ों की एक दूकान 'खिलाफ़त स्टोर' के नाम से खुली थी। हसरत उसके मनेजर थे। उसी दूकान से मिला हुआ स्वदेशी वस्त्रों का भण्डार था। भण्डार में बिजली की रोशनी और पंखे थे मगर खिलाफ़त स्टोर में इन तकल्लुफ़ात का गुज़र न था। रात को यह सेवक ताड़ की एक पंखिया लिये बैठा रहता और जब गर्मी बहुत सताती तो उसे झल लेता था। यह उनकी सादगी पसन्द या मुश्किल पसन्द प्रकृति की एक छोटी-सी मिसाल है। अमीरी के चोंचलों से उन्हें घृणा है। जिस दिल में आज़ादी की लगन समायी हुई हो उसे टीमटाम से क्या मतलब। आज़ादी पहले दिल से शुरू होती है और दिल की आज़ादी यही त्याग यही निग्रह है। जो अपनी ज़रूरतों का गुलाम नहीं वह हमेशा आज़ाद है। जो नाम दिखावे और ठाट के गुलाम होकर आज़ादी की रट लगाते हैं वे आज़ादी को बदनाम करते हैं।

एक बार कानपुर के डी० ए० वी० कालेज में इस प्रस्ताव पर बहस हुई—स्वराज छोटी-छोटी किस्तों में लिया जाना चाहिए। डिबेट अंग्रेज़ी में थी। डा० "शिवनरायन" प्रधान थे। हसरत भी मौजूद थे। शायद आपको अंग्रेज़ी बोलने का अभ्यास नहीं है। लेकिन के

कितने ही अन्य लोडरों की भांति अंग्रेजी म बात करता आप अपने लिए शान की बात नहीं समझते। आप मंच पर गये और दो चार वाक्य बोलकर चले आये पर उन थोड़े से शब्दों में आप एक पूरा व्याख्यान दे आये।

किसी अगले अंक म हम मौलाना हसरत की काव्य-कला की चर्चा करेंगे।

मई १६३०

मुंशी विशुननारायण भार्गव

मुंशी नवल किशोर के प्रतिष्ठित घराने का यह सूरज ठीक मध्याह्न के समय डूबा। स्वर्गीय मुंशी विशुननारायण के जीवन का एक-एक कण रईस था। खूबियां सब थीं ऐब एक भी नहीं। मुरौवत म पुतले थे। किसी याचक को निराश करना उन्होंने सीखा ही न था। किसी दोस्त का दिल तोड़ना उनकी शक्ति से बाहर था। कर्मचारियों की संख्या हजारों तक पहुँचती थी मगर कभी किसी को तेज निगाह से न देखा। नवल के सामने सामने आये अयोग्यता और काम के ढीलेपन की शिकायतें रोज ही आती रहती थीं स्पष्ट बदनीयती की घटनाएँ भी बार-बार सामने आयी पर हमेशा दरगुजर कर जाते थे। यह खूबी उनमें कमजोरी की हद तक थी। इससे बहुत बार कारोबार को नुकसान पहुँचता था और जिन लोगों के सर पर जिम्मेदारी थी उन्हें नीचा देखना पड़ता था।

दिवंगत की अवस्था अभी कुछ न थी। लखनऊ का यह विद्या-प्रेमी घराना अल्पायु हुआ है। स्वर्गीय मुंशी प्रयागनारायण साहब ने बयालिस साल की उम्र में इस संसार से प्रस्थान किया उनके सुपुत्र ने कुछ और कमी कर दी अभी चौंतीसवाँ ही साल था।

मझोला कद भरकी इकहरी और छोहरे बदन के सुन्दर आदमी थे। गन्दुमी रंग रौबदार मूँछें बड़ी-बड़ी आँखों में सज्जनता और क्षमा की झलक। रहन-सहन बिलकुल सादा था। बाहर निकलते तो अचकन और चुस्त पाजामा बदन पर होता सर पर फ्लैट कैप। घर पर कुर्ता और धोती पहनते थे। हुक्के और पान का शौक था।

उनका दरबार हर आदमी के लिए खुला रहता था। न कार्ड भेजने की जरूरत न इत्तला कराने की पाबन्दी। दीवानखाने के सामने बरामदे म बैठे हुक्का पी रहे हैं। दोस्त और कर्मचारी याचक और जरूरतमन्द सभी आते हैं और अपनी जरूरत बतलाकर चले जाते हैं। सबम मकसीं प्रम और सज्जनता से पश आते हैं। स्वभाव म घमण्ड का नाम

नहीं दम्भ की गन्ध नहीं झूठे शिष्टाचार की छाया नहीं। अफसोस वह जगह हमेशा के लिए खाली हो गयी।

स्वभाव में दानशीलता भरी हुई थी। साधनों से कहीं ज्यादा दिल के धनी थे। दौलत को लुटाने की चीज समझते थे। उनके लिए इससे बहुत बड़ी रियासत की जरूरत थी। इस तंगी में उनका दया का हाथ अपने जौहर न दिखा सकता था जैसे नपोलियन को बरकन्दाजों की एक टोली का अफसर बना दिया गया हो जैसे अरबी घोड़े को अहाते में बन्द कर दिया गया हो।

कर्मचारियों के साथ के हाथों को लम्बा होते देखते थे मगर शिकायत का हरफ जबान पर न लाते थे। स्वभाव वैराग्य की धार लगा हुआ था। साधु सन्तों के चमत्कारों पर उन्हें पूरा विश्वास था। खुद साधु-सन्त न थे लेकिन स्वभाव में यह गुण प्रबल था। जहाँ तक बेलौस रहने और नफे-नुकसान से बेफिकर रहने का सम्बन्ध है वह साधु-सन्तों से कहीं ज्यादा साधु-सन्त थे। दुनिया से दिल कभी नहीं लगाया। जब तक जिये बेलाग जिये। नुकसान हुआ तो परवाह नहीं फायदा हुआ तो परवाह नहीं। फायदा हुआ तो जरा मुस्कराये नुकसान हुआ तो कहकहा मार कर हँसे। योग और किसे कहते हैं? योग गेरुए बाने और जटा में नहीं स्वभाव में होता है।

साधु-सन्तों के चमत्कारों की कहानियाँ बड़े चाव से सुनते थे। खुद भी बड़े विश्वास से बयान करते थे। कई योगियों से उन्हें बड़ी श्रद्धा थी। यहाँ तक कि कभी-कभी उनके इस चरम विश्वास पर आश्चर्य होता था। उनकी दृष्टि में अलौकिक शक्ति की कोई सीमा न थी। एक सिद्ध पुरुष एक ही समय दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में मौजूद हो सकते हैं—इस तरह की दन्त कथाएँ वह अटल सच्चाई की तरह मानते और बयान करते थे। इसकी सत्यता में किसी को शक हो सकता है यह ख्याल शायद उन्हें आता ही न था। यह वैराग्य उनकी साधु प्रकृति का परिणाम न था। शायद यही उनकी जिन्दगी का सबसे गहरा पहलू था। घर भी योग करते थे और इसमें उन्हें अच्छा अभ्यास हो गया था।

शादी कम उम्र में हो हो गयी थी। उनकी मृत्यु के दो-ढाई साल पहले ही पत्नी का स्वर्गवास हो गया। जिस लगन और प्रेम से उनकी चिकित्सा में व्यस्त रहे वह एक करुण दृश्य था। देवी जी स्वाभिमानी समझदार और मालिक की तरह तरफ़ पर्यवेक्षाली स्त्री थीं। *मुन्शी जी की स्वच्छन्दता उनके जीवनकाल में सीमाओं की पाबन्द* रहीं। उनकी मृत्यु इस बन्धन के टूटने के लिए कूच का ऐलान थी। मालूम से साल भर गुजरा होगा कि बीमारियों ने आ घेरा। भीतर का दर्द बाहर निकल पड़ा। डाक्टरों और वैद्यों पर विश्वास न था होमियोपैथिक इलाज के कायल थे। लखनऊ में मुन्शी महादेव प्रसाद साहब एक गरीब-दोस्त रईस हैं। जनता की सेवा के लिए ही डाक्टरी

होमियोपैथिक चिकित्सा का अध्ययन किया है और शहर के गरीबों की बहुत दिनों से निःस्वार्थ सेवा कर रहे हैं। मुंशी जी उनके गुणों के कायल थे। उनका इलाज शुरू किया। रोज ब रोज सेहत बरामद होती जाती थी। चेहरा पीला पड़ गया था। कई महीने के बाद सेहत हुई मगर शोक सौपाधिक था। कुछ महीनों के बाद फिर बीमार हुए और अबकी दुनिया ही से विदा हो गये। तेईस दिसम्बर को मद्रास गये। इतने लम्बे सफर के काबिल हरगिज न थे मगर मिट्टी तो मद्रास में लिखी थी और धीरे धीरे खींच ले गयी।

गुस्सा बहुत कम आता था। या यों कहिए कि जब्त बहुत कर सकते थे। गुस्से की इन्तहाई सूरत थी नीची आँखें और होंठों पर खामोशी की मुहर।

प्रदर्शन से उन्हें घृणा थी जो इस प्रदर्शन के युग में असाधारण बात है। नेकी कर और दरिया में डाल' के पाबन्द थे। कोई सोसाइटी कोई अंजुमन या सभा ऐसी न थी जिसे उनके हाथों लाभ न पहुँचता हो। जो कुछ देते थे चुपचाप देते थे। मरने के बाद अब मालूम हो रहा है कि उनके दान की परिधि कितनी विशाल थी। पब्लिक लाइफ से उन्हें दिलचस्पी न थी मगर राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रशंसक थे। मित्र-मंडली में अपने राजनीतिक विचारों को निर्भीकता से व्यक्त करते थे और राजनीतिक आन्दोलनों की सहायता करने में आगा-पीछा न करते थे। तकदीर ने उन्हें रियासत दी थी हमदर्दियाँ जनता के साथ थीं।

रईसों में हाकिमों का मुँह जोहने और खिताबों की भूख का मर्ज आम है। अब क्यों कहो प्रतिष्ठा की हवस किसे नहीं। विद्यार्थी परीक्षा में प्रतिष्ठा चाहता है, हुक्काम कारगुजारी में रईस सुहबत में। मुंशी जी की प्रशान्त प्रकृति के लिए सुहबत और खिताब से कोई वास्ता न था यहाँ तक कि हुक्काम से मुलाकात करना भी न पसन्द करते थे।

कुछ लोगों की स्वभावगत विशेषताएँ बहुत स्पष्ट और खुली हुई होती हैं कहीं गिरी हुई इतनी गिरी हुई कि उसे शर्मनाक कह सकते हैं कहीं बुलन्द इतनी बुलन्द कि आँखें वहाँ देखने को नहीं मिलतीं। मुंशी जी का स्वभाव समतल था चौरस मैदान की तरह जिसमें कुशादगी है, हरियाली है, सरसता है, ऊँच-नीच का नाम नहीं। उनकी जिन्दगी में क्या चीज सबसे बड़ी थी इसका फैसला मुश्किल है। वह किसी तरह भी उद्दाम प्रेरणाओं के व्यक्ति न थे। जहाँ तक दिखायी पड़ता है, बीच का रास्ता ही उनका रास्ता था। झंझटों से भागते थे। दुनिया के मामलों में सोच-विचार करने की परवाह न थी। उनके दीवानखाने के नीचे ही कुछ-दिनों है, जहाँ सैकड़ों लोग काम करते हैं मगर शायद जिन्दगी में दो-एक बार से ज्यादा दिनों में कदम नहीं रखा। लम्बा-चौड़ा इलाका है मगर शायद ही किसी हिस्से में निगरानी के ख्याल से गये हों। चिन्ताओं और झंझटों से मुक्त जीवन व्यतीत करते थे। स्वाभिमान उपाहकारों का

भ्राग्रह देकर होता था। इसी वैराग्योचित निस्पृहता को उनकी सबसे बड़ी विशेषता कह लीजिए।

शिकार और घुड़दौड़ से बहुत शौक था। साल में दो-चार हिमालय की तराई में शिकार खेलने जरूर जाते थे। यहाँ तक कि बीमारी कुछ कम होते ही शिकार खेलने गये और वहीं बीमारी फिर बढ़ गयी। निशाना अचूक था। घुड़दौड़ में इससे भी ज्यादा दिलचस्पी थी। अच्छे-अच्छे अमीरी घोड़े जमा कर रखे थे। मद्रास की प्राणान्तक यात्रा भी घुड़दौड़ ही के सिलसिले में की थी। वहाँ उन घोड़ों ने धूम मचा दी थी मगर मृत्यु शय्या पर इन चीजों से क्या खुशी होती।

लखनऊ के आशिक थे। मामूली रईस भी गर्मियों में पहाड़ों की सैर करते हैं मुंशी जी मई-जून की गर्मियाँ लखनऊ ही में गुजार देते थे पहाड़ की दिलचस्पियों से उन्हें कोई वास्ता न था। उनका समतल स्वभाव हर तरह की परेशानी और दिखावे से घबराता था। दौलत की हवस न थी यों एक बार सट्टे का भी शौक हुआ मगर दौलत उनके हाथों में चलनी का पानी थी। दरबार के हितैषियों की आँखें बचाकर जो आदमी पहुँच जाता कुछ न कुछ लेकर ही लौटता था।

व्यापार की मंदी कुछ दिनों से प्रबन्धकों के लिए चिन्ता का कारण हो रही थी। प्रस्ताव हुआ कि कर्मचारियों के वेतन में कटौती कर दी जाय। इसका नक्शा तैयार हुआ आपस में मुबाहसे हुए और प्रस्ताव ने अमली सूरत अख्तियार की। मगर मुंशी जी ने बहुत आग्रह किये जाने पर भी उस पर दस्तखत न किये। बात वहीं खत्म हो गयी। उनका कलम परवरिश करने के लिए था खून करने के लिए नहीं।

दिवंगत की यादगार दो बेटे हैं। बड़े साहबजादे की उम्र सोलह साल की है, छोटे अभी चौथे-पाँचवें साल में हैं। तीन बेटियाँ भी हैं। बड़ी बेटी की शादी हो चुकी है। माँ के प्यार से पहले ही वंचित हो चुके थे बाप का साया भी उठ गया।

मगर इनसे भी ज्यादा बदनसीब हालत उनकी माँ की है जिनका लाल उनकी गोद से हमेशा के लिए छीन लिया गया। खुशनसीब है वह जो नेकनाम जीते हैं और नेकनाम मरते हैं। आज सारा शहर दिवंगत के लिए मातम कर रहा है और दुनिया एक आवाज होकर कह रही है—

धरती माता का एक सपूत उठ गया।

ज़माना फरवरी १९३१

कर्मवीर विद्यार्थी जी

कानपुर के इस हत्याकाण्ड में राष्ट्र को सबसे भयंकर जो क्षति पहुँची है वह विद्यार्थी जी की शहादत है। मुर्दा हुआ धन फिर आ जायगा उजड़े हुए घर फिर

आबाद हो जायेंगे माताओं के गोद में फिर बच्चे खेलेंगे पर वह कर्मवीर भारत से सदैव के लिए उठ गया। विद्यार्थी जी के जीवन की सरलता और पवित्रता सात्विक थी। हम यह तो नहीं कह सकते कि हमारी उनसे घनिष्ठता थी पर साल में दो-तीन बार हमें उनके दर्शनों का सौभाग्य अवश्य हो जाता था और उनके दर्शनों से आत्मा पर आशीर्वाद का-सा जो असर पड़ता था वह अकथनीय है। स्वार्थ-चिन्ता ने कभी उनकी आत्मा को मलिन नहीं किया। उनका समस्त जीवन यज्ञमय था और कदाचित् ईश्वर की इच्छा थी कि उनकी मृत्यु उस यज्ञ की पूर्णाहुति हो। इस विद्रोह के एक या दो दिन पहले लखनऊ कांग्रेस कमेटी के दफ्तर में हम उनके दर्शन हुए थे। उनके जेल से लौटने के बाद मैं उनसे मिल न सका था। कितने तपाक से गले मिले। विनोद महान आत्माओं का स्वाभाविक गुण है। उनकी सीधी-सी बात में भी विनोद की कुछ न कुछ मात्रा होती है। अपने जेल जीवन की एक घटना हँस-हँस कर सुनाने लगे। विक्टर ह्यूगो पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। 'नाइंटी थ्री' का अनुवाद वे पहले कर चुके थे। अबकी जेल में ह्यूगो के जगत प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेमिजरेबुल' का उन्होंने अनुवाद किया था। बोले 'कोई पन्द्रह सौ पृष्ठ होंगे। आपका प्रेस छापना चाहे तो मैं दे सकता हूँ।

यह तो उनका विनीत भाव था।

कौन जानता था कि यह उनके अन्तिम दर्शन हैं। उस समय तो कराची जाने की बातचीत हो रही थी।

विद्यार्थी जी ने देश में जो सम्मान और यश प्राप्त किया वह उनकी सेवा का प्रसाद था। वह बहुत बड़े विद्वान न थे बड़ी-बड़ी उपाधियाँ न प्राप्त की थीं मगर हृदय में सेवा की ऐसी लगन थी जिसने उनकी लेखनी को ओज उनकी भाषा को स्फूर्ति उनकी वाणी को प्रभाव और व्यक्तित्व को गौरव प्रदान कर दिया था। उनकी आत्मा निष्कपट और निर्भीक थी। राजनीतिक समस्याओं पर वह जितने साहस से अपनी सम्मति प्रकट करते थे उसने हमारे सम्पादकीय जीवन में अमर स्मृतियाँ छोड़ी हैं। अत्याचार के विरुद्ध उनकी तलवार सदैव म्यान से बाहर रहती थी। 'प्रताप' ने अपने बीस वर्ष के जीवन में जितनी बाधाओं पर सफलता के साथ विजय पायी वह विद्यार्थी जी के सद्साहस न्याय-निष्ठा और कर्तव्य-प्रेम का उज्ज्वल प्रमाण है।

हिन्दू-मुसलिम एकता के वह अनन्य भक्त थे। विद्यार्थी जी उन राष्ट्र-सेवियों में से थे जिन्होंने साम्प्रदायिकता को कभी अपने पास नहीं आने दिया। यह उनके राष्ट्रीय जीवन का मूल सिद्धान्त था। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कानपुर में जब यह आग भड़की तो उनकी आत्मा को कितना आघात पहुँचा। शहर में हाहाकार मचा हुआ था। शहर के नेता कर्तव्य भ्रष्ट से अपने-अपने घरों में बैठे थे। हिन्दू और मुसल मान एक दूसरे पर अमानुषिक अत्याचार कर रहे थे पर यह कर्मवीर अपने प्राणों को हथेली पर लिये पीड़ित परिवारों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाता आहतों की सेवा और

अनाथों की सहायता करता फिरता था। हितचिन्तक गण समझते थे पर जिसके जीवन का मूल आधार इतनी निर्भयता से पैरों तले रौंदा जा रहा हो उसे ऐसी चेतावनियों की क्या परवाह हो सकती थी। धर्म जैसी पवित्र वस्तु भी मलिन आत्माओं में जाकर इतना भयंकर रूप धारण कर लेती है। धर्म जिसका उद्देश्य है मनुष्य को सत्य की ओर ले जाना उसकी परलोक बुद्धि को शक्ति देना वही मानवी दुर्बलताओं से कलुषित होकर आज हिंसक जन्तु के रूप में प्रकट हो रहा है। वह धर्मान्धता जो ऐसी पवित्र आत्माओं के रक्त से अपने हाथ रंगती है उसकी किन शब्दों में निन्दा की जाय। उन्हीं लोगों के हाथों यह अनर्थ हुआ जिनकी रक्षा के लिए वह निकले हुए थे। धर्मान्धता तेरी बलिहारी है। तू शत्रु और मित्र का भी विवेक नहीं रखती।

आज इस कर्मवीर की मृत्यु ने हमारे राष्ट्रीय जीवन में ऐसा स्थान खाली कर दिया है, जिसकी पूर्ति होना कठिन है।

मार्च १९३१

पं० पद्मसिंह जी शर्मा का स्वर्गवास

कौन जानता था कि हिन्दी-साहित्य का यह सूर्य अपने साहित्यिक जीवन के मध्याह्न में ही यों अस्त हो जायगा। पूज्य शर्मा जी उन धुन के पूरे मनुष्यों में थे जो कभी बूढ़े नहीं होते। जिनके विचार समय के साथ प्रौढ़ उन्नत और उदार होते जाते हैं। इधर आपने कई ऐसे मार्के के लेख लिखे जिनसे सिद्ध हुआ कि आपकी अवस्था कुछ ही हो आपके कलम में जवानी के जोश से भी बढ़ा हुआ जोश है। 'विशाल भारत' में हिन्दुस्तानी एकाडमी द्वारा प्रकाशित मि० अब्दुल्लाह यूसुफ की आपने जो विद्वत्तापूर्ण आलोचना लिखी थी उससे बड़े-बड़े दिमाग वाले मुहम्मडन प्रोफेसरों को आपका लोहा मानना पड़ा। आपकी अकाल मृत्यु से हिन्दी-साहित्य का एक स्तंभ उठ गया। आज हम चारों ओर निगाह दौड़ाते हैं और हमें कोई ऐसा आदमी नहीं दीखता जो गुणेच्छक होने के साथ ही इतना प्रकाण्ड विद्वान भी हो। आपमें नवीन और प्राचीन का अभूतपूर्व मेल हो गया था। क्या संस्कृत क्या हिन्दी क्या उर्दू क्या फारसी आप इन सभी साहित्यों के ज्ञाता थे। अकबर मरहूम के तो आप आशिक ही कहे जा सकते हैं। मैंने आपकी जबान से अकबर की सैकड़ों सूक्तियाँ सुनी हैं। आप उन पर मस्त हो जाते थे। हिन्दी में आप एक खास शैली के जन्मदाता हैं—जिसमें अनुभूतापन है शोखी है प्रवाह है और उसके साथ ही गाम्भीर्य भी। उनका पाण्डित्य उनके काबू में है। वह उस पर शहसवार की भाँति सवार होते हैं। उसकी लगाम ढीली नहीं करते उसे बहकने नहीं देते। सूक्तियाँ के आप भण्डार थे। और इसमें तो कलाम ही नहीं कि काव्य-शास्त्र के

आप समझ के। उनके सत्सई-संहार पर कुछ महानुभावों की यह एतराज है कि उसकी चुटकियाँ जरूरत से ज्यादा तेज हैं—चुटकियाँ नहीं हैं, बल्कि बरछियों की चोटें हैं। कहीं-कहीं तो बमगोला हैं लेकिन जब हम देखते हैं कि आलोच्य पुस्तक उस आदमी के कलम से निकली थी जो बिहारी-वारिधि का उत्तराधिकारी था तो हमें शर्मा जी की कटुता स्वाभाविक-सी लगने लगती है। शर्मा जी किसी नये लेखक में उन असंगतियों को शायद क्षमा कर देते। जो पुराना खिलाड़ी बिच्छू का मन्त्र न जानते हुए, साँप के मुँह में उंगली डाल उसके दुस्साहस को शर्मा जी जैसा निर्भीक आलोचक कैसे क्षमा कर देता। और सत्सई-संहार की भूमिका तो हिन्दी-साहित्य का रत्न है। शर्मा जी जितने बड़े साहित्य-सेवी थे उससे कहीं बड़े मनुष्य थे। आपसे मिलकर कभी जी नहीं भरता था। नये लेखकों को आप वह प्रोत्साहन देते थे जो माता अपने लटपटे बालक को देती है। मेरे ऊपर तो उनकी असीम कृपा थी। 'सेवासदन' उपन्यास-क्षेत्र में मेरा पहला प्रयास था। शर्मा जी ने जिस तरह दिल खोलकर उसकी दाद दी वह मैं भूल नहीं सकता। उस समय उनकी कठोर आलोचना ने मेरा अंत कर दिया होता। उसके बाद जब-जब मुझे उनसे मिलने का सुअवसर मिला इस तरह टूटकर गले लगाते थे कि चित्त उनके इस सौजन्य पर पुलकित हो उठता था। सरल जीवन और ऊँचे विचार की ऐसी मिसाल मुश्किल से मिलेगी। हमें विश्वास है, कि हिन्दी-संसार इस महारथी की कोई ऐसी यादगार बनायेगा जिससे मालूम हो कि हिन्दीवाले गुणियों का सम्मान करना जानते हैं। वर्ना शर्मा जी के स्मारक तो उनकी वह रचनाएँ हैं जो चिरकाल तक उन्हें अमर रखेंगी।

मई १९३२

डाक्टर एनी बेसेंट की छियासिवीं जयन्ती

डाक्टर एनी बेसेंट ने जन्म से आइरिश होकर भारत के लिए जो कुछ किया है, वह महात्मा गांधी के सिवा शायद ही किसी ने किया हो। भारत में होम रूल का बीज पहले-पहल उन्होंने बोया और उसके लिए असाधारण त्याग का परिचय दिया। उनके जीवन का सबसे बड़ा काम विश्व-बंधुत्व का वह भाव है, जिसको उन्होंने नया जीवन प्रदान किया है। उनके अदम्य परिश्रम को देखकर अच्छे-अच्छे दंग रह जाते हैं। कई-कई पत्रों का संपादन पुस्तकों की रचना देश-विदेश में प्रचारार्थ भ्रमण ये सभी काम वह एक साथ करती थीं। योरोप में कई सामाजिक प्रश्नों के विषय में जो कुछ जागृति हुई है उसमें डाक्टर एनी बेसेंट का नाम किसी से कम नहीं है। आज संसार में उनका जितना सम्मान है उतना किसी भी जीवित व्यक्ति का नहीं है। हिन्दू-संस्कृति और

शास्त्रों को जो उनके हाथों जो प्रोत्साहन मिला है वह चिरस्थायी रहेगा। भारत के कितने ही स्थानों में उनकी छियासिवीं जयन्ती मनायी गयी। हम भी इस अवसर पर अपनी श्रद्धांजलि उनकी सेवा में अर्पित करते हैं।

१२ अक्टूबर १९२८

रूस का भाग्य-विधाता

लेनिन की मृत्यु के पश्चात् उसके जितने ही साथियों ने जिनमें ट्राट्स्की जिनोवीफ कामेनीफ बुखारिन आदि जैसे प्रतिभाशाली और सुयोग्य व्यक्ति थे रूस की बागडोर अपने हाथों में लेने की चेष्टा की पर एक ऐसे अपरिचित व्यक्ति के कारण जिसका नाम उस समय तक मुल्क में भी नहीं आया था उन सबको एक-एक करके निकाल बाहर किया और स्वयं इसका भाग्य-विधाता बन गया। इस व्यक्ति का नाम स्टेलिन है और इसके सम्बन्ध में विभिन्न देशों के पत्रों में तरह-तरह की बातें छपा करती हैं। कुछ दिन हुए उसके एक भूतपूर्व सेक्रेटरी ने पेरिस से निकलनेवाले एक बोलशेविक विरोधी-पत्र में उसका व्यंग्यात्मक परिचय प्रकाशित कराया था। यद्यपि उसे पढ़ने से तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है कि यह लेख किसी व्यक्ति ऐसे का लिखा है जिसके स्वार्थ को स्टेलिन के कारण धक्का पहुँचा है तो भी उससे स्टेलिन की ऐसी कितनी ही विशेषताओं का पता लगता है, जो लेखक की दृष्टि में यद्यपि असभ्यता और अशिक्षित होने की सूचक हैं, पर मार्क्सवादियों की दृष्टि में वे एक सच्चे तपस्वी के गुण समझी जाती हैं। लेखक ने स्टेलिन और उसके साथियों को अधिकांश विषयों में अयोग्य बतलाया है। पर उसके प्रबन्ध से रूस की जो अनुपम उन्नति हो रही है उसे देखते हुए उन बातों में कुछ सच्चाई नहीं जान पड़ती। नीचे हम उस लेख का कुछ अंश देते हैं जिससे पाठक स्वयं इस सम्बन्ध में निर्णय कर सकेंगे।

'स्टेलिन ऐसा व्यक्ति है, जिसने समस्त मानवीय आकांक्षाओं का हर दर्जे तक घटा दिया है। एकमात्र प्रधानता की असीम प्यास ने उसका पीछा नहीं छोड़ा है। वह एक त्यागी की भाँति क्रेमलिन के दो छोटे-छोटे कमरों में जिनमें ज़ार के समय महल के नौकर रहा करते थे रहता है। यह प्रसिद्ध है कि वह शायद ही कभी किसी प्रकार का आमोद-प्रमोद करता है। कभी किसी प्रकार की फिजूल खर्ची नहीं करता कभी सरकारी रकम से एक पैसा भी अपने लिए नहीं लेता। उसके लिए शराबों और स्त्रि-व्यभिचार का अस्तित्व ही नहीं है। अपनी स्त्री के सिवाय वह संसार की किसी स्त्री की तरफ आँख नहीं उठाता।

'जब कोई व्यक्ति प्रथम बार उससे मिलता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह सीधा-सादा अपने ऊपर कम्बा रखनेवाला मितभाषी और बहुत चतुर व्यक्ति है। पर जब उसका विशेष परिचय प्राप्त होता है, तो पता लगता है कि वह बिलकुल संस्कृति-विहीन व्यक्ति है। जैसे-जैसे उससे आपकी घनिष्ठता बढ़ती जायगी आपका आश्चर्य बढ़ता जायगा। उसमें राजनीतिक समस्याओं को समझ सकने की बुद्धि नहीं है, उसे अर्थशास्त्र और आय-व्यय का कुछ भी ज्ञान नहीं। विदेशी भाषाओं से तो वह अनजान है ही रूसी-साहित्य का भी उसे ज्ञान नहीं। वह हँसी-मजाक करना नहीं जानता। अपने अधीनस्थ कर्मचारियों और कुटुम्बवालों के साथ वह बड़ी निरंकुशता और उजड्डता का व्यवहार करता है। वह अपने भेद को बहुत छिपा कर रखता है और बड़ा चालाक तथा प्रतिहिंसा का भाव रखनेवाला मनुष्य है। वह अपनी गुप्त योजनाओं को किसी पर प्रकट नहीं करता। दरअसल वह बिना आवश्यकता के बोलता ही नहीं और प्रायः मौन रहा करता है।

३१ अक्टूबर १९३२

सर अलीइमाम की स्वर्ग-यात्रा

सर अलीइमाम के उठ जाने से बिहार का वह सपूत उठ गया जिस पर बिहार को ही नहीं भारत को गर्व था। संसार में जितनी विभूतियाँ हैं वह सभी उनके हिस्से में प्रचुर मात्रा में पड़ी थीं। एक जमाने में वह मुसलिम लीग में थे लेकिन इधर कई साल से वह पक्के राष्ट्रवादी हो गये थे और लखनऊ के मुसलिम सम्मेलन की सदारत की थी। आप गोलमेज में भी शरीक हुए थे पर अस्वस्थ रहने के कारण उसमें प्रमुख भाग न ले सके। विडम्बना यही है कि अभी आपके पिता मौलवी इमदादइमाम साहब जीवित हैं। इस अवसर पर, जबकि देश एकता के लिए माथ धुँढ रहा है सर अली इमाम की मौत देश के लिए वज्रपात से कम नहीं।

७ नवम्बर १९३२

मि० थामस बाटा

मि थामस बाटा संसार में जूते के सबसे बड़े व्यापारी थे। उन्होंने करोड़ों की सम्पत्ति छोड़ी है और अब उनकी जगह उनके भाई मि जान बाटा उस कारखाने के अध्यक्ष हुए हैं। थामस बाटा ने यह विशाल सम्पत्ति अपने ही उद्योग और परिश्रम से प्राप्त की थी और यद्यपि वह व्यक्तिवाद के समर्थक थे पर उनका व्यक्तिवाद समष्टि

को परों से कुचल कर नहीं उसके सहयोग पर आधारित था। वह अपने कारखाने के मजदूरों को भी नफ़ा में भाग देकर उन्हें एक प्रकार से अपना साझीदार बना लेते थे। यही कारण है कि मजूर उनके कारखानों को अपना समझते थे और जी तोड़कर काम करते थे। मि० बाटा का जीवन आदर्श कहा जा सकता है। वह खुद अन्य मजूरों की भाँति कारखाने से बहुत थोड़ा पारिश्रमिक ले लिया करते थे हालाँकि काम औरों से कई गुना ज़्यादा करते थे। उनके घर का खर्च भी हजार पौंड सालाना से अधिक न था। अपनी विधवा स्त्री को भी उन्होंने केवल उतनी ही रकम तरके में दी है जिससे उनकी गुज़र हो जाय। लड़कों के लिए सम्पत्ति बनाना उनके जीवन का उद्देश्य न था। इन रकमों से कई गुनी रकम उन्होंने मजूरों के लिए व्यायामशाला और विनोदगृह बनाने के लिए छोड़ी है। कहते हैं कि जेकोस्लोवेकिया में जहाँ उनका हेड आफ़िस था उनका मजूरों और जनता पर इतना असर था कि म्युनिसिपलिटी के बयालिस मेम्बरों में एकतालिस केवल उनके भेजे हुए थे। अगर ऐसे पूँजीपति हों तो कम्युनिज़्म के लिए कहाँ स्थान रह जाता है। यह तो पूँजीपतियों की अन्धी स्वार्थपरता है जो कम्युनिज़्म का पोषण करता है।

७ नवम्बर १९३२

श्रीयुत सहगल का पद-त्याग

हमें इस समाचार से बड़ा खेद हुआ कि ग्यारह वर्ष तक 'चाँद' द्वारा समाज की सेवा करने के बाद मि० सहगल को चाँद से सम्बन्ध तोड़ना पड़ा। मि० सहगल में इसे दोष समझिए या गुण कि उनको धन की चाहत नहीं है। अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए वह बड़े से बड़े नुकसान की भी परवाह नहीं करते। अगर वह अपनी आत्मा को कुछ लचकदार बना सकते तो उनके मार्ग में कोई बाधा न खड़ी होती। लेकिन इस नीति को उन्होंने हमेशा हेय समझा और उसका प्रायश्चित्त आज उन्हें इस रूप में करना पड़ रहा है। इन दस बरसों में मि० सहगल ने दिखा दिया कि सच्ची लगन और एकाग्रता से काम किया जाय तो पत्रकार भी सफल हो सकते हैं। भारतवर्ष में कदाचित् 'चाँद' ही ऐसा मासिक पत्र है, जिसकी ग्राहक संख्या सोलह हजार तक पहुँची। मि० सहगल ने भारतीय महिलाओं की जागृति का लक्ष्य अपने सामने रखा था और उन्हें अपने उद्देश्य में जितनी सफलता मिली है उतनी बहुत कम किसी को नसीब होती है। उन्हें यह देखकर कितना आनन्द हो रहा होगा कि बोर्डों और कौंसिलों में महिलाओं का निर्वाचन होने लगा विद्यालयों में उनकी संख्या बढ़ती जाती है परदा अब आखिरी साँस ले रहा है और भारतीय महिला-सम्मेलन ने विवाह-विच्छेद और सन्तान-निग्रह का

प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। उनके पद-त्याग से चाहे वीर व्यापारिक रूप से सफल हो जाय लेकिन मि सहगल के व्यक्तित्व की जो छाप वीर के एक-एक पृष्ठ पर रहती थी और जितने ही उसे यह सर्वप्रियता प्रदान कर रखी थी रह सकेगी या नहीं कहा नहीं जा सकता। अब वीर ठोस व्यापारिक नीति पर चलेगा पर हमें इस नीति की सफलता में सन्देह है। हम यहाँ और ज्यादा न लिखकर मि सहगल के उस वक्तव्य का एक अंश देते हैं जो उन्होंने इस सम्बन्ध में प्रकाशित किया है—

'मैंने इस संस्था को व्यापारिक दृष्टि से जन्म नहीं दिया था। मेरा एकमात्र लक्ष्य देश तथा समाज की सेवा करना था और मुझे इस बात का संतोष है कि पिछले लगभग ग्यारह वर्षों में मैंने अपने इस व्रत का ईमानदारी से पालन किया है पर उस समय मैं संस्था का एकमात्र स्वामी था। मेरी नीति में हस्तक्षेप करने का किसी को अधिकार नहीं था। मैंने जो चाहा किया और अपने साहस के कारण लाखों रुपया स्वाहा भी कर दिये पर गत वर्ष से भविष्य में और भी ठोस एवं व्यापक सेवा करने की भावनाओं से प्रेरित होकर मैंने संस्था को एक लिमिटेड कम्पनी का रूप दिया। मेरा अनुमान था कि देश में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है, जो निस्वार्थ भाव से कम्पनी के हिस्से खरीद कर इस पुनीत कार्य में संस्था की सहायता करेंगे पर मुझे पिछले एक वर्ष के अनुभव ने यह बतला दिया है कि यह मेरा भ्रम था। पूँजीपतियों की मनोवृत्ति आज भी वैसी ही ठोस एवं अपरिवर्तनीय है, जैसी आज से सौ वर्ष पूर्व थी। कोई जोखिम उठाने को तैयार नहीं है। कम्पनी के डाइरेक्टर्स भविष्य में जिस व्यापारिक नीति से संस्था का सञ्चालन करना चाहते हैं उससे मेरा घोर मतभेद है। इस प्रकार के मामलों में समझौता हो भी नहीं सकता। आत्मा की पुकार के सामने अपना सर्वस्व बलिदान कर देना ही एक ऐसी वसीयत है, जो मुझे बाप-दादा से मिली है और मैं भी अन्त तक उसकी रक्षा करने का पक्षपाती रहा हूँ।

आखिर में यही निश्चय हुआ कि डाइरेक्टरान वर्तमान परिस्थिति से तभी मुकाबला कर सकते हैं जब कि मि सहगल संस्था से अलग हो जायें और इस बहुमत के सामने उन्हें सिर झुकाना पड़ा।

जनवरी १९३३

बधाइयाँ

हम देवी सुभद्राकुमारी चौहान को साहित्य सम्मेलन द्वारा और भाई जैनेन्द्रकुमार को हिन्दुस्तानी एकाडमी द्वारा पुरस्कृत होने पर हृदय से बधाई देते हैं। पाँच सौ रुपया कोई बड़ी रकम नहीं है पर बधाई देते इस बात की है कि विद्वज्जनों में उनके कमाल

को स्वीकार किया। दोनों ही पुस्तकें देवी जी की बिखरे मोती' और उन्मादिनी की 'परख' इस सम्मान के योग्य थीं। 'बिखरे मोती' नारी-हृदय का प्रतिबिम्ब है नारी-हृदय की सारी अभिलाषाओं और आकुतियों का आईना। 'परख' मन्द प्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है, स्नेहमय हृदय की मर्मोन्मेषमयी ब्रजना स्वच्छन्द और निष्कपट जैसे बंधनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार है।

विधि की कितनी क्रूर लीला है कि इधर तो यह पुरस्कार मिला उधर उनका ग्राम भर का हँसता-खेलता बच्चा परलोक सिधारा। अब किस मुँह से कहें कि मित्रों की दावत करो। विधि को अगर उस आदर का मूल्य लेना था तो वह बिना आदर के भले थे। बधाई तो दी है पर रोती हुई आँखों से।

जनवरी १९३९

अभिनन्दन

महापुरुषों के प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन करना एक बहुत बड़ा सामाजिक कर्तव्य है। जो समाज जितनी ही तत्परता और सचाई के साथ इस कर्तव्य का पालन करता है वह उतना ही सजीव और समृद्धिशाली बना रहता है। जहाँ इस भाव का अभाव है वहीं विद्वेष विग्रह और विनाश भी बसता है। जहाँ इसका प्रसार है वहीं स्नेह और सौजन्य की सृष्टि हुआ करती है और संयम-सुधा की वृष्टि भी। प्रसाद वहीं बँटता है जहाँ पूजा होती है, बड़े लोगों की महत्ता वहीं बसती है जहाँ बड़प्पन के सच्चे पारखी रहते हैं। इसीलिए वीरपूजा की प्रथा को हम संसार की समस्त मानसिक प्रथाओं से बढ़कर मानते हैं। यही प्रथा हमारे अवतारवाद की भित्ति है। धर्म साहित्य राजनीति चाहे जिसे ले लीजिए, इनमें से प्रत्येक के क्षेत्र में इसी प्रथा के द्वारा प्रेरणा शक्ति का प्रादुर्भाव और प्रसार किया जाता है। बुद्ध ईसा और मुहम्मद की पूजा करके हम अपने आप को उपकृत करते हैं महात्मा गांधी लेनिन और मुसोलिनी का आदर करके हम स्वयं सम्मानित होते हैं, तुलसी रवीन्द्र शेक्सपियर, रोमेरोलाँ और शॉ की लोक-विभाजिनी सत्ता को स्वीकार करके हम अपने आप को बड़ा बनाते हैं। जो हमसे बड़े हैं जिन्होंने हमको बनाया है उनके चरणों पर श्रद्धांजलि चढ़ाकर ही हम वह वरदान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारी जीवन-ज्योति को सदैव जगाए रहे। अतएव आज परम पूजनीय आचार्य द्विवेदी जी की इस सत्तरवीं वर्ष गाँठ के अवसर पर आज हिन्दी जगत का उल्लास देख कर हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। यह उल्लास हमारे भविष्य की उज्ज्वलता का द्योतक है। आधुनिक हिन्दी की श्री-वृद्धि करनेवाले इस तपस्वी आचार्य की यह अभ्यर्चना इस बात की सूचना दे रही है कि हम हिन्दीवाले भी अब अपने आप को पहचान सकने को

॥ अभिनन्दन ॥

समता के निकट आ पहुँच है। इनमें सब बातें हैं, पहले हो से बसी आ रही हैं, प्रमाण केवल इसी बात का है कि हम अपने घर के लोगों का सच्चा आदर करना नहीं जानते या जान बूझकर नहीं करते। उदासीनता और उपेक्षा का यह रोग बड़ा ही विनाशक है। यह न होता तो अभी तक हिन्दी में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के अनेक लेखक और कवि पैदा हो चुके होते। व्यक्तित्व बनाया जाता है, स्वयं नहीं बनता है। लोकाकांक्षा ही व्यक्तित्व की महिमा प्रतिष्ठित करती है। हमारे आचार्य द्विवेदी जी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपनी निःस्वार्थ साहित्यिक साधना से उन्होंने जिस वातावरण की सृष्टि की उसके भीतर से इसी लोकाकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ और यही आज के हमारे इतने बड़े आह्लाद का कारण बनी। इस प्रकार की आकांक्षाओं का हमारे बीच जितना ही अधिक प्रसार होगा हम उतनी ही जल्दी अपने आप को समुन्नत बना सकेंगे। आत्म-कल्याण का सबसे बढ़कर सरल और सुन्दर उपाय है—आत्मार्पण। आज सारा हिन्दी जगत् अपने आप को आचार्य द्विवेदी जी के चरणों पर अर्पित कर देने के लिए उल्लसित हो उठा है, यह उसके सौभाग्य का सबसे बड़ा चिह्न है। हम हिन्दीवाले आज उनके चरणों पर पूजा-पुष्प की तरह पड़े रहना चाहते हैं हमारा आज का दिन केवल इसी काम में आये यही हमारी कामना है। क्यों? केवल इसलिए कि आज हम जो कुछ भी हैं उन्हीं के बनाये हुए हैं। यदि पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी न होते तो अभी बेचारी हिन्दी कोसों पीछे होती—समुन्नति की इस सीमा तक आने का उसे अवसर ही नहीं मिलता। उन्होंने हमारे लिए पथ भी बनाया और पथ प्रदर्शक का भी काम किया। हमारे ऊपर उनका भारी ऋण है और उनके चरणों पर झुक कर ही हम उसे स्वीकार कर सकते हैं—किसी अन्य प्रकार से नहीं।

इस पुनीत अवसर का भिन्न-भिन्न रूप से उपयोग किया जा रहा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा आचार्य के कर कमलों पर 'अभिनन्दन ग्रंथ' रख रही है प्रयाग कुछ लोग द्विवेदी मेला का आयोजन कर रहे हैं। हमारे हृदय में भी श्रद्धा है पर साधनहीन हैं। अतएव हमारे पास जो कुछ भी है इसी को सब कुछ मानकर हम ने इस छोटे से मासिक पत्र 'हंस' का 'अभिनन्दनांक' निकाल कर ही अपने आपको तुष्ट कर लेना चाहते हैं।

पर इस 'अभिनन्दनांक' के सम्पादक के नाते हम क्या कहें समझ में नहीं आता। हमारा हृदय तो कृतज्ञता के भावों से इतना भरा हुआ है कि उसके भीतर बुद्धि-विचार के लिए कोई स्थान ही नहीं दिखायी देता। हम हिन्दीवालों पर आचार्य द्विवेदी जी के उपकारों का बोझ लदा हुआ है—हम कुछ बोलें तो बोलें कैसे? हमारे लिए उन्होंने वह तपस्या की है जो हिन्दी साहित्य की दुनिया में बेजोड़ ही मानी जायगी। किसी ने हमारे लिए इतना नहीं किया जितना उन्होंने। न हिन्दी के सरल

सुन्दर रूप के विधायक बने हिन्दी साहित्य में विश्व साहित्य के उत्तमोत्तम उपकरणों का उन्होंने समावेश किया वर्जनों कवि लेखक और सम्पादक बनाये। जिसमें कुछ प्रतिभा देखी उसी को अपना लिया और उसके द्वारा मातृभाषा की सच्ची सेवा करायी। हिन्दी के लिए उन्होंने अपना तन मन धन सब कुछ अर्पण कर दिया। हमारी उपस्थित रूप सम्पत्ति उन्हीं के त्याग का परिणाम है।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली है। मुखमण्डल पर दृष्टि डालते ही यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है कि उनमें रचनात्मक शक्ति कूट-कूट कर भरी हुई है, व सच्चे युग प्रवर्तक हैं उनमें क्रान्ति के लाने की विलक्षण क्षमता है। उन्नत ललाट घनी भौंहें, रोबदार मूँछें रसभरी गंभीर आँखें और अभय-गंभीर वाणी उनकी विशिष्टता ज्ञापित करती हैं और देखने से ऐसा मालूम पड़ता है मानों किसी ऐसे व्यक्ति के पास हैं जो हमारे लिए हमारे बीच भेजा गया है—जो सब तरह से हमारा ही है।

स्वभाव से परमन्त दृढ़-प्रतिज्ञ और हृदय से परम कोमल वे हमारे अपने हैं इस बात को हिन्दी जगत उसी दिन मान गया था जब वे सरस्वती में थे। उन दिनों वे हम सब को पिता की तरह शासित किया करते थे और माता की तरह प्यार। वे हमें हमारी गलतियों पर फटकारते थे उन्हें प्रेमपूर्वक सुधार देते थे और हमारी सफलता पर हम प्रेम के मोदक भी खिलाते थे। उन्होंने ठोक-ठोक कर हम सुधारा पुचकार पुचकार कर ठीक रास्ते पर चलाया और उत्साह दे-देकर आगे बढ़ाया। इन सबके बदले आज हम उनका जितना भी सत्कार करें थोड़ा है। यदि आज वे बंगाली होते तो बंगाल के विश्वविद्यालय उन्हें डी लिट् आदि सम्मानित पदवियों से विभूषित करके अपना गौरव समझते। पर, हमारे प्रान्त के और-और विश्वविद्यालय को तो बात ही क्या हमारा अपना हिन्दू विश्वविद्यालय जिसके प्राण स्वयं महामना मालवीय जी हैं—कभी इस प्रकार का गौरव अनुभव करेगा या नहीं कह नहीं सकते। इतना ही कहने की इच्छा होती है कि इसे ऐसा करना चाहिए।

'हंस' का यह अभिनन्दनांक कैसा हो पाया है, इसके सम्बन्ध में हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं इतना ही निवेदन कर दिया चाहते हैं कि यह श्रद्धेय द्विवेदी जी के प्रति हमारी आन्तरिक श्रद्धा का विनम्र चिन्ह मात्र है। और हमसे इतना भी नहीं बन पड़ता यदि हमारे कृपालु लेखक और कवि हमारी सहायता न करते। अपनी साहित्यिक संस्कृति की रक्षा के लिए हम समय-समय पर इस प्रकार के अभिनन्दनात्मक साहित्य की महत्ता स्वीकार करते हुए आचार्य द्विवेदी जी की दीर्घायु के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं और इस बात की कामना करते हैं द्विवेदी जी की लगायी हुई यह बेलि चिरकाल तक फूलती-फलती रहे।

अप्रैल १९३३

'द्विज' जी को बधाई

'द्विज' जी ने प्रयाग की हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी में बड़े गौरव के साथ एम. ए. की डिग्री ली। आप प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। अंग्रेजी में आप पहले ही एम. ए. हो चुके थे। भावुकता के सागर में डुबकियाँ लगानेवाला कवि और कल्पना के आकाश में उड़नेवाला गल्पकार और चरित्र-लेखक परीक्षा भवन में बैठकर ऐसी असाधारण सफलता प्राप्त कर ले यह साधारण बात नहीं है। परीक्षाएँ तो रट्टुओं के लिए हैं और इस क्षेत्र में हमने प्रतिभावालों को रट्टुओं से नीचा देखते पाया है। कवि को परीक्षा से क्या प्रयोजन। कल्पनावालों को भाषा-विज्ञान और भाषा के प्राचीन इतिहास से क्या प्रयोजन लेकिन 'द्विज' ने यह पाला जीतकर साबित कर दिया कि वह अगर आज शाक-भाजी की दुकान खोलकर बैठ जायें तो वहाँ भी सफल हो सकते हैं। हम इस सफलता पर आपको हृदय से बधाई देते हैं।

मई १६३२

श्री राहुल सांकृत्यायन जी

राहुल जी कदाचित् वह पहले भारतीय बौद्ध सन्यासी हैं जिन्होंने तीन वर्ष तिब्बत में रहकर पाली का ज्ञान प्राप्त किया और वहाँ से बौद्ध साहित्य की लगभग दस हजार प्राचीन पुस्तकें लेकर भारत लौटे। आपने वह सब पुस्तकें पटना म्युजियम को भेंट कर दीं। ऐसा साहस, ऐसी प्रतिभा, ऐसा अध्यवसाय बहुत कम किसी में पाया होगा। आजमगढ़ के एक ग्राम में एक साधारण ब्राह्मण कुल में आपका जन्म हुआ। आपने हिन्दी मिडिल पास किया और कुछ दिन नौकरी की तलाश में रहे। इसी बीच में आपको बौद्ध धर्म से प्रेम हो गया और आपने उसकी दीक्षा ले ली। आपकी बुद्धि इतनी प्रखर है कि थोड़े ही दिनों में आपने संस्कृत, पाली, अंग्रेजी, बंगला, फ्रेंच आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया और पुरातत्त्व के प्रकाण्ड पण्डित हो गये। फिर तो स्वर्गीय श्री धर्मपाल जी से आपका परिचय हो गया और आपकी प्रतिभा और विद्वत्ता के कारण सभी आपका सम्मान करने लगे। धर्मपाल जी ही की प्रेरणा से आपने तिब्बत की भीषण यात्रा की। तिब्बत में बाहरवालों का कितना बहिष्कार किया जाता है, यह सभी जानते हैं पर राहुल जी ने तिब्बती भाषा पर ऐसा अधिकार कर लिया कि आप तिब्बत के ही समझे जाने लगे और फिर तो आपकी हरेक संघाराम, हरेक विहार में रसाई हो गयी। आपने वहाँ बौद्ध धर्म का खूब अध्ययन किया और हजारों पुस्तकें संग्रह कीं। वह सारा साहित्य आपने यहाँ आकर पटना म्युजियम को भेंट कर दिया जैसा हम

पहले कह चुके हैं। आपने इसके बाद ल्हासा की यात्रा की। फिर बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए इंग्लैण्ड और योरोप के अन्य देशों की यात्रा की। थोड़े दिन हुए आपने 'बुद्धचर्या' नामक पुस्तक लिखी है जो भगवान बुद्ध का प्रामाणिक जीवन चरित्र है। हर्ष की बात है कि इस वर्ष नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने आपको उस पुस्तक की रचना के लिए पारितोषिक देकर आपका सम्मान किया है। कई महीने हुए आपने भागलपुर से निकलनेवाली हिन्दी पत्रिका 'गंगा' के पुरातत्वांक का सम्पादन किया था और उसमें आपके कई पाण्डित्यपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे। आपके ही परिश्रम से पुरातत्वांक इतना सफल हुआ। अब आप तिब्बत की दूसरी यात्रा करने का विचार कर रहे हैं और आप उधर से लद्दाख, काराकर आदि स्थानों में बौद्ध धर्म की ऐतिहासिक खोज करने जायेंगे। आप ऊँचे डील के बलिष्ठ तेजस्वी सौम्य पुरुष हैं बड़े ही मिलनसार और विनोदशील। योरोप के किसी व्यक्ति ने यह तिब्बत-यात्रा की होती तो सारी दुनिया में उसका प्रोपेगंडा होता पर भारत में आज भी ऐसे धर्मवीर पड़े हुए हैं जो यथार्थ बुद्धि से बड़ा काम करके भी उसका विज्ञापन नहीं करते। हमारी हार्दिक कामना है कि आपकी यह नयी यात्रा सफल हो और आप अपना यात्रा-वृत्तान्त लिखकर हमारे युवकों के सामने साहसिकता और लगन का आदर्श रखें।

मई १९३३

श्रद्धांजलि

आज हम हिन्दी-साहित्य के अमर तपस्वी पूज्य आचार्य पं. महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की सत्तरवीं वर्षगांठ के पुनीत अवसर पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं। नवीन हिन्दी-साहित्य के निर्माताओं में उनकी कीर्ति हमेशा चमकती रहेगी और इस मार्ग के पथिकों को जीवन और आशा प्रदान करती रहेगी।

द्विवेदी जी का जीवन साहित्य और साधना और तप का जीवन है। साहित्य ही उनका सर्वस्व था। उनकी चिन्ता और कल्पना और आकांक्षा और विनोद सब का स्रोत एक था और वह साहित्य है। साहित्य उनके लिए कीर्ति का साधन न था और धन का तो हो ही क्या सकता था। पाण्डित्य-प्रदर्शन भी उनकी मनोवृत्ति न थी। उनके हृदय में इसकी जड़ें उतनी ही गहरी थीं जितनी हमारे जीवन में स्वार्थ और ममत्व की होती हैं। उनका स्वार्थ भी यही था और परमार्थ भी यही था।

और जहाँ व्यक्तित्व है वहाँ शैली भी है। शैली भीतर की आत्मा का बाह्य रूप है। उस शैली में जितना संयम है, जितना प्रसाद है जितना ओज है जितना गुण

चाव है। उसमें रसिकों का बाँकापन नहीं पंडितों का गाम्भीर्य नहीं ज्ञानियों की सूक्ष्मता नहीं एक सीधे-सादे उदार व्यक्ति की सजीवता है।

साहित्य की सेवा का कितना ऊँचा आदर्श है। कहाँ से क्या लें और उसे किस तरह अच्छे से अच्छे रूप में संसार को दें यही धुन है। जन-हित का कोई अंग उनसे नहीं छूटा। जहाँ कोई उपयोगी चीज देखी चाहे वह पुरातत्व से सम्बन्ध रखती हो या दर्शन से या भाषा विज्ञान से या प्राकृतिक दृश्यों से उसे पाठकों के लिए सुलभ करना उनका कर्तव्य था। वह जिस चीज को पढ़कर स्वयं आनन्दित होते थे उसका रस पाठकों को चखाना एक लाजिमी बात थी। 'सरस्वती' की फाइल उठाकर द्विवेदी जी की सम्पादकीय टिप्पणियाँ देखिए विविध ज्ञान का भंडार है। ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर द्विवेदी जी ने न लिखा हो गहरे से गहरे तात्विक विवेचन और साधारण से साधारण दस बातें एक साथ उनमें मिलेंगी और आप उस व्यक्ति के ज्ञान-विस्तार पर चकित हो जायँगे।

और यह काम किसी विद्या और ज्ञान के केन्द्र में बैठकर नहीं एक गाँव की एकान्त कुटिया में होता था। साहित्य की यह छटा उसी कुटिया से निकलकर हिन्दी संसार को आलोकित कर देती थी।

आज हिन्दी में ऐसा कौन विद्वान् सम्पादक है जो अपने काम को यथाथ बुद्धि से करता हो जो हरेक लेख को आद्योपान्त पढ़ता हो उसकी भाषा का परिष्कार करता हो एक चतुर कलाकार की भाँति पत्थर के एक टुकड़े को बोलती हुई मूर्ति बना देता हो। हमारी कई कहानियाँ 'सरस्वती' में द्विवेदी जी के सम्पादन काल में निकली। जब वह छप जाती थीं और मैं असल से मिलाता था तो मालूम होता था उसका कितना रूपान्तर हुआ है। मेरी एक कहानी 'पंच-परमेश्वर' है। मैंने जिस समय उसे द्विवेदी जी की सेवा में भेजा उसका नाम 'पंचों में ईश्वर' था। छपने पर देखा तो 'पंच-परमेश्वर' हो गया था। जरा से परिवर्तन से वह नाम कैसा चमक उठा!

द्विवेदी जी साहित्य के सच्चे पारखी हैं। जहाँ गुण देखते थे बड़ी उदारता से उसका आदर करते थे। उनके प्रोत्साहन से ही हिन्दी को कई ऐसे कवि और लेखक मिले जिन्होंने हिन्दी का नाम रोशन किया। अन्य भाषाओं में भी कोई अच्छी चीज देखकर वह मुग्ध हो जाते हैं। गुरु में सैयद सज्जाद हैदर अच्छे लेखक हैं। उन्होंने एक भावमय चीज 'हुस्नते दिल की कहानी' लिखी थी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में उस लेख की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की और उसे उद्धृत किया।

द्विवेदी जी ब्राह्मण हैं, लेकिन दान लेनेवाले ब्राह्मण नहीं दान देनेवाले ब्राह्मण। साहित्य की सेवा में जो कुछ सदा-सदा पोथी-पुस्तक संग्रह किया था वह सब का सब लोक-सेवा की भेंट कर दिया। साहित्य के पुजारियों में यह भाव कहाँ? अन्य पुजारियों की भाँति यह पुजारी भी दिन का धर्म होता है। यह सच है कि साहित्य का पुजारी

अन्य पुजारियों की भाँति भाग्यशाली नहीं होता। अब चिन्ता में जिसे नींद न आती हो उससे उदारता की आशा रखना बागुमोलों से छटपटाते हुए आदमी से गाना सुनने की आशा रखना है। कभी माया के दर्शन भी हुए तो वह उससे इतने जोर से चिपटता है, कि प्राण निकल जाने पर ही उसके हाथ ढीले हो सकते हैं। वह एक पैसा भी दे तो उसे लाख रुपये समझो। द्विवेदी जी ने तो सब कुछ दे दिया। और उनके शिष्टाचार का क्या कहना। वह प्रकृति के नियमों की भाँति अटल है। आज पत्र लिखो तीसरे दिन किसी न किसी डाक से जवाब आयेगा। हाँ लेटर-बक्स में कोई तेजाब डाल दे तो दूसरी बात है। वह बन्सी से आधे मन से कोई काम नहीं करते। उनकी काया स्वस्थ न हो पर मन स्वस्थ है।

उन्होंने मौलिक रचनाएँ न की हों लेकिन मौलिक रचयिता पैदा कर दिये। उनका गौरव इसमें है कि उन्होंने अपनी लेखनी से हिन्दी की नींव डाली और उसमें ज्ञान का विस्तार किया और आज हिन्दी-संसार आपके उपकारों को याद करके आपके चरणों पर श्रद्धांजलि चढ़ा रहा है और ईश्वर से प्रार्थना करता है कि अभी बहुत दिनों तक आपकी देख-रेख उस पर रहे, कि आपने उसका मन में जो नक्शा बनाया था हिन्दी-भवन उस नक्शे के ठीक-ठीक अनुकूल बन रहा है या नहीं।

मई १९३३

राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय का स्वर्गवास हुए सौ साल पूरे हो गये और देश में उनकी यादगार मनाने की तैयारियाँ हो रही हैं। हम भी उनकी स्मृति में अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाते हैं। राजा राममोहन राय भारत के ही नहीं संसार के महान् पुरुषों में हैं और जब सच्चा सार्वदेशिक इतिहास लिखा जायगा तो संसार के प्रवर्तकों में उनका नाम भी लिया जायगा। भारत में आज जो धार्मिक सामाजिक राजनैतिक और साहित्यिक जागृति है, उसका सूत्रपात राजा राममोहन राय ने ही किया। हमारे राष्ट्रीय जीवन के हरेक अंग पर उनके *महान् व्यक्तित्व की छाप लगी हुई है। हम उन्हें नवीन भारत* का जन्मदाता कह सकते हैं। डाक्टर टैगोर के शब्दों में—'वह इस सदी के महान पथ निर्माता थे जिन्होंने उन बाधाओं को हमारे रास्ते से हटा दिया जो हमारी प्रगति को रोके हुए थीं और हमें संसार-व्यापी सहयोग और मानवता के इस नवयुग में सम्मिलित *कर दिया। ऐसे महान व्यक्तियों की कीर्ति अपनी अमरता से हममें जीवन* का संचार करती है और हमारी यही कामना है कि उनका आदर्श अनन्तकाल तक हमारी आँखों के सामने बना रहे।

सितम्बर १९३३

मिसेज ऐनी बेसेंट का स्वर्गवास

मिसेज ऐनी बेसेंट की मृत्यु का समाचार पढ़कर हमें दुख नहीं हुआ क्योंकि वह उस अवस्था को प्राप्त हो चुकी थीं जब उन्हें विश्राम की सख्त जरूरत थी। उनका अवसान उतना ही स्वाभाविक था जितना किसी बालक का विकास होता है। संसार में बहुत कम प्राणी हैं जिनके जीवन में कर्मयोग का ऐसा आदर्श मिलता हो। सत्य को ग्रहण करने में उन्होंने रूढ़ियों की कभी परवाह नहीं की। जब उन्हें ईसाई धर्म से असंतोष हुआ तो उन्होंने सत्य की खोज में अपने पुराने नाते तोड़ दिये। अन्त में कर्म सिद्धांत ने उनकी ईश्वर-द्रोही आत्मा को शान्त किया और उनका शेष जीवन इसी सिद्धांत के प्रचार में व्यतीत हुआ। उनमें काम करने की अद्भुत शक्ति थी। वह अकेली जितना काम कर सकती थीं वह शायद एक दर्जन मनुष्यों से भी न होता। एक साथ दैनिक साप्ताहिक और मासिक पत्रों का निकालना धर्म और दर्शन पर अमर ग्रन्थों की रचना करना बराबर सत्य के प्रचार के लिए व्याख्यान देते रहना और थियोसोफिकल सोसायटी जैसी संस्था का संचालन करना और उसके साथ ही भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भी प्रमुख भाग लेना उन्हीं तपस्वी आत्मा का काम था। आज जिसका हिन्दू विश्वविद्यालय है उसका हिन्दू-कालेज के रूप में मिसेज बेसेंट ने ही बीजारोपण किया था। उनके दो एक सिद्धान्तों से हमें मतभेद था पर उन्होंने जिस बात को सत्य समझ लिया उसके प्रतिपादन में किसी विरोध की चिन्ता नहीं की और उनकी वक्तृत्व-शक्ति तो अद्वितीय थी। वह इस शताब्दी की सबसे यशस्वी महिला थीं और हमें विश्वास है कि उनकी स्मृति बहुत दिनों तक असंख्य स्त्री पुरुषों को सात्विक उद्योग का आदेश देती रहेगी।

२५ सितम्बर १९३३

मृत्यु पर विजय

एक सच्चे देश-भक्त के लिए जिस अच्छी से अच्छी मौत की कल्पना की जा सकती है, वही मौत श्री विट्ठल भाई पटेल को मिली। मातृ-भूमि से हजारों कोस पर, जहाँ अपना कोई नहीं देश बन्धुओं से दूर शत्रु अपनी पूरी शक्ति से वार करता हुआ पर वही तेवर वही गर्जन वही अदम्य तेज जो मुश्किलों को तुच्छ समझता था। यह मौत नहीं है मौत पर विजय बड़ी शानदार, बड़ी ऐतिहासिक बड़ी शक्तिदायिनी और वह क्या शब्द थे जो अंत समय उस सच्चे राजपूत के मुख से निकले—"मेरे देश बन्धुओं को और संसार भर के भारत के हितैषियों को मेरा आशीर्वाद" दो। जीवन

सीमा समाप्त करने के पहले मैं भारत की आजादी के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ। क्या यह मरनेवाले के शब्द हैं ? नहीं निराशा नहीं कहीं पराजय का चिह्न नहीं। एक-एक शब्द में एक विजयी आत्मा की उमंग भरी हुई है। उसने अन्त समय तक तलवार हाथ से नहीं छोड़ी। उस वक्त भी कदम पीछे न हटाया जब वह मैदान में अकेला था। कौन कहता है कि वह मर गया ? उसने मौत पर विजय पायी। उसके आशीर्वाद में विजय का मंत्र है, अमरत्व का प्रसाद है। ऐसे वीर नहीं मरते। मरते हैं हम और आप स्वार्थों के दास पेट के गुलाम हिम्मत के कच्चे।

क्या उनका जीवन-वृत्तान्त कहूँ ? क्या एसेम्बली की उनकी वह मरदाना आवाज आप के कानों में नहीं आ रही है ? क्या उनकी वह असिप आनको भूल गयी ? क्या एसेम्बली की वह सदारत फूलों की शय्या थी ? दफ्तरी शासन ने क्या-क्या हथकंडे नहीं कैसे कौन-कौन-सी कूटनीति नहीं चली लेकिन कभी आपने उनके माथे पर बल देखा ? वह राष्ट्र-सम्मान का रक्षक था। उसकी आँखों के सामने सर्वशक्तिमान सरकार की मजाल न थी कि वह राष्ट्र सम्मान पर अपना आघात कर सके। क्या आपको वह अमर शब्द भूल गये उन्होंने सदारत से इस्तीफा देते समय लार्ड इर्विन से कहे थे— मैंने कुरसी के मान और अधिकार को विस्तृत करने की निरंतर चेष्टा की है एक अमर्यादित और सबल नौकरशाही के विरुद्ध और मुझे विश्वास है कि मैं बहुत कुछ सफल हुआ हूँ। उनके जीवन का खुलासा केवल एक शब्द में बता दूँ—वह शब्द है संग्राम। उनका जीवन आदि से अन्त तक एक लम्बा संग्राम था जो न माफी माँगता था न माफी देता था। उन्होंने समझौता करना सीखा ही न था। कैसा समझौता ? आज कुछ न मिले कल कुछ न मिले पर कभी तो मिलेगा। जब लेंगे तब पूरा लेंगे। उसमें रत्ती भर कमी नहीं कर सकते यह उनका ध्येय था। समझौता वह करते हैं जिन्हें अपने पक्ष में विश्वास नहीं होता या समय को देखकर अपनी नीति स्थिर करते हैं उन्हें अपने पक्ष में अटल विश्वास था। वह बात क्या भुलाई जा सकती है, जब सर सुरेन्द्रनाथ जी की प्रेरणा से एसेम्बली ने मॉट फोर्ड सुधारों पर अमनमेंट को बधाई दी थी। उस वक्त अकेले मि पटेल थे जिसने एक के अल्पमत से उस प्रस्ताव का विरोध किया था। उनके जीवन में यदि कोई लालसा थी तो वह स्वराज्य था यही उनका शौक था यही उनका नशा था और यही उनका वर था। और वह मीठे के साथ चलनेवाले आदमी न थे। जब १९१ में काँग्रेस के सभी मेम्बरों ने एसेम्बली से विदा ली मि पटेल ने प्राण पर पर स्थिर रहकर अपने विचार-स्वातन्त्र्य का परिचय दिया था। हाँ जब उन्होंने सरकार की नीयत और नीति दगा सी और ऊपर से निराश हो गये तो सदारत को लात मार दी और राष्ट्र के साथ उनके संग्राम में शरीक हो गये। ऋषियों की-सी उनकी तेजस्वी मूर्ति उनका अद्भुत तेज मस्तक उनकी वह कुशाग्र बुद्धि उनकी वह मनस्वी प्रतिमा और उनके वह आतुर वाक्य क्या कभी

विस्मृत हो सकते हैं। हाँ वह अपने शब्दों पर मखमल का गिलाफ न चढ़ाते थे। व महात्मा न थे। वह टेढ़े को टेढ़ा कह सकते थे। उनके पहलू में दर्द चुभा हुआ था जो आहत होने पर रोता या चिंघाड़ मारकर, जो अपमानित होने पर आवेश में आ जाता था। ठीक है, उनके शब्दों में जहर होता था। हम तो कहते हैं—उनमें ज्वाला होती थी। और क्या जलते हुए हृदय से आप शीतल पाल की आशा रखते हैं जरा उस महान् आत्मा का उत्सर्ग देखिये। वह उम्र का बोझ वह क्षीण स्वास्थ्य वह घातक रोग का प्रकोप और अमेरिका की वह कठिन यात्रा। हिलने की शक्ति नहीं है यमराज का विमान आ चुका है पर स्वदेश मोह को हृदय से लगाये हुए हैं। अब भी यह माया उन्हें नहीं छोड़ती। कितना अदम्य अनुराग है। अंतिम शब्द जो उनके मुख से निकलता है, वह— स्वराज्य' है। यही स्वराज्य उनके जीवन का स्वप्न था इसी के लिए जिये इसी के लिए लड़े इसी पर अपना सब कुछ कुर्बान किया। यह बेटे बेटी का मोह नहीं है यह धन सम्पदा का मोह नहीं है जिसके बंधन ढीले पड़ जायें यह स्वदेश का प्रेम है, जो आत्मा के अणु-अणु में व्याप्त हो गया है और अगर आत्मा अमर है तो यह प्रेम भी अमर रहेगा और शायद स्वर्ग की सुखद शान्ति में भी यह प्रेम यह माया उन्हें तड़पाती रहेगी और उनके सूक्ष्म नेत्र अपने उस अभागे देश की ओर लगे रहेंगे जिस पर उन्होंने अपना सर्वस्व वार दिया।

३० अक्टूबर १९३१

श्री रंगस्वामी आइंगर की शोक जनक मृत्यु

तामिल के प्रमुख दैनिक पत्र 'स्वदेशमित्रम्' के यशस्वी संपादक श्री रंगस्वामी आइंगर की मृत्यु से एक ऐसा व्यक्ति उठ गया जो राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने में अद्वितीय था और जो कुछ सत्य समझता था उसे प्रकट करने में सत्ता या अधिकार से लेशमात्र भी भयभीत न होता था। आप पहले मद्रास के प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक पत्र 'हिन्दू' के संपादक रहे, फिर आपने अपना तामिल पत्र 'स्वदेशमित्रम्' निकाला और अपनी प्रतिभा और ओज से इस पद पर पहुँचा दिया कि वह बड़े से बड़े प्रभावशाली अंग्रेजी पत्रों से भी ज्यादा चाव से पढ़ा जाता था। भाषा के पत्रों में जितना सम्मान 'स्वदेशमित्रम्' को मिला उतना शायद किसी अन्य भाषा के पत्र को नहीं प्राप्त हुआ। आप कुछ दिनों कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी रहे थे और स्वराज्य पार्टी के निर्माणकर्त्ताओं में आप भी थे। स्व. पंडित मोतीलाल नेहरू और सी. आर. दास आपको अपना दाहिना हाथ समझते थे। दूसरी गोलमेज सभा में आप भी सम्मिलित हुए थे और उस वक्त आप का विचार यह था कि कांग्रेस को नयी व्यवस्था से दूर न रहना चाहिए, क्योंकि

इससे साम की जगह बहुत बड़ी हानि होगी। आपकी मृत्यु से राष्ट्र को जो क्षति पहुँची है, उसका अनुमान उन शब्दों से हो सकता है, जो महात्मा गांधी ने शोक प्रकट करते हुए लिखे हैं।

१२ फरवरी १६३४

राजा सर मोतीचन्द का स्वर्गवास

राजा सर मोतीचन्द के उठ जाने से काशी को जो क्षति पहुँची है, वह मुश्किल से पूरी होगी। आप बड़े दानी परोपकारी और सहृदय व्यक्ति थे। आप की अवस्था अभी कुल अट्ठावन साल की थी आपका स्वास्थ्य भी बुरा न था मगर पिछले साल आप पर लकवे का जो आक्रमण हुआ था उसने अन्त में आपकी जान ही लेकर छोड़ी। कई साल पहले आप तीन सेशन तक एसेम्बली के मेम्बर रहे, और हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अन्य सार्वजनिक कामों में आप को बड़ी दिलचस्पी थी। देश के औद्योगिक उद्धार के लिए आप बराबर प्रयत्न करते रहे और काशी का कॉटन मिल आप ही की यादगार है।

२६ मार्च १६ ४

स्व० पण्डित बदरीनाथ भट्ट

पंडित बदरीनाथ भट्ट आज इस संसार में नहीं हैं। बीमार तो वह दो-ढाई साल से थे लेकिन जिस आदमी के पोर-पोर में जानदारी भरी हुई हो जो रोग-शय्या पर पड़ा हुआ भी हँसता और हँसाता रहा हो जिसके समीप जाते ही मुरझाया हुआ मन सहसा उठता हो जो मानों अपनी वाणी और स्नेह से जीवन बिखेरता रहा हो वह मौत के इतना समीप है यह हम न समझते थे। साल भर से अधिक हुआ हमने लखनऊ में उनके दर्शन किये थे। आराम कुर्सी पर लेटे हुए थे। देह क्षीण हो गयी थी चेहरे पर जर्दी छायी हुई, आँखों के नीचे गड्ढे पड़े हुए, मांस सूखे हुए, लेकिन बीमारी आत्मा तक न पहुँच सकी थी। बातों में तब भी वही शोखी वही जिन्दादिली थी। अपनी बीमारी का जिक्र करते रहे, मगर उसमें असाध्य रोगी की निराशा या करुणा न थी न वह मोह न वह हसरत बल्कि एक जीवन से भरे हुए हृदय का पुरुष और विनोद था जो मानो मृत्यु का सामने खड़ी देखकर भी निःशंक भाव से कह रहा था—जब मरना तब मर जाऊँगा मरने के पहले नहीं मर सकता। हास्य के स्रष्टा बहुधा बड़े गम्भीर और रूखे होते हैं। भट्ट जी का मन भी हास्यमय था और तन भी। सदीपों और चटकुलों के ता

मामों वह भंडार थे और मनुष्य की कमजोरियों को एक निगाह में पहचान लेते थे। अपने जीवन के दुःखद प्रसगों को भी जो विनोद के रंग में रंग सकता हो वह सिर्फ भट्ट जी ही में थी। दूसरे अपनी विजय को जितने आनन्द से बयान कर सकते हैं, उससे ही आनन्द से वह अपनी पराजय की चर्चा करते थे। हास्य की उस खान में जो चीज जाती थी विनोद बन जाती थी। हिन्दी-प्रेमी सज्जनों के व्यवहार के उन्हें कई बार कड़वे अनुभव हुए थे और 'हिन्दी प्रेमी सज्जन' उनके सटीकों में बार-बार नये-नये रूप में आते रहते थे। खेद यही है कि उनके नाटकों के सिवा उनकी हास्य रचना कहीं संग्रह नहीं हुई। उन्होंने कई पत्रों मे नियमित रूप से साहित्यिक विनोद के स्तंभ की पूर्ति की। उसमें राजनैतिक व्यंग भी होता था कटाक्ष भी चुटकियां भी गुदगुदियां भी। अगर उनमें से रत्नों को छांट लिया जाय तो हास्य का बड़ा ही रोचक संग्रह तैयार हो जाय। 'सोलमासलकारिणी-सभा' की रिपोर्ट और 'मिस्टर की डायरी' मे आज भी मनोरंजन की बहुत सामग्री मिल सकती है।

भट्ट जी मिताहारी थे मितव्ययी थे संयमी थे स्पष्टवादी थे व्यवहार में खरे थे उनमें कहीं भी वह नफासत और नजाकत न थी जो हम उदीयमान कवियों में देखते हैं वह सैलानी-पन न था जो साहित्यिकों की विशेषता समझी जाती है। उन्होंने दुनिया देखी थी दुनिया की कठिनाइयों का सामना किया था और उन पर विजय पायी थी उन फूलों मे न थे जो हवा के एक झोंके से मुरझा जाते हैं, वह मनुष्य पहले थे कवि ड्रामेटिस्ट और हास्यकार पीछे। उनकी भावुकता कभी संयम से बाहर न जाती थी। वह उन लोगों में न थे जो इस बात पर गर्व करते हैं कि उनके पास कौड़ी कफ़न को नहीं है जो मित्रों की मेहमानी पर जीवन बिताकर बेफ़िक्री का दम भरते हैं। वह स्वयं अपना भोजन पकाते थे पसे की जगह धेला खर्च करते थे और हिसाब साफ़ रखते थे। बड़ी-बड़ी कठिनाइयां झेलीं पर किसी का एहसान नहीं लिया। उन्हें कोई व्यसन न था (साहित्यिक व्यक्तियों के लिए कोई न कोई व्यसन पाल लेना आजकल आईन में दाखिल है) उनकी कल्पना सखड़ी टेकती हुई न चलती थी उनमें जो ओज था और संयम था उसी से रचना-शक्ति उत्पन्न होती थी उसी तरह जैसे बाहुबल से दया और क्षमा उत्पन्न होती है।

भट्ट जी मौलिकता के पुजारी थे और जो कुछ लिखा मौलिक लिखा। बंगला अनुवादों से उन्हें घृणा थी। हिन्दी में जो निराशावाद का जोर है, इसकी जिम्मेदारी वह बंगला साहित्य के सिर रखते थे। वह खुद वीर भक्त थे। बंगाली नाटककारों के वीररस प्रधान का खूब मजाक उड़ाते थे। प्राचीन कवियों के नग्न शृंगार-वर्णन को भी वह हिन्दी-साहित्य का कलंक समझते थे और यह उनके साहित्यिक परिहास का एक स्रोत था।

भट्ट जी ने जीवन में एक ही काम रोमांटिक ढंग से किया और वह अपना

विवाह था। जिस देवी से उनका प्रेम था उससे वंश-परम्परा की जरा भी परवाह न करके उन्होंने चुपके से विवाह कर लिया। मित्रों को खबर तक न थी। इसकी खबर उस वक्त मिली जब आपका घर आबाद हो चुका था इसलिए ढोली ठोंक कर दावत लेने का अवसर भी मित्रों के हाथ से जाता रहा। कई दिन बाद मित्रों के पास मिठाई पहुँची जिसने उनके आँसू पोंछे। हमारे पास वह मिठाई भी न पहुँची। एक दिन रास्ते में उनसे हमारी मुलाकात हुई। हँसकर बोले—'गर्मी आपकी मिठाई रखी हुई है आदमी आपका मकान तलाश करके थका आता है, अभी मकान सब कुछ बता देता हूँ पर उसे कुछ पता नहीं चलता। अब मैं खुद ही लेकर आऊँगा।

आखिर हमने बेहयाई की और उनके घर जाकर मिठाई खायी।

वही जिन्दा दिल बलिष्ठ संयमी प्रतिभाशाली व्यक्ति ऐन जवानी में अकाल मृत्यु का ग्रास बन गया जब साहित्य को उसकी प्रौढ़ प्रतिभा से बहुत कुछ आशाएँ बंध रही थीं। आज भी उनसे अच्छे कवि उनसे अच्छे नाटककार और उनसे अच्छे हास्य लेखक मौजूद हैं लेकिन ऐसी विनोदशीलता ऐसी उबलती हुई प्रसन्नता ऐसी उमड़ती हुई मुहमिलायी हमें कहीं नजर नहीं आती। भट्ट जी इस मैदान में अकेले थे। उनकी याद बहुत दिनों आयेगी और हृदय में उनका जो स्थान था वह बहुत दिनों खाली रहेगा।

१४ मई १९२४

स्वर्गीय पं० चन्द्रशेखर शास्त्री

अभी गत सप्ताह प्रयाग में पं० चन्द्रशेखर शास्त्री का स्वर्गवास हो गया। शास्त्री जी संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी हिन्दी के बड़े हिमायती और सेवक थे। बहुत वर्षों से आप हिन्दी की सेवा करते आ रहे थे। कई वर्षों पूर्व आपने संस्कृत में 'शारदा' नामक उच्चकोटि की पत्रिका निकाली थी पर वह अधिक वर्ष न चल सकी। साहित्य में आपका बड़ा अनुराग था बल्कि यह कहना चाहिए कि साहित्य-सेवा करना आपका एक व्यसन ही था। दस-बारह वर्षों पूर्व आपने 'समाज' नामक एक हिन्दी पत्र भी निकाला था पर हिन्दी का दुर्भाग्य कि वह भी न चल सका। पटना की शिक्षा के सम्पादन-विभाग से भी आपका सम्बन्ध रहा है। आपने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। साहित्य सम्मेलन की सेवा आप बड़े निःस्वार्थ भाव से करते रहे हैं। आपका सारा जीवन साहित्य की सेवा करते ही बीता। इधर एक बहुत बड़ा आयोजन आपने किया था—सचित्र और सम्पूर्ण सटीक हिन्दी महाभारत प्रकाशन करने का। कुछ खण्ड प्रकाशित हो भी चुके थे कि आप चल बसे। हम शास्त्री जी के सुपुत्र श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा और

उनके परिवार से समवेदना प्रकट करते और आशा रखते हैं कि वे शास्त्री जी के शेष कार्य को उसी योग्यता और उत्साह से पूर्ण करने का प्रयत्न करेंगे।

जुलाई १९३४

स्वर्गीया मैडम क्यूरी

गत सप्ताह संसार प्र सद्ध रेडियम की आविष्कर्त्री मैडम मेरी क्यूरी का स्वर्गवास हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि जगत के विद्वानों खासकर वैज्ञानिकों के लिए यह समाचार महान् दुखदायी होगा। आपका रेडियम का आविष्कार विश्व के इतिहास में एक महान् कार्य है। रेडियम से साधारणतः अब सभी लोग थोड़े-बहुत परिचित हो गये हैं। यह संसार में सबसे मूल्यवान धातु है और बहुत ही कम तादाद में पायी जाती है। कहा जाता है कि दो सौ टन से भी अधिक कच्ची धातु के शोधन करने पर केवल एक ग्राम रेडियम प्राप्त हो सकता है और इस एक ग्राम रेडियम का मूल्य दो लाख रुपया होता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि संसार में इससे मूल्यवान धातु और कोई नहीं है। सन् १८९६ में बेक्वेरेल ने पिनाकम के रेडियो-ऐक्टिव गुणों का ज्ञान प्राप्त किया। मैडम क्यूरी ने भी अपने पति के साथ इस तत्व पर अनुसंधान आरम्भ कर दिया। आस्ट्रियन सरकार के द्वारा पिच ब्लेण्ड नामक पिनाकम की एक टन कच्ची धातु, इन्हें अनुसंधान के लिए प्राप्त हुई। आपने अपने टूटे झोपड़े में अपना कार्यारम्भ कर दिया। आज वह टूटा झोपड़ा वैज्ञानिकों की दृष्टि में बड़ा महत्वपूर्ण है।

मैडम क्यूरी ने कई पुस्तकें भी लिखी हैं। सन् १९ ३ में आपको भौतिक विज्ञान विषय का नोबल पुरस्कार मिला था। रायल सोसायटी ने पदक से और पेरिस विश्व विद्यालय ने डाक्टर की उपाधि से आपको सम्मानित किया था। सन् १९ ६ में आपके पति मिस्टर क्यूरी की मृत्यु हुई और सन् १९३४ के इसी सप्ताह में मैडम क्यूरी भी स्वर्गवासिनी हो गयीं। यद्यपि आप इस समय संसार में नहीं हैं पर इसमें सन्देह नहीं कि आपका यश सदा-सर्वदा अमर रहेगा।

जुलाई १९३४

डाक्टर हीरालाल का स्वर्गवास

कटनी (सी पी) के डाक्टर हीरालाल जी सीपी के मूल्यवान मोती की तरह आभावाले व्यक्ति थे। लगभग पचास वर्षों से आप हिन्दी-साहित्य की सेवा करते आ रहे थे। अंग्रेजी के आप पुराने ग्रेजुएट और संस्कृत पाली और प्राकृत के प्रकाण्ड विद्वान्

थे। साधारण-सी नौकरी से आप डिप्टी कमिश्नर के पद तक पहुँच थे और इसी अवसर में आपने इतिहास और पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजों के द्वारा अपने को काफी विख्यात कर लिया था। यों कहना चाहिए, कि इतिहास-पुरातत्त्व के क्षेत्र में आप भारत के एक गिने चुने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त महान् व्यक्ति थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा अनेक हिन्दी संस्थाओं से आपका सम्बन्ध था। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के तो आप बर्षों सभापति भी रहे थे। दो वर्षों पूर्व पटना में होनेवाली ओरियण्टल कांफ्रेन्स के आप सभापति बनाये गये थे। और अभी-अभी आप विश्व-पुरातत्त्व-परिषद् में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से भेजे गये थे। आप बड़े ही सरल और उदार थे। अभिमान आप में जरा भी नहीं था। आपने आजन्म हिन्दी-साहित्य की सेवा की पर खेद कि हिन्दुस्तानियों ने आपका यथार्थ सम्मान न किया। नागपुर विश्वविद्यालय ने तो अब जाकर कहीं उन्हें डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित करके शायद अपने को आक्षेप से मुक्त किया था। पर डाक्टर साहब का व्यक्तित्व और काम ही ऐसा जबरदस्त था कि बिना माँगे उन्हें देश और विदेश से महान् यश मिल गया था। आपने सी० पी० के कई जिला के इतिहास-संबंधी 'सागर सरोज' 'दमोह दीपक' 'जबलपुर ज्योति' आदि कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी लिखी थीं। हिन्दी और देश का दुर्भाग्य है कि ११ अगस्त को आपका स्वर्गवास हो गया। हम आपके परिवार के साथ सच्चे हृदय से समवेदना प्रकट करते हैं।

सितम्बर १९३४

कालाकांकर नरेश का स्वर्गवास

साहित्य-क्षेत्र में तो कालाकांकर का नाम पचासों वर्षों के पूर्व ही चमक उठा था पर इधर वह राष्ट्रीय क्षेत्र में भी जगमगाने लगा था। कालाकांकर के वर्तमान नरेश श्री अवधेश सिंह जी ने अपने को पूर्ण राष्ट्रवादी और कौमस-भक्त बनाकर यू० पी० के तालुकेदार वर्ग में उच्च पद प्राप्त कर लिया था। कालाकांकर को महात्मा जी के पदार्पण द्वारा आप ही ने सर्वप्रथम पावन बनाया था। आपने अपने परिवार का ही रंग एकदम बदल दिया था। आप बड़े उत्साही देशभक्त और निर्भीक व्यक्ति थे। साइमन-कमीशन का बायकाट करने में आपने बड़ा जोरदार काम किया था और कष्टस्वरूप आपको अनेक कष्ट उठाने पड़े थे। खेद की बात है कि ऐसे आदर्श देश भक्त नरेश का जो भारत को एक स्वर्गिक समझता था ता० ? सितम्बर के प्रातःकाल स्वर्गवास हो गया। हम आपके परिवार के साथ समवेदना प्रकट करते और ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

सितम्बर १९३४

श्रद्धांजलि

काशी के उस अवतारी महापुरुष 'भारतेन्दु' ने विक्रम संवत् १९०७ में जन्म लिया और सम्वत् १९४१ के माघ मास की कृष्णा षष्ठी को पुण्य-लोक का प्रयाण किया था। चौंतीस वर्ष और कुछ महीनों के अल्प जीवन में उसने हिन्दी को जन्म देकर उसकी जो सेवा-सुश्रूषा की, उसकी जो शरीर-संवर्द्धना की, उसे वह तो नहीं देख सका पर आज पचास वर्षों के बाद हिन्दी के भक्त और सेवक उसे देख-देखकर निहाल हो रहे हैं। वास्तव में हिन्दी के विधि-विधान से 'भारतेन्दु' ने अवतार लिया था और अवतारी महापुरुषों की तरह ही अल्पकाल में वह बहुत कुछ करके विलीन हो गया। आज कौन है उनका समकक्ष? कोई होगा इसकी किसे खबर। कुछ मित्रों ने अन्य भाषा-जगत में उनके समकालीन समकक्ष साहित्य विधाताओं को खोज निकाला है, ठीक है, पर भली भाँति देखने और विचार करने पर 'भारतेन्दु' का प्रखर प्रकाश तो अलग ही एक विशिष्ट चकाचौंध फैलाता नजर आता है। अन्य भाषा-साहित्य के विधाताओं ने अपने जीवन के पचास-साठ या सत्तर वर्षों के काल में जो कार्य किया उससे कहीं अधिक और विविध-विध हमारे 'भारतेन्दु' ने सत्रह-अठारह वर्षों में कर दिखाया। उसकी चतुर्मुख प्रतिभा अध्ययनशील व्यक्तियों के हृदय आनन्द विभोर कर देती है।

'भारतेन्दु' वास्तव में एक महान पुरुष था। उसके सच्चे हृदय में जहाँ राजा के प्रति प्रेम था वहाँ दुरवस्था-ग्रस्त अपने देशवासियों के प्रति भी सच्ची सहानुभूति और सच्चा दर्द था। महान् कवि होते हुए भी उसने गुणी कवियों को एक-एक शब्द के लिए एक-एक अशर्फी तक भेंट की। वह सच्चा गुणग्राही था। रस रंग में परिप्लावित रहते हुए, धन का दिया जलाते हुए भी उसने गरीब भूखों को शरीर के वस्त्र तक उतारकर दान कर दिये। वह सच्चा दानी था। आज से साठ वर्षों पूर्व ही उसने देश का धन विदेश जाते देखकर हृदय के आँसू बहाये थे और कहा था— पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी। वह सच्चा देश भक्त था। समाज-हित-साधन में जाति-बिरादरीवालों का और शासकों की पोल खोलकर गवर्नमेण्ट का कोप भाजन होने की उसने जरा भी परवाह न की और कष्टों का बड़े साहस से सामना किया—ऐसा था वह भारतेन्दु।

परम प्रसन्नता की बात है कि आज पचास वर्षों के बाद हिन्दी के सेवकों ने उस महान विभूति का अर्द्ध-शताब्दी उत्सव मनाने का आयोजन किया है और सभी अपने-अपने हृदय की श्रद्धांजलि अर्पण कर रहे हैं। हम भी सब के साथ सादर श्रद्धांजलि अर्पण करते हुए ईश्वर से प्रार्थी हैं कि एक बार फिर एक बार उसे इस लोक में भेजकर अपनी आत्मजा हिन्दी को तनिक देख लेने का अवसर दे कि पचास वर्षों में वह कैसी फली-फूली और राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर चुकी है।

जनवरी १९३५

स्वर्गीय सूर्यनाथ तकरू

गत ११ दिसम्बर को १ बजे दिन में सूर्यनाथ तकरू का स्वर्गवास हो
गया। किसे मालूम था कि प्रबल निमोनिया के प्रहार से वह दिव्य देहवाला प्रतिभाशाली
बस केवल पच्चीस वर्षों की अल्प आयु में ही यों अकस्मात् कुचल दिया जायगा। वैसे
दुनिया म नित्य ही बीच जन्म लेते और लय हो जाते हैं पर जिसके द्वारा भविष्यत्
म हिन्दी की अद्भुत सेवा होने की आशा थी उस युवक के निधन पर भला किस हिन्दी
प्रमी को दुःख न होगा। जिसने उसे अपने सब्ज़ेनार बालों से युक्त शेर की तरह
गर्दन उठाये दहाड़ते हुए देखा हो वह भला जीवन भर उसे कैसे भूल सकता है। वह
मस्ताना बीकटबाला युवक जब दरवाजे पर पहुँचकर दहाड़ता था तब अठखेलियाँ
करती हुई कल्पनाएँ उसके मुख की ओर केन्द्रित हो जाती थीं। वह बड़ा ही हँसोड़
युवक था। जब तक वह बैठता समा बँधा रहता था। वह दिल खोलकर निर्द्वन्द्व होकर
वार्तालाप करता था। उसके व्यक्तित्व में जादू था। उसे पढ़ने-लिखने का बड़ा शौक
था। कोई भी अच्छी नयी किताब निकलती तो सबसे पहले खरीदकर वही पढ़ता। वह
अच्छा लेखक था और कवि भी। अंग्रेजी पत्रों म भी वह लेख लिखा करता था। एम
ए करके एल एल बी की तैयारी कर चुका था। हास्यरसात्मक लिखने की उसम
खास प्रवृत्ति थी। सामयिक प्रसगों पर वह बड़े अच्छे व्यग्य लिखा करता था बड़ी अच्छी
चुटकियाँ लिया करता था। अध्ययन करते हुए ज्ञानवर्द्धिनी बातो का सग्रह करने म
उसे बड़ी दिलचस्पी थी। बड़ा अच्छा सग्रह उसने कर रखा था। हमने जब 'हंस' का
स्वदेशांक' निकाला तो उसने 'स्वदेश के सम्बन्ध म शीर्षकवाली सग्रह' के नाम स
सात पृष्ठों की ऐसी सामग्री दी जो अमित समय तक परिश्रम करने और अनेक ग्रन्थों
क हजारों पृष्ठों का अध्ययन करने से ही प्राप्त हो सकती है। बातचीत करने म हँसी
मजाक में बड़ा कुशल बड़ा हाजिर-जवाब। उसके ससग से वातावरण मस्त हो जाता
था। ऐसे दिलचस्प युवक क निधन स सचमुच मित्रों को गहरा दुःख हुआ मानों मन हो
गयो। जीवन में उसकी याद हमेशा ताजी बनी रहेगी। ऐसे समय उसके परिवारवालों
के दुःख का कैसे अन्दाज लगाया जा सकता है। ईश्वर उन्हें यह दुःख सह लेने की
शक्ति दे। हम उस स्वर्गीय क परिवार के निकट आत्मिक समवेदना प्रकट करते हैं।

जनवरी १९३४

स्वर्गीय मौलाना हाली की शताब्दी-जयंती

स्वर्गीय मौलाना हाली (ख्वाजा अलताफ हुसेन) उर्दू साहित्य के युग-प्रवर्तकों में
हैं और गत सप्ताह उनके जन्मस्थान पानीपत में उनकी जयन्ती जिस समारोह से मनायी

॥ स्वर्गीय मौलाना हाली की शताब्दी-जयंती ॥

गयी वह उनकी शान के सर्वथा योग्य थी। सभापति के आसन को हिज हाइनेस नवाब साहब भोपाल ने सुशोभित किया था और भारत के प्रत्येक प्रान्त से भक्तों ने आकर अपनी श्रद्धांजलि उनकी स्मृति की भेंट की। उनमें नवाब भी थे रईस भी थे साहित्य के उपासक भी थे। अलीगढ़ और उसमानिया विश्वविद्यालयों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। निजाम हैदराबाद का प्रतिनिधि भी आया था। पानीपत में एक हाली मुसलिम हाईस्कूल है। एक कन्या पाठशाला खोलने का निश्चय भी किया और नवाब साहब भोपाल ने बीस हजार रुपये प्रदान किये। अन्य सज्जनों ने भी दस हजार चन्दा दिया।

मौलाना हाली उर्दू साहित्य म नवयुग के प्रवर्तक हैं। उर्दू शायरी को अलंकारों और कृत्रिम भावों और विरह के पचड़ों से मुक्त करके उसमें जागृति पैदा करनेवाली भावनाएँ भरीं। आपका 'मुसद्दस' उर्दू साहित्य का सबसे प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ है जिसमें मौलाना हाली ने मुसलिम राष्ट्र के उत्थान और पतन का वृत्तान्त ओज और प्रसाद से भरी हुई शैली में बयान किया है। पहले आप गजलें कहते थे पर उसे व्यर्थ समझकर छोड़ दिया। गद्य साहित्य म भी आपका स्थान उतना ही ऊँचा है। आपने सर सैयद अहमद का जीवन-चरित्र 'हयाते जावेद' (अमर जीवन) के नाम से लिखकर उर्दू में विचारात्मक जीवन-चरित्रों की बुनियाद डाली। उर्दू साहित्य में आलोचना के जन्मदाता भी मौलाना हाली ही है। आपकी शैली गम्भीर विचारपूर्ण होती है और कठिन से कठिन विषय की भी आप ऐसी व्याख्या करते हैं कि वह सुगम हो जाता है। साहित्यिक नैतिक और दार्शनिक विषयों पर आपने जितने ही निबन्ध लिखे जो उर्दू साहित्य का गौरव बढ़ाते हैं। मौलाना हाली सर सैयद अहमद के घनिष्ठ मित्रों में थे और अलीगढ़ यूनिवर्सिटी की स्थापना में उनका पूर्ण सहयोग था। हम भी आपकी स्मृति म अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते है। कौम ऐसे ही कवियों और विचारकों से बनती है और हमें यह देखकर गर्व होता है कि उर्दू के भक्त अपने महारथियों का सम्मान करने में किसी से पीछे नहीं हैं। खुशी की बात है, कि इस समारोह मे हिन्दू साहित्यकार भी शरीक हुए थे। साहित्य एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ पंथिक भेद-भाव के लिए स्थान नहीं।

नवम्बर १९३५

मि० किप्लिंग का स्वर्गवास

इंगलैण्ड के मशहूर साहित्यकार रुड्यार्ड किप्लिंग का स्वर्गवास हो गया। आपका जन्म भारत में हुआ था। आपके पिता बम्बई के आर्ट स्कूल में अध्यापक थे। रुड्यार्ड किप्लिंग ने यहीं शिक्षा पायी यहीं अंग्रेजी पत्रों में लिखना शुरू किया और ख्याति पा जाने के बाद विलायत चले गये। उनकी भाषा में प्रवाह था विचारों में

प्रौढ़ता थी और उनकी सृजन-शक्ति अपूर्व थी। उनकी रचनाओं में 'चपल मुख' 'किम'
और फौजी कहानियाँ अमर हैं। फौजी जीवन के जितने यथार्थ चित्र उन्होंने खींचे
अंग्रेजी में बहुत कम किसी ने खींचे होंगे। आप साम्राज्यवाद के अनन्य भक्त थे और
आपके मत में पश्चिम अनन्त तक पूर्व पर प्रभुत्व जमाये रखने के लिए आया था पर
इस मत को स्वीकार न करते हुए भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह ऊँचे दरजे के
कलाकार थे और आगे चलकर शायद उन्हें अपनी गलती नजर भी आने लगी थी।

फरवरी १९३६

सम्राट जार्ज पंचम का स्वर्गारोहण

किसे इस अनिष्ट की शंका थी कि सम्राट जार्ज पंचम का इतने आकस्मिक रूप से स्वर्गवास हो जायगा। मृत्यु तो संसार का अटल सत्य है। जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा ही पर सम्राट का अन्त इतना निकट है, इसकी तो कल्पना तक न की जा सकती थी। वैध शासन में जो कुछ करता है, मंत्रिमंडल करता है, पर अज्ञात रूप से राजा का दबाव पड़ना अनिवार्य है। यह कौन नहीं जानता कि दुखी भारत पर उनकी विशेष दृष्टि रहती थी। आपके लिए आपका साम्राज्य केवल एक मानचित्र न था बल्कि सजीव वस्तु था जिससे आप भली-भाँति परिचित थे। आप १९०५ में भारत आये और यहाँ से जाकर आपने इंगलैण्ड में जो भाषण दिया था उसमें भारत के प्रति सहानुभूति की प्रेरणा की थी। इसी तरह दिल्ली दरबार के शुभ अवसर पर भी आपने भारत के लिए शुभेच्छाएँ प्रकट की थीं। आपको जब-जब अवसर मिले आपने भारत के लिए आत्मा भरे उत्साह बढ़ानेवाले शब्द कहे। आज आपकी मृत्यु से भारत को अपने एक सच्चे हितैषी के उठ जाने का शोक हो रहा है। आपका राज्यकाल अपनी सुकीर्ति के लिए बहुत दिनों तक याद रहेगा।

फरवरी १९३६

हजरत राशिद खैरी का स्वर्गवास

हजरत राशिद खैरी के स्वर्गवास से उर्दू-साहित्य में ऐसा स्थान खाली हो गया जिसकी पूर्ति मुश्किल से होगी। आप उन लेखकों में थे जो समाज में अन्याय नहीं देख सकते और हमेशा उसके खिलाफ जेहाद करते रहते हैं। आपने अपनी सारी प्रतिभा मुस्लिम महिलाओं की वकालत की भेंट कर दी। आपकी लेखनी से करुणा की धारा-सी बहती थी। महिला-जीवन और उनके मनोभावों का आपने गहरा अध्ययन किया था

और जब अपने पात्रों को करुण-कथा कहते थे तो उस व्यथा का चित्र-सा खींच देते थे। आपने सैकड़ों पुस्तकें लिखी हैं और जो जनप्रियता आपको प्राप्त हुई वह विरले ही किसी को मिली होगी। आपकी शैली सबका अनूठी है। बहुतों ने उसकी नकल की पर कोई सफल न हुआ। उसमें आपका व्यक्तित्व आइने की तरह झलकता है। दिल्ली की प्यारी जबान लिखनेवाला आपके बाद अब और कोई नजर नहीं आता। ईश्वर आपको स्वर्ग प्रदान करे।

मार्च १९३६

श्रीमती कमला नेहरू का स्वर्गवास

जिस वक्त श्रीमती कमला नेहरू के स्वर्गवास की खबर अखबारों में निकली ता ऐसा कौन आदमी था जो अखबार को पटककर सिर पर हाथ रखकर कई मिनट तक मर्माहत की-सी दशा में खो न गया हो। यह केवल राष्ट्र की वीर सेविका की मृत्यु न थी अपनी ही बहन या माता की मृत्यु थी। उस सुमन-सी देह में कितनी साधना शक्ति थी जिसने कभी त्याग को त्याग और खतरे को खतरा न समझा और कठिन से कठिन यातनाएँ हँसकर झेलीं। यह आपके उस प्रेम की विभूति थी जिसने सारे देश को अपने अन्दर समेट लिया था। त्याग और साहस प्रेम ही के भिन्न रूप तो हैं। जिसमें प्रेम का बल नहीं वह राष्ट्र पर अपने को होम कैसे कर सकता है। जिस वक्त आप यहाँ से योरोप गयीं तो हम आशा थी आप वहाँ से स्वस्थ होकर लौटेंगी। आपकी हालत कुछ-कुछ सँभलने की खबरें भी आयी थीं। पण्डित जवाहरलाल जी जब बेडन-वाइलर से लन्दन आये तो हमने समझा अब कोई खतरा नहीं रहा मगर हमारी आशाएँ झूठी निकलीं और आप राष्ट्र के सामने वीर नारी का अमर आदर्श रखकर प्रस्थान कर गयीं। हमें पण्डित जवाहरलाल से इस मातम में दिली हमदर्दी है, जिनका तपस्वी कठोर कर्तव्य का अभ्यस्त जीवन भी इस सूनेपन को शायद ही मिटा सके।

अप्रैल १९३६

श्री मैथिलीशरण स्वर्ण-जयन्ती

श्री मैथिलीशरण जी ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है उतनी शायद किसी व्यक्ति ने नहीं की। हिन्दी के नवीन पद्य-साहित्य में से उनकी विभूतियों को निकाल डालिए तो वह केवल फुटकर कविताओं का संग्रह मात्र रह जाता है। महाकाव्यों का आदि से ही साहित्य में सर्वोच्च स्थान रहा है। संसार-साहित्य में आज भी जिन ग्रन्थों

का सबसे ज्यादा आदर है वह महाकाव्य ही है। और गुप्त जी ने एक-दो नहीं करीब करीब एक दर्जन महाकाव्यों की रचना कर डाली है। किसी भी साहित्य में यह गौरव दो ही चार कवि-सम्राटों को मिला होगा। आपकी रचनाओं का रूप तो पुराने शास्त्रों के अनुकूल ही है मगर उनमें नये युग का स्पन्दन है और जागृति है। आपके रचे हुए चरित्र आदर्श होते हुए भी मानव हैं तुलसीदास के चरित्रों की भाँति देवता या राक्षस नहीं। रसों को व्यक्त करने में और उनके प्रवाह में पाठक को बहा ले जाने में गुप्त जी को कमाल है। आप इस समय पचासवें साल में हैं। आगामी भादव शुक्ला याने २१ जुलाई १९३६ को आप पचास पूरे करके इक्यानवें वर्ष में पदार्पण करेंगे। श्री बालकृष्ण जी शर्मा 'नवीन' ने कानपुर के कवि-सम्मेलन में अपना सदारती भाषण देते हुए यह प्रस्ताव किया था कि हिन्दी-साहित्य-प्रेमियों को उस दिन गुप्त जी की स्वर्ण-जयन्ती का उत्सव मनाना चाहिए। हम इस प्रस्ताव का हृदय से समर्थन करते हैं। आपने उत्सव मनाने के दो रूप बताये हैं। एक तो यह कि उस तिथि को हिन्दी के प्रमुख साहित्य सेवी गुप्त जी के निवास-स्थान चिरगाँव में जमा होकर उन्हें बधाई दें। दूसरा यह कि सभी बड़े-बड़े शहरों में सभाएँ की जायें और गुप्त जी की साहित्य-सेवाओं की चर्चा हो और उनके दीर्घ जीवन की कामना की जाय। एक तीसरा प्रस्ताव श्रीयुत् रामचन्द्र जी टंडन सम्पादक 'हिन्दुस्तानी' इलाहाबाद का है कि इस जयन्ती के उत्सव में गुप्त जी की सम्पूर्ण रचनाओं का एक स्टैंडर्ड एडीशन निकाला जाय मगर अभी तो गुप्त जी पचासवें साल में ही हैं। अभी उन्हें कम से कम सत्तर तक जीना है यानी साहित्यिक जीवन जीना है, इसलिए यह एडीशन तो फिर भी अधूरा ही रहेगा। हाँ नवीन जी के दोनों प्रस्ताव व्यवहारिक हैं और अवसर के अनुकूल हैं मगर हम इतना निवेदन कर देना चाहते हैं कि अगर कोई साहित्य-सेवी चिरगाँव न पहुँचकर केवल पत्र द्वारा बधाई भेंट कर दें तो उसे भी वही मजा मिले जो वहाँ उपस्थित होनेवालों का मिलेगा।

जून १९३६

डाक्टर एम० ए० अंसारी का स्वर्गवास

डा अन्सारी के स्वर्गवास से राष्ट्र को जो क्षति पहुँची है उसकी पूर्ति होनी मुश्किल है। आपका जीवन त्याग और अदम्य उत्साह का आदर्श था। हवारा होना आपने कभी जाना ही नहीं। आप जितने योग्य जेनरल थे उतने ही योग्य सैनिक भी थे। क़ौमी काम के सामने आपको न धन की परवा थी न स्वास्थ्य की। इधर आपका स्वास्थ्य कुछ दिनों से खराब हो रहा था मगर यह आशंका तो हो ही नहीं सकती कि आपका अन्त इतना निकट है। शोक!

जून १९३६

फुटकर चुटकुले

न्याय का प्रश्न

जूरी-ट्रायल

खून या फौजदारी के मुकदमों में जूरी की—पंच की—सलाह लेना एक प्राचीन प्रथा है पर आजकल भारत की अदालतों में इस प्रथा को जो रूप दिया गया है वह भारत के लिए नया है। जहाँ तक हमें मालूम है, यहाँ के न्यायालयों में जूरी का उतना आदर नहीं होता। उसके लिए कई ऐसी असुविधाएँ हैं, जिससे प्रतिदिन नागरिक इस पद पर निमन्त्रित किये जाने से बहानेबाजी कर काम नहीं करना चाहते। जूरी को जितना भत्ता मिलता है, वह उसकी हानि को देखते हुए इतना कम होता है, कि अधिकांश लोग जूरी में बुलाये जाने के नाम से ही काँप उठते हैं। यही कारण है कि भारत म जूरी प्रथा विशेष सफल नहीं हो रही है।

फिर भी यह कहना कि यहाँ के जूरी निष्पक्ष नहीं होते उनकी नीयत खराब होती है, उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता ...इत्यादि यहाँ के देशवासियों के चरित्र पर ही दोष लगाना है, और हमें बड़ा दुःख है कि पटना-हाईकोर्ट के सम्मानित जजों ने केवल एक मुकदमे की गति देखकर इतनी कड़वी तथा जिम्मेदार बात कह डाली। बिहार के एक गाँव में एक ग्वाला आम रास्ते से अपना भैंस लिये जा रहा था। गाँव के कुछ जमींदार या धनी काश्तकारों ने उसे भुआ भैंस ले जाने से मना किया क्योंकि इसमें फसल चर लिये जाने का भय था। ग्वाले ने अपने अधिकार को छोड़ना अस्वीकार किया। बात बढ़ गयी और वह मारा गया। मामला दौरा जज के इजलास पर आया। मौ से सात जूरियों ने अभियुक्तों को निरपराध पाया। दौरा जज ने मामला पटना-हाईकोर्ट में भेज दिया। वहाँ कई को फाँसी लगी या कालेपानी की सजा मिली।

मुकदमा बिहार का है, अत: पूरी रिपोर्ट हमारे पास नहीं है। पर, अदालती बारीकियों पर कुछ लिखना भी व्यर्थ है। अभी हाल में इलाहाबाद-हाईकोर्ट ने मिर्जापुर के दंगे के विषय में जो फ़ैसला सुनाया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जरा-सी भूल से कानून बड़ी हानि कर सकता है। अतएव दौरा जज की हो राय ठीक है या पटना हाईकोर्ट का निर्णय ठीक है यह कानूनदाँ जानें हमारे हृदय में दोनों के लिए समान आदर है। पर इस विषय में जूरी की राय को 'पक्षपातपूर्ण' मान लेना उन्हें बेईमान-सा समझ लेना तथा इस उदाहरण से यह सलाह दे बैठना कि भारत में जूरी प्रथा गलत साबित हो रही है, बड़ी कड़वी बात है। शायद जरूरत से ज्यादा

है और हमारी सम्मति में हाईकोर्ट के आदरणीय जजों ने समूचे भारत के लिए एक बीभत्स लांछन लगाया है।

भारतीयों की अयोग्यता प्रमाणित करते रहना, हर तरह से उसका गलत रास्ते पर चलनेवाला नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट सिद्ध करना यह 'स्टेट्समैन' ऐसे पत्रों के लिए बड़ा ही रुचिकर काम है और हम यह देखकर आश्चर्य नहीं हुआ कि अपने छः फरवरी के अंक में 'स्टेट्समैन' ने इसी पर एक अग्रलेख तक लिखा है और लिखने के जोश में हाईकोर्ट द्वारा सिद्ध अपराधियों को 'गुण्डा' लिखा है। 'गुण्डा' (रफ़ियन्स) का प्रयोग शायद हाईकोर्ट के निर्णय की महत्ता दिखलाने और जूरियों के चरित्र बल की हीनता दिखलाने के लिए किया गया है। इंग्लैंड ऐसे आदर्श देशों में भी जूरी-द्वारा मुकदमे कराने के विषय में विवाद उठ चुका है। हमें यह भी ज्ञात है कि वहाँ अभी तक भारत ऐसी घटनाएँ होती हैं। क्या 'स्टेट्समैन' यही बातें इंग्लैंड के लिए भी लिखने को तैयार है। भारत तो पतित मूक चरित्रहीन है ही पर यदि उससे कहीं बीभत्स आरोप हम अपने शासकों की जाति पर करते तो यह हमारी नीचता या कानून के लिहाज के पास समझा जाता। पर हमें मालूम है कि यदि ब्रिटिश चरित्र के दूषण हैं तो भूषण भी। उसी तरह भारतीय चरित्र के भी—और दूषण की अपेक्षा भूषण अधिक है।

११ फरवरी १९३२

बनारस को अँधेरी कचहरियाँ

और जगहों का तो हमें अनुभव नहीं पर बनारस के आनरेरी मुनसिफ़ों के इजलास में जो मुकदमा एक बार गया बस समझ लीजिए कि चार-छः महीने के लिए छुट्टी हो गयी। रोज दोनों फ़रीक़वाले इजलास के द्वार पर जूतियाँ चटकाते हैं, मुकदमा पेश होता है और मुश्किल से आध घंटे की कार्यवाई के बाद दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया जाता है। दस-दस पाँच-पाँच रुपये के मामलों की पैरवी में सैकड़ों का वारा-न्यारा हो जाता है। रोज गवाहों की सवारी और जलपान का खर्च और वकील का मेहनताना चाहिए। शायद सरकार ने इन आनरेरी मुंसिफ़ों को इसीलिए बनाया है कि उनके इजलास में जो एक बार फँस जाय वह फिर जिन्दगी भर के लिए कान पकड़ ले और भूल कर भी कचहरी के हाते में न जाय। इन भले आदमियों को न जाने इतनी मोटी-सी बात क्यों नहीं सूझती कि उनकी इस ढील से मुकदमेवालों को कितनी तकलीफ़ कितनी परेशानी होती है। अपना सारा कारोबार छोड़कर कचहरी में पड़े रहना और एक-दो दिन नहीं महीनों इस तरह तो शैतान भी नहीं घुमाता। हमें याद

है। अफ्रीका में ऐसे मुआमले दस-दस मिनट में तय हो जाया करते थे। इन अंधेरी इजलासों में वकीलों की तो चाँदी है। यहाँ दिन भर टके से भेंट न होती थी वहाँ अगर कोई मुकदमा महीने भर भी चला तो अच्छी खासी रकम हाथ आ गयी। यह आनरेरी मुंसिफ अपनी अयोग्यता के कारण खुद तो सोच-समझ सकते नहीं स्वार्थी वकीलों की मनमानी करते हैं। पहले तो आनरेरी मैजिस्ट्रेटों का ही रोना था। अब उनके बड़े भाई आनरेरी मुंसिफ भी पैदा हुए, जो बहुत-सी बातों में उनसे भी बढ़े हुए हैं। हमारे एक दोस्त कहते हैं, कि एक मामूली मार-पीट का मुकदमा यहीं की अंधेरी इजलास में भी महीने चला और दोनों फरीकों के एक-एक हजार बिगड़ गये तब सुलह हुई। इसी तरह के और भी बहुत से मुआमले सुनने में आये हैं। एक साहब तो चार बजे तक ताश खेलते हैं। उधर नीम के पेड़ के नीचे मुकदमेवाले और उनके वकील पड़े ऊँघा करते हैं। कहीं चार बजे मुंसिफ साहब आहिस्ता से इजलास पर आते हैं और आध घंटा ठहर कर फिर अन्दर दाखिल हो जाते हैं। फरीकैन तबाह हों उनकी बला से और है भी ठीक। उन्हें जब वेतन नहीं मिलता तो क्यों तनदेही से काम करें। सरकार ने उन्हें बेगार भरने के लिए नामजद कर दिया है। बेगार भरते हैं। बदले में कभी-कभी अफसरों से हाथ मिलाने का सुअवसर मिल जाता है। क्या हम आशा करें, कि कभी के न्याय-विभाग के अधिकारी इस अंधेर की ओर ध्यान देंगे? आनरेरी मुंसिफ बनाना ही है, तो ऐसों को बनाइये जो कुछ दिमाग रखते हों। निकम्मे मुंसिफ बनाकर जनता का गला क्यों फन्दे में डालते हो।

२ जून १९३३

न्याय में विलम्ब अन्याय है

जस्टिस यंग ने लाहौर हाईकोर्ट में चीफ जस्टिस का चार्ज लेते हुए कहा कि अंग्रेजों के मैगना कार्टा की एक शर्त यह थी कि हम न्याय में विलम्ब न करेंगे जो अन्याय के तुल्य है। आप ने कहा कि इंगलैंड में तो अभी तक उस शर्त की पाबन्दी होती चली आती है, लेकिन भारत में उसे अदालतें भूल गयी हैं और आज एक तरह से अदालतों में न्याय ही होता है, क्योंकि न्याय इतनी देर में होता है कि वह अन्याय के समान हो जाता है। अक्सर आठ-आठ साल में अपीलों का नम्बर आता है। जजों की संख्या तो बढ़ायी नहीं जा सकती। इसलिए मि० यंग की राय है कि अदालतों की छुट्टियाँ घटा देनी चाहिए, ताकि काम बकाया में न पड़े। आप के ख्याल में होली दशहरा बड़ा दिन ईस्टर, ईद और मुहर्रम यही छुट्टियाँ काफी हैं। आपने बहुत ही ठीक कहा कि जब वाणिक व्यापारी साल में इतनी आधी छुट्टियाँ भी नहीं मनाते तो क्या वकील और जज

॥ न्याय में विलम्ब अन्याय है ॥

उनसे ज्यादा धार्मिक हैं जो साल में छः महीने धर्मोत्सव ही मनाया करें। जस्टिस मंच ने एक बड़े ही महत्व का प्रश्न उठाया है और यदि उनके उद्योग से अदालतों की तातीलें कम हो गयीं और न्याय की गति तेज हो गयी तो उनका नाम अमर हो जायगा क्योंकि अब तक यहाँ शिक्षा और अदालत यह दोनों विभाग केवल मौज की बंसी बजाने के लिए हैं। लम्बी-लम्बी तातीलों में ऑनरेबुल जज साहबान योरोप की सैर को निकलते हैं। मुफ्त में वेतन मिले तो काम क्यों किया जाय?

१४ मई १९३४

अंग्रेजी न्याय-परम्परा

सर शादीलाल ने लाहौर की चीफ जजी का पद त्याग करते समय अंग्रेजी न्याय परम्परा पर बड़ा रोचक भाषण दिया और अंग्रेजी अदालतों की मिसालें पेश कीं। वहाँ न्याय-विभाग गवर्नमेंट से बिलकुल अलग है। भारत में भी उसी आदर्श पर अदालतों की स्थापना हुई है, लेकिन यहाँ वह आजादी कहाँ? अगर अदालत ने गवर्नमेंट की नीति के विरुद्ध कोई फैसला किया तो इसका फल उसे जल्द ही मिलेगा। सर शादीलाल ने जजों के लिए यही सबसे श्रेष्ठ मार्ग बतलाया कि वे निजी हानि लाभ का विचार न करके सदैव न्याय की रक्षा करें और गवर्नमेंट उसका जो दण्ड या पुरस्कार दे उसे चुपचाप स्वीकार कर लें।

लेकिन जजों के दिल में यह बात समायेगी इसमें सन्देह है।

१४ मई १९३४

अदालतों में धोती

हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि अदालतों में धोती का क्यों बहिष्कार किया जाता है? गांधी टोपी तो खैर राष्ट्रीयता का चिह्न है, लेकिन धोती तो सभी पहनते हैं, यहाँ तक कि मुसलमान भी घर पर अक्सर तहमद ही बाँधते हैं लेकिन फिर भी अदालतों में मानो पहनना अदालतों का अपमान करना है। क्या धोती से देह नीचे का भाग नग्न रहता है? धोती तो अक्सर एड़ी तक लटकती रहती है। और अगर ऊँची भी रहे, तो क्या वह उस जाँघिये से भी ऊँची होती है, जो लड़ाई के बाद से इतना प्रचलित हो गया है कि हुक्काम इजलास पर भी उसे पहनते हैं। उस जाँघिये से तो आधी जाँघ तक नंगी रहती है, धोती को तो अगर कछनी के रूप में भी पहना जाय तो

वह घुटने से थोड़ी ही ऊपर रहती है। फिर धोती पहनना क्यों जुर्म समझा जाता है? कोई-कोई साहब बहादुर तो धोती देखते ही जामे से बाहर हो जाते हैं। वकील या डाक्टर या व्यापारी अंग्रेजों को तो धोतियों से चिढ़ नहीं है, वहाँ लोग बेधड़क धोती पहने जाते हैं। धोती की मुमानियत केवल अदालतों के लिए है। बम्बई और मद्रास में तो अक्सर हिन्दू जज भी धोती ही पहनते हैं। फिर क्या धोती इसी प्रान्त में आकर अपमान की वस्तु हो जाती है? क्या इससे भी यहाँ स्वाधीनता की गन्ध आती है?

३१ अक्तूबर १९३२

संयुक्त प्रांत में फलों की काश्त

बीस-पचीस साल पहले फल केवल मुँह का जायका बदलने के लिए खाये जाते थे। इनके पोषक गुणों से जनता में बड़ी अनभिज्ञता थी। घर में भी इनका व्यवहार दूध-चोए की चीजों के साथ केवल मन-बहलाव के लिए कर लिया जाता था। रईस लोग अपने बगीचों में फल पैदा करते थे पर केवल शौक के लिए। फलों का कोई व्यावसायिक महत्व न था इसीलिए कि जनता में इनकी माँग न थी। लखनऊ के खरबूजे और आम प्रयाग के अमरूद काशी के लंगड़े अवश्य मशहूर थे पर इनका स्वाद रईस लोग ही उठाते थे। गाँवों में हर किसान के पास दस-बीस पेड़ आम महुआ कटहल आदि होते थे और वह हर साल में दो-चार दिन इन चीजों का स्वाद ले लिया करता था। इससे उसके जीवन की कोई आवश्यकता न पूरी होती थी। ऐसा विरला ही कोई फल है, जिसमें अवगुण न बताये जाते हों। अमरूद और बेर से खाँसी आती थी आम गरमी करता था केले जुकाम पैदा करते थे खरबूजे बलगम लाते थे। पर इस तरफ फलों का भोजन-मूल्य बहुत बढ़ गया है। इस प्रान्त में नागपुर से लाखों रुपये के संतरे, बिहार के आम बम्बई और कलकत्ता के केले पेशावर के अनार, काश्मीर के सेब आकर खप जाते हैं। फिर भी अभी तक फलों की काश्त की ओर न शिक्षित जनता का ध्यान है, न जमींदारों का। इस व्यवसाय के लिए बहुत बड़ी पूँजी की जरूरत नहीं। जिसके पास दो-चार एकड़ जमीन थोड़ा-सा समय और दो चार सौ रुपये हैं, वह इसे मजे से कर सकता है। इन चीजों के लिए बाजार खोजने कहीं जाना नहीं है। बाजार बना-बनाया है। माल के आने की देर है। मन्दी-तेजी का असर भी इस पर बहुत कम पड़ता है। इस विषय का साहित्य भी कृषि-विभाग से आसानी से मिल सकता है। यदि कोई सज्जन इस विषय पर कुछ लिखना चाहें, तो हम धन्यवाद के साथ उसे प्रकाशित करेंगे। हम प्रयत्न कर रहे हैं कि इस विषय पर 'जागरण' में एक लेखमाला क्रम से

प्रकाशित करें। जो महानुभाव हमें इस विषय की उपयोगी पुस्तकों का नाम बताकर, या कुछ लिखकर सहायता देंगे हम उनके अनुगृहीत होंगे।

७ नवम्बर १९३२

कारनिवलों में जुआ

कारनिवलों का मुख्य उद्देश्य जनता के लिए स्वस्थ मनोविनोद की सामग्री पहुँचाना है, लेकिन हमें दुःख से कहना पड़ता है कि काशी में आजकल जो कारनिवल आये हुए हैं, वहाँ जुए के सिवा और कुछ नहीं होता। दो-चार ऐंग्लो इंडियन या ईसाई युवतियाँ युवकों को आकर्षित करने के लिए बैठा दी जाती हैं और तरह-तरह के जुए खेलाये जाते हैं। कहीं चूकी है, कहीं तीर का निशाना है, कहीं कुछ। इससे कितनी कुरुचि फैलती है, और कुप्रवृत्तियों को कितनी उत्तेजना मिलती है, इसका अनुमान करना कठिन है। मामूली जुआ खेलनेवालों पर पुलीस के धावे हुआ करते हैं हालांकि वे गुप्त स्थान में गुप्त रूप से खेलते हैं, लेकिन यहाँ दिन दहाड़े जुआ होता है, पर कोई नहीं बोलता। इसमें क्या रहस्य है, यह समझ में नहीं आता। क्या अधिकारियों को इस जुए की खबर नहीं होती? हमने तो कई बार पुलिस के कर्मचारियों को जुआ खेलते देखा है। उच्च पदाधिकारी भी अक्सर कारनिवलों की सैर करने जाते हैं, पर किसी ने कुछ आपत्ति की हो ऐसा कभी सुनने में नहीं आया। हमारा अधिकारियों से अनुरोध है कि वह कारनिवलों पर कड़ी निगाह रखें जिससे इन्हें जहर फैलाने का अवसर न मिले।

७ नवम्बर १९३२

जुए का युग २

यह तो नहीं कहा जा सकता कि पुराने जमाने में जुए का रिवाज न था क्योंकि पाण्डवों ने कौरवों के साथ जुआ खेला था नल भी पक्के जुआड़ी थे और पुराने नाटकों में भी जुए का जिक्र आया है, पर यहाँ जुआ खेलना बुरा जरूर समझा जाता था। दिवाली के एक दिन आगे और पीछे लोगों पर जुए का भूत सवार हो जाया करता था। लेकिन वर्तमान युग में तो जुआ जीवन के हर पहलू में इस तरह घुस गया है कि इसे जुए का युग कहें तो अनुचित न होगा। बाजार में साबुन तेल सिगरेट दंत-मंजन कुछ खरीदने जाइए, आपको दाम के बदले में केवल सौदा ही न मिलेगा इनाम का प्रलोभन भी मिलेगा। इसलिए आप जरूरत न रहने पर भी इस जुए में अपनी तकदीर आजमाने

लिए यह चीज खरीद लेते हैं। लाटरी और मुकदमे को छोड़िये वह तो पुरानी
त हो गयी अब तो साहित्य में भी जुए का दौर है। आप पुस्तकें खरीदिये पुस्तक के
तिरिक्त आपको इनाम भी मिलेगा। कारनिवलवाले इस तरह का प्रलोभन देते ही
 अब स्वदेशी प्रदर्शनियों में भी लकी टिकट रखे जाते हैं और जिनके नाम वे टिकट
 जाते हैं उन्हें इनाम मिलता है। समाचारवाले क्यों चूकने लगे उन्होंने प्रतियोगिता
रस्कार निकाला जिसका और जुआ है इसीके बाद अखबार एक या दो लाख तक
लेवार इनाम दे रहे हैं। गुलाम हिन्दुस्तान के लिए, तो कोई चीज योरोप से आ जानी
हिए, वह आँखें मूँद कर उसका स्वागत करने को तैयार है। आज एक अंग्रेजी पत्र में
ग्यशाली व्यक्तियों के नाम छपे हैं जिन्होंने कोपरन टूथपेस्ट खरीदा था। इसलिए
न्हें बेचारी सता रही है, वे लपक कर कोपरन टूथ पेस्ट खरीद कर अपने भाग्य की
रीक्षा करें। वाह रे पश्चिम की सभ्यता तूने मानवता के लिए तो कहीं जगह ही नहीं
दी। चारों तरफ निकृष्ट व्यावसायिकता का राज है। सुनते हैं हमारे बड़े-बड़े मारवाड़ी
ज्जन को आज भारत के नेता कहला रहे हैं सट्टेबाजी की बदौलत करोड़पति बन
ये। आजकल तो धन पुजता है। आप किसी तरह धन के प्रभु बन जाइए, दिवाला
निकाल कर, जाली नोट बनाकर, या नकली दस्तावेज बनाकर—इससे मतलब नहीं।
आपके पास धन होना चाहिए। आपका चारों तरफ आदर होगा सब आपके सामने
घुटने टेकेंगे। जो समाज सुधार के दीवाने हैं वे भी आपके द्वार पर हाजिरी देंगे
क्योंकि आपके पास धन है। आप जो चाहे कर सकते हैं। खूब जुआ खेलिए, खूब शराब
पीजिए, खूब दूसरी औरतों को घूरिए और अपनी शादी न कीजिए और दिन में दो
चार दर्जन डिब्बे सिगरेट के फूँक डालिए, बस आप भौगास वरजे के जेंटलमैन हैं उनमें
जो शक करे वह काफिर।

२४ दिसम्बर १९६३

जुए का युग २

लोग को जब पर लग जाते हैं तब वह जुआ हो जाता है। यों कभी भी उसका
जोर कम नहीं रहा। धर्म ने अपनी सारी दैविक और आध्यात्मिक शक्ति लगाकर भी
उसका जोर नहीं घटा पाया। नीति के विचारकों ने सदैव इसके विरुद्ध जिहाद किया
लेकिन उसका जोर समय के साथ बढ़ता ही चला जाता है। और अब तो वह हमारे
समाज पर छा रहा है। जिधर देखिए उधर उसी का दौर-दौरा है। व्यापार में जुआ
व्यवहार में जुआ खेलकूदों में जुआ मनोरंजन में जुआ गरज आज का संसार जुआमय
हो गया है। धन में उसका प्रवेश बहुत पहले ही चुका था। अब साहित्य पर भी उसने
कदम बढ़ाया है। पहेलियों और शब्द जालों की धूम है। पत्रों और पुस्तकों पर नम्बर

जाते जाते हैं और दो चार चुने हुए नम्बरों पर इनाम रख दिया जाता है। जिसके पास उस नम्बर का पत्र पहुँच जाय वह एक निश्चित रकम पा जाता है। इस बेकारी और सट्टा-बाजारी के जमाने में यह नहीं रोजगार बड़ज्ले से चल रहा है। दरिद्रता के झकोरों सताये हुए लाखों आदमी इस तिनके के सहारे की आशा में अपने परागियों के समान पैसों का खून करते हैं और अपनी किस्मत ठोंक कर रह जाते हैं। इन पत्रों और पुस्तकों के प्रकाशकों को अपनी बिक्री के लिए ऐसा प्रलोभन देते हुए जरा भी शर्म नहीं आती क्योंकि व्यापार, व्यापार है और उसका काम है—जैसे भी हो जनता की जेब से रुपये निकाल लेना। इन प्रकाशकों को मालूम है कि वे जो चीजें जनता को दे रहे हैं व सचर है और उनका साहित्यिक महत्व कुछ नहीं है। इसलिए वह जनता की नीच भावना को उत्तेजित करके अपना मतलब गाँठते हैं। वाह रे योरोप! तेरी गुलामी हमें न जाने पतन की किस गहराई तक ले जायगी। और मजा यह है कि ये सज्जन अपने हथकण्डों की सफाई भी देते हैं और बड़े जोरों के साथ।

मार्च १९३४

नगरों में दुर्घटनाएँ

यों तो जहाँ आमद-रफ्त बहुत होती है, वहाँ हमेशा ही दुर्घटनाएँ होती हैं लेकिन जब से बड़े-बड़े नगरों में ट्राम और टैक्सियों की वृद्धि हुई है ऐसी दुर्घटनाएँ दिन-दिन बढ़ती जाती हैं। कहीं एक्के-ताँगे मोटरों से टकरा जाते हैं, कहीं कोई ट्राम गाड़ियों की लपेट में आ जाता है। यह भी नयी सभ्यता के हजारों प्रसादों में से एक है। लन्दन न्यूयार्क आदि महान् नगरों का तो कहना ही क्या दिल्ली-जैसे नगर में जिसकी आबादी तीन लाख से अधिक नहीं प्रति सप्ताह सात आदमी के हिसाब से इन तूफानी सवारियों की भेंट चढ़ जाते हैं। पैदल चलनेवालों के लिए वहाँ सड़क के दोनों ओर पटरी बनी हुई है और अगर लोग उन पटरियों ही पर चलें तो ऐसी दुर्घटनाओं की संभावना कम हो जाय। दिल्ली के पुलिस-अधिकारी ने दिल्ली म्युनिसिपैलिटी से इस विषय में लिखा-पढ़ी करते हुए लिखा है कि पटरियों पर जो खोंमचेवालों और दूकानदारों ने कब्जा कर लिया है, इससे पथिकों के लिए इसके सिवा कोई उपाय ही नहीं रह जाता कि वे सड़कों पर न चलें अतएव म्युनिसिपैलिटी को चाहिए कि वह पटरियों पर से दूकान उठवा दें अथवा पुलिस कांसटेबल का भाग में खड़ा होना बेकार हो जाता है। हमारी समझ में पुलिस-अधिकारी का आदेश सर्वथा न्याय संगत था और जनता की प्राण रक्षा में नगर के पिताओं को पुलीस से सहयोग करना चाहिए था लेकिन म्युनिसिपैलिटी ने इस आदेश को शायद पुलीस की मुदाखलत बेजा समझा और उसे विचार का

विषय बना लिया। निस्सन्देह पटरियों पर से दुकानें उठा देने से म्युनिसिपैलिटी की आमदनी में कुछ कमी होगी और दूकानदार भी इसे शायद न पसन्द करेंगे। और इस लिए इन मेम्बरों को दोबारा उन व्यापारियों से वोट मिलना कठिन हो जायगा लेकिन जहाँ प्राण-रक्षा का प्रश्न आ जाता है, वहाँ रुपये का या स्वार्थ का स्थान गौण हो जाना चाहिए। म्युनिसिपैलिटी केवल इसलिए नहीं है कि अपनी जिम्मेदारियों को न समझने वाले महानुभावों की मौरूसी बनी रहे। उसका प्रधान कर्तव्य जनता की सेवा है और जो लोग इस जिम्मेदारी को नहीं समझते उन्हें म्युनिसिपैलिटी में आने की जरूरत नहीं।

१४ नवम्बर १९३७

खूब फल खाओ

विलायत और अन्य पश्चिमी देशों में इन दिनों 'फल खाओ' आंदोलन चल पड़ा है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि फलों में जितने पोषक पदार्थ और रोगनाशक द्रव्य हैं उतने भोजन की और किसी सामग्री में नहीं हैं। मन्दाग्नि की दशा में तो फलाहार आवश्यक हो ही जाता है, साधारण अवस्थाओं में भी हमारे स्वास्थ्य पर फलाहार का बहुत ही अच्छा असर होता है। हम ऐसे कई सज्जनों को जानते हैं जो अन्न पचाने में असमर्थ हैं और केवल फलों के आहार पर रहकर मजे से कड़ी मानसिक और शारीरिक मेहनत कर सकते हैं। जो मक्खन और मांस-मछली खानेवाले आदमियों में चर्बी अधिक हो जाती है, जो वास्तव में रोग है। ऐसे आदमी कोई कड़ा परिश्रम नहीं कर सकते। फलाहार से देह में फुरती चुस्ती और मुस्तैदी बढ़ती है और विज्ञान वेत्ताओं के मतानुसार फलाहार से मनुष्य दीर्घजीवी भी हो जाता है। मुश्किल यही है कि फलाहार अन्न से महँगा पड़ता है और साधारण आदमी उसका व्यवहार नहीं कर सकता अगर हमारे जमींदार फलों की खेती पर ज्यादा ध्यान दें तो वे देश के साथ बड़ा उपकार करें। अनाज के लिए जितनी मेहनत की जरूरत होती है, उतनी फलों में नहीं होती और कम उपजाऊ जमीन में भी जहाँ अनाज पैदा नहीं हो सकता फल पैदा हो सकते हैं।

१२ दिसम्बर १९३७

पश्चिमी व्यायाम का पागलपन

आल इंडिया मेडिकल कान्फ्रेंस में सभापति मेजर एम० जी० नायडू ने डाक्टरों के सामने सेवा और रोग-निवारण का जो कार्यक्रम उपस्थित किया यदि डाक्टर

समुदाय उस पर अमल करें तो देश में रोग का बढ़ता हुआ आतंक बहुत कुछ शान्त हो जाय। मगर यहाँ तो ऐसे डाक्टर हैं जो फीस पहले लेते हैं मरीज से बात पीछे करते हैं। उनके पड़ोस में एक गरीब मरीज पड़ा कराह रहा है उसकी उन्हें परवाह नहीं होती। डाक्टरों में जब तक त्याग की भावना न हो उनकी जात से गरीबों का क्या उपकार हो सकता है। मेजर मामडू ने बहुत सत्य कहा कि भारत शहरों में नहीं गाँवों में है, जहाँ कोई डाक्टर नहीं पहुँचता। अगर हमारे यशस्वी डाक्टर देहातों की ओर भी कुछ कृपा करने लगें तो क्या कहना। आपने व्यायाम की चर्चा करते हुए कहा—

'पश्चिमी व्यायाम का शौक दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। भारतीय व्यायाम से लोग उदासीन होते जाते हैं, जो तात्त्विक दृष्टि से अगर ज्यादा नहीं तो उतने कल्याणकारी अवश्य हैं, जितने पश्चिमी व्यायाम। मुझे विश्वास है कि अगर किसी युवक को प्राचीन व्यायाम का अभ्यास प्राचीन नियमों और आदेशों के अनुसार, कराया जाय तो उससे कम लाभ न होगा जितना पश्चिमी व्यायाम से होता है। भारतीय प्रणाली यहाँ के प्राणियों के लिए अधिक अनुकूल है, इसके साथ ही कितना कम खर्च। देशीय खेल कहीं भी खेले जा सकते हैं बिना किसी अड़चन के और बहुत कम खर्च में। जिमनास्टिक के औजार अगर यहीं के बने हों तो भी सौ रुपये और दो सौ रुपये के बीच खर्च हो जायेंगे। क्रिकेट का एक बैट बीस रुपये में आता है और टेनिस का एक रैकेट तीस रुपये में। फिर क्रिकेट हाकी फुटबाल और अन्य खेल हैं जिनके लिए अच्छे मैदान अच्छे सामान और खास तरह के जूतों की जरूरत है। इनका मुकाबला हिन्दुस्तानी खेलों से कीजिए, जो आजकल के बालकों के लिए कहानी-मात्र रह गये हैं। यहाँ तक कि कुश्ती का रिवाज भी दिन-दिन कम होता जाता है और इसकी जगह मुँसिबाजी का रिवाज बढ़ता जाता है। देशीय खेलों और कसरतों को लुप्त न होने देना चाहिए। हाँ जिनके पास साधन हैं वे पश्चिमी खेल भी खेल सकते हैं।

हमारे स्कूल में कबड्डी गुल्ली डंडा सबकी आदि खेलों का बड़ी आसानी से प्रचार किया जा सकता है, लेकिन किसी का इधर ध्यान नहीं है। यहाँ तो स्कूलवाले लड़कों से तीन रुपये सालाना चन्दा लेकर सर्वनाश-सुर्यनाश कर डालते हैं बहुत किया तो दस-बीस लड़कों को अभ्यास करके मैचों में भेज दिया। न इतने मैदान हैं न इतने सामान कि हरेक लड़के को खेल में शरीक किया जा सके। यह भी मानसिक दासता का एक रूप है। अपनी कोई चीज अच्छी नहीं। बाहर की सभी चीजें अच्छी। हाँ आज पश्चिमवाले भारतीय खेलों का व्यवहार करने लगें तो यहाँ के लोगों की आँखें खुलें।

२ जनवरी १९३३

मोटर व्यवसाय

एक विशेष कमेटी ने इस बात की जाँच की है कि सरकारी रेलवे-विभाग को मोटर-ट्रैफ़िक द्वारा कितनी हानि उठानी पड़ती है। इस कमेटी की रिपोर्ट के बाद अब सरकार ने बड़ी कौंसिल में यह प्रस्ताव पास करा लिया है कि रेलवे की ओर से मोटरें भी दौड़ायी जायें जिससे उनका घाटा बराबर हो जाय। यद्यपि हमारी सम्मति में राज्य द्वारा जितने व्यवसाय अपने हाथ में लिये जा सकें अच्छा है पर रेलवे-विभाग सरकारी विभाग पूरी तरह से नहीं है। दूसरे, रेलवे-विभाग में सारे नौकरों को इतनी ज्यादा मोटी तनख्वाहें मिलती हैं कि उनको घाटा होना ही चाहिए और वही घाटा गरीब जनता पर किराया बढ़ाकर पूरा किया जाता है। इसके अलावा सरकार द्वारा पालित रेलवे की 'किराया-महसूल-माल भेजने का भाड़ा' ऐसी नीति से बनाया गया है कि देश का नौकरी व्यापार ही बहुत कुछ उसके कारण चौपट है और अब उन्हें मोटर चलाने का अधिकार देने का मतलब है रेलवे कम्पनियों की विलायती ख़रीद को और भी बढ़ावा देना। अब वे मोटरें भी लन्दन से मँगायेंगी यहाँ के कुछ मोटर-व्यवसायी भूखों मरेंगे विलायती व्यापारी को माल बेचने का नया मौक़ा मिलेगा।

२० फरवरी १६३३

टेहरी और बद्रीनाथ का मंदिर

२७ मार्च को रायबहादुर विक्रमाजीतसिंह के प्रश्न के उत्तर में सरकार ने एक सूची बनायी है जिससे यह प्रकट होता है कि इस समय देश की अधिकांश जिम्मेदार संस्थाएँ यह चाहती हैं कि बद्रीनाथ जी का मन्दिर टेहरी रियासत के हाथ में चला जावे। हमारे सहयोगी 'भारत' में इस विषय में कई सुन्दर लेख प्रकाशित हो चुके हैं। युक्त प्रान्तीय कौंसिल के भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्रीयुत मुकुन्दीलाल ने अपने युक्तिपूर्ण लेख में यह दिखलाया था कि हिन्दुओं के इतने पवित्र तीर्थ को एक महंत के हाथ में रहने देना नितान्त अनुचित है। गढ़वाल के पण्डित ज्योतिषरत्न रतूड़ी के लेख से यह प्रकट हुआ था कि टेहरी राज्य ही वर्षों से इस मन्दिर का पालन कर रहा है राज्य के अधिकार परम्परागत हैं तथा राज्य का मन्दिर के प्रबन्ध में अधिकार न होने पर भी उसी के धन से मन्दिर का पोषण होता है। इसीलिए श्रीभारत धर्म महामण्डल काशी अम्बाला सनातनी सभा अम्बाला बंगाल धर्म महामण्डल कलकत्ता देवप्रयाग के पंचगण्डा बद्रीनाथ पंजाब प्रान्तीय महावीर दल सम्मेलन मायापुर सनातनधर्म सभा भुरिवानी दिल्ली सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा अहमदाबाद इत्यादि संस्थाओं ने एक स्वर से

॥ टेहरी और बद्रीनाथ का मन्दिर ॥

इसका समर्थन किया है कि मन्दिर राज्य को मिल जावे। इसके विरोधियों की संख्या कम है और इतनी महत्वपूर्ण नहीं है। सरकार ने इस विषय को जुलाई की कौंसिल की बैठक के बाद तय करने का निश्चय किया है।

हम यह नहीं चाहते कि हमारा कोई भी मन्दिर या संस्थाएँ जनता की रक्षा या देख-रेख से निकल जावें पर किसी एक महन्त या 'रावल' के हाथ में हिन्दूजगत् के सर्वोच्च तीर्थों में से एक स्थान रहने देना नितान्त अनुचित प्रतीत होता है। मन्दिर टेहरी राज्य का है यह निश्चित-सा है। अतएव आशा है, सरकार इस विषय की पूरी जाँच कराकर उचित निर्णय करेगी। यह मन्दिर समूचे भारत के लिए महत्व का है।

३ अप्रैल १९३३

हमारी संस्थाओं में व्यक्तिगत द्वेष

भारत में ऐसी बिरली ही कोई संस्था होगी जिसके प्रमुख संचालकों में द्वन्द्व न हो। मतभेद होना बुरी बात नहीं लेकिन जब यह मतभेद द्वेष का रूप ले लेता है, तो औचित्य का उसे ध्यान नहीं रहता। तब वह व्यक्तिगत आक्षेप करने लगता है और अपने प्रतिद्वन्द्वी को जनता की निगाहों में गिराने या उसे तबाह कर देने के लिए झूठे आक्षेप करने से भी वह नहीं झिझकता। अगर उसका प्रतिद्वन्द्वी उसे मिला कर जनता को उल्टे छुरे से मूँड़ता तो उसकी आत्मा को जरा भी चोट न लगती। यह तो उसकी आन्तरिक इच्छा ही थी लेकिन प्रतिद्वन्द्वी उसको अलग हटा कर खुद खा रहा है, तो वह कैसे सब्र कर जाय। तब वह धर्मात्मा बन जाता है, बड़ा-सा तिलक लगाता है, सदाचार का स्वाँग भरता है और पब्लिक को धोखा देकर अपने दुश्मन को मार भगाने में सफल हो जाता है, लेकिन शक्ति हाथ में आते ही वह खुद वही सब कुछ बल्कि उससे भी कुछ अधिक करने लगता है, जो उसके शत्रु ने किया था। इसलिए जब किसी बोर्ड या सभा या लीग में हम किसी महानुभाव को वर्तमान कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध जहर उगलते देखें तो हमें उनसे सतर्क रहना चाहिए।

३ अप्रैल १९३३

माउंट एवरेस्ट की चढ़ाई

महीनों की तैयारी के बाद आखिर अंग्रेजी हवाबाजों ने एवरेस्ट की चोटी के दर्शन कर ही लिए। अपनी तीन जहाजों में बैठी और पैंतीस हजार फीट की ऊँचाई पर उड़कर उसने एवरेस्ट की चोटी के चक्कर लगाये। वहाँ कितनी ठण्ड थी इसका अनुमान

इसी से किया जा सकता है, कि शून्य बिन्दु से चालीस दरजे नीचे तापमान था। मगर हवाई जहाज पर बैठकर एवरेस्ट की चढ़ाई का क्या महत्व। आप वहाँ उतर तो सके नहीं केवल बर्फ से ढँका एक मैदान देखा होगा। यह तो वही बात हुई कि कुश्ती का फैसला गोलियों से हो जाय। यह तो कोई कुश्ती न हुई। कुश्ती में हम दाँव-पेंच देखना चाहते हैं पहलवानों का दम देखना चाहते हैं उनकी चुस्ती और फुर्ती देखना चाहते हैं। यह क्या कि फिट से एक गोली चला दी और मामला खतम। इस तरह तो सींकिया पहलवान भी रुस्तमे हिन्द को जमीन पर सुला सकता है। जब चढ़नेवालों की मण्डली रास्ते की कठिनाइयों पर विजय पाती एवरेस्ट पर पहुँचती तब हम उसकी तारीफ़ करते। लेकिन योरोप से मुबारकबाद के तार धनाधन आ रहे हैं और खुशियाँ मनायी जा रही हैं। हम तो यही कहेंगे कि अभी तक धवलागिरि वैसा ही अजेय है और गर्दन उठाये इन तुच्छ मनुष्यों के दुस्साहस पर हँस रहा है।

१० अप्रैल १९३३

श्री प्राणनाथ विद्यालंकार की अद्भुत खोज

श्री प्राणनाथ जी उन मनुष्यों में हैं जो कठिनाइयों और बाधाओं से भयभीत नहीं होते। आपने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में पाये गये शिलालेखों और लिपियों से यह बात सिद्ध की है कि आर्यों ने मिस्र की चित्र-लिपि से अपनी वर्णमाला नहीं निकाली जैसा साधारणतः भ्रम है, और जैसा पश्चिम के विद्वान् कहते हैं। आज से पाँच-छः हजार वर्ष पहले शैव उपासना प्रधान थी और मोहनजोदड़ो में जो लिपि प्राप्त हुई है, वह उसी उपासना की क्रियाओं और भावों से निकली है और यही लिपि पश्चिम में पायी जानेवाली प्राचीन लिपि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है साइप्रस और क्रीट आदि द्वीपों में उसी तरह के लेख पाये गये हैं। इससे प्राणनाथ जी इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पश्चिमी लिपि भी उसी शैव उपासनावाले चिन्हों से निकली है, और आज के पाँच छः हजार वर्षों पूर्व उन पश्चिमी स्थानों में भी शैव उपासना ही प्रधान थी। उस समय चन्द्र उपासना भी होती थी और सिन सिनाई साइप्रस आदि नाम इस बात के प्रमाण हैं कि शिव या चन्द्रोपासना से उनका घनिष्ठ संबंध है। हमें विश्वास है, जब यह खोज पूरी हो जायगी तो उससे इतिहास के एक महत्वपूर्ण विषय में बहुत कुछ परिशोध करना पड़ेगा।

अप्रैल १९३३

गंगा सम्मेलन

हरद्वार ऐसे पवित्र तीर्थ में नालियों का परनालों का—सबका एकत्रित मल गंगा जी में गिरता है। पुण्य-सलिला को इस प्रकार दूषित होने से बचाने के लिए बहुत दिनों से चेष्टा की जा रही है। श्री विजयराघवाचारियर ने इसकी एक बड़ी सुन्दर योजना बनायी है, जिस पर विचार करने के लिए हरद्वार में *गंगा-सम्मेलन हो रहा है,* जिसमें सरकारी प्रतिनिधि भी सम्मिलित होंगे।

हरद्वार के बाद काशी ही ऐसा सर्वोच्च पवित्र नगर है, जहाँ नगर-भर का मल गंगा जी म गिरता है। यहाँ की बोर्ड ने कई बार चेष्टा कर गंगा जी को शुद्ध करना चाहा पर सरकार ने कोई सहायता न दी। हम हिन्दुओं के तीर्थ को भ्रष्ट करने में उसका भी दोष है। क्या वह काशी की ओर भी ध्यान देने की कृपा करेगी?

१७ अप्रैल १६३३

भारत के कोढ़ी

दिन प्रति दिन विदेशों में कोढ़ का रोग घटता जा रहा है और उचित नियन्त्रण से यह भीषण संक्रामक रोग फैलने नहीं पा रहा है। पर, अभागे भारत में यह बीमारी बड़ी तेजी से बढ़ रही है। कोढ़ी होकर शरीर का गल-गलकर गिर जाना बड़ी यातना और पीड़ा के साथ वर्षा जाड़ा धूप का कष्ट सहना—यह सब एक भयंकर कहानी है जिसे लिखने से रोमांच हो आवेगा। हर्ष का विषय है कि इस दिशा में भी कुछ काम शुरू हो गया है। अभी ११ अप्रैल को कलकत्ते में ब्रिटिश साम्राज्य कोढ़-निवारक-संघ की भारतीय कौंसिल की बैठक हुई थी। राष्ट्र-परिषद् के कोढ़-कमीशन की आज्ञा के अनुसार यह समिति भी भारत में विस्तृत काम प्रारम्भ करने की योजना बना रही है। समिति प्रान्तीय शाखाएँ स्थापित करना चाहती है जिसमें सभी मान्य सार्वजनिक संस्थाओं के *प्रतिनिधि होंगे। कोढ़ियों के लिए स्थान-स्थान पर अस्पताल खुलेंगे।* कोढ़ियों की दशा की जाँच के लिए कमीशन नियुक्त होगा। कोढ़ियों के बच्चों की देख-रेख का भी प्रबन्ध होगा।

आशा है, यह सब काम जनता के सहयोग से होगा और जनता भी उदारता पूर्वक सहायता करेगी। इससे बढ़कर और कोई उदार कार्य नहीं हो सकता।

काशी में पोस्टमैनों की कान्फ्रेंस

काशी में पोस्टमैनों की सभा हो गयी। उसमें जो प्रस्ताव स्वीकृत किये उनमें सरकार से अनुरोध *किया गया है कि इस विभाग में चालीस रुपये से कम वेतन पानेवालों के*

वेतन में किफ़ायती कटौती न की जाय और पोस्टमैनों की संख्या कम न की जाय। सरकार के जितने भी विभाग हैं उनमें जनता का उपकार सबसे अधिक इसी विभाग से होता है पर जहाँ पुलिस विभाग में कम वेतन पानेवालों के साथ सरकार ने उदारता का व्यवहार किया है, पोस्टमैनों के साथ किसी तरह की रियायत नहीं की गयी। उनकी जगहें बराबर तोड़ी जा रही हैं जिससे बचे हुए आदमियों पर काम का भार पहले से कहीं अधिक हो गया है। काम बढ़ जाने पर भी उनका वेतन काटा जा रहा है। सरकार का कहना है कि इस विभाग में आमदनी कम हो गयी है इसलिए आदमियों का वेतन घटाकर और उनकी जगहें तोड़कर यह कमी पूरी की जायगी। लेकिन हम इस विभाग को कमानेवाला विभाग नहीं समझते न यह उचित है कि उसे भी सरकारी व्यवसाय का एक अंग समझ लिया जाय। इस विभाग को प्रजाहित का ही अंग समझना चाहिए, उसी तरह जैसे चिकित्सा या शिक्षा-विभाग है। उसमें इतनी कमी कर देना कि जनता को कष्ट होने लगे किसी तरह न्याय नहीं कहा जा सकता। सभा ने डाक का दर घटाने का भी अनुरोध किया। *हमारा भी विचार है कि यदि पत्र मनीआर्डर, रजिस्ट्री* आदि का दर पूर्ववत् कर दिया जाय तो आमदनी बढ़ सकती है। आजकल तो पत्र लिखना बड़ी फ़िज़ूलख़र्ची क्रिया है और कितने ही लोगों ने तो पत्रों की संख्या घटाते-घटाते शून्य तक पहुँचा दी है। जब यह नीति सफल नहीं हो सकी तो सरकार क्यों उसमें परिवर्तन नहीं करती इसका कारण कौन जान सकता है।

२४ अप्रैल १९३२

बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे

हमारे पास कई संवाददाताओं के पत्र आये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि युक्त प्रान्त के अत्यन्त उत्तर भाग में दौड़नेवाली इस रेलवे-कम्पनी की ट्रेनें बहुत गन्दी रहती हैं। गर्मी के दिनों में डिब्बों में मक्खी का भिन-भिनाना शौचालय का गन्दा रहना किसी डब्बे में कूड़े का ढेर लगा है तो किसी में फलों के छिलकों का यह सब साधारण बातें हैं। यद्यपि इसमें हम भारतीयों का भी बहुत कुछ दोष है। हम जिस स्थान पर बैठते हैं उसी को गन्दा करने में अपनी सफ़ाई समझते हैं पर स्वास्थ्य के विचार से रेलवे कम्पनी को इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इस कम्पनी के स्टेशन भी ई० आई० आर० के समान साफ़ नहीं रहते। कम्पनी को काफ़ी आय है और उसे चाहिए कि वह अपने यहाँ एक विशेष स्वास्थ्य-विभाग खोले। उसे सैनिटरी इंस्पेक्टर 'रख कर' यात्रियों की इस शिकायत को दूर कर देना चाहिए।

१ मई १९३२

विदेशी कपड़े पर काँग्रेस की मुहर

तीन साल पहले कांग्रेस ने बजाजों के विलायती कपड़े की गाँठों पर मुहर लगायी थी। तब छः महीने की बात थी। पर वह मुहर आज तक नहीं खुली क्योंकि अभी तक स्वराज्य उतनी ही दूर है जितना आज के तीन साल पहले था। तो फिर क्या हम गाँठों की मुहर कभी खुलेगी नहीं? गाँठें यों ही बंधी-बंधी सड़ जायेंगी। नतीजा क्या हो रहा है? बजाज बंधी हुई गाँठें मुसलमान दूकानदारों के हाथ औने पौने बेचकर अपना माल खपा रहे हैं। यह तो नहीं देखा जाता कि माल बंधा-बंधा सड़ जाय। फिर जब कपड़े का व्यापारी देखता है कि निकट भविष्य में भी गाँठों के खुलने की आशा नहीं तो वह अधीर हो जाता है। जब चोरी-छिपे-माल की खपत हो रही है, तो हमारी समझ में नहीं आता गाँठें क्यों नहीं खोल दी जातीं। ऐसे कितने ही कांग्रेसमैन हैं, जो इस नीति को अनीति समझते हैं और गाँठों की मुहर-बन्दी से कोई फायदा नहीं समझते लेकिन डिसिप्लिन कायम रखने के भय से कुछ नहीं कह सकते। हमें आशा है, कांग्रेस के नेता इस समस्या पर विचार करेंगे और जिस बन्धन से अब हानि के सिवा किसी लाभ की आशा नहीं उसे उठा लेने में सद्-साहस से काम लेंगे।

१ मई १९३१

साबुन की देख-रेख

आजकल सैकड़ों तरह के साबुन बाजार में आ गये हैं। जनता के पास सुगन्ध के सिवा साबुन के गुण-दोष जाँचने का कोई साधन नहीं है। खराब साबुन से बहुत से रोग पैदा हो सकते हैं। इसलिए हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि सरकार साबुन की जाँच करने के लिए शीघ्र ही कोई कदम उठानेवाली है।

ऋण के लिए कैद की सजा

कानून में जहाँ और सैकड़ों अनीति भरी हुई हैं वहाँ एक यह भी है कि आज कोई महाजन किसी असामी को कर्ज की इल्लत में जेल भेज सकता है। कुछ रुकावटें पैदा की गयी हैं जरूर पर अभी यह धारा मौजूद है। सरकार ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी कायम की थी जिसने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी है। देखना चाहिए इसका क्या फैसला होता है।

१ मई १९३१

फलों की खेती कैसे बढ़ायी जाय

हर्ष की बात है कि नौकरशाही का ध्यान फलों की खेती की ओर गया है और लखनऊ में राजा साहब जहाँगीराबाद के सभापतित्व में एक बोर्ड की स्थापना हुई है जो फल पैदा करनेवालों को सलाह और सहायता देगा। उधर बम्बई से आमों का बाहर जाना शुरू हुआ है। बम्बई के गवर्नर ने खुद जहाज पर आकर फलों का पैकिंग देखा और बड़ी दिलचस्पी दिखायी। मगर हमें भय है, कहीं यह उद्योग भी टीम-टाम किम होकर न रह जाय।

१ मई १९३३

विज्ञापन-कला

भारत में अभी पत्रकार-कला का विकास ही साधारण हुआ है, तो विज्ञापन-कला के विषय में क्या कहा जाय? हमारे समाचार-पत्रों में अधिकांश विज्ञापन बड़े भद्दे ढंग के कुरुचिपूर्ण तथा नीरस होते हैं। यदि विज्ञापन की चीज नहीं बिकती तो वह समाचार पत्र को दोष देता है। अपना दोष उसे क्या मालूम? हर्ष है कि इन बातों की ओर हमारे देशवासियों का भी ध्यान आकृष्ट हो रहा है। लखनऊ में लाटूशरोड पर एक उत्साही सज्जन ने 'एफेक्टिव एडवरटाइजिंग एजेंसी' नाम से एक कम्पनी खोली है, जो केवल दूसरों का विज्ञापन ही बनायेगी। इस संस्था के बनाये कुछ विज्ञापन हमने समाचारपत्रों में छपे देखे हैं, इसके संचालक मि॰ सेठ का एक लेख दैनिक 'जनमत' में भी छपा था। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि उन्हें अपनी कला का वास्तविक ज्ञान है। आशा है यह संस्था उन्नति करेगी और विज्ञापक लोग इस संस्था से लाभ उठायेंगे।

१४ मई १९३३

बेकारी का स्वास्थ्य पर प्रभाव

योरोप और अमरिका में बेकारी की संख्या निश्चित की जा सकती है। बेकारों को गुजारे के लिए राष्ट्र की ओर से वृत्ति मिलती है जिससे कम से कम भोजन मिल जाता है। फिर भी वहाँ इस बेकारी का स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ रहा है। अमरिका में कितने ही परिवार केवल आलू खाकर दिन काट रहे हैं। एक नगर में सूखा से दुर्बल बालकों की संख्या बढ़कर साठ प्रति सैकड़ा हो गयी है। एक दूसरे नगर में सौ में

निम्नांश छात्रों का वजन औसत से कम था। फलस्वरूप यम राज का ज़ोर बढ़ रहा है। राष्ट्र-संघ ने इस समस्या पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि राष्ट्रों ने किफायत की धुन में अगर बेकारों की वृत्ति में कमी की या स्वास्थ्य-विभाग में काट-छाँट की गयी तो इसका बड़ा भयंकर परिणाम होगा। इस बेकारी का शरीर पर ही बुरा असर नहीं पड़ रहा है। ब्रिटिश जर्मन और अमेरिकन जातियों में इसका मनोवैज्ञानिक असर और भी बुरा पड़ा है। आवश्यकताओं के पूरे न होने से जो ग्लानि उत्पन्न होती है, वह राजनीतिक परिस्थिति को दूषित कर रही है और ऐसी संस्थाएँ बढ़ती जाती हैं, जिनका उद्देश्य क्रान्ति है। योरोप में जब यह हाल है तो भारत का अनुमान कीजिए, जहाँ सौ में पचास आदमी अवश्य ही बेकार हैं और उन्हें वृत्ति के नाम पर मुट्ठी-भर चना भी मयस्सर नहीं।

१४ मई १९३३

भीषण दुर्घटना

मनौही के समीप ई० आई० आर० लाइन पर मंगलवार को जो भीषण दुर्घटना हुई है उसका हाल पढ़कर ऐसा कौन है जिसके रोंगटे न खड़े हो जायें और वह काँप न उठे। एक लारी जिसमें तैंतीस आदमी थे पंजाब मेल से टकरा गयी। गाड़ी आ रही थी लेकिन लाइन पर का फाटक खुला हुआ था। लारीवाले ने आगे-पीछे कुछ न देखा जैसी इनकी आदत है, बेतहाशा गाड़ी छोड़ देते हैं। लारी लाइन पर ही थी कि मेल आ गया। फिर उस टक्कर की तो केवल कल्पना की जा सकती है। पचास आदमी तो वहीं बुरी तरह पिस गये। जो बचे हैं उनकी दशा भी नाजुक है। कई लाशें तो रेल के इंजिन से चिमटी हुई दूर तक चली गयीं जब गाड़ी रुकी तो नीचे गिरी। लारी तो चूर-चूर हो गयी। कपड़े-लत्ते जूते आदि सौ-सौ गज पर जा गिरे। पूरी बारात थी। गुमटी वाला पकड़ा गया है। उसे जो सजा चाहो दो वे मनुष्य जानें तो अब नहीं मिलने की। बारात जिस गाँव में जा रही थी वहाँ उसके स्वागत की तैयारियाँ होती होंगी। गुमटी वाले का अपराध तो है ही लेकिन लारी का ड्राइवर भी आँखें बन्द करके गाड़ी चलाता था और बिठा रक्खे थे तैंतीस आदमी। मालूम होता है लारी का आधा भाग लाइन पार कर चुका है तब टक्कर लगी है क्योंकि ड्राइवर अभी जिन्दा है।

१२ जून १९३३

पन्द्रह दिनों में मक्की की फसल

जर्मनी के एक वैज्ञानिक ने एक ऐसा चमत्कारिक मन्त्र खोज निकाला है, जिससे मक्का और अन्य चीजें जो साधारणतया तीन-चार महीनों में तैयार होती हैं केवल पन्द्रह दिनों में तैयार की जा सकती हैं और अनाज ज्यादा मोटा ज्यादा पौष्टिक ज्यादा स्वादिष्ट होता है। सुना जाता है कि उसने बहुत से वैज्ञानिकों के सामने अपना आविष्कार सिद्ध भी कर दिया है। यह नहीं मालूम हुआ है कि खर्च में पहले से कितनी वृद्धि होगी। इस आविष्कार का सारा महत्व उसके सस्तेपन में है। अगर इस कसौटी पर यह पूरा उतर जाय तब तो संसार में भोजन की समस्या ही न रहेगी। गरीब भारत भी दोनों जून डटकर भोजन करेगा। भगवान करे वह वैज्ञानिक जल्द से जल्द अपने प्रयोग का प्रचार करे।

२८ जून १९३३

अंग्रेजी समाचारपत्रों का प्रचार

इंग्लैण्ड के दैनिकों में 'डेली मेल' का प्रचार सब से अधिक है अर्थात् साढ़े सत्रह लाख और 'टाइम्स' का सबसे कम अर्थात् सवा लाख। साप्ताहिकों में 'न्यूज आफ दी वर्ल्ड' का प्रचार साढ़े पैंतीस लाख है और 'संडे रेफरी' का सबसे कम अर्थात् एक लाख।

८ जून १९३३

एवरेस्ट की विजय

आखिर एवरेस्ट का विजय करनेवालों को मुँह की खानी पड़ी और वह आज भी अजेय पड़ा है। हवाई जहाजों पर उसके शिखर का चक्कर लगाना तो गोली से कुश्ती लड़ना है। सारी दुनिया इस मंडली की ओर आँखें लगाये हुए थी जो उस पर चढ़ रहे थे। उसे नीचा देखना पड़ा। कुछ तो वर्षा पहले शुरू हो गयी कुछ आदमियों के बीमार हो जाने के कारण इन वीरों को नीचे आना पड़ा। सम्भव है अगले वर्ष यह लोग फिर जावें। योरोपियन जातियों की यही अदम्य साहसिकता है जिसने उन्हें संसार का स्वामी बना दिया है।

२ जुलाई १९३३

बात का बतंगड़

जिसमें लिखा गया हुआ कि हाईस्कूल सर्टिफिकेट के नतीजे 'लीडर' से पहले 'पायोनियर' में छप गये। 'पायोनियर' वालों ने चाहे जो चाल चली हो लीडर से बाजी मार ले गये। वही नतीजा लीडर में एक दिन पीछे निकला। हो सकता है इसमें पक्षपात हुआ हो। हम मान लेते हैं कि कुछ पक्षपात हुआ लेकिन इस जरा-सी बात का इतना तूमार बाँधना और कौंसिल के सदस्यों का समय के तू-तू मैं-मैं में नष्ट करना कौन-सी राष्ट्र की सेवा है यह हमारी समझ में नहीं आया। दोस्तों के साथ थोड़ी बहुत रियायत कौन नहीं करता। यह एक मानवीय दुर्बलता है जिससे बड़े से बड़ा आदमी भी खाली नहीं। यह आशा करना कि शिक्षा-विभाग के सारे आदमी देवता हैं अपने बालस विभाग का परिचय देना है। एक बात हो गयी चलो किस्सा खतम हुआ। अब बार-बार उसी रोड़े के चरखे को चलाना जाना और जहाँ अपने मतलब की बात या काम उसके लिए जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाना और कौंसिल में हम स्वाम के लिए चिल्ल-पों मचाना एक ऊँचे दरजे के जिम्मेदार आदमी को शोभा नहीं देता। इस तरह का वाद-विवाद तो नीचे दरजे के आदमियों में हुआ करता है। कौंसिल के लिए इस समय भी इस स्वम के प्रश्नोत्तर से ज्यादा महत्व के काम पड़े हुए हैं। यही बात है जिन्होंने कौंसिलों को डिबेटिंग क्लब बना रखा है।

१० जुलाई १९३२

रिश्वत की गर्मबाजारी

सुधार हुए, कौंसिल बने थोड़े बहुत अधिकार भी मिले ऊँचे पदों पर भारत वालों की संख्या भी बढ़ी वेतन भी बढ़ पर भारत की कचहरियों अदालतों में रिश्वत ज्यों की त्यों जारी है बल्कि और भी बढ़ गयी है। कोई कितना ही सच्चा और बेगुनाह क्यों न हो अदालत में रिश्वत दिये बगैर उसकी कोई सुनवाई नहीं हो सकती। यह बात नहीं है, कि हुक्काम इस रहस्य को न जानते हों। उनमें से कितने ही तो स्वयं नीचे पदों से उन्नति करते-करते उन पद तक पहुँचे हैं लेकिन या तो वे कुछ कर नहीं सकते या मुलाहजा और मरौवत के कारण कुछ कह नहीं सकते और या उनके मातहतगर इस लूट में किसी न किसी रूप में उनका हिस्सा भी रख देते हैं। इसी कारण बहुत से भले लोग नुकसान उठाकर और अन्याय सहकर भी अदालत नहीं जाते। सोचते हैं जितना अपमान और नुकसान हुआ उससे कहीं अधिक कचहरी में सहना पड़ेगा इसलिए क्यों न चुप होकर बैठ रहो। जिला और म्युनिसिपल बोर्डों में तो बड़े छल और सजा

से कहना पड़ता है, दशा और भी खराब हो गयी है। जब जिला का हाकिम अंगरेज होता था तब तो अहलकारों को शायद कुछ भय होता रहा हो। अब अपनों के राज्य में तो कोई उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। दिन दहाड़े लूट होती है, खुले खजाने होती है, पर कोई पूछनेवाला नहीं। गरीब मुकदमेवाले वहाँ अपनी विपत्ति लेकर जाते हैं, सुधार करने नहीं जाते कि रिश्वत माँगनेवालों से लड़ाई करें। उनकी चुटिया अहलकारों के पाँव के नीचे दबी रहती है और बिना लक्ष्मी की पूजा किये नहीं निकल सकती। जिसे दो चार बार कचहरी जाने की जरूरत पड़ी बस समझ लो कि उसका नैतिक पतन हो गया। और न अमले अहलकार अच्छे पढ़े-लिखे लोग होते हैं, कितने ही तो ग्रेजुएट होते हैं पर रुपयों की झंकार के सामने सारी विद्या और अध्ययन धरी रह जाती है और लोग निर्दयता से अपने गरीब भाइयों का खून चूसने के लिए तैयार हो जाते हैं।

३१ जुलाई १९३६

हमारी खर्चीली आदतें

शिक्षा-भारत के अगस्त के अंक में डाक्टर पी॰ सी॰ राय ने आजकल के छात्रों की खर्चीली आदतों पर एक विचार पूर्ण लेख लिखा है और बतलाया है कि इस तरह की शौकीनी उनके भविष्य को कितना विषादमय बना रही है। आजकल किसी विद्यालय में भी एक छात्र का मासिक व्यय पैंतालीस रुपये से कम नहीं है। लाहौर और बम्बई में तो सौ रुपये के लगभग पड़ जाता है। कई साल पहले जब यूनिवर्सिटी से निकलते ही अच्छी जगह मिल जाने की आशा होती थी, छात्रों की फ़जूल-खर्ची किसी हद तक क्षम्य थी, लेकिन अब जब कि प्रथम श्रेणी के छात्रों के लिए भी घर बैठे रहने के सिवा निकट भविष्य में और कोई आशा नहीं है, फैशन की उपासना किसी हालत में भी क्षम्य नहीं है। यह सत्य है कि जिनके पास साधन हैं उन्हें अधिकार है कि जितना चाहें खर्च करें और जिस तरह चाहें रहें, लेकिन अगर उनमें कुछ सहानुभूति हो और वह देखें कि वह अपनी विलास-भक्ति से साधनहीन छात्रों में कितनी निराशा, कितना असंतोष और कितनी ईर्ष्या और जलन पैदा कर रहे हैं, तो शायद वह हफ्ते में तीन दिन सिनेमा देखने पर ज्यादा आग्रह न करें। और क्या उन सम्पन्न छात्रों को जो रुपये मिलते हैं वह उनके माता-पिता के पास भी उतनी ही आसानी से चले आते हैं जितनी आसानी से वह खर्च करता है? ऐसे भाग्यवानों की संख्या बहुत ही थोड़ी है जिनके अभिभावकों को उनका खर्च बुरा न लगता हो। अधिकतर संख्या तो ऐसों ही की है जिनकी सफलता अपना स्वास्थ्य खोकर, पेट काटकर, त्यागमय जीवन बिताकर

मिलती है। हमारा मनचला यूनिवर्सिटी स्टूडेंट जब एक रुपये की सीट पर सिनेमा हाल में जा बैठता है, या कैंटीन का एक डब्बा और टूथपेस्ट की एक शीशी खरीद कर घर लाता है और बाजार की सैर में रुपये बीस, जाने केवल रेस्तरां में बैठकर चाट खाने में उड़ा देता है, तो उसे कभी खयाल आता है कि इन दो-तीन रुपयों के लिए उसके घर वालों को अपनी कितनी जरूरतें दबानी पड़ी होंगी। अगर ऐसा खयाल नहीं आता तो इसके सिवा क्या कहा जाय कि वह आत्मसेवी और स्वार्थी है।

लेकिन आत्मसेवा चाहे किसी छात्र के घरवालों को न अखरे और वे अपने लाड़ले बेटे के लिए हरक तरह का कष्ट खुशी से उठाने के लिए तैयार हों और ऐसा कौन बाप है, जो अपनी संतान के लिए शक्ति से अधिक त्याग करने में आनन्द न पाता हो पर यह आदत छात्रों के लिए स्वयं उससे कहीं विनाशक है। उसके सामाजिक पहलू को भी छोड़िये हालांकि फूस की झोपड़ी के पास फूलझड़ियाँ छोड़ना बड़ा भयंकर विनोद है और थोड़े से भाग्यवालों की शौकीनी बहुत से भाग्यहीनों के लिए घातक हो सकती है पर इस जाने दीजिए यह सोचिए कि इस आदतों का स्वयं अपने भविष्य पर क्या असर पड़ेगा? माँ बाप तो हमेशा सँभालने के लिए बैठे न रहेंगे। नतीजा यही होगा कि या तो आप घर की बची-बचाई सम्पत्ति का सफाया करेंगे या संदिग्ध साधनों से काम लेंगे। कहीं नौकर हो गये तो रिश्वतें शुरू होंगी या गबन की नौबत पहुँचेगी। व्यापार किया तो थोड़े दिनों में पूँजी ही सफा बल मामली और अगर बेकार रहना पड़ा तो आत्म हत्या के सिवा और कोई अवलम्ब ही नहीं रह जायगा। जीवन का स्टैंडर्ड ऊँचा रखने का अर्थ यह नहीं है कि अपने सामर्थ्य से बाहर खर्च किया जाय। फिर, स्टैंडर्ड ऊँचा रखने का अर्थ है कि थोड़े से आदमियों पर आधिपत्य हो और वे उन्हें लूटकर अपना घर भरते हों। फ्रांस इंग्लैंड अमेरिका का एशिया और अफ्रीका दो महाद्वीप ऐसे मिल गए जिससे दो सदियों तक उन्होंने जीवन का स्टैंडर्ड खूब ऊँचा किया पर मन्दी के पहरा ही इसके सभी के होश ठिकाने आ गये और जिस दिन ये दोनों महाद्वीप सचेत हो जायेंगे इन महान् राष्ट्रों के वैभव का अन्त हो जायगा। तब वहीं खेती और वही छोटे-छोटे कारखाने रह जायेंगे जो अपनी जरूरत की चीजें बनायेंगे। संसार का व्यापार हाथ से निकल जायगा। अभी से यह समस्या उनके सामने खड़ी हो गयी है, और शस्त्र-सम्मेलन और अर्थ-सम्मेलन आदि उसी समस्या के नतीजे हैं। हमारा तो खयाल है कि अपनी जरूरतों को हम जितना ही बढ़ाते हैं, उतना ही प्राकृत जीवन से दूर होते हैं और उतना ही समय की प्रगति के प्रतिकूल जाते हैं। संसार बड़ी तेजी से समष्टिवाद की ओर जा रहा है जिसमें ऊँच-नीच शिक्षित और अशिक्षित का भेद न रहेगा। आज शिक्षित और संस्कृत समाज ने अपने को जिस किले में बन्द कर रखा है, उसकी दीवारें टूट जायेंगी और चाहे क्रान्ति से हो या शान्ति से मानव समता का आदर्श आकर रहेगा। उस वक्त वही जातियाँ वही समाज और व्यक्ति जीवित रहेंगे

जो इन नयी परिस्थितियों का स्वागत करेंगे। विशेष सुविधाओं विशेष साधनों में पले हुए प्राणी उस संग्राम में मिट जायेंगे। हमारे छात्रों और विद्यालयों के सामने यह प्रश्न खड़ा मुँह फाड़ कर देख रहा है पर वे आँखें बन्द करके उसके अस्तित्व का भूल जाने की चेष्टा कर रहे हैं। फीसें बढ़ती जाती हैं छात्रालयों के खर्च बढ़ते जाते हैं और व्यक्तियों की आमदनियाँ घटती जाती हैं। यह अवस्था चिरकाल दिनों तक न चल सकेगा। आज नहीं तो कल यूनिवर्सिटियों के सामने यह मसला आयेगा और चूँकि अब शिक्षा का आर्थिक महत्व बहुत कम हो गया है केवल उसका सांस्कृतिक मूल्य ही बाकी रह गया है इसलिए अवश्य ही ऐसे विद्यालय उत्पन्न हो जायेंगे जो समय के अधिक अनुकूल होंगे और तब वर्तमान विद्यालयों को भी विवश होकर समय के सामने घुटने टेकने पड़ेंगे। दूरदर्शिता कह रही है कि अभी से चेत जाने में कुशल है।

अगस्त १६३२

भीषण नाव दुर्घटना

काशी में गत सप्ताह में जो भीषण नाव दुर्घटना हुई और जिसमें बीसों आदमी जलमग्न हो गये उस पर पब्लिक का और हमारे व्यवस्थापकों को इस दृष्टि से विचार करने की जरूरत है कि ऐसी दुर्घटनाएँ किन कारणों से होती हैं और उनको रोक कैसे की जा सकती है। देहाती लोग जल्द से जल्द शहर की मंडियों में पहुँचकर अपना सौदा बेचने की धुन में इस बात का विचार नहीं करते कि नाव पर काफी आदमियों की गुंजाइश है या नहीं। मल्लाह भी पैसे के लोभ से उन्हें रोकने की चेष्टा नहीं कर सकता। नतीजा यही होता है कि ऐसी वारदातें आये दिन होती रहती हैं। सरकार द्वारा यदि हरेक नाव पर बैठने वाले यात्रियों की संख्या नियत कर दी जाय तो शायद मल्लाह उससे ज्यादा सवारियों को न बैठावे और सवारियाँ भी समझ जायें कि उससे ज्यादा सवारियों के बैठने से खतरा है। यदि हरेक नाव पर तुम्बियों का प्रबन्ध किया जा सके जिसका दायित्व नाव के ठेकेदार पर रक्खा जाय तो शायद जनता का कल्याण हो सके। हमें आशा है कि जिले के अधिकारी वर्ग इस विषय पर विचार करके कोई ऐसी व्यवस्था करेंगे जिससे इतनी जानों की हानि न हो। बनारस पर शायद कोई ग्रह आया हुआ है। अभी सारनाथ वाले दुर्घटना का शोक भूलने न पायी थी कि यह दूसरी चोट लगी।

१३ अगस्त १६३२

नया रेलवे बोर्ड

सरकार ने भारत के लिए जो नया रेलवे बोर्ड निर्माण किया है, उसके लिए हम भारतवासियों को सरकार को कोटि-कोटि धन्यवाद देना चाहिए। चलो बोझ सिर से टला। नहीं लाखों मील की रेलें लाखों गाड़ियाँ लाखों कर्मचारी करोड़ों का हिसाब किताब यह सब झंझट कौन पालता। यह नया रेलवे बोर्ड जैसे चाहेगा अपना काम करेगा। यहाँ किसमें इतनी अक्ल ही है कि रेल गाड़ियों का प्रबन्ध कर दे। यह काम तो अंग्रेज ही कर सकता है पूरा अंग्रेज न हो आधा सही तिहाई सही पर कुछ न कुछ अंग्रेजी खून उसमें अवश्य होना चाहिए। और जहाँ अंग्रेजों का मुआमला है वहाँ किसी तरह का दबाव किसी तरह की निगरानी किसी तरह की कैद उनका अपमान है। उनसे कोई गलती हो ही नहीं सकती। इस रेलवे बोर्ड के निर्णय में लेजिस्लेटिव एसेम्बली को किसी तरह का दखल न रहेगा। बोर्ड को अधिकार होगा कि जिसे चाहे रखे जिसे चाहे निकाले जितना किराया चाहे बढ़ाये मुसाफिरों को चाहे जितना कष्ट हो एसेम्बली को बोलने का हक न होगा। बोर्ड जिम्मेदार आदमियों का होगा। वे अंग्रेजी नीति के पक्के समर्थक होंगे। और यह कौन नहीं जानता कि अंग्रेजी नीति संसार में सबसे सफल है।

१२ अगस्त १९३३

मध्य प्रान्त में आबकारी से आमदनी

कभी दरिद्रता से भी कुछ उपकार हो जाता है—और इस उपकार का सबसे ताजा सबूत मध्य प्रान्त के आबकारी विभाग की नयी रिपोर्ट देखने से मिल जाता है। १९२५ में इस महकमे से सरकार को जितनी आमदनी हुई थी उससे एक करोड़ रुपये कम यानी पाँच हजार सात सौ तैतालिस लाख रुपये की आमदनी इस साल हुई—यह भी उस दशा में जब सरकार ने एक नये ढंग से भी ठर्रे की बिक्री की इजाजत दे दी थी। अवश्य इसका कारण दरिद्रता है, पर यह सन्तोष की बात होगी यदि जिन गरीबों ने इस व्यसन को छोड़ दिया है वे इसे फिर से न अपनायें।

आबकारी के मामले में इस साल सबसे अधिक मुकदमे चलाये गये—यानी छः हजार आठ सौ छियानबे। आशा है मध्य प्रान्त की सरकार इसी दृढ़ता से काम लेगी।

२८ अगस्त १९३३

काशी में बिजली

युक्त प्रान्तीय कौंसिल के सदस्य तथा म्युनिसिपल शासन में रुचि रखनेवाले राजनीतिज्ञों का विश्वास है कि न जाने क्यों हमारे प्रान्त की सरकार के लिए मार्टिन कम्पनी बड़ी लाड़ली है। यह विशेष प्रेम या कृपा छिपाये नहीं छिपती। प्रकट ही हो जाती है। काशी को भी इसका थोड़ा बहुत अनुभव है। हमें उस दिन का स्मरण है जब स्वराजी बोर्ड काशी में बिजली की रोशनी चालू करना चाहता था। काशी विश्वविद्यालय का प्रस्ताव था कि बनारस को बिजली सप्लाई करने का काम उसे दिया जाय। मार्टिन कम्पनी यह अधिकार अपने लिये चाहती थी पर स्वराजी बोर्ड का यह विचार था कि काशी विश्वविद्यालय काशी के लिए एक गौरव की वस्तु है। यदि काशी से उसकी सहायता हो सके तो अतीव उत्तम हो। साथ ही बोर्ड का यह भी अनुमान था कि यदि काशी में बिजली की रोशनी देने का काम काशी विश्वविद्यालय के हाथ में होगा तो बोर्ड भी अपने लिये अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त कर सकेगी तथा नगर को भी सस्ते में बिजली का प्रकाश मिल जायेगा। सस्ते-महँगे का विचार केवल अमीरों की दृष्टि से ही नहीं सबके हित में होता है। काशी में बिजली से इस समय में केवल अमीर ही नहीं गरीब भी काफी फायदा उठा रहे हैं।

परन्तु स्वराजी बोर्ड की चेष्टा बेकार गयी। बोर्ड की उपेक्षा कर सरकार ने ऐसी बाधायें खड़ी कर दीं कि मजबूरन मार्टिन कम्पनी को ठीका देना पड़ा। उसी ठीके के परिणाम-स्वरूप काशी में 'इलेक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी' की स्थापना हुई है जिसने सच पूछिए तो लूट मचा रखी है। इस नगर से यह कम्पनी कितना कमा रही है यह नीचे की तालिका से ज्ञात हो जायगा—

अर्ध वर्ष की समाप्ति पर	कितने स्थान पर बिजली लगी	यूनिट बिका	आमदनी
३१ दिसम्बर, १९३१	१५४४	११ ६२ ११४	२ ११ ७६५ ८
३० जून १९३२	१८५४	२० ७३ ३०१	२ २७ १९५ ८
३१ दिसम्बर १९३२	२ ८५	२२ १२ ८७२	२ ४६ २ ६०

इसमें से बयालीस हजार चार सौ सत्तावन रुपये पौने तीन आने 'डिप्रिसियेशन फण्ड' में, निर्माण के समय जो पूँजी लगायी गयी थी उसका सूद प्रारंभिक व्यय और बकाया में तीस हजार रुपये व्यय किया। आम राय पन्द्रह हजार एक सौ पचास रुपये साढ़े तीन आने हुआ। ऋण पर सूद और जमा में सत्रह हजार दो सौ ग्यारह रुपये सवा दो आने, बिजली पैदा करने में इक्यावन हजार दो सौ तेईस रुपये साढ़े तेरह आना, मरम्मत वगैरह में उन्तीस हजार पाँच सौ अड़सठ रुपये नौ आने, किराये में तीस हजार दो सौ सत्तर रुपये सवा बारह आने कुल व्यय हुआ। यह हिसाब ३१ दिसम्बर, १९३१ तक का है। इसके अलावा इस अर्द्ध वार्षिक के लिए चौबीस हजार एक सौ तैंतीस रुपये

साढ़े नौ आने बैलेंस है अतिरिक्त फीस बहत्तर रुपया तथा पिछले वर्ष का बैलेंस सात हजार छ सौ तीमरुपये सवा दस आने मात्र है। यानी कुल मिलाकर दो लाख छियालिस हजार चौहत्तर रुपये साढ़े चौदह आना !!! पाठक इस हिसाब की समीक्षा करें तो उन्हें पता चलेगा कि मार्टिन कम्पनी काशी से कितनी जबरदस्त आमदनी कर रही है। और इस आमदनी का कारण क्या है। 'पायोनियर' में पचीस नवम्बर १९३२ को प्रकाशित एक लेख के अनुसार इस कम्पनी का बिजली पैदा करने में फी यूनिट चार पाई मात्र का व्यय होता है पर म्युनिसिपल संस्थाओं को साढ़े नौ पाई प्रति यूनिट दी जाती है। निजी उपभोगियों को आठ आना प्रति यूनिट के हिसाब से दिया जाता है यानी म्युनिसिपल संस्थाओं से प्रति यूनिट साढ़े पाँच पाई तथा निजी तौर पर लेनवालों से सात आना आठ पाई मुनाफे में प्राप्त होता है। काशी ऐसे नगर से इतनी रकम वसूल कब तक की जा सकती है, यह कहना कठिन है। यह बिजली के प्रेमियों की ही दुर्बलता है कि एक कम्पनी नगर भर को इस तरह कंगाल बना रही है।

हमारा यह कथन अतिशयोक्ति नहीं है। दिल्ली म चार आना प्रति यूनिट (बारह प्रतिशत की छूट के साथ भी) देना पड़ता है। कलकत्ता में ढाई आना दर है। लखनऊ म पाँच पाई इलाहाबाद मे दो पाई आगरा में साढ़े पाँच पाई बरेली मे नौ पाई, कानपुर म पौने दो पाई मसूरी म एक पाई नैनीताल म केवल आधा पाई बिजली का उत्पादन व्यय है। काशी का चार पाई है। इस हिसाब स देखने पर भी काशी का खर्चा कहीं अधिक बढ़ा हुआ मालूम होता है।

यह भयों वर की बात। काशी इस विषय म किसी भी अन्य विदेशी देश से आगे है। इंग्लैंड जर्मनी फ्रांस स्विट्जरलैंड इटली अमेरिका और जापान म नौ पाई की दर से ही बिजली प्राप्त हो जाती है।

हम ही नहीं कहते कि हमारे नगर म बिजली का रेट बहुत अधिक है। कानपुर को बिजली देनेवाले मेसर्स बंग सदरलैंड एण्ड कम्पनी ने युक्त प्रान्त क वाणिज्यमण्डल के एक प्रमुख सदस्य को एक पत्र म लिखा है, कि काशी का 'रेट' अत्यधिक है। इसी प्रश्न पर विचार करन के लिए विगत शनिवार को काशी के प्रमुख बिजली उपभोगियों की एक सभा हुई थी। सम्भवतः यह निश्चय किया जा रहा है कि यदि कम्पनी सीधे से न माने तो पहली नवम्बर से बिजली लेना ही बन्द कर दिया जाय। इस प्रकार सत्याग्रह यदि सामूहिक रूप से हो सके तो मार्टिन कम्पनी को नीचा दिखाना सरल है पर इसमे कानूनी अड़चनें भी होंगी। कुछ लोग साल भर का 'कांट्रैक्ट' कर चुके हैं। कुछ अवश्य ही सरकारी पिट्ठू होंगे। कुछ उपभोग सरकारी कार्यालयों में होता होगा और सबसे बड़ी बात यह है कि अब म्युनिसिपिलटी सरकार की है। उसका एक्जीक्यूटिव अफसर एक 'तहसीलदार' है। प्रधान अफसर अतिरिक्त मैजिस्ट्रेट है। अतएव इनसे कैसे आशा की जाय कि जनता के लोकप्रिय बनने की चेष्टा करेंगे। इनसे कैसे आशा की जा सकती है कि हमारे साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अपने देश को एक कम्पनी की लूट से बचा लेंगे।

फिर भी हमें नागरिकों को प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में आन्दोलन करने के लिए एक समिति कायम हो गयी है। इसके अध्यक्ष हैं श्री सरनशंकर माथुर एडवोकेट। उपमन्त्री हैं बनारस इंडस्ट्रीज के श्री सिंहनाथ बी० ए०। जिसमें इस समस्या का एक आवश्यक अंग है और इसका उपयोग होना अवश्यम्भावी है। बिजली के पंखे से गर्मी में बड़ी सहायता मिलती है। बनारस कम्पनी को काशी से अधिक से अधिक चार आना प्रति यूनिट लेना चाहिए। इसमें प्रकाश तथा पंखे के लिए पच्चीस प्रतिशत मुजरा कर देना चाहिए। मोटर तथा गर्म करने के लिए एक आना प्रति यूनिट लगना काफी होगा।

मार्टिन कम्पनी को कितना लाभ है यह अस्पष्ट है। अवश्य इसके बदले अंग्रेज मालिकों को ऊँचे पदों पर प्रायः सभी अंग्रेज या विदेशी अफसरों को मोटी तनख्वाहें मिलती हैं तथा भारतीयों का उतना ही लाभ होता है जितना विलायती कपड़ा बेचने पर भारत के छोटे दूकानदारों को होता होगा। काशी में कम्पनी के प्रबन्ध में हमारा कोई हाथ नहीं है। इकरारनामे में बिजली कम्पनी से म्युनिसिपल बोर्ड के दो सदस्य शामिल किये जाते हैं पर यहाँ चाहे जो हो हम कुछ पता भी नहीं चलता। ऐसी दशा में हमको इस बात का सोलहों आना हक है कि या तो बनारस नगर के लिए रेट स्वयं तय कर या कम्पनी से नाता तोड़ दें।

५ सितम्बर १९३३

तम्बाकू पीने पर सजा

प्रयाग के जिला मैजिस्ट्रेट ने एक फरमान निकाला है कि कचहरी में जो आदमी तम्बाकू पीता पाया जायगा उसको सजा दी जायगी। शायद साहब बहादुर खुद सिगार या सिगरेट से शौक नहीं करते। हम तमाखू के प्रेमी नहीं हैं और आजकल इस बुरी आदत से जितनी हानियाँ पैदा हो रही हैं उनसे भी बेखबर नहीं लेकिन इस जुर्म को हम सजा देने के लायक नहीं समझते। जब एक आदमी जेब के बाईं पाकेट में हाथ करके कैंची की एक डिबिया खरीदता है तो क्या उसको काफी सजा नहीं मिल जाती? मगर यह हुक्म मौजूदा जिलाधीश के बाद भी रह सकेगा इसमें सन्देह है। बहुत सम्भव है कि उनके उत्तराधिकारी साहब सिगारों के ऐसे विरोधी न हों। यह अंग्रेजों पूर्ण रखने की तहजीब तो हमने साहब बहादुरों से ही सीखी है और आज हमारे शिक्षित जेंटिलमैन लोग पाश्चिम ढंग के एक दो रंग ढंग भी जानते हैं। यह तो कोई इंसाफ नहीं कि शराब मुँह लगा आम पर इसका पीना जुर्म करार दिया जाय। हम आशा है तमाखू के प्रेमी ड्यूटेशन लेकर मि० बिशप को सेवा में जायेंगे और उनसे कहेंगे—

छुटती नहीं है मुँह से यह काफिर लगी हुई।

१८ सितम्बर १९३३

कल्पना की उड़ान

समाचार-पत्रों को इससे ज्यादा मजा और किसी बात में नहीं आता कि उन्हें कोई सनसनी पैदा करनेवाले प्रसंग को मोटे-मोटे अक्षरों में छापने का अवसर मिले। इन दिनों पं० जवाहरलाल जी और महात्मा जी में जो बातचीत हुई और उन दोनों महानुभावों ने अपने-अपने जो बयान प्रकाशित किये उसमें हमारे कितने सहयोगियों को दोनों नेताओं में मतभेद का भूत नजर आया। फिर क्या था कल्पना ने अपना काम शुरू कर दिया। किसी सज्जन ने लिखा इन दोनों नेताओं में बहुत पुराना मतभेद है, पर जवाहरलाल जी महात्मा जी का प्रत्यक्ष से विरोध नहीं करना चाहते थे। अब वह अपना अलग दल बनायेंगे जो बिलकुल आर्थिक प्रश्नों पर निर्धारित होगा। किसी ने इससे भी आगे बढ़कर पं० जवाहरलाल जी को उपदेश दे डाला। और शायद वे अपने दिल में खुश हो रहे होंगे कि दोनों महानुभावों में जरा अन-बन तो हुई, समाचारों में जरा तेजी पैदा हो जाय। और पं० जवाहरलाल जी बार-बार कहते हैं कि महात्मा जी से उनका कोई मतभेद नहीं है और वह अपने को महात्मा जी का एक सैनिक मात्र समझते हैं। आशा है पंडित जी के पिछले बयान से इस प्रकार की कल्पनाओं का अन्त हो जायगा।

२५ सितम्बर १९३३

काशी में कमिश्नरों की जोड़ी

सहयोगी 'आज' को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि काशी में एक जोड़ दो-दो कमिश्नर कैसे और क्यों आ गये? आपको यह पूछने का क्या हक है? आप तीन में हैं कि तेरह में। सरकार सब शक्तिमान है वह चाहे तो इसी काशी में एक दरजन कमिश्नर रखकर दिखला दे। आप जोड़ी देखकर ही चकरा गये। फिर आप ने देखा नहीं एक खालिस कमिश्नर है दूसरा 'एडिशनल कमिश्नर'। एडिशनल को आप कुछ समझते ही नहीं। आप असिस्टेन्ट कमिश्नर और डिप्टी कमिश्नर और भाँति-भाँति के कमिश्नरों को देखकर भी एक 'एडिशनल' से घबरा गये। 'कट' अफसरों और चपरासियों के लिए है।

१६ अक्टूबर १९३३

गाजीपुर का दंगल

पूरब के लोग अपने को पश्चिमवालों से कुछ ज्यादा समझते हैं। जो बंगाली दो चार माह संयुक्त प्रान्त में रह लेता है वह कम से कम पशुबल में अपने को 'देश

वालों से श्रेष्ठ समझा जाता है। कहीं पंजाब में रहने का अवसर मिल जाय तो करना ही क्या। उसकी धाक जम जाती है। पश्चिमवाले पूरबवालों को भातखोर और न जाने किन-किन उपाधियों से विभूषित किया करते हैं। शायद कुछ विशेषताएँ न मर्दानगी की सारी पश्चिम दिशा में ही की जा सकती है, चाहे दस-पाँच साल का भी अन्तर क्यों न हो। पंजाब के पहलवानों का इस प्रान्त के पहलवानों पर कुछ ऐसा रोब छा गया है कि सहसा कोई पंजाबियों से लड़ने का साहस नहीं करता। लेकिन गाजीपुर में अभी हाल में जो दंगल हुआ है उसमें अधिकतर कुश्तियाँ पूरबवालों ने मारी और लाहौर अमृतसर आदि स्थानों के पहलवानों को नीचा देखना पड़ा। शक्ति किसी की मीरास नहीं। जहाँ साधना होगी वहीं शक्ति होगी। रोटी दाल और भात-साग का कोई सवाल नहीं। जापान के लोग भात खाते हैं लेकिन संसार के किसी जाति से बल में कम नहीं है। हमारे पूरब भी दाल-भात खाते हैं। उस तराई में और होता ही क्या है पर बल और साहस में किसी जाट या पठान से पीछे नहीं होते। ऐसे ही दो-चार दंगलों में पूरब के लोग बाजी मार ले जायें तो पश्चिम की धाक टूट जाय।

२० अक्टूबर १९३१

दस साल की कैद

सरकार अपने नौकरों को पचपन साल में रिटायर करती है मगर हाईकोर्ट के जज साठ साल तक अदालत की कुरसी को सुशोभित कर सकते हैं। यह भेद क्यों? क्या मामूली डिप्टी मजिस्ट्रेट या कलक्टर पचपन ही में होश-हवास खो बैठता है और जज साहब किसी पुण्य आशीर्वाद से साठ साल तक होश-हवास कायम रखते हैं? या हाईकोर्ट के जजों के लिए होश-हवास की जरूरत नहीं समझी जाती और वे केवल कुरसी [illegible] के लिए रख जाते हैं? अब प्रयाग विश्वविद्यालय ने भी यह प्रस्ताव किया है कि साठ साल से ऊपर कोई आदमी वाइस चांसलर न रहे। अगर साठ साल तक आदमी हाईकोर्ट का काम कर सकता है तो निस्संदेह पचहत्तर साल की उम्र तक वाइस चांसलरी कर सकता है।

२७ नवम्बर १९३३

प्रयाग में मादकता की वृद्धि

प्रयाग की जिला-नशा-कमेटी ने जिले में उन्नीस मादक वस्तुओं की दूकानें बन्द कर दी हैं। मगर नगर-नशा-कमेटी से नशा-विभाग का यह शुभ काम न देखा गया।

उसने शहर म तुरंत चार दूकानें खोल दीं। देहात की उन्नीस दूकानों में जो कुछ कमी हुई उसकी पूर्ति शहर की चार दूकानों से हो जायगी। मगर इस तरह यह कमी न पूरी हो तो कमेटी का चाहिए कि उसके लिए नये-नये आयोजन करे। जैसे सिगरेटवाले डिब्बियों में टिकट रख देते हैं उसी तरह अफीम और चरस की पुड़ियों में या शराब की बोतलों म टिकट रख दिये जायें। इनाम के लालच से हजारों टीटोटलर कंठी तोड़ कर कलवरिए में न पहुँच जायें तो हमारा जिम्मा। दूसरी तरकीब यह है कि हरेक कलवरिए म नशेबाजों का रेकार्ड रक्खा जाय। जो सबसे बड़ा पियक्कड़ हो उसे किसी तरह का सरकारी खिताब या सम्मान का कोई दूसरा चिन्ह प्रदान कर दिया जाय। फिर देखिए इस विभाग से कितनी आमदनी बढ़ती है।

४ दिसम्बर १९३३

आतिशबाजियों का घातक परिणाम

शबरात गुजरे पाँच दिन हो गये पर अभी तक पटाखे छूट रहे हैं और कभी-कभी हवाइयाँ और छछूंदरे भी नजर आ जाती हैं। होली म भी हफ्तो तक लोगों पर आतिशबाजियों का नशा सवार रहता है। हर साल कई लाख रुपये बारूद में उड़ जाते हैं। रुपये तक ही बात रहती तो गनीमत थी कितनों ही की जान भी जाती है। अभी समाचार-पत्रों म कई जिलो से आतिशबाजी के घातक परिणाम की खबरें आयी हैं। और कई दिनों इस तरह की खबर आती रहेंगी। मगर समाज के नेताओं ने इस दूषित प्रथा को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। कई साल हुए दिल्ली म मुसलिम नेताओं न आतिशबाजियो क विरुद्ध बड़ा आन्दोलन किया था उसका नतीजा यह हुआ कि दो तीन साल तक इसमें कुछ कमी हुई लेकिन अब फिर वही हाल है। लुधियाने में तो एक पूरा परिवार ही खतम हो गया।

११ दिसम्बर १९३३

बेकारी के करिश्मे

खबर है कि इलाहाबाद म अबकी मादक वस्तुओं की दूकानों के ठीके के उम्मेदवारों में कई ग्रेजुएट और कई एम ए पास लोग भी हैं। इन्ही दूकानों पर थोड़े दिन पहले कांग्रेस म पिकेटिंग की थी और कितने ही युवक उस जुम म जेल भेज गये थे। उन दूकानों की बोली बोलनेवाल न मिलत थे। और आज शिक्षित युवक उन दूकानों के ठीके के लिए कनवेसिंग कर रहे हैं। इसम खेद या आश्चर्य की क्या बात है। शिक्षित

युवक आबकारी के अफसर नहीं हैं जिनका कर्तव्य ही यह है कि नशे की बिक्री बढ़ायें। शिक्षित युवक राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने में क्या सरकार का साथ न दें? अगर शिक्षित वर्ग में विवेक जाग उठे तो संसार स्वर्ग हो जाय। अभी तो यह हाल है कि शिक्षित समाज राष्ट्र को Exploit करने में मस्त है। दूसरी बात यह है कि राष्ट्र में Exploit किये जाने की सामर्थ्य ही न रहे।

२५ दिसम्बर १९३३

सामाजिक नियन्त्रण की जरूरत है या नहीं

इधर दो-तीन महीने से सहयोगी 'लीडर' में एक बड़ा मनोरंजक विवाद चल रहा है। शायद अक्टूबर के महीने में समाचार छपा था कि इन्दौर राज्य ने एक ऐसा कानून जारी किया है कि बरातों और उत्सवों में पचास से ज्यादा मेहमानों को बुलाना दण्डनीय समझा जाय। इस पर काशी के विद्वान् नेता बाबू श्रीप्रकाश जी ने 'लीडर' में एक पत्र लिखकर इस कानून का विरोध किया। उनके खयाल में सामाजिक जीवन में इस तरह का नियंत्रण अनावश्यक और कष्टप्रद है। गरीबों को जीवन में आनन्द मनाने के इतने कम अवसर मिलते हैं कि शादी ब्याह में भी यह बाधा डाल दी गयी तो जीवन बिलकुल ही शुष्क और निरानन्द हो जायगा। इस पर काशी के ही एक उदीयमान लेखक श्री लक्ष्मीकान्त झा ने इन्दौरी कानून का समर्थन करते हुए लिखा कि गरीबों को उनकी ही अदूरदर्शिता से बचाना राज्य का धर्म है और इन्दौर ने यह कानून जारी करके अपनी प्रजा का बड़ा उपकार किया है। बाबू श्रीप्रकाश जी ने फिर इसका प्रत्युत्तर दिया है और उसमें अपने पूर्व कथन का समर्थन करते हुए लिखा है कि अमीरों को उस वक्त तो किफायत का खयाल नहीं आता जब वह अपनी दावतों और पार्टियों में हजारों खर्च करके कर्जदार हो जाते हैं तो गरीबों ही के साथ क्यों यह कानून बरता जाय।

प्रश्न यह है कि सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता है या नहीं? यह तो सभी जानते हैं कि आदर्श शासन वही है जिसमें राज्य का कम से कम दखल रहे। जनता अमीरों ही की नकल करती है। अगर धनवान लोग इस तरह का अपव्यय न करें तो गरीबों को भी अपना घर फूँककर तमाशा देखने की हवस न हो। हम तो इसी सिद्धान्त पर अनिवार्य शिक्षा का भी विरोध करते हैं। बजाय इसके कि जनता पर यह कड़ा प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें किफायत का सबक दिया जाय यह कहीं अच्छा है कि जाति के अगुआ खुद किफायत का आदर्श सामने रखें। जब तक धनी लोग धूमधाम के मोह में पड़े रहेंगे जनता पर कड़ा बन्धन लगाकर उन्हें दूरदर्शी नहीं बनाया जा सकता।

२५ दिसम्बर १९३३

पेरिस में भीषण दुर्घटना

खबर है कि फ्रांस की राजधानी पेरिस में एक बहुत बड़ी रेलवे दुर्घटना हो गयी। एक गाड़ी साठ मील की चाल से आ रही थी कि एक स्टेशन पर वह एक बड़ी मुसाफ़िर गाड़ी से टकरा गयी। दोनों गाड़ियाँ भरी हुई थी। बड़े दिन का उत्सव मनाने के लिए लोग अपने या मित्रों के घर जा रहे थे। बड़ा जबरदस्त टक्कर था। एक सौ अस्सी से ऊपर तो वहीं मर गये और तीन सौ से ऊपर जख्मी हुए। ऐसा मालूम होता है, फ्रांस में रेलों का प्रबन्ध कुछ गड़बड़ है। तभी तो एक टक्कर में इतनी जानों की क्षति हुई। क्या ही अच्छा हो कि भारत का रेलवे बोर्ड अपना हाथ में वहाँ का प्रबन्ध ले-ले और उन्हें सिखा दे कि यों ट्राफिक कंट्रोल किया जा सकता है। यहाँ गाड़ियाँ लड़ती हैं सही लेकिन कुछ इस खूबी से लड़ती हैं कि दो चार आदमियों को मामूली खरोचें लगाकर रह जाते हैं। मरे भी तो दो-चार मर गय। यह नहीं कि एक टक्कर में पाँच सौ से ज्यादा चल बसें। इस मामले में असभ्य भारत योरोप को अभी कुछ दिन सिखा सकता है।

1 जनवरी 1934

एम० सी० सी० की धूम

आज सारे देश में एम० सी० सी० की धूम है। खिलाड़ियों का नागरिक स्वागत किया जा रहा है, ऐड्रेस दिये जा रहे हैं और कहा जा रहा है कि भारत के स्वराज्य का प्रश्न क्रिकेट के मैदान में हल होगा। जिस उत्साह से हमारे राजे और महाराजे और मिलों के स्वामी और बड़े-बड़े लोग इस प्रोपैगेंडा में शामिल हुए हैं उससे इस विषय में जरा भी संदेह नहीं रह गया कि बस अबकी मैच जीते और स्वराज्य मिला। हाकी में हिन्दुस्तानियों ने सारी दुनिया को जीता स्वराज्य की एक मंजिल पूरी हुई। पोलों में जीत कर हम दूसरे मंजिल पर जा पहुँचे। तैराकी में अव्वल आकर तीसरी मंजिल मार ली। फुटबाल में पहले से हमारा सिक्का बैठा हुआ है। आज समाचार आया है कि टेनिस में आस्ट्रेलियावालों को हमने नीचा दिखा दिया। चौथी मंजिल भी पूरी हो गयी बस क्रिकेट में जीतने की देर है। जीते और पूर्ण स्वराज्य मिला। और जीत तो होती बंबई ही में लेकिन उस इलेविन में शरीक होने के लिए कैवल खिलाड़ी होना काफी नहीं। आप अच्छे खिलाड़ी हैं तो क्या बैठ रहिए। यहाँ जिस पर अधिकारियों की कृपा है, वह इलेविन में लिया जाता है। सुना है वाइसराय साहब को क्रिकेट से बड़ा प्रेम है। जवानी में अच्छे क्रिकेटर थे। अब खेल तो नहीं सकते मगर आँखों से देख तो सकते हैं। और जिस चीज में हुजूर वाइसराय की दिलचस्पी हो उस

में हमारे राजों महाराजों नवाबों और धनवानों को मजा हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं । हुजूर वाइसराय अगर प्रिंस दलीप सिंह से खुश होते तो शायद वह भी भावर के साथ बुलाये जाते लेकिन नहीं उन्हें क्रिकेट से क्या मतलब । यहाँ तो पक्का खिलाड़ी वह है, जिसे अधिकारी लोग नामजद करें । भारत की ओर से वाइसराय बधाई देते हैं, भारत का प्रतिनिधित्व अधिकारियों ही के हाथ में है । फिर क्रिकेट के क्षेत्र में क्यों न निर्वाचन अधिकार उनके हाथ में रहे । इस धूम-धाम और टीम-टाम का यही रहस्य है । रेल ने कमिशन दे दिये एक्सप्रेस गाड़ियाँ दौड़ रही हैं, तमाशाई लोग थैलियाँ लिये कलकत्ता भागे जा रहे हैं ।

और इधर शुल मचाया जा रहा है कि मन्दी है और सुस्ती है । मन्दी और सुस्ती है मजदूरी घटाने के लिए, नौकरों का वेतन काटने के लिए, ऐसे मुआमिलों में हमेशा तेजी रहती है ।

१ जनवरी १९३४

एम० सी० सी० की जय

कहते हैं कि फ्रेंच-क्रान्ति के पहले जनता तो भूखों मरती थी और उनके शासक और जमींदार और महाजन नाटक और नृत्य में रत रहते थे वही दृश्य आज हम भारत में देख रहे हैं । देहातों में हाहाकार मचा हुआ है । शहरों में गुलछर्रे उड़ रहे हैं । कहीं एम सी सी० की धूम है, कहीं हवाई जहाजों के मेले की । बड़ी बेदर्दी से रुपये उड़ रहे हैं । काशी के इस क्रिकेट-मैच में कम से कम पाँच हजार आदमी तमाशा देख रहे थे । कम से कम पच्चीस हजार रुपये केवल टिकटों से वसूल हुए और दिया किसने उन्हीं बाबुओं और अमीरों ने जिनसे शायद किसी राष्ट्रीय काम के लिए कौड़ी न मिल सके । खूब तमाशे देखे जावें खूब मजे उड़ाये जावें । यह दुनिया है, कौन किसी के दुख से दुखी होता है । यह सिरफिरों का काम है । संसार उनका है, जो मौज करते हैं । शहर के मच्छरों से मरनेवाले अभागे काशी को मरना ही चाहिए । क्या अमीरों का चोंचला है, उसको हमें वास्ता नहीं । न्याय के आने में देर है, तब तक चैन किये जावें । सुना इस मैच में विजयनगरम् टीम जीत गयी । बस अब स्वराज्य मिलने में देरी नहीं है ।

१५ जनवरी १९३४

सी० पी० सरकार की सतर्कता

सी पी के होम मेम्बर एक हिन्दुस्तानी सज्जन हैं । महात्मा जी अभी जब उस प्रांत में दौरा कर रहे थे तो आपने एक सरकुलर निकाला था कि सरकारी नौकरों

को इस आंदोलन में भाग न लेना चाहिए। बिलकुल ठीक। संक्रामक बीमारियों में बाहरवालों को छूत लग जाने का ज्यादा भय रहता है।

२६ जनवरी १६३४

बैंकरों की फरियाद

और कोई माने या न माने बैंकवालों ने तो गवर्नर को डिक्टेटर मान ही लिया। रुपयों के उद्धार का जो बिल कौंसिल में मंजूर हुआ है, वह बैंकवालों को कई कारणों से रुचिकर नहीं है। हम भी बिल को निर्दोष नहीं समझते। उसमें किसानों के साथ जितनी रियायत होनी चाहिए थी उससे बहुत ज्यादा कर दी गयी है। यों कहो कि उससे विशेषकर जमींदारों का ही फायदा होगा लेकिन बैंकरों को कौंसिल के मेम्बरों से फरियाद करना चाहिए था। या सम्भव है, उन्होंने फरियाद की हो और मेम्बरों पर कुछ असर न हुआ हो लेकिन जब मेम्बरों पर कोई असर नहीं हुआ तो गवर्नर पर कोई असर होने की बहुत ही कम संभावना है। और अगर असर हो भी जाय तो हम पंचायत के फ़ैसले की अपील ऐसे इजलास में करने के खिलाफ हैं जो निरंकुश है। बैंकवालों ने समझा होगा जब एक की खुशामद करने से काम निकल सकता है, तो बहुतों की खुशामद क्यों की जाय लेकिन यह नीति जनतंत्र के अनुकूल नहीं है। जनता के हित के लिए अगर अमीरों को कुछ कष्ट और हानि भी हो तो वह सहनी चाहिए। जनतन्त्र का यह सिद्धान्त है।

२६ मार्च १६३४

डाक्टर भी संरक्षण चाहते हैं

जर्मनी से निकले हुए यहूदी डाक्टर भारत आ रहे हैं। अभी तक तो भारत के मरीज इलाज कराने के लिए जर्मनी जाया करते थे। अब जर्मन डाक्टर खुद यहाँ आ रहे हैं। इससे हमें खुश होना चाहिए था मगर हमारे डाक्टरों को संशय हो रहा है कि कहीं ये डाक्टर यहाँवालों का रोजगार न छीन लें। हम समझते हैं मरीज किसी डाक्टर के पास इसलिए नहीं जाता कि वह हिन्दुस्तानी है या हिन्दू या किसी अन्य जाति का। वह सिर्फ उस डाक्टर के पास जाता है, जिस पर उसे विश्वास हो जो उसे अच्छा कर सके। अगर हमारे डाक्टर चाहते हैं कि उनका मुल्क बना रहे, तो उन्हें अपने विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अपनी फीस भी ऐसी रखनी चाहिए, जो मामूली आदमी की पहुँच के बाहर न हो। कलकत्ते में अच्छे डाक्टर के एक विजिट की फीस

बत्तीस रुपये से कम नहीं है अगर अमल डाक्टरों के आने से यह लूट कम हो जाय तो हम उसका स्वागत करेंगे। सरकार की यह हवा देखें हमें कहाँ-कहाँ ले जाती है।

२६ मार्च १९३४

कोर्ट-शिप

प्रयाग में अग्रवाल महिला महासभा की सभानेत्री जी ने समाज की वैवाहिक कुरीतियों को दूर करने के लिए कोर्ट-शिप की बात कही। लेकिन कोर्ट-शिप स्वयं तो एक खर्चीली वस्तु है। कारों की सैर और रस्टों की दावतें और आये दिन नये-नये उपहार, यह क्या माँ-बाप के लिए कुछ हल्के टैक्स होंगे। और रूखी-सूखी कोर्ट-शिप मरुभूमि में पड़े हुए बीज की भाँति शायद ही अंकुरित हो फलना-फूलना तो दूर की बात है।

१६ अप्रैल १९३४

डाकों की धूम

डाकों की तादाद बढ़ती जाती है। अब तो चालिस-पचास की पूरी सशस्त्र फौजें डाके मारने लगीं। गाँववाले बन्दूक की आवाज सुनते ही दम साध लेते हैं। डाकुओं का गाँव पर पूरा राज्य हो जाता है। उनकी इच्छा है जो चीज चाहें ले जायँ जो चीज चाहें छोड़ दें किसकी मजाल है कि चूँ कर सके। अगर गाँववालों को पड़ोस का हक अदा करने की सूझ गयी तो दस-पाँच वहीं शहीद हो गये। डाकू मजे से जिस तरह गाते बजाते आये थे उसी तरह हँसते-खेलते चले गये। तीसरे दिन पुलिस तहकीकात करने पहुँची और यह मानी हुई बात है कि डाकू आस-पास के गाँवों के लोग ही रहे होंगे संभव है दो-चार इस गाँव के आदमी भी उनमें मिले रहे होंगे। यह कौन नहीं जानता कि गाँववालों के सहयोग के बगैर डाके नहीं पड़ सकते। इसलिए दो-चार गाँव के भले आदमी दस-पाँच पड़ोस के गाँवों के मोतबर आदमी ही डाके में शरीक हुए। सबूत की क्या कमी। इन अभागों ने अगर दारोगा जी को प्रसन्न कर दिया तो जान बच गयी नहीं चक्की पीसनी पड़ी। रोज यही तमाशा होता है मगर किसी को परवाह नहीं। सरकार की पुलिस का काम है सरकार के शत्रुओं को पकड़ना और मिटाना। प्रजा की रक्षा सरकार की पुलिस क्यों करे? प्रजा की रक्षा प्रजा की पुलिस करेगी जो अनन्त भविष्य में बनेगी। प्रजा का धर्म है सरकार को टैक्स और कर अदा करना। सरकार का धर्म है कर लेना अपनी रक्षा करना। प्रजा के प्रति सरकार का और क्या धर्म हो सकता है। लाखों आदमी यों ही दम-तोड़ और जिगर-मरोड़ बुखार से मरते हैं दो-चार सौ

आदमी डाकुओं के हाथों शहीद हो जायें तो क्या गम। प्रजा के हाथ में शस्त्र भला कैसे दिया जा सकता है। क्या मैकियावेली का ऐसा आदेश नहीं है।

३० अप्रैल १९३४

अंग्रेजी औषधियों का बल-पूर्वक प्रचार

कानपुर के हाकिम जिला साहब ने बोर्ड को इसलिए करारी फटकार बतायी है कि बोर्ड ने अपने रोग निवारक फंड को औषधालय मद्य और होमियोपैथिक दवाखाने खोलने में खर्च किया है और इसके दण्ड-स्वरूप वह इस फंड को प्रजा से वसूल करना नहीं चाहते। साहब एलोपैथिक औषधियों के खासतौर पर प्रेमी मालूम होते हैं। हम भी मानते हैं कि बहुत-सी बीमारियों में एलोपैथिक दवाएँ तीर की तरह निशाने पर जा बैठती हैं, मगर यह किसी तरह नहीं मान सकते कि आयुर्वेदिक यूनानी या होमियोपैथिक की दवाएं बिलकुल बेकार हैं। आज भी कितने मरीज एलोपैथिक दवाओं से अपनी देह को विषाक्त करने के बाद निराश होकर आयुर्वेद या हिक की शरण जाते हैं और अच्छे हो जाते हैं। ऐसे अंग्रेज भी मौजूद हैं जो आयुर्वेदिक और हिक की दवाओं पर पूरा विश्वास रखते हैं और अक्सर डाक्टर भी आयुर्वेदिक औषधियों का व्यवहार करते हैं और होमियोपैथिक तो मानो किसी देवता का आशीर्वाद है, जिसकी राई भर गोलियों में वह तासीर है जो एलोपैथिक की बोतलों में भी नहीं। और सस्तेपन के लिहाज से तो वह भारत जैसे दरिद्र देश के लिए खासतौर पर अनुकूल है। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आज भी ऐसे लोग क्यास अंग्रेज पड़े हुए हैं जो इतना नहीं समझते की भारतवालों के लिए भारत में पैदा होनेवाली औषधियाँ जितनी फ्यमदेमन्द हो सकती हैं, उतनी विदेशी एलोपैथिक दवाएँ नहीं हो सकतीं और कितने ही निष्ठावान लोग तो एलोपैथिक से इसलिए घृणा करते हैं कि उसमें शराब ही नहीं गाय और सुअर तक की चर्बी भी मिली होती है। माना कि रोगी को इस तरह के विचार करना मुनासिब नहीं लेकिन यह कहाँ का इंसाफ है कि वह हाकिम जिला ही क्यों न हों जनता को एक खास तरह की दवाओं का सेवन करने के लिए मजबूर करे। क्या औषधियों के बारे में भी हमें आजादी नहीं?

७ मई १९३४

पत्रों में अधूरी खबरें

दैनिक अखबारों में कभी-कभी ऐसी खबरें छपती हैं कि जनता में उससे बड़ी गलतफहमी पैदा हो जाती है और ऐसा मालूम होता है खबरें देनेवाले एजेंट किसी कारण से जानबूझ कर अधूरी खबरें भेजते हैं। मसलन् चम्पारन में अभी यह खबर छपी कि मुसलमानों ने हिन्दुओं की दो सौ पचास गायें छीन लीं जिन्हें उनके स्वामी चरागाहों को ओर लिये जा रहे थे और जब उन्होंने अपनी गायें माँगी तो उन्हें मारा-पीटा। इस पर बीस हजार हिन्दू जमा हो गये उधर पाँच हजार मुसलमान भी जमा हुए। पुलिस को पता लगा। उसने आकर हिन्दुओं पर गोलियाँ चलायीं और बहुतों को पकड़ लिया। खबर साफ कह रही है कि मुसलमानों की ज्यादती है और कोई कितना ही उदार हिन्दू क्यों न हो वह यह कभी पसंद न करेगा कि मुसलमान या कोई और उन गायों को छीन ले। यह तो डाका है, रहजनी है और जब बेचारे हिन्दू इस बात पर बिगड़ कर एकत्र होते हैं, तो उनके साथ कितना बड़ा अत्याचार किया जाता है। ऐसी खबरों से ख्वाम-ख्वाह साम्प्रदायिक भावनाएँ प्रबल होती हैं और हिन्दू समझने लगता है कि जब हमारे ही ऊपर चारों तरफ से वार पड़ता है, तो फिर हमें भी लड़ मरना चाहिए। मगर वास्तव में बात कुछ और थी। मुसलमानों की गायें भी चर रही थीं और जब यह रेवड़ उस गाँव में पहुँचा तो दोनों झुण्ड एक में मिल गये। हिन्दुओं ने अपने रेवड़ को अलग करना चाहा पर संभव है उसमें दो एक गाय मुसलमानों की भी रह गयी हों। इस पर दोनों में झगड़ा हो गया। मुसलमानों ने रेवड़ को रोक दिया और कहा—जब तक हमारा इतमिनान न हो जायगा हम गायों को न जाने देंगे। इस पर बात बढ़ गयी। इतना स्पष्ट कह देने से खबर में वह मुस्लिम ज्यादती का पहलू गायब हो जाता है और मामूली मवेशियों का झगड़ा रह जाता है, जैसा आये दिन देहातों में होता रहता है।

१४ मई १९३४

बातचीत करने की कला

बातचीत करना उतना आसान नहीं है, जितना हम समझते हैं। यों मामूली सवाल जवाब तो सभी कर लेते हैं अपना दुख सभी रो लेते हैं, उसी तरह, जैसे सभी थोड़ा-बहुत गाकर अपना मन प्रसन्न कर लेते हैं लेकिन जिस तरह गाने की कला कुछ और है और उसे सीखने की जरूरत है, उसी तरह बातचीत करने की भी एक कला है जो कुछ लोगों में तो ईश्वरदत्त होती है और कुछ लोगों को अभ्यास से आती है और जो आज अज्ञात कारणों से लुप्त होती जा रही है। आज दो-चार हजार सुशिक्षित आदमियों में एक ही दो ऐसे निकलेंगे जो अपने सम्भाषण से किसी समाज या मंडली का मनोरंजन कर सकते हों अपनी लियाक़त का सिक्का जमा सकते हों या अपने पक्ष का समर्थन कर

सकते हों। और विचित्र बात यह है कि पढ़े-लिखे और विद्वान् लोग इस कला से जितने शून्य देखे जाते हैं, उतने अशिक्षित और ग्रामीण लोग नहीं।

किसी गाड़ी में दो पढ़े-लिखे सज्जन हजार दो हजार मील की यात्रा साथ करेंगे पर एक दूसरे से सलाम-कलाम भी न करेंगे। एक अपना अखबार पढ़ता रहेगा दूसरा अपने उपन्यास में डूबा रहेगा। इसके उलटे दो ग्रामीण ज्योंही गाड़ी में बैठे कि उनमें विश्रम्भ बातें शुरू हो जाती हैं, फिर खेती-बारी का जिक्र छिड़ जाता है, फिर मामले मुकदमे की चर्चा होने लगती है, जमींदार ने कैसे उसे बेदखल किया या साहूकार ने कैसे सूद दर सूद लगाकर पचास के दो सौ पचास रुपये कर लिये और उसकी सारी जायदाद नीलाम करा ली। जब तक यात्रा समाप्त न होगी उनकी जबान बंद न होगी। संभव है वे यात्रा शुरू कर दें। चलते-चलाते उनमें एक सद्भाव पैदा हो जाता है। यहाँ हमारे बाबू साहब अपनी जगह पर बैठे अपने दूसरे मुसाफिर भाई को गहरी आलोचना की आँखों से देख कर रह जाते हैं। आप एक ग्रामीण के साथ लंबी से लंबी यात्रा हँसते हुए कर सकते हैं लेकिन बाबू साहब के साथ आप छोटी यात्रा कर के ऊब भी जाते हैं। उस ग्रामीण के जीवन में कुछ रस है कुछ उत्साह है, कुछ आशावादिता है, कुछ बालकों का-सा कुतूहल है, कुछ अपनी विपत्ति पर हँसने की सामर्थ्य है लेकिन मिस्टर या बाबू साहब अपने आप में सिमट कर मानो सारी दुनिया से रूठ गये हैं। ऐसा क्यों होता है समझ में नहीं आता।

लेकिन ग्रामीणों में भी यह कला तनज्जुल पर है। पुराने जमाने में नाई संभाषण कला में जन्म ही से निपुण होता था उसी तरह, जैसे कवि जन्म ही से कविता की कला में सिद्ध होता है। अलिफलैला में नाइयों-द्वारा कही गयी कई कहानियाँ हैं और यह विशेषता कुछ ईरानी या अरबी हज्जामों ही में न थी। हमारे यहाँ भी नाई पक्का बातूनी होता था बड़ा हाजिरजवाब जिसका दिमाग लोकोक्तियों और चुटकुलों की खान होता था। गाँवों में नाऊ ठाकुरों की हजारों कथाएँ आज भी प्रचलित हैं लेकिन नाइयों में भी अब इस कला का लोप होता जा रहा है। अब तो वह मुहर्रमी सूरत लिये आता है चुपचाप काम करता है, और पैसे लेकर चला जाता है।

नाइयों में तो इस कला के लुप्त होने का कारण देहातों की बदहाली और साधारण जनता की दरिद्रता हो सकती है। जिनके पास पैसे हैं वे अब अपने हाथों अपनी दाढ़ी साफ कर लेते हैं यहाँ तक कि [illegible] बाल बनवाने के लिए नाई की जरूरत पड़ती है। और देहातों में किसान का ही दम [illegible] है नाई का पेट कहाँ से भरे। जब किसान के खजाने में अनाज और उसके बैलों के [illegible] में दूध भरा होता था तब नाऊ ठाकुर मूँछों पर ताव देते थे और [illegible] की तरह विनोद करता था [illegible] के रूप में निकलती थीं। यहाँ [illegible] और [illegible] के [illegible] और उसके [illegible] हैं, यहाँ [illegible] का चित्र मुझमें है।

शिक्षित वर्गों में जो रूखापन और उदासीनता आ गयी है, उसका कारण शायद आजकल की शिक्षा प्रणाली है। पहले साहित्य ही मुख्य पाठ्य विषय था। हम बड़े-बड़े कवियों की सूक्तियाँ याद कर लिया करते थे। सुभाषितों का एक खजाना हमारे दिमाग़ में जमा हो जाता था और कंठस्थ होने के कारण अवसर पड़ने पर हम संभाषण में उनका व्यवहार करते थे। अब बाल्यावस्था में जो किस्से कहानियाँ या अन्य पाठ पढ़ाये जाते हैं उनमें सुभाषितों का नाम भी नहीं होता। और जब ऊँची कक्षाओं में क्लासिक पढ़ने का समय आता है, तो उसके लिए पाठ्य क्रम में इतना कम समय होता है कि केवल उसका अर्थ समझ लेना ही काफ़ी समझा जाता है। रटंत की किसे फ़ुरसत है। अच्छे संभाषण के लिए अच्छी स्मरण शक्ति का होना आवश्यक है, और यह शक्ति आजकल उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती है। बड़े-बड़े विद्वानों से कहिए कि शेक्सपियर की दो-चार सूक्तियाँ सुनाइए, तो वे केवल मुसकिराकर रह जायेंगे। ग़रीब को कुछ याद हो तब तो सुनाये। एक कारण यह भी है कि हमने जनता में मिलना-जुलना तक कम कर दिया है, जहाँ भावनाएँ अपने मौलिक और प्राकृतिक रूप में निवास करती हैं। जब तक आपको हज़ार-पाँच सौ शेर और कवित्त या दोहे, सौ दो सौ चुटकुले दो-चार सौ सुभाषित और सूक्तियाँ याद न हों आप मनोरंजक संभाषण नहीं कर सकते। किसी की स्पीच सुनने जाइए, अगर वह केवल फ़िलासफ़ी बघार रहा है, या बड़ी ओजस्विनी भाषा में परिस्थितियों पर अपना मत प्रकट कर रहा है, तो आप बहुत जल्द ऊब जायेंगे लेकिन अगर वह बीच-बीच में अपने कथनों को विनोद-भरे चुटकुलों और लतीफ़ों से अलंकृत करता जाता है, तो आप अन्त तक मुग्ध बैठे रहेंगे। एक लतीफ़े से सारे संभाषण में जान-सी पड़ जाती है। सैकड़ों दलीलें एक तरफ़ और एक चुटीला सुभाषित एक तरफ़। वह प्रतिद्वन्द्वी को निरुत्तर कर देता है, उसके जवाब में उसकी ज़बान नहीं खुलती। उस का पक्ष कितना ही प्रबल हो पर सुभाषितों में कुछ ऐसा जादू होता है कि मानो वह एक फूँक से दलीलों को उड़ा देता है। मौलाना मुहम्मद अली मरहूम जिन दिनों अंग्रेज़ी 'कामरेड' नाम का साप्ताहिक-पत्र निकाला करते थे तो उनके लेखों का हरेक पराग्राफ़ ग़ालिब के शेरों से अलंकृत होता था और उससे राजनीति के रूखे विषय में भी रस आ जाता था। उनके इस तरह के लेख लाजवाब होते थे और बड़ी रुचि से पढ़े जाते थे। मौलाना मुहम्मदअली को ग़ालिब का पूरा 'दीवान' कण्ठ था और शेरों को वह कुछ इस तरह चिपका दिया करते थे कि मालूम होता था ग़ालिब ने वह शेर इसी मतलब के लिए कहा हो। स्व॰ अकबर की व्यंगोक्तियाँ भी दंतशिकन हैं इतनी सजीव और चुलबुली कि अगर हम अपनी बातचीत में मौक़े पर उनका व्यवहार कर सकें तो सुनने वालों को फड़का दें। कबीर और तुलसी रहीम गिरधर आदि की रचनाएँ सुभाषितों से भरी पड़ी हैं मगर अंग्रेज़ी स्कूलों में हिन्दी साहित्य एक गौण विषय है, और जिन लोगों ने इन महाकवियों को केवल स्कूलों में पढ़ा है, वे शायद ही उनकी सूक्तियों को

याद रख सकते हों। लतीफ़ों की कोई अच्छी पुस्तक हिन्दी में हमारी नजर से नहीं गुजरी। बीरबल अकबर और दूसरों के नाम से जो लतीफ़ प्रचलित हैं उनमें अधिकांश गन्दे और कुरुचि-पूर्ण हैं। अगर कोई सज्जन लतीफ़ों को संग्रह कर सकें तो साहित्य का उपकार करें। समाज में वार्ता-कुशल व्यक्ति का कितना सम्मान और प्रभाव होता है, यह लिखने की जरूरत नहीं। ऐसा आदमी किसी मंडली में पहुँच जाता है, तो तुरन्त सब का ध्यान अपनी ओर खींच लेता है और मंडली पर मानों उसका आधिपत्य हो जाता है। हाँ मौका देखकर ही जबान खोलना चाहिए और उसी विषय में बोलने का साहस करना चाहिए जिसका हमें कुछ अनुभव या ज्ञान है। मौन की बड़ी प्रशंसा की गयी है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम मौका आने पर भी मुँह बन्द किये बैठे रहें। हाँ अगर हमारे पास कहने को कुछ नहीं है, तो मौन रहना ही उचित है। मौन से कम से कम हमारी मूर्खता का परदा तो बना रहता है। हम तो कहते हैं हमारे बोदेपन के लिए बड़ी हद तक हमारी अयोग्यता ही जिम्मेदार है। अगर हमारे स्टॉक में लोकोक्तियों और लतीफ़ों का अभाव न हो तो हम बोदे बैठे ही नहीं रह सकते। जिसे गाना आता है वह अवसर पड़ने पर बिना गाये रह ही नहीं सकता। अगर उसे गाने का अवसर न मिले तो वह मन में बहुत दुखी होगा और भाव भंगियों से अपना असन्तोष प्रकट करेगा। जो अच्छे वक्ता हैं, वे किसी सम्मेलन में चुप बैठ ही नहीं सकते। उनकी जीभ खुजलाने लगती है। और वे बार-बार स्लिप लिख-लिखकर सभापति से बोलने की अनुमति लेकर ही रहते हैं। जिन गरीबों को बोलने की शक्ति या अभ्यास नहीं है, वे तो बार बार कहने पर भी मंच पर नहीं आते मनाते रहते हैं कि यह बला मेरे सिर न आ जाय।

लगभग एक महीना हुआ हमारी मुलाकात एक ऐसे सज्जन से हुई जिनकी वाचालता देखकर हम दंग रह गये। लतीफ़ों और सुभाषितों का एक सोता था जो उबलता चला आता था। ऐसा कोई विषय न था जिस पर उनकी अपनी एक स्वतन्त्र राय न हो और जिसका समर्थन वह कायल कर देनेवाले ढंग से न कर सकें। कई बार यह जानते हुए भी कि उनका कथन भ्रममूलक है, उनकी वाचालता से लाजवाब हो गये। अपने पक्ष में एक मार्मिक लतीफ़ा कहकर वह कह-कहा मारते थे और इसके साथ मैदान मार लेते थे। वह जानते थे इस फैसले के खिलाफ़ मैं कुछ नहीं कह सकता। उन्होंने कितने लतीफ़े कहे, इस वक्त सब तो याद नहीं आते लेकिन दो-चार याद हैं उन्हें मैं पाठकों के मनोरंजन के लिए यहाँ देता हूँ और उनसे अनुरोध करता हूँ कि वह अपने दिमाग को एसे लतीफ़ों से जितना सशस्त्र कर सकें कर लें। इससे वे अपने ही दुखों पर नहीं दूसरे के दुखों पर भी प्रहार कर सकेंगे और अपने भ्रातृभूओं का दायरा फैला सकेंगे—

(१) दक्खिनी अफ्रीका में एक बार एक सरकारी कर्मचारी जन-गणना के सिल सिले में एक झोंपड़ी के सामने पहुँचा जहाँ कई बच्चे खेल रहे थे। उसने आवाज दी

तो उसके जवाब में एक -हबशिन बाहर निकल आयी। कागजों की खानापुरी करने के लिए कर्मचारी ने पूछा—तुम्हारा शौहर क्या काम करता है?

हबशिन ने जवाब दिया—वह क्या करेगा। उसे मरे तो बीस साल हो चुके हैं।

'तो यह बच्चे किसके हैं?

मेरे हैं।

'लेकिन तुम तो कहती हो कि तुम्हारे शौहर को मरे बीस साल हो गये?

'हाँ वह मर गया है लेकिन मैं तो अभी जिन्दा हूँ।

(२) एक तेली ने अपने बैल के गले में घटी बाँध रक्खी थी। एक सज्जन ने पूछा—क्यों साहब जी बैल की गर्दन में घटी क्यों बाँध रक्खी है?

तेली ने जवाब दिया—इसलिए कि बैल चलता रहता है, तो घण्टी बजती रहती है। मैं कोई दूसरा काम भी करता रहता हूँ तो मुझे मालूम रहता है कि बैल चल रहा है, खड़ा नहीं हो गया।

'लेकिन अगर बैल खड़ा होकर सिर हिलाता रहे?

महाशय मेरा बैल इतना समझदार नहीं है।

(३) एक हिसाबदाँ ने दरिया की गहराई का अनुपात निकाल कर घरवालों से कहा—पानी थोड़ा है, कोई डर नहीं हम इसे पार कर लेंगे लेकिन जब घर के सब लोग मध्य धारा में पहुँचते ही उसकी आँखों के सामने डूब गये तो वह फिर किनारे पर पहुँचे और फिर अनुपात निकाला। वही जवाब निकला जो पहले था तो बोले—अभी ज्यों का त्यों कुनबा डूबा क्यों?

(४) एक अफ़ीमची पिनक में राह म पड़ा हुआ था। एक फक्कड़ ने उसके सिर की पगड़ी उतार ली और उसकी जगह थोड़ी-सी रुई रख दी। अफ़ीमची जब पिनक से जागा तो पगड़ी सम्भालने के लिए सिर की तरफ हाथ बढ़ाया। पगड़ी की जगह रुई उसके हाथ आयी तो बोला—कम्बख्त धुनकी गयी काती गयी बुनी गयी पगड़ी बनी। इतना सब कुछ हो चुकने के बाद फिर रुई की रुई।

(५) एक बार मि हर्बट स्पेंसर कहीं सैर करने जा रहे थे। आप इंग्लैंड के बहुत बड़े फ़िलासॉफर हो गुजरे हैं। रास्ते में आप को एक सौ साल की बुढ़िया नजर पड़ी। हर्बर्ट स्पेंसर को मजाक की सूझी बोले—मैडम दुनिया में तुम्हारा कोई प्रेमी भी है? बुढ़िया ने पूछते ही जवाब दिया—बेटा मेरे प्रेमी तो सब स्वर्ग सिधारे, बस एक तुम जीते बचे हो। फ़िलासॉफर साहब ऐसे झेंपे कि भागते ही बना।

(६) टर्की के प्रसिद्ध प्रधान मन्त्री असमत पाशा जब लोजान की कान्फ्रेंस में सेवरी की सन्धि को बदलवाने के लिए आये तो आप का सामना लार्ड कर्जन से हुआ।

लार्ड कर्जन की अकड़ तो मशहूर है। आपने इस अमन में कि यह दुनिया के सबसे शक्ति-सम्पन्न साम्राज्य के प्रतिनिधि हैं, तुर्की-प्रतिनिधियों पर रोब जमाने के लिए राष्ट्रवादी तुर्कों पर खूब हमले किये। लार्ड कर्जन का यह ढंग देखकर असमत पाशा ने ऐसा मुँह बना लिया मानो लार्ड कर्जन बोल ही नहीं रहे हैं। जब लार्ड कर्जन डेढ़-दो घंटे तक डींगें मार कर बैठ गये तो गाजी असमत पाशा चौंक कर उठ खड़े हुए और कान पर हाथ रखकर बोले—क्या आप तुर्की के विषय में कुछ कह रहे हैं। मैंने तो कुछ सुना ही नहीं। दूसरे विचारों में डूबा हुआ था। लार्ड कर्जन पर घड़ों पानी पड़ गया।

दिसम्बर १९३४

वशीकरण का नया रूप

हमारे रतिशास्त्र में वशीकरण का एक विशेष महत्व है। ऐसी हरेक पुस्तक में आपको वशीकरण की विधि और मन्त्र और उसकी क्रियाएँ सब बड़ी तफ़सील के साथ मिलेंगी। जनता का उन पर विश्वास भी है और हजारों प्रेमी-जन एकान्त में बैठकर इन क्रियाओं को सिद्ध किया करते हैं। योरोप में भी अब वशीकरण का प्रचार होने लगा है, लेकिन नयी पद्धति के अनुसार हरेक काम वहाँ व्यवस्थित संगठित और व्यापारिक रीति से किया जाता है। वशीकरण भी इसका अपवाद न था। एक महाशय ने इसका एक स्कूल भी खोल लिया और अच्छी फ़ीस लेकर शिष्यों को उसके सबक भी देने लगे। हाँ सबक पत्रों द्वारा दिये जाते थे। प्रचार इतना बढ़ा कि बहुत जल्द शिष्यों की संख्या बारह हजार से ऊपर पहुँच गयी। शिक्षक महोदय केवल बावन पाठों में शिष्य में ऐसी योग्यता पैदा कर देने का जिम्मा लेते थे कि उसके प्रेमी या प्रेमिका उससे मिलने के लिए आतुर हो उठें। जिधर वह ताक दे उस पर उसका जादू चल जाय। इस विज्ञप्ति का यह नतीजा हुआ कि सारी दुनिया से पत्र-व्यवहार होने लगा और एक हजार से अधिक लोग यह कला सीखने लगे। जब यह क्रम आ गया तो उसकी आजमाइश भी होनी ही चाहिए। युवक और युवतियाँ शिकार की खोज में घूमने लगीं। आखिर भेद खुल गया और शिक्षक महोदय गिरफ्तार हुए और उनके ऊपर मुकदमा चलाया गया। अभियोग यह था कि यह लोग युवकों को दुश्चरित्रता का पाठ पढ़ाते हैं जिससे घरों की बरबादी के सिवा और कोई नतीजा नहीं। यह विद्यालय पेरिस में था मगर इसका प्रचार बीस भिन्न-भिन्न भाषाओं में होता था। मजा यह है कि बहुधा यह वशीकरण विधि केवल मनोरंजन के लिए सीखी जाती थी।

अतीत भारत के उपासकों को योरोप की इस नक्काली पर शायद इस पुरानी कला को फिर जगाने की धुन सवार हो क्योंकि योरोप भला-बुरा जो कुछ करे, हम उसके पीछे चलने को तैयार हैं।

फरवरी १९३५

'हस'-कथा

कुछ अपने विषय में

'हंस' का एक वर्ष समाप्त हो गया। हम इसके बारह अंक निकाल सके इसकी बधाई हमें दूसरे दें या न दें हम स्वयं अपने आप को दिये लेते हैं। जिन उद्देश्यों के साथ वह क्षेत्र में उतरा था उन्हें हमने कहाँ तक पूरा किया इसका निर्णय पाठक करें। हम तो यही कह सकते हैं कि हमने अपनी ओर से कोई ढीलापन नहीं किया। हम आर्थिक हानि भी हुई राजनैतिक दंड भी भोगना पड़ा पर हमने हिम्मत न हारी। हम अपनी त्रुटियों को जानते हैं और यथाशक्ति उनके दूर करने की चेष्टा कर रहे हैं। कुछ सज्जनों की सलाह है कि 'हंस' में आदि से अंत तक कहानियों के सिवा और कुछ न हो। यह प्रधानरूप से कहानियों की पत्रिका न रहकर पूर्ण रूप से हो जाय। कुछ सज्जन मुक्ता-मंजूषा और इसकी टिप्पणियों को कायम रखना चाहते हैं और पत्रिका का एकरूपी नहीं बनाना चाहते। हम खुद अभी तक कुछ निश्चय नहीं कर सके। हम अपने प्रेमी पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वह इस विषय में अपनी सम्मति प्रदान करके हमारे पथ को निश्चित कर दें। हमें इसका खेद भी है कि हम मौलिक कहानियों की संख्या और अधिक न बढ़ा सके। हम अपने नौजवान दोस्तों से आशा करते हैं कि वह अपने नये रक्त और उत्साह से साहित्य के इस अंग की पूर्ति करेंगे। हम हर एक नये लेखक को प्रोत्साहित करने को तत्पर हैं। हाँ यह अवश्य चाहते हैं कि जो सज्जन इस मैदान में आवें वह एक आदर्श लेकर आवें और साहित्य रचना को बच्चों का खेल न समझें। पश्चिमवालों के प्रभाव में आकर हम लोग भी शृंगार-प्रधान कहानियाँ लिखने ही में कला का विकास समझते हैं। कुछ लोग जीवन के नग्न चित्रों को खींचना ही साहित्य का ध्येय समझ बैठे हैं किन्तु मानव जीवन में ऐसे अनेक भाव हैं जिनका पाठक पर इनसे कहीं अच्छा असर पड़ सकता है। मोटी बात इतनी ही है कि जो कुछ लिखा जाय आत्मा से और आत्मा के लिए लिखा जाय।

पाठकों से किसी प्रकार की सहायता माँगना हम अपना अधिकार नहीं समझते। हम जब साहित्य-क्षेत्र में आये थे तो पाठकों से पूछकर न आये थे। हमें साहित्य में एक मिशन पूरा करना था उसे पूरा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। पाठकों को यदि हमारे उद्देश्यों से सहानुभूति है तो वह स्वयं हमारी सहायता करेंगे। अगर नहीं तो हमारा कहना व्यर्थ है। हमने अपने सामने जो आदर्श रक्खा है, वह हमारा उत्साह बढ़ाते रहेंगे

के लिए काफी है। हम घाटे-नफे के कायल नहीं जिसे ईश्वर ने जिस योग्य बनाया हो उस कर्तव्य को पालन करना उसका काम है और काम व्यवसाय की वस्तु नहीं।

जून १९३१

भारतीय साहित्य का संगठन

हाल में श्री कन्हैयालाल जी मुंशी ने इस प्रश्न पर अंग्रेजी पत्रों में एक विचार पूर्ण लेख लिखा है जिसमें आपने यह दिखाने की चेष्टा की है कि अन्तर्प्रान्तीय साहित्यों का राष्ट्रीय संगठन किस प्रकार और किस रूप में किया जाना चाहिए। हम उसका स्वतन्त्र अनुवाद देते हैं—

'इधर कुछ समय से उन सभी प्रान्तों में साहित्यिक जागृति उत्पन्न हो रही है जिनके पास अपनी-अपनी विशेष भाषाएँ हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि हर एक प्रान्त में छोटी-छोटी साहित्यिक संस्थाएँ पैदा हो गयी हैं और वे सब प्रान्तीय साहित्य परिषदों का अंग बन गयी हैं, किन्तु साधारणतः ये संस्थाएँ अपने अलग-अलग रास्ते पर चल रही हैं। उनमें कोई पारिस्परिक आदान-प्रदान नहीं होता। यहाँ तक कि इंग्लैंड की साहित्यिक और सांस्कृतिक कृतियों के विषय में हमारा जितना ज्ञान है, उतना अपने पड़ोसी प्रान्तों के साहित्य के विषय में नहीं है। उस प्रान्त के बाहर ऐसे कम लोग हैं, जिन्हें उदीयमान लेखकों की शैली और कला या उसकी साहित्यिक धाराओं का कुछ ज्ञान हो। जिन प्रान्तों में हिन्दी नहीं बोली जाती वहाँ कुछ लोग तुलसी या सूरदास के नाम से भले ही परिचित हों लेकिन वे साहित्यिक उद्योग से अपरिचित हैं, जो आज हिन्दी में हो रहा है। बँगला साहित्य का हमें जो कुछ परिचय है, वह केवल डाक्टर रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं का है। गुजराती साहित्य के विषय में हम जो कुछ जानते हैं वह महात्मा जी की आत्म-कथा के अंग्रेजी अनुवाद द्वारा है। नवीन गुजरात ने जिस रोमांटिसिज्म (आनन्दमस्ती) साहित्य का विकास किया है, वह अन्य प्रान्तवासों के लिए एक मुहरबन्द किताब है। कर्नाटक तामिलनाड आन्ध्र केरल आदि प्रान्तों में जिस नये साहित्य का निर्माण हो रहा है, उसका गोदावरी के उत्तर के निवासियों को कुछ भी ज्ञान नहीं है।

'लेकिन वर्तमान साहित्य पर राष्ट्र भावना का आधिपत्य है और आगे भी रहेगा। सभी प्रान्तीय कृतियाँ एक विशाल राष्ट्रीय एकता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं और अगर भारत को अपनी राष्ट्रीयता सम्पूर्ण रीति से प्राप्त करना है, तो एक राष्ट्रीय साहित्यिक संघ भारत के लिए आवश्यक है, जिसमें हरएक प्रान्त अपना सहयोग प्रदान करे, लेकिन ऐसा संघ केवल हिन्दी के माध्यम द्वारा ही संभव है, जिसमें सभी सूबों के साहित्यकार संगठित रूप से हार्दिक सहयोग दें। ऐसा होने पर ही हम प्रान्तीय साहित्य

परिषदों के संघ की स्थापना कर सकेंगे जो वास्तव में अखिल भारतीय साहित्य परिषद् होगी। सन् १९२४ से जब कि मैं गुजराती साहित्य परिषद् में सक्रिय भाग लेने लगा था यह विचार मेरे मन में पुष्ट होता गया है।

'गत अप्रैल में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ उसमें यह योजना स्वीकार कर ली गयी। अन्य साहित्यिक व्यक्तियों के साथ इस विषय पर मेरी जो बातचीत हुई, उसमें मुझे मालूम हुआ कि बहुतों के मन में इसी तरह के विचार उठ रहे हैं और अब इस दिशा में प्रयत्न करने का समय आ पहुँचा है। स्वयं महात्मा जी ने भी हिंदी माध्यम द्वारा भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के प्रतिनिधियों को एकत्र करने की आयोजना को कार्य-रूप में लाने में पथ प्रदर्शक बनना स्वीकार किया। साधारणतया से यह प्रतीत हुआ कि यदि इस तरह की कोई आयोजना सफल हो जाय तो फिर किसी न किसी रूप में एक अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक संस्था बन ही जायगी। इस सम्मेलन ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया—

'देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के साहित्य-सेवियों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने और हिन्दी भाषा के उत्क्रान्ति के कार्य में उन लोगों का सहयोग प्राप्त करने के विचार से यह सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनों की एक समिति कायम करता है और आवश्यकता होने पर उन्हें अधिक सदस्य बना लेने का अधिकार भी देता है—

१—श्रीयुत कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी।

२—श्री हरिहर शर्मा।

३—पं० गिरधर शर्मा।

'उक्त समिति नये सदस्यों का चुनाव करेगी और प्रारम्भिक कार्य हो जाने के बाद अपना काम शुरू कर देगी।

'सबसे पहले प्रान्तीय साहित्यों में समीपता लाने के लिए यह सोचा गया कि या तो हिन्दी के किसी वर्तमान मासिक पत्र का उपयोग किया जाय या एक नया पत्र निकाला जाय जिसमें प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रहे। प्रान्तीय विद्वान उसके लिए लेख लिखें जो हिन्दी में रूपान्तरित होकर प्रकाशित किये जायें। इस प्रकार इस पत्र में प्रति मास ये विषय रहेंगे—

१—भिन्न-भिन्न प्रान्त की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक घटनाओं पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ।

२—*प्रान्तीय साहित्यों के विकास का संक्षिप्त इतिहास जिसमें आधुनिक* साहित्यों की प्रगति तथा उनमें पैदा होनेवाले राष्ट्रीय भावों की ओर विशेष ध्यान।

३—विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में निर्मित होनेवाले भावगीत।

४—प्रान्तीय साहित्य में मिली जानेवाली उच्च श्रेणी की लघु कथाएँ (कहानियाँ)।

५—उपन्यास (क्रमशः) ।

६—प्रान्तीय लोक-साहित्य का परिचय ।

७—एकांकी नाटक ।

८—प्रान्तीय लोक-साहित्य के प्रमुख कवियों एवं सुलेखकों के विस्तृत शब्द-चित्र तथा उनकी कलाकृतियों की साहित्यिक आलोचनाएँ ।

९—विभिन्न भाषाओं के प्रमुख साहित्यिकों के विहंगम शब्द-चित्र ।

१०—विभिन्न प्रान्तों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक तुलना ।

११—भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों की साहित्यिक समालोचना ।

१२—विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के पत्रों में प्रकाशित होनेवाले सामयिक साहित्य के अवतरण तथा उनके हिन्दी अनुवाद ।

१३—विदेशी साहित्य सम्बन्धी संक्षिप्त टिप्पणियाँ ।

१४—प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित आदर्श उपन्यासों का मर्मानुवाद ।

१५—राष्ट्र-लिपि सम्बन्धी चर्चा ।

संक्षेपतः यह मासिक पत्र आजकल महसूस होनेवाली एक अखिल भारतीय साहित्यिक मुखपत्र की आवश्यकता की पूर्ति करेगा । इस काम को सफल बनाने के लिए विभिन्न प्रान्तों के मुख्य साहित्य सेवियों साहित्य परिषदों तथा अन्य साहित्यिक समितियों और खासकर राष्ट्रवादी समाचारपत्रों के सहयोग की नितान्त आवश्यकता है । इस आयोजन को सफल बनाने के लिए पहले खूब जमीन तैयार करने की जरूरत है और हरएक प्रान्त में कुछ ऐसे साहित्य-सेवियों की जरूरत है, जिन्हें इस उद्देश्य में दृढ़ उत्साह हो अतः इस पत्र के द्वारा मैं देश की उन साहित्य परिषदों साहित्यिक संस्थाओं तथा उन साहित्य-सेवियों से सहयोग के लिए आग्रह और अनुनय करता हूँ जो इस कार्य से प्रेम रखते हों ।

'भूतकाल में ग्राम संस्कृति की लगी हुई लगन ने प्रान्तीय सीमाओं को मिटाकर भाषा और लिपि का भेद होते हुए भी साहित्यिक और सांस्कृतिक एकता प्रस्थापित करने की भरसक कोशिश की थी । वर्तमान संस्कृति से सामना की जो सरलताएँ मिलती हैं और राष्ट्रीय भावना राजनैतिक जीवन में जो प्राण सचार कर रही है, उसका परिणाम शीघ्र ही सांस्कृतिक एकता प्रस्थापित करने में अवश्य होगा और दस-बीस वर्ष की अल्प अवधि में ही हम लोग देखेंगे कि बढ़िशालिनी राष्ट्रभाषा का उदय और प्रान्तीय साहित्यों का पारस्परिक संगठन हो चुका है, जिसमें हर एक प्रान्त ने अपने सर्वोत्कृष्ट सृजन की भेंट दी है ।

जुलाई १९३४

'हंस' नये रूप में

राष्ट्रभाषा की वर्तमान जागृति के बाद अगर राष्ट्र-साहित्य के समन्वय के महत्व पर कुछ लिखें तो यह उस जागृति का अपमान होगा। जिन उपकरणों से राष्ट्र बनता है, उनमें भाषा और साहित्य का स्थान कितना ऊँचा है यह हम सभी जानते हैं। हिन्दी को उसकी व्यापकता और सरलता के कारण राष्ट्र ने अपनी भाषा स्वीकार कर लिया और अट्ठारह वर्षों से सम्पूर्ण देश में उसके प्रचार का आयोजन सफलता के साथ हो रहा है और अब समय आ गया है कि हम अपना क़दम आगे बढ़ायें और राष्ट्रभाषा के प्रचार ने जो भूमि तैयार कर दी है, उसमें भारतीय राष्ट्र-साहित्य का बाग लगायें। यह भावना कितने ही सज्जनों के मन में कई साल से उठ रही थी पर उसे कार्य रूप में लाने के लिए जिस पथ प्रदर्शक की जरूरत थी वह न मिला। इस बार इन्दौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में—जिसके सभापति महात्मा गांधी थे—इस आशय का प्रस्ताव मंजूर हुआ और जिन पवित्र हाथों से अट्ठारह वर्ष पहले राष्ट्रभाषा प्रचार का आयोजन हुआ था उन्हीं हाथों से भारत के प्रान्तीय साहित्यों के समन्वय का आयोजन भी हुआ। जीवन और संस्कृति के अन्य सभी विभागों में अखिल भारतीय संस्थाएँ मौजूद हैं लेकिन भाषाओं के भेद के कारण अभी तक अखिल भारत की कोई साहित्यिक संस्था नहीं है। भाषा-भेद की दुर्गम खाई को पार करने के बाद हमारा रास्ता साफ हो गया है और वह अवसर आ गया है कि हम साहित्यिक समन्वय का काम शुरू कर दें।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहली आवश्यकता एक ऐसे मासिक पत्र की है जिसमें सभी प्रान्तीय महारथियों के लेख प्रकाशित हों और भाषाओं में बहु आदान-प्रदान होने लगे जिससे राष्ट्र-साहित्य को प्रोत्साहन और प्रगति मिले। इसी तरह साहित्य में वह राष्ट्रीय मनोवृत्ति उत्पन्न होगी जिससे आगे चलकर राष्ट्रीय साहित्य परिषद् का विकास होगा

अतएव हमने निश्चय किया है कि आगामी अक्टूबर से हिन्दी के सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'हंस' को इस नये रूप में प्रकाशित किया जाय। 'हंस' अब एक लिमिटेड कंपनी द्वारा प्रबंधित रूप में निकलेगा जो इसी उद्देश्य से बनायी गयी है। उसमें प्रति मास सौ पृष्ठ होंगे और उसका वार्षिक मूल्य पाँच रुपये होगा। प्रान्तीय विद्वानों और सुलेखकों से लेख प्राप्त करना उन्हें हिन्दी रूप में लाना साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति का प्रयत्न करना मेहनत का काम भी है और खर्च का भी। दस-बारह प्रान्तीय साहित्यों के लेखों का अनुवाद करने के लिए हमें योग्य अनुवादकों का प्रबन्ध करना पड़ा है और कई सज्जनों ने तो त्याग भाव से हमारी सहायता करने का वचन दिया है। प्रत्येक प्रान्त में राष्ट्र-साहित्य के प्रेमियों ने इस उद्योग का जिस उत्साह से स्वागत किया है वह हमारे लिए बहुत आशाजनक है। हमें विश्वास है कि राष्ट्र के मुखपत्र

और पाठक दोनों ही अपने सहयोग से हमें प्रोत्साहन देंगे। तभी वह उदासीनता और अरुचि दूर होगी जो एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त के साहित्य से है। हमें हर्ष है कि हमें सम्पादन कार्य में गुजरात के प्रमुख साहित्यकार श्रीयुत् कन्हैयालाल मुंशी का सहयोग प्राप्त हो गया है, जो इस विचार के जन्मदाता कहे जा सकते हैं।

काम कितना महत्वपूर्ण है, यह लिखने की जरूरत नहीं। हम तो उस भविष्य की कल्पना करते हैं जब भारत के सुविख्यात लेखकों की रचनाएँ भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक चाव से पढ़ी जायेंगी और सम्पूर्ण देश उन पर गर्व करेगा। तभी हमारे साहित्य को संसार के साहित्य-समाज में और आदर का स्थान मिलेगा और संसार के सांस्कृतिक विकास में उसका भी भाग होगा।

जिस पत्रिका के निर्माण में सम्पूर्ण भारत की साहित्यिक प्रतिभा योग देगी वह किस कोटि की होगी इसका अनुमान किया जा सकता है।

हम यहाँ उस शंका का निवारण कर देना उचित समझते हैं जो दुर्भाग्य से कुछ सज्जनों के मन में उत्पन्न हुई है। यों तो चारों तरफ हमारी योजना का स्वागत ही हुआ है पर कुछ ऐसे महानुभाव भी हैं जिनका कथन है कि जब हम अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अपना काम चला सकते हैं तो हमें राष्ट्रभाषा सीखने की क्या जरूरत है। उनका अनुमान है कि राष्ट्र-साहित्य का स्वाँग केवल हिन्दी को अन्य प्रान्तीय भाषाओं पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए खड़ा किया गया है। हम बड़ी नम्रता से निवेदन करना चाहते हैं कि हमारा अभिप्राय प्रान्तीय भाषाओं को क्षति पहुँचाना नहीं बल्कि उनके सहयोग से राष्ट्र-साहित्य का निर्माण करना है। जिस डाल पर बैठे हों उसी की जड़ में कुल्हाड़ी मारकर हम अपनी मूर्खता ही का परिचय दे सकते हैं। हाँ यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि हम राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए राष्ट्रभाषा का ज्ञान आवश्यक समझते हैं अन्यथा वह राष्ट्रभाषा ही कैसी होगी किन्तु इससे तो भाषाओं को क्षति पहुँचने की कोई सम्भावना नहीं। उनका जो क्षेत्र है वह तो बना ही रहेगा हाँ उनके प्रतिभाशाली लेखकों के लिए यश प्राप्ति का क्षेत्र और विस्तृत हो जायगा। अगर इससे उस भाषा को क्षति पहुँचती है तो उसे लाभ कैसे पहुँचेगा इसका अनुमान हम नहीं कर सकते। रही अंग्रेजी के पक्षपातियों की बात उनसे हम इसके सिवा और क्या कह सकते हैं कि अब तक राष्ट्र के अरबों रुपये खर्च करके हम सौ में एक आदमी को भी अंग्रेजी पढ़ने और समझने के योग्य नहीं बना सके और सम्पूर्ण राष्ट्र को अंग्रेजी पढ़ाने के लिए जितने धन की जरूरत है, वह इस कंगाल देश की सामर्थ्य के बाहर है।

जुलाई ११३४

'हंस' का नया रूप

आज के छह साल पहले जब 'हंस' का जन्म हुआ तभी से उसने भारत की अन्य भाषाओं की मासिक प्रगति से अपने पाठकों को परिचित कराने का प्रयत्न किया है। यद्यपि साधनों के अभाव से उसे इस उद्देश्य में इच्छित सफलता नहीं मिल सकी पर यह उद्देश्य हमेशा उसके सामने रहा। कोई राष्ट्र केवल इसलिए राष्ट्र नहीं होता कि वह एक राज्य के अन्तर्गत है बल्कि इसलिए भी कि उसमें सांस्कृतिक एकता भी होती है। लिपि भाषा और साहित्य संस्कृति का मुख्य अंग है। लिपि का प्रश्न तो राष्ट्र ने तय कर लिया और नागरी लिपि राष्ट्र की लिपि स्थिर हो गयी है। भाषा के विषय में भी अब कोई मतभेद नहीं रहा। हिन्दुस्तानी हमारी राष्ट्रभाषा स्थिर हो गयी है। अब साहित्य को भी हम प्रान्तीयता के सङ्कुचित क्षेत्र से निकालकर राष्ट्रीयता के बृहद् क्षेत्र में लाकर सांस्कृतिक एकता में जो कसर भी उसे पूरा कर देना चाहते हैं। वह आध्यात्मिक और बौद्धिक धारा जो इस समय सम्पूर्ण राष्ट्र में समान रूप से प्रवाहित हो रही है भाषा-भेद के कारण अवरुद्ध होकर रह जाती है और सम्पूर्ण राष्ट्र को उसके रस-सुधा से आप्लावित होने का अवसर नहीं मिलता। अगर भारत को अपनी राष्ट्रीयता सम्पूर्ण रीति से प्राप्त करना है तो उसे भारतीय साहित्य का संगठन और प्रचार करना होगा। इस महत्वपूर्ण कार्य का भार 'हंस' ने अपने ऊपर लिया है। १ अक्टूबर से हंस भारतीय साहित्य के मुखपत्र के रूप में निकलेगा। उसमें एक सौ बारह पृष्ठ होंगे और उसका वार्षिक मूल्य ६ रुपये और अर्द्ध-वार्षिक तीन रुपये चार आने होगा। उसका सम्पादन श्रीयुत कन्हैयालाल मुन्शी और मेरे हाथों होगा। हम प्रयत्न कर रहे हैं कि भारत के सभी सुविख्यात साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त करें। महात्मा गांधी ने हमें आशीर्वाद दिया है। सच तो यह है कि यह काम उन्हीं की प्रेरणा से उठाया गया है। 'हंस' के प्रकाशन के लिए बम्बई में एक लिमिटेड कम्पनी बनायी गयी है और अब वही उसका प्रकाशन करेगी।

'हंस' पूर्ववत् 'हंस' कार्यालय बनारस से निकलेगा। उसका एक कार्यालय एक सौ ग्यारह एस्प्लेनेड रोड बम्बई में भी है। हमने यह आयोजन केवल राष्ट्र भाषा और राष्ट्र-साहित्य की सेवा के उद्देश्य से किया है। हमारा कोई व्यापारिक स्वार्थ इसमें नहीं है। अतएव हम अपने प्रेमी पाठकों से यह आशा रखते हैं कि जैसे अब तक उन्होंने 'हंस' को अपनाया है उसी भाँति उसको अपनाये रहेंगे और केवल ढाई रुपये की अधिक वृद्धि के कारण उससे विमुख न होंगे। इस बृहत् कार्य में लगते हुए यह मूल्य-वृद्धि कुछ भी नहीं है। अनुमान कीजिए कि कनाड़ी तामिल तेलगू बंगला मराठी गुजराती उर्दू आदि भाषाओं की सामग्री हिन्दी में उपस्थित करने के लिए हम कितना व्यय और कितना उद्योग करना पड़ा है और आगे पड़ेगा। आज 'हंस' के द्वारा सम्पूर्ण भारत के साहित्य से

परिचित हो जायेंगे। प्रान्तीय साहित्यों में जो कुछ श्रेष्ठ और सुन्दर है, वह आपको 'हंस' द्वारा प्राप्त हो जायगा। उसके साथ ही वह पूर्ववत् हिन्दी-साहित्य की अनूठी रचनाएँ भी आपको भेंट करता रहेगा। क्या यह खेद की बात नहीं है कि अभी तक हम प्रान्तीय साहित्यों की प्रगति और उनकी मूल धाराओं से बेखबर हैं? पुराने बंगाली साहित्य से हम बहुत कुछ परिचित हैं। लेकिन उसकी साम्प्रतिक गति का हमें कुछ पता नहीं है। दक्षिण भारत के साहित्य से तो हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं। जब भारत एक राष्ट्र है, हिन्दी राष्ट्र-लिपि है, तो भारतीय साहित्य में जो कुछ भी निकले वह राष्ट्र-साहित्य है। तभी हमारे साहित्यिक दृष्टिकोण का विकास होगा तभी हम साहित्य को राष्ट्रीय मापदंड से नापेंगे तभी हमारे साहित्यिक आदर्श ऊंचे होंगे। आप 'हंस' के ग्राहक बने रहकर राष्ट्र-साहित्य के प्रति अपने कर्त्तव्य को इतिश्री न समझें। यथासाध्य 'हंस' के प्रचार का उद्योग भी करें और इस सांस्कृतिक यज्ञ में सहयोग देने का यश लें। जब अन्य भाषा भाषी सज्जन राष्ट्रभाषा के प्रति इतना उत्साह दिखा रहे हैं और 'हंस' के प्रकाशन के लिए धन का आयोजन कर रहे हैं और अन्य भाषाओं के यशस्वी लेखक 'हंस' के साथ उदारतापूर्ण सहयोग कर रहे हैं, तो क्या हमारे पाठक जो इतने दिनों 'हंस' के ग्राहक रहकर अपने साहित्य-प्रेम का परिचय देते रहे हैं अब अपने राष्ट्र-साहित्य-प्रेम से हम प्रोत्साहन न देंगे? हमारे जिन माननीय सहयोगियों ने इस विचार के प्रचार में हमारी सहायता की है, उनके हम हृदय से अनुगृहीत हैं।

अगस्त सितम्बर १९३५

भारतीय साहित्य के संगठन की एक आलोचना

'हंस' के पाठकों को ज्ञात होगा कि गत मास श्रीयुत कन्हैयालाल मुन्शी ने 'भारतीय साहित्य का संगठन' नामक एक पम्फ़लेट प्रकाशित किया था जिसमें उन्होंने हिन्दी में एक ऐसे पत्र की आवश्यकता बतलायी थी और उसके लिए एक स्कीम भी पेश की थी जिसमें प्रान्तीय साहित्यों के विषय में हिन्दी में प्रान्तीय विद्वानों के लेख प्रकाशित किये जायँ और हिन्दी के माध्यम से एक ऐसा क्षेत्र तैयार किया जाय जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रान्त तथा हिन्दी के पाठकों को अन्य प्रान्तों के साहित्य से परिचय हो जाय और राष्ट्र के भिन्न साहित्यों में जो श्रेष्ठ कृतियाँ निकलें वह केवल उस प्रान्त के अन्दर न रहकर सम्पूर्ण राष्ट्र तक पहुँच सकें। हमारे मित्र श्रीयुत चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने अगस्त के 'विशाल भारत' में एक विचारपूर्ण लेख लिखकर यह शंकाएँ प्रकट की हैं—

१—जिन साहित्यिकों की रचनाएँ उस पत्र में आयेंगी उन्हें भी ठीक तौर से

ज्ञात नहीं होगा कि उसकी रचना का हिन्दी में अनुदित होकर क्या रूप बन गया है
अतएव परोपकार की भावना से किसी के लिहाज में आकर अथवा और किसी प्रेरणा से अन्य प्रान्तों के साहित्यिक इस पत्र के लिए लेख चाहे भले भेज दें तथापि वह इस पत्र से कोई विशेष दिलचस्पी नहीं रख सकते। परिणाम यह होगा कि यह पत्र बहुत शीघ्र दूसरे दर्जे का और कुछ समय के बाद तीसरे दर्जे का बन जायगा।

२—हिन्दी जगत को इस पत्र से अन्य प्रान्तीय भाषाओं की रचनाओं का अकेले ही रसास्वादन अवश्य मिल जायगा परन्तु इसके द्वारा अन्य प्रान्तों की जनता को सम्पूर्ण राष्ट्र के साहित्यिकों का परिचय किस प्रकार मिल सकेगा ?

—इस विषय का अकेला एक पत्र क्या कर सकेगा यह तो प्रचार का-सा काम है और इस दृष्टि से तो यह अच्छा रहेगा कि हिन्दी के सम्पूर्ण पत्रों तथा पत्रिकाओं में हिन्दी ही क्यों सम्पूर्ण भारतवर्ष की सभी पत्र-पत्रिकाओं में यह भावना भरने का प्रयत्न किया जाय कि वे अन्य प्रान्तों की रचनाओं से भी अपने पाठकों का परिचित कराने का अधिकतम प्रयत्न करें।

४—अन्त में आपने राष्ट्रीय साहित्य परिषद् की आवश्यकता बतलाई है और इस पर जोर दिया है कि पहले वह परिषद् बनाया जाय और ऐसा पत्र उसी परिषद् की ओर से पूर्ण साहित्यिक बनकर निकले।

हमें चन्द्रगुप्त जी की यह आलोचना पढ़कर खुशी हुई। इससे मालूम होता है कि विचारवान लोग इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं, या आँखें बन्द करके किसी बात को स्वीकार कर लेने से या सहज उदासीन हो जाने से कहीं अच्छा है। हम भाई चन्द्रगुप्त जी की शंकाओं का महत्व समझते हुए भी यह निवेदन करते हैं—

१—हम जिन साहित्यिकों के लेख प्रकाशित करेंगे वह सीधे उन्हीं से 'हंस' के लिए प्राप्त किये जायेंगे और यह प्रयत्न करेंगे कि वे खुद अपने लेखों के अनुवाद करा के या स्वयं हिन्दी में लिखकर (अगर उन्होंने हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर लिया है) भेजें। अगर यह दोनों बातें न हुईं तब हम उनके लेखों के अनुवाद करायेंगे। हम यह प्रयत्न करेंगे कि उनके ताजे लेख ही हम लिखें और हमारे लिए खास तौर पर लिखे गये हों। कोई वजह नहीं है कि जब वे अपनी भाषा के पत्रों को लेख देते हैं तो 'हंस' को न दें जो उनके लेख को सम्पूर्ण भारत में पहुँचाने का इरादा रखता है। हमारा तो ख्याल है कि बंगला, मराठी आदि सम्पन्न भाषाओं के सुलेखक भी इसे कभी नापसन्द न करेंगे कि उनके लेख एक पत्र में छपें जो सभी भाषाओं की जनता के पास पहुँचने का आदर्श अपने सामने रखता है और उसको पूरा करने के लिए प्रयत्नशील है। हिन्दी लेखकों ही का लीजिए। भाई चन्द्रगुप्त जी को अगर यह विश्वास हो जाय कि उनके पत्रिका में अपना लेख भेजने से वह सम्पूर्ण भारत के राष्ट्रभाषा प्रेमियों के हाथों में पहुँच जायगा तो हमें विश्वास है वह उसी पत्र में लिखेंगे। ऐसी दशा में हमें तो कोई कारण नहीं

मालूम होता कि हंस को अच्छ सामग्री न मिले और वह तीसरे दरजे का पत्र होकर रह जाय।

२—हिन्दी जगत् को जब अंग्रेजी फ्रेंच या योरोप की अन्य भाषाओं की सेकण्ड हैंड नहीं बल्कि फ्रेश और फिस्ट हैंड सामग्री प्राप्त हो सकती है तो हमारा ख्याल है कि अन्य भारतीय भाषाओं की सेकेण्ड हैंड सामग्री भी प्राप्त हो सकती है। लेकिन जब हम वह सामग्री स्वयं लेखक से लेंगे और यह आग्रह कर लेंगे कि वह 'हंस' के लिए ही लिखी गयी हो तो वह सामग्री सेकेण्ड हैंड न होकर फस्ट हैंड ही होगी। और एक प्रान्त के निवासियों के लिए दूसरे प्रान्त के साहित्य का परिचय पाने की अगर इच्छा होगी तो 'हंस' उनकी सेवा के लिए तैयार ही है। अभी अगर एक गुजराती पाठक तेलगू साहित्य के विषय में कुछ जानना चाहे, तो इसका उसके पास कोई साधन नहीं है। 'हंस' के प्रकाशित हो जाने पर उसकी यह इच्छा बड़ी आसानी से पूरी हो जायगी। इस तरह 'हंस' के द्वारा सभी प्रान्तों के साहित्य-प्रेमियों को अन्य प्रान्तीय साहित्य से परिचय मिलना बहुत आसान हो जायगा।

३—हमारे भाई सम्पूर्ण भारत के पत्र-पत्रिकाओं में जिस प्रकार की भावना भरने का प्रयत्न करना चाहते हैं 'हंस' वही प्रयत्न है। सभी पत्र गल्प छापते हैं इसलिए कोई पत्र शुद्ध गल्पों ही का न हो यह तो उनका अभिप्राय नहीं हो सकता। राजनैतिक लेख सभी पत्रिकाओं में अन्य विषयों के साथ दिये जाते हैं लेकिन ऐसे पत्र भी तो हैं जो राजनैतिक और केवल राजनैतिक भला हो छापते हैं। इस उद्देश्य का एक पत्र जारी करके हम सभी प्रान्तीय साहित्यों को एक-दूसरे के समीप कर देना चाहते हैं और हमारे तुच्छ विचार में राष्ट्र-साहित्य की यही बुनियाद हो सकती है।

अन्त में हम यही निवेदन करना चाहते हैं कि राष्ट्र-साहित्य-परिषद् स्थापित करने का विचार भी हमारे मन में है और यह पत्र उसी परिषद् के लिए जमीन तैयार करेगा। पहले हमारी साहित्यिक अभिरुचि में राष्ट्रीयता का विकास तो हो फिर परिषद् बनते कितनी देर लगती है। हंस की सलाहकारी समिति में सभी प्रान्तीय भाषाओं के प्रतिनिधि रखे गये हैं और हमें आशा है शीघ्र ही वह बोर्ड बन जायगा। हम चन्द्रगुप्त जी को और समस्त साहित्य प्रेमियों को विश्वास दिलाते हैं कि हंस शुद्ध साहित्यिक पत्र होगा जैसा उसमें रहनेवाले स्तम्भों की सूची से साफ जाहिर है। उसका प्रधान काम है—साहित्य-सेवा। और प्रचार भी साहित्य-सेवा का एक अंग है इसमें कौन इन्कार करेगा। हम भाई चन्द्रगुप्त से प्रार्थना करेंगे कि इस शुभकार्य में सहयोग दें। उद्देश्य हमारा और उनका एक है केवल साधनों में अन्तर है और सभी बड़े काम पहले सुख-स्वप्न से शुरू होते हैं। अगर सुख-स्वप्न देखनेवाले न होते तो संसार मरुभूमि होकर रह जाता।

अगस्त सितम्बर १९३५

श्री मुंशी गुलाबराय एम० ए० का पत्र

'हंस' का यह कार्य कितना महत्त्वपूर्ण है, इस सम्बन्ध में हमारे पास कई पत्र आये हैं, पर श्रीयुत मुंशी गुलाबराय का पत्र विशेष महत्त्व रखता है। इसलिए कि उसमें केवल इस आयोजन की प्रशंसा ही नहीं है, बल्कि आगे के कार्यक्रम के विषय में कुछ सम्मति भी प्रदान की है, जो हर प्रकार से अनुमोदनीय है और हमें आगे चलकर विशेष रूप से सहायता देगी। आप लिखते हैं—

यह कार्य बड़े महत्त्व का है और विचार-रूप में तो बहुत दिनों से चला आता है, किन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में कोई कार्य नहीं हुआ था। अब बड़े हर्ष की बात है कि उसके कार्य-रूप में परिणत होने में पहला कदम रखा गया है। इसका श्रेय विशेषकर श्री कन्हैयालाल जी मुंशी ही को है। उनसे जिन लोगों ने इस योजना में सहयोग दिया है, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

'यदि हम इस बात का गौरव मनाना चाहते हैं कि हम भी कुछ मौलिक कार्य करें और संसार के ज्ञान-भण्डार में कुछ वृद्धि कर दूसरे देशों का ऋण चुकावें, तो परस्पर सहकारिता के बिना काम नहीं चल सकता। यूरोप भर में पारिभाषिक शब्द प्रायः एक से हैं, किन्तु भारतवर्ष में एक प्रान्त में भी पारिभाषिक शब्द एक नहीं हैं। प्रत्येक लेखक अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकाता है। इतिहास की पूर्ति के लिए यह जानना परमावश्यक है कि दूसरे प्रान्त के इतिहासज्ञों ने अपने-अपने प्रान्त के इतिहास के विषय में क्या खोज की है, क्योंकि इतिहास की बहुत कुछ सामग्री साहित्य और जनश्रुतियों में रहा करती है। इस कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ प्रारम्भिक कार्य करने की आवश्यकता है। उस कार्य के सम्बन्ध में आप लोगों ने भी बहुत कुछ सोचा होगा। मैंने जो दो-एक बातें सोची हैं वे आपसे निवेदन करता हूँ—

१—प्रान्तीय साहित्यों की एक विषयवार अनुक्रमणिका तैयार कराना। उसमें यह बतलाया जाय कि एक-एक विषय पर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कौन-कौन सी किताबें लिखी गयी हैं।

२—भिन्न प्रान्तों के लेखकों की सूची। उसमें यह रहे कि कौन-कौन लेखक किस-किस विषय में रुचि रखते हैं।

३—प्रत्येक प्रान्त में परिषद् की ओर से एक-एक पत्रिका रहे, जिसमें हिन्दी लिपि का व्यवहार हो, भाषा चाहे प्रान्तीय ही रहे। यदि उस प्रान्त की किसी पत्र या पत्रिका में कोई महत्त्वपूर्ण लेख हो, तो उसकी सूचना और उसका सार दिया करे। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के पत्र-पत्रिकाओं के परस्पर परिवर्तन का भी प्रबन्ध रहे।

४—हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ ही अथवा अन्य किसी अवसर पर अन्तर्प्रान्तीय-साहित्य-परिषद् हुआ करे।

५—अन्तर-प्रान्तीय लेखकों के परस्पर पत्र-व्यवहार का सुभीता कराया जाय।

६—पारिभाषिक शब्दों के एकीकरण के लिए एक कमेटी बने जिसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों के और भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञ रहें।

७—भिन्न भिन्न साहित्य सम्मेलनों म अन्य प्रान्त क लोग भी आमन्त्रित किये जाया करें और उनसे सामान्य उन सम्मेलनो म भी एक या दो व्याख्यान हिन्दी में हुआ करें। आशा है कि अपनी योजना बनाने समय आप लोग इन बातों का भी ध्यान रखेंगे।

अगस्त-सितम्बर १९३५

प्रोफेसर सिलवन लेवी का स्वर्गवास

फ्रांस के सुविख्यात आचार्य प्रो सिलवन लेवी के स्वर्गवास से प्राय संस्कृति और दर्शन के ऐसे मनीषी का स्थान सूना हो गया जो शीघ्र पूरा न हो सकेगा। आप पुरातत्व के प्रकाण्ड पण्डित थे और संस्कृत के भी पूरे विद्वान् थे। इसके साथ ही आप बड़े ही उदार, दयालु और सरल प्रकृति के मनुष्य थे जो विद्वानों म बहुत कम पायी जाती हैं। पेरिस म भारतीय विद्यार्थियों को आप हर तरह की सहायता देते रहते थे। आप कुछ दिनों के लिए बोलपुर के शांतिनिकेतन मे भी आकर रहे थे। आपने फ्रेंच भाषा में भारतीय संस्कृति दर्शन और पुरातत्व पर कई प्रमाणिक ग्रन्थ लिखे हैं। आपके बहु भाषा विद् होने का यह हाल था कि संसार की शायद ही ऐसी सुसंस्कृत भाषा हो जिसका आपको ज्ञान न हो। आपका मृदु स्वभाव और युवकों के प्रति सरल स्नेह देखकर प्राचीन काल के आचार्यों की याद ताजी हो जाती थी। कितने ही छात्रों की वह धन से भी सहायता करते थे। मुसीबत और जुल्म के सताये हुए प्राणियों के लिए आपको सहानुभूति सदैव कृपाशील रहती थी।

जनवरी १९३६
